HISTORICAL DRAMAS IN SANSKRIT LITERATURE

☐ राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध ।

☐ शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार द्वारा प्रकाशन में सहायता प्रदान करने की योजना में स्वीकृत ग्रन्थ ।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक

डा० श्याम शर्मा
एम.ए. पी-एच.डी.



देवनागर प्रकाशन, जयपुर-३

कृति	:	संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक
कृतिकार	:	डा० श्याम शर्मा
प्रकाशक	:	देवनागर प्रकाशन, चौड़ा रास्ता, जयपुर ।
मुद्रक	:	ऐलोरा प्रिण्टर्स, शिवदीन जी का रास्ता, जयपुर ।
प्रकाशन वर्ष	:	१९७५
मूल्य	:	६०.०० रुपये मात्र ।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों
का सर्वप्रथम
ऐतिहासिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक
अनुशीलन


देवनागर प्रकाशन

ऋषिकल्प, प्रातः स्मरणीय

पूज्य पिताजी—

(स्व० वैद्य श्री हरिकृष्ण जी "कमलेश")

की

परम पावन स्मृति को

सविनय समर्पित

भूमिका

संस्कृत भाषा साहित्य के विविध अंगों-उपांगों से प्रचुर समृद्ध है । एक दीर्घकाल तक प्राचीन विश्व के एक बड़े भूभाग की भाषा होने का गौरव उसे प्राप्त रहा । भारत की वर्तमान भौगोलिक सीमाओं के बाहर भी संस्कृत को फूलने-फलने का अवसर मिला । इस भाषा के अनेक विशिष्ट गुणों के कारण ऐसा संभव हो सका । विदेशों के साथ भारत के सम्बन्धों तथा भारतीय संस्कृति के प्रसार की जानकारी के लिए संस्कृत अपरिहार्य है ।

नाट्य-साहित्य के रूप में संस्कृत भाषा का श्रव्य अंग अन्य मुख्य अंगों की भाँति महत्त्वपूर्ण रहा है । वस्तुत: नाट्य साहित्य का प्रयोगमूलक ललित श्रव्य रूप है । हमारे यहाँ के आचार्यों ने उसमें अनुरंजन के साथ कल्याण-भावना को प्रमुखता दी । साहित्य की अन्य प्रमुख विधाओं के समान नाट्य में भी सत्य, शिव तथा सुन्दर की अभिव्यक्ति को श्रेय माना गया । नाट्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य भरत मुनि ने नाटक में अनुकृति-गुण के साथ भाव या रस की निष्पत्ति को अनिवार्य बनाया । नाट्य का त्रिभुज जिन तीन केंद्रबिन्दुओं से निर्मित है वे हैं : विषयवस्तु, रस तथा नेता । संस्कृत के प्रमुख नाटकों में इन तीनों मूल तत्त्वों का यथेष्ट निर्वाह देखने को मिलता है ।

ऐतिहासिक नाटकों का साहित्य में अपना विशेष स्थान है । इनमें विषय-वस्तु को इतिवृत्त का आधार लेना होता है और तदनुरूप नेता का चयन किया जाता है । अन्य नाटकों की तरह ऐतिहासिक नाटकों में भी रस परम आवश्यक है; उसके बिना नाटक का उद्देश्य चरितार्थ नहीं हो सकता । संस्कृत के उल्लेखनीय नाटकों के मूल में रस-सृष्टि हेतु प्रेम और शृंगार को वरीयता प्रदान की गयी । इसके लिए ऐतिहासिक तथ्यों के साथ कल्पना का प्रयोग भी किया गया । परंतु यह प्रयोग औचित्य-संवलित है । मात्र चमत्कार उत्पन्न करने के लिए कल्पना के निस्सीम प्रयोग को उचित नहीं माना गया । उसका उद्देश्य ऐतिहासिक शुष्कता को दूर कर रस की उत्पत्ति करना था, न कि अविश्वसनीय या अनर्गल भावों की सृष्टि करना ।

'ऐतिहासिक' शब्द को उसके व्यापक रूप में देखने पर ज्ञात होगा कि संस्कृत में ऐसे नाटकों की रचना उस काल के बहुत पहले आरम्भ हो चुकी थी जिसे

भारतीय इतिहास का 'ऐतिहासिक युग' कहा जाता है। इस युग का आरम्भ लगभग ई० पूर्व ६०० से माना जाता है, जब कि इतिहास की आधुनिक मान्य परिभाषा के अनुसार हमारे इतिहास के ठोस, प्रामाणिक आधार निर्मित हो गये। उसके पहले की स्थिति 'आद्य इतिहास' कहलाती है, जब कि इतिवृत्त के स्रोत या आधार परवर्ती युग के समान पुष्ट-प्रबल नहीं मिलते। भारतीय आद्यैतिहासिक संस्कृति की झांकी वैदिक-पौराणिक साहित्य तथा रामायण-महाभारत में उपलब्ध है। इस प्रभूत साहित्य से स्पष्ट है कि ललित कला के अन्य अनेक रूपों के साथ नाट्य का भी उद्भव तथा विकास ई० पूर्व छठी शती के पहले हो चुका था। इस प्राचीन साहित्य की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसने परवर्ती नाटकों के लिए विषय-वस्तु के रूप में प्रचुर मौलिक सामग्री प्रदान की।

प्रस्तुत अध्ययन में संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की पूर्ववर्ती सीमा ई० पूर्व छठी शती ही रखी गयी है। उस समय से लेकर आधुनिक युग तक के नाट्य साहित्य का यथेष्ट विवेचन यहाँ किया गया है। महात्मा बुद्ध के समकालीन उदयन इस अध्ययन की प्रारम्भिक कड़ी हैं। भारतीय कथा साहित्य में राजा उदयन बहुचर्चित हैं। अनेक कवियों, नाट्यकारों तथा शिल्पकारों ने भी उदयन की रोचक कथा को विविध रूपों में अमरता प्रदान की।

सोलह महाजनपदों के युग से लेकर मध्यकाल तक भारतीय राजनीतिक इतिहास में अनेक उत्थान-पतन देखने को मिलते हैं। उनके कारण तथा देश-कालगत अन्य परिस्थितियों के कारण धर्म-दर्शन, भाषा-साहित्य, शिल्पकला एवं जन-जीवन के क्षेत्र अप्रभावित न रहे। कालक्रमागत विभिन्न परिवर्तनों को हमारे साहित्यकारों तथा कलाकारों ने देखा-परखा। अपनी रचनाओं में उन्होंने उनका रूप मुखरित किया। नाट्यकार इसमें पीछे नहीं रहे। लोकानुरंजन उनका मुख्य उद्देश्य था, जिसकी पूर्ति के लिए उन्होंने अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य निष्पन्न किये।

अब प्रश्न यह है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटककार इतिहास को योग प्रदान करने में कहाँ तक सफल हुए। इस का उत्तर देते समय हमें यह ध्यान में रखना है कि भास, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त-जैसे निष्णात नाट्यकारों ने इतिहास को उसके व्यापक रूप में ग्रहण किया। उनकी दृष्टि में ऐतिहासिक पात्रों तथा राजनीतिक घटनाओं का महत्त्व था। साथ ही वे उन सांस्कृतिक धाराओं के महत्त्व को समझते थे जो राष्ट्रीय जीवन में अपना विशेष स्थान रखती हैं। कथानक के निर्वाह के साथ वे उक्त तथ्यों को नहीं भूल सकते थे। समाज के गुणों के साथ उसके दोषों का तथा संश्लिष्ट भारतीय संस्कृति के विघटनकारी तत्त्वों का भी वर्णन संस्कृत के नाटककारों ने अपना कर्तव्य समझा। इस कर्तव्य में वे कहाँ तक सफल हुए, इसकी बहुत-कुछ जानकारी प्रस्तुत रचना में मिल सकेगी।

जहाँ तक तथ्यमूलक घटनाओं का सम्बन्ध है, इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत नाट्यसाहित्य से अनेक पूर्तियां हुई हैं, जो अन्य साधनों से या तो अज्ञात थीं या अल्पज्ञात। उदयन, चन्द्रगुप्तमौर्य, पुष्यमित्र, अग्निमित्र, गुप्त-सम्राट्-चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, रामगुप्त, हर्षवर्धन, चाहमान पृथिवीराज आदि शासकों के सम्बन्ध में अनेक ज्ञातव्य बातें संस्कृत नाटकों में उपलब्ध हैं। यूनानियों, शकों, हूणों तथा मुसलमानों के आक्रमणों आदि के विवरण भी कतिपय नाटकों में मिलते हैं। जनपदों, नगरों, यात्रा-मार्गों के साथ विविध कलाओं तथा व्यवसाय-व्यापार के भी रोचक वृत्तान्त इस साहित्य में उपलब्ध हैं। इतिहास को व्यापक रूप में जानने-समझने में इन विवरणों का महत्त्व स्पष्ट है।

वत्सराज उदयन के कलामर्मज्ञ होने तथा उसके एक सफल शासक होने के मौलिक कारणों का पता भास के नाटकों से चलता है। वासवदत्ता के प्रति उसके प्रेम तथा उज्जयिनी से दोनों प्रेमियों के भागने की कथा की पुष्टि अन्य स्रोतों से भी हुई है। कौशाम्बी से शुंगकालीन कतिपय मृण्मूर्तियाँ मिली हैं जिनमें चण्डप्रद्योत के बंधन से वासवदत्ता—उदयन के पलायन की कथा अत्यंत रोचक ढंग से आलेखित है। चंद्रगुप्त मौर्य के समय की राजनीतिक जटिलताओं की झाँकी विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' में उपबृंहित है। कविकुल गुरु कालिदास का 'मालविकाग्निमित्र' नाटक शुंगराज पुष्यमित्र तथा विदिशा-स्थित उसके ज्येष्ठ पुत्र अग्निमित्र के समय की राजनीतिक परिस्थिति का उपयोगी चित्रण उपस्थित करता है। इस नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि विदिशा-राज्य पर यूनानियों का आक्रमण विफल हुआ और यमुना की सहायिका सिंधुनदी के तट पर अग्निमित्र के यशस्वी पुत्र वसुमित्र ने यवनों की सेना को पराजित किया। उसके बाद यूनानी लोग पुनः इस ओर बढ़ने का साहस न कर सके। उक्त नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि राजनीतिक कारणों से उत्तर भारत की मुख्य राजधानी को पाटलिपुत्र से हटाकर विदिशा में स्थापित किया गया जो अनेक प्रकार से लाभप्रद सिद्ध हुआ। इसकी पुष्टि तत्कालीन अन्य ऐतिहासिक साधनों से हुई है।

हाल में गुप्त-सम्राट् चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के अग्रज रामगुप्त की बहुसंख्यक मुद्राएँ तथा तीन शिलालेख प्राप्त हुए हैं। इनसे रामगुप्त की ऐतिहासिकता सिद्ध हुई है। परन्तु इसके पहले 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नाटक के उद्धरण ही ऐतिहासिकता के प्रमुख प्रमाण थे। इन उद्धरणों में रामगुप्त तथा उसकी पत्नी ध्रुवदेवी एवं चन्द्रगुप्त के बीच जो संबाद विद्यमान हैं वे शक—गुप्त संघर्ष तथा गुप्तवंश के इतिहास पर प्रभूत प्रकाश डालते हैं। शूद्रक का 'मृच्छकटिक' गुप्तकालीन 'स्वर्णयुग' की अनेक विशेषताओं के साथ जनसमाज की कतिपय दुर्बलताओं का स्वच्छ दर्पण है।

डा० श्याम शर्मा ने संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का विस्तृत, सर्वाङ्गीण अध्ययन विद्वज्जनों के सम्मुख रखा है। संस्कृत के ऐतिहासिक नाट्यसाहित्य पर हिन्दी में पहली बार ऐसा विवेचन उपस्थित किया गया हैं। संस्कृत साहित्य के विवेच्य अंग की गरिमा को समझने में यह अध्ययन निस्संदेह अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

इस उपयोगी ग्रंथ के विद्वान् लेखक तथा इसके प्रकाशक को हार्दिक साधुवाद।

कृष्णदत्त वाजपेयी
टैगोर प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति
तथा पुरातत्त्व विभाग,
संचालक, उत्खनन तथा सर्वेक्षण
सागर विश्वविद्यालय,
अध्यक्ष, भारतीय मुद्राशास्त्र परिषद्।

सागर
१४ जून, १९७४

प्राक्कथन

संस्कृत नाटक के क्षेत्र में प्राचीन भारतीयों की उपलब्धियाँ विश्वनाट्य-साहित्य में बहुत उच्च स्थान रखती हैं। अनेक संस्कृत नाटकों में इतिवृत्त को उपजीव्य बनाया गया है। इस प्रकार के ऐतिहासिक नाटक दो प्रकार से अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। प्रथम, कला के रूप में सुधी साहित्यानुरागियों का अनुरंजन के कारण; द्वितीय, इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करने के कारण। इन नाटकों के रूप में सामान्य रूप से तो बहुत कुछ लिखा गया है, किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इनमें ऐतिहासिक तत्त्वों के विनियोग की सफलता तथा असफलता के मूल्यांकन का अभी तक कोई प्रयत्न नहीं किया गया। निश्चित रूप से इतिहासकार इन नाटकों से प्राप्त न्यूनाधिक महत्त्व की सामग्री का प्रायः उपयोग करते रहे हैं, किन्तु इनका ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व आदि की दृष्टि से सर्वाङ्गीण मूल्यांकन अभी तक अपेक्षित था। डॉ० श्याम शर्मा ने इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पादित करके वस्तुतः संस्कृत साहित्य की महान् सेवा की है।

डा० शर्मा ने इस प्रबन्ध को तीन भागों में विभक्त किया है। प्रथम भाग में ऐतिहासिक नाटकों के अनुशीलन के सिद्धान्तों का निर्धारण किया गया है। उदाहरणार्थ, संस्कृत नाटकों के विभिन्न प्रकारों का वर्गीकरण, इतिहास तथा ऐतिहासिक नाटकों का सम्बन्ध, ऐतिहासिक नाटक लिखने के उद्देश्य एवं संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का वर्गीकरण। द्वितीय भाग में अत्यधिक महत्त्व के संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक नाटकों का सर्वाङ्गीण मूल्यांकन किया गया है। जैसे भास के स्वप्नवासवदत्ता एवं प्रतिज्ञायौगन्धरायण, कालिदास का मालविकाग्निमित्र, शूद्रक का मृच्छकटिक, हर्ष की रत्नावली तथा प्रियदर्शिका और विशाखदत्त का मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्रगुप्तम्। वस्तुतः प्रबन्ध का यह भाग सर्वाधिक मूल्यवान् है। क्योंकि डा० शर्मा ने इस भाग में अत्यधिक प्रबल प्रमाणों के आधार पर अनेक नये निष्कर्ष निकाले हैं। उदाहरणार्थ डा० शर्मा ने प्रमाणित किया है कि भास के दोनों ऐतिहासिक नाटक बृहत्कथा पर आधारित नहीं है; अपितु उससे स्पष्टतः प्राचीन हैं; और प्रसंगवश इससे भास के समय पर भी प्रकाश पड़ता है, जिसका लेखक ने विस्तार से विवेचन किया है।

डा० शर्मा ने कालिदास के ऐतिहासिक नाटक मालविकाग्निमित्र के घटना-पात्र आदि का सर्वाङ्गीण अनुशीलन करके इसके ऐतिहासिक महत्त्व पर प्रकाश डाला है। इन्होंने अनेक प्रबल अन्तः साक्ष्यों के आधार पर यह भी प्रमाणित किया है कि चारुदत्त भास की रचना नहीं है, अपितु शूद्रक की रचना के रूप में प्रसिद्ध मृच्छकटिक के प्रथम चार अंकों का संक्षिप्त रंगमंचीय संस्करण है। इन्होंने शूद्रक के नाटक के राजनैतिक कथानक का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए ऐतिहासिक महत्त्व के कथासूत्रों का अन्वेषण एवं विश्लेषण किया है। इसी प्रकार इन्होंने भास तथा हर्ष के उदयन-कथा पर आश्रित ऐतिहासिक नाटकों में महत्त्वपूर्ण अन्तरों का भी निर्देश किया है। अन्त में, इन्होंने न केवल विशाखदत्त का ही प्रशसनीय अध्ययन प्रस्तुत किया है, अपितु विशाखदत्त के लुप्त नाटक देवीचन्द्रगुप्त पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रबन्ध के तृतीय भाग में इन्होंने मध्यकालीन तथा आधुनिक युग के ऐतिहासिक नाटकों का, जिनमें अनेक अप्रकाशित भी हैं, अध्ययन प्रस्तुत किया है।

डा० शर्मा का यह अध्ययन वैज्ञानिक, समालोचनात्मक तथा पूर्णतः नवीन है। इन्होंने इस ग्रन्थ में इतिहासकार तथा समालोचक दोनों के कार्य को बहुत ही सफलता पूर्वक सम्पन्न किया है। निःसन्देह यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य की एक विशिष्ट शाखा से सम्बन्धित हमारे ज्ञान के लिए एक महत्त्वपूर्ण मौलिक देन है। मैं आशा करता हूँ कि इस कृति का अवश्यमेव हार्दिक स्वागत होगा।

डॉ. पी. एल. भार्गव
विजिटिंग प्रोफेसर,
मैकमास्टर यूनिवर्सिटी, हैमिल्टन, कनाडा;
भू० पू० अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

प्रख्यापन

प्रस्तुत प्रबन्ध "संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक" का शीर्षक आपाततः कुछ विस्मयोत्पादक एवं विवादास्पद अवश्य प्रतीत होता है, क्योंकि प्राचीन भारतीय परम्परा में इतिहास तथा पुराण शब्द प्रायशः पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं तथा अनेक आधुनिक विद्वानों ने पुराणों से इतिहास सँजोया है। अतः प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में मेरे सामने भी पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों के सीमा-निर्धारण की विकट समस्या थी; और इसीलिए यहाँ विस्तार से इतिहासकारों के विचार, प्रवृत्ति तथा पद्धति का पर्यवेक्षण करते हुए ज्ञात तथा ख्यात अर्थात् प्रामाणिक एवं इतिहासकारों द्वारा स्वीकृत इतिहास को ही "इतिहास" के रूप में स्वीकार्य मानकर परिसीमित कर दिया है। और इस 'इतिहास' पर आश्रित नाटकों को ही इस अध्ययन-क्रम में ग्राह्य माना है।

संस्कृत साहित्य के इतिहासकारों एवं समालोचकों ने जिस प्रकार ऐतिहासिक महाकाव्य का पृथक् क्षेत्र निर्धारित किया है, उस प्रकार ऐतिहासिक नाटकों का नहीं किया है। मुद्राराक्षस का आनुषंगिक रूप से राजनैतिक नाटक के रूप में निर्देश करने के अतिरिक्त केवल कुछ परवर्ती नाटकों का ही इस प्रसंग में उल्लेख किया है। प्रो० कीथ ने कुछ पंक्तियों में परवर्ती ऐतिहासिक नाटकों का उल्लेख मात्र किया है, तो दासगुप्ता ने इनका अर्धैतिहासिक-नाटक के रूप में उल्लेख किया है। मुझे कृष्णस्वामी आयंगर कोमामरेशन वाल्यूम् (१९३६) में प्रो० विन्टर्निट्ज का "**हिस्टारिकल ड्रामाज़ इन संस्कृत लिटरेचर**" शीर्षक से सर्वप्रथम स्वतंत्र लेख देखने को मिला। किन्तु उन्होंने भी उस समय बहुचर्चित "कौमुदीमहोत्सव' नाटक के समीक्षण के प्रसंग में केवल मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्रगुप्तम् आदि का ही उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की अब तक पूर्ण उपेक्षा होती रही है। अतः मेरे विनम्र विचार से इस ग्रंथ के द्वारा सर्वप्रथम स्वतंत्र रूप से संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के अनुसन्धान तथा अनुशीलन का समारम्भ किया गया है।

इस प्रबन्ध के प्रारम्भ में संस्कृत नाट्यसाहित्य के परिपार्श्व में आधुनिक समालोचन के अनुसार सर्वप्रथम संस्कृत नाटकों का वर्गीकरण करके, ऐतिहासिक नाटकों के स्वरूप, नाट्यशिल्प तथा महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए सिद्धान्त-पक्ष पर

प्रकाश डाला गया है, तथा अन्य अध्यायों में संस्कृत के प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक ऐतिहासिक नाटकों का महत्त्व के अनुसार संक्षेप तथा विस्तार से ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक अनुशीलन किया है। इस प्रकार इस ग्रंथ को अधिकाधिक उपादेय, सर्वाङ्गीण तथा व्यापक बनाने के लिए प्रत्येक संभव प्रयत्न किया गया है। विवेच्य विषय अत्यन्त व्यापक होने पर भी इसमें अनेक महत्वपूर्ण नवीन निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयास किया गया है। इस प्रयत्न में अनुपलब्ध के अन्वेषण तथा उपलब्ध के परिशीलन की पूरी-पूरी चेष्टा की गई है।

उक्त कार्य का समस्त श्रेय लब्धप्रतिष्ठ प्राच्यविद् आदरणीय डॉ० पी. एल. भार्गव को है, जिनके सहानुभूतिपूर्ण निर्देशन में मैं इस सर्वथा नवीन क्षेत्र में अग्रसर हो सका। मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करके भार मुक्त नहीं होना चाहता।

पूज्य गुरुदेव महान् वैयाकरण आचार्य पं० गणेशदत्तजी पाण्डेय (काशी) ने इस कार्य में मुझे सभी प्रकार का सहयोग ही नहीं दिया, अपितु उन्होंने ही मुझे संस्कृत के क्षेत्र में प्रवृत्त किया और अन्त तक पितृवत् स्नेह रखते हुए मेरा मार्ग-दर्शन करते रहे। उनकी अहैतुकी कृपा के प्रति मैं नतमस्तक हूँ।

इस कार्य में प्रारम्भ से अन्त तक श्रद्धेय डॉ० सुधीरकुमार जी गुप्त, डा० गंगाधर भट्ट एवं डॉ० जगदीश चन्द्र जोशी से अनेक प्रकार की सहायता प्राप्त हुई है उनके प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल, स्व० पं० चैनसुखदास जी, श्री यू० सी० भट्टाचार्य, मुनिजिनविजय, डा० दशरथ शर्मा तथा श्री अगरचन्द जी नाहटा आदि से समय-समय पर प्रेरणा एवं सामग्री प्राप्त हुई—इन सभी के प्रति मैं आभारी हूँ।

सामग्री एकत्र करने में राजस्थान विश्वविद्यालयीय पुस्तकालय, महाराजा पुस्तकालय जयपुर; आगरा विश्वविद्यालयीय पुस्तकालय, सैन्ट्रल आर्कियालाजीकल लायब्रेरी दिल्ली, महाराजा लायब्रेरी तंजौर, गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मौनुस्क्रप्ट लायब्रेरी मद्रास आदि का पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ—एतदर्थ उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं पितृवत् श्रद्धेय अपने अग्रज डॉ० राधाकान्त जी शर्मा से अध्ययनक्रम में निरन्तर प्रेरणा पाता रहा हूँ—उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मात्र औपचारिकता होगा।

सुप्रसिद्ध इतिहासविद् प्रो० कृष्णदत्तजी वाजपेयी ने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर अपने अमूल्य व्यस्त समय में से कुछ समय निकाल कर "भूमिका" लिखने की कृपा की है। उनके स्नेह एवं उपकार के प्रति आभार व्यक्त करने का दुःसाहस न कर उनका आभारी ही बना रहना चाहता हूँ। डा० भार्गव साहब ने

विदेश जाने से पूर्व के अतिव्यस्त समय में प्राक्कथन लिखकर जो अनुग्रह किया है, उसके लिए उनका हृदय से आभारी हूँ।

यह प्रबन्ध राजस्थान विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० के लिए मूलरूप में प्रस्तुत किया गया था, उसी को अब कुछ संशोधित एवं परिवर्तित कर प्रकाशित कराया जा रहा है।

देवनागर प्रकाशन, जयपुर के व्यवस्थापकों ने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर कागज के भयंकर अभाव एवं मँहगाई के समय में भी तत्परता प्रकाशन की व्यवस्था की, इसके लिये मैं उन्हें धन्यवाद देना कर्त्तव्य समझता हूँ।

मुद्रण के समय मेरे दूर रहने तथा अतिव्यस्त रहने के कारण वर्तनी तथा प्रूफ आदि की कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं इसका मुझे हार्दिक खेद है, और इसके लिए मैं विज्ञ पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

अन्त में, यदि इस ग्रन्थ से संस्कृत नाटक के क्षेत्र में कुछ भी योगदान मिल सका—तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा—"क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।"

गुरु पूर्णिमा
४ जौलाई १९७४,

श्याम शर्मा
"वाशिष्ठ"[1]

---

[1] मूलनाम: श्यामलाल शर्मा; लेखन में प्रयुक्त श्याम शर्मा एवं श्याम शर्मा वाशिष्ठ।

°प्रबन्ध के प्रमुख संकेत एवं संक्षेप

अप्र०	—	अप्रकाशित
अप०	—	अपखण्ड
इं०	—	इंडियन एवं इंडिया,
इति०	—	इतिहास
क०	—	कल्चरल
कथा०	—	कथासरित्सागर
काम०	—	कोमामरेशन
भा०	—	भारत या भारतीय
प्रा०	—	प्राचीन
सं०	—	संस्कृत
सा०	—	साहित्य
लिट्०	—	लिटरेचर
हि०	—	हिस्ट्री तथा हिस्टोरिकल
क्ला०	—	क्लासीकल
वा०	—	वाल्यूम्
स्वप्न०	—	स्वप्नवासवदत्ता
प्रतिज्ञा०	—	प्रतिज्ञायौगन्धरायण
मुद्रा०	—	मुद्राराक्षस
मालविका०	—	मालविकाग्निमित्र
मृच्छ०	—	मृच्छकटिक
वीणा०	—	वीणावासवदत्ता

—अन्य पुस्तकों के संक्षेप सहायक ग्रन्थसूची में दिये गये हैं।

विषयानुक्रम

संस्कृत
के
ऐतिहासिक
नाटक

१

संस्कृत नाट्य-साहित्य के पारपार्श्व में ऐतिहासिक नाटक:

संस्कृत साहित्य में नाटक

संस्कृत साहित्य अपनी विविधता तथा विशिष्टता, समृद्धि तथा सार्वभौमिकता, उपलब्धि तथा सक्रियता सभी दृष्टि से अनुपम है। भारत के साहित्यक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्वरूप का सर्वांगीण अंकन तथा प्रतिबिम्बन जितना प्रचुर तथा प्रांजल संस्कृत साहित्य में हुआ है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। गुण और परिमाण उभय दृष्टि से संस्कृत साहित्य महान है। इस विशाल संस्कृत साहित्य का एक-एक अंग अपनी समृद्ध परंपरा को लेकर चरम विकास के बिन्दु तक पहुँचा है। यदि हम केवल संस्कृत के विशुद्ध साहित्य[1] का ही पर्यवेक्षण करें, तो दृश्य और श्रव्य के व्यापक परिवेश में यह महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तक, कथा, आख्यायिका, चम्पू तथा नाट्य-साहित्य के विभिन्न रूपों में पर्याप्त विकसित दृष्टिगोचर होता है। इन सब में भी केवल नाट्य-साहित्य की विशाल परंपरा में रूपकों की विविध रूपता ही गुम्फानुगुम्फ-रूप से इतनी परिव्याप्त है कि संभवत: उतनी अन्य किसी अंग की उपलब्ध नहीं है। संस्कृत-साहित्य के विभिन्न रूपों में नाट्य रूपों का समधिक अभिसर्जन नाट्यसाहित्य की अभिरूपता तथा लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है। इसके प्रस्तार का मूल कारण नाट्य-कला का वह हृदयावर्जक रूप ही है जिसके कि कारण कलाकारों ने अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में इसको सर्वविध समृद्ध किया है। नाट्य रूपों की समुन्नत परंपरा में रूपक तथा उपरूपक से संबंधित रूपसमृद्धि ही नहीं, अपितु विषय आदि से सम्बन्धित परिवृद्ध परम्परा भी प्राप्त है। इसी रूप तथा विषय आदि की विविधता, साहित्य की सरसता एवं नाट्यकला की कलात्मक, आकर्षक, रंग-

---

१. ललित या काव्य-साहित्य।

मंचीयता के कारण नाट्यसाहित्य को अधिक अपनाया गया है । संक्षेप में, आज संस्कृत में विशाल, समुन्नत एवं समृद्ध नाट्यसाहित्य की उपलब्धि का सर्वप्रमुख कारण इसकी समधिक सोद्देश्यता है ।

नाट्यसाहित्य की सोद्देश्यता

सामान्यतः रसास्वाद या आनन्दास्वाद ही प्राणिमात्र के जीवन का उद्देश्य होता है । यद्यपि कुछ विद्वान ब्रह्मानन्द के आस्वाद को अधिक महत्त्व देते हैं तो कुछ काव्यानन्द के आस्वाद को; तथापि यह सभी मानते हैं कि इन दोनों में कुछ साम्य अवश्य है, और इस आनन्द प्राप्ति में ही मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान की सार्थकता है । अतएव मुख्यतः इस उद्देश्यमूलक आनन्दप्राप्ति के लिये परा, अपरा, दो विद्याओं का विधान किया गया है । परा ब्रह्मविद्या है । अपरा में सर्वप्रथम काव्य या साहित्य का परिगणन किया गया है ।[1] इसी को राजशेखर ने चारों विद्याओं का निष्यन्द कहा है ।[2] अतः स्पष्ट है कि साहित्य या काव्य प्रानिभज्ञान के कारण कलामात्र नहीं है, अपितु सर्वश्रेष्ठ कला है ।[3]

कठोपनिषद् में जीवन-यापन के लिये प्रेयमार्ग तथा श्रेयमार्ग का निर्देश है ।[4] वस्तुतः ये श्रेय तथा प्रेय सत्य के दो आयाम हैं । सामान्यतः संसार में इस श्रेय-प्रेयात्मक सत्य की अभिव्यक्ति विभिन्न माध्यमों से होती है, किन्तु कुछ केवल श्रेय-सापेक्ष्य होते हैं तो कुछ केवल प्रेयसापेक्ष्य, जबकि काव्य या साहित्य उभय-सापेक्ष्य है । संभवतः इसी कारण सत्यं, शिवं, सुन्दरं के प्रतिष्ठापक काव्य को श्रेष्ठ माना गया है । भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने काव्य की उद्देश्यभूत उदात्तता के अतिरिक्त, प्रयोजनों की पारमार्थिक तथा व्यावहारिक उपलब्धि के कारण इसे समधिक महत्त्व दिया है । भरत,[5] भामह,[6] वामन,[7] आनन्दवर्धन,[8] मम्मट[9] तथा धनंजय[10] आदि

---

१. काव्य मीमांसाः राजशेखर, द्वितीय अध्याय, पृ० १२,

२. वही, द्वितीय अध्याय, पृ० १०,

३. भारतीय साहित्य शास्त्र, बलदेव उपाध्याय, द्वि० भाग, पृ० ४५७, ४६०,

४. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः । कठोपनिषद्, १।२।२,

५. नाट्यशास्त्र १।१११–११७,

६. काव्यालंकार, १।२,

७. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति १।१।५,

८. ध्वन्यालोकः १।१,

९. काव्य प्रकाशः १।२,

१०. दशरूपक १।६,

सभी ने इसीलिए लौकिक-अलौकिक तथा दृष्ट-अदृष्ट सभी दृष्टि से काव्य को महत्त्व-पूर्ण माना है। काव्य-प्रकाशकार मम्मट के शब्दों में सद्यः परनिर्वृत्तिदायिनी, नवरस-रूचिरा, आनन्द-निष्यन्दिनी कवि की भारती (काव्य) श्रेयप्रेयोभयसंवलित होने के कारण ही अन्य शास्त्रादि की अपेक्षा अधिक स्पृहणीय[1] हैं।

यह काव्य दो प्रकार का माना गया है—श्रव्य और दृश्य।[2] श्रव्य और दृश्य दोनों काव्य की ही आंगिक विधा हैं। अतः यद्यपि इनका उद्देश्य समानप्रायः है, तथापि उद्देश्य प्राप्ति के साधनों में पर्याप्त अन्तर है। श्रव्य-काव्य का उपयोग श्रवणेन्द्रिय के माध्यम से ही किया जाता है, अतः यह श्रुतिसापेक्ष्य होने से पाठ्य होता है।[3] श्रव्य में शब्दों के माध्यम से ही भावनात्मक चित्रों को मानसपटल पर अंकित किया जाता है, अतः श्रव्यकाव्य को आत्मसात् करने के लिये श्रोता में कल्पना आदि अपेक्षित है। परन्तु दृश्य चक्षुरिन्द्रिय का विषय होने से देखने की भी वस्तु है। यद्यपि इसमें श्रुति का सहयोग भी अपेक्षित है, परन्तु मुख्य चक्षु ही है। दृश्य में रंग-मंच की सहायता से विभिन्न उपादानों के प्रयोग द्वारा वर्ण्यवस्तु का यथार्थचित्र प्रस्तुत किया जाता है। अतः यह रंगमंच पर अभिनय की वस्तु है। अभिनय के द्वारा ही सामाजिक दर्शक इसका पूरा-पूरा वास्तविक लाभ उठा सकता है। दूसरे शब्दों में, श्रव्य का रसास्वाद पठन-श्रवण से संभव है, जबकि दृश्य का दर्शन, श्रवण तथा पठन से। श्रवण तथा पठन की अपेक्षा दर्शन की विशिष्टता होने के कारण ही दृश्य का श्रव्य से अधिक महत्त्व है। दृश्य में रंगमंच या अभिनय प्रमुख है, अतएव इसे रंगमंचीय या या अभिनेय भी कहा जाता है और, इसी कारण यह श्रव्य की अपेक्षा अधिक तथा स्थिर प्रभावोत्पादक, सार्ववर्णिक और शिक्षित अशिक्षित सभी को समान उपयोगी है। यही कारण है कि काव्य के विशाल परिवेश में अंगमात्र होते हुए भी महत्त्व तथा विशिष्टता की दृष्टि से दृश्य की अतिशय प्रतिष्ठा है।

इस दृश्य काव्य के लिये सामान्यतः नाट्य या नाटक आदि शब्द प्रचलित हैं जबकि श्रव्य के लिये काव्य। काव्य की अन्यान्य विधायें वर्णनप्रधान हैं, किन्तु नाटक प्रयोग-प्रधान है। नाटक में वर्ण्यवस्तु को प्रायोगिक रूप से परिव्यक्त किया जाता है।

---

१. "सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलित-वेद्यान्तर-मानन्दम्," काव्य प्रकाश १।२ की वृत्ति, तथा—
नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति। वही १।१,

२. साहित्यदर्पण ६।२६८,

३. पाठ्यशब्द से स्पष्ट है कि श्रव्य में चक्षु का भी सहयोग अपेक्षित है।

महिम भट्ट के शब्दों में काव्य में अनुभावविभावों का वर्णन होता है, किन्तु उन्हीं का जब गीतादि से अनुरंजित प्रयोग किया जाता है, तब वह नाटक कहलाता है।[1] स्पष्ट है कि नाटक में 'गीतानुरंजन' तथा 'प्रयोग' प्रमुख होता है। नाटक की इस अनुरंजनात्मकता तथा प्रयोगात्मकता के कारण ही इसकी सोद्देश्यता का महत्त्व परिवृद्ध हो जाता है।

वामन के शब्दों में काव्यों में दशरूपकों की सर्वाधिक प्रतिष्ठा का कारण यही है कि इसमें कथा, आख्यायिका, महाकाव्य आदि के पात्र सजीव होकर चित्रपट के समान अभिनय करते दीख पड़ते हैं।[2] अतएव इससे काव्य के आत्मस्वरूप रस की सहज अनुभूति होती है।

अभिनवगुप्त ने नाटक की सोद्देश्यता को और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वस्तुतः अनुभाव, विभाव तथा संचारीभाव का समप्राधान्य काव्यों में भी केवल (दशरूपक) नाटकों द्वारा ही संभव है। उनका अभिमत है कि नाटक के अभिनय के समय रंगमंच के वातावरण, पात्रों के वाचिक, आंगिक, आहार्य, अभिनय एवं क्रिया-व्यापार द्वारा तथा आतोद्य, गान, विचित्रमंडप तथा चतुरगणिका आदि के उपरंजन द्वारा रसास्वादन में बाधक निजसुखादि को विवश भाव के निवारण हो जाने के कारण असहृदय सामाजिक भी सहृदयों के समान रसास्वाद में सर्वथा समर्थ होते हैं।[3] यही नहीं, बल्कि उनका यह भी मत है कि उत्तम नाटक रंगमंच के अभाव में भी पाठ्यरूप से रसास्वादन करा सकता है। स्पष्ट है कि नाट्यसाहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी काव्य प्रकार से सहृदय-असहृदय, शिक्षित-अशिक्षित आदि सभी को इतने सहज तथा सरल प्रकार से रसानुभूति नहीं हो सकती। नाटक की इस रसानुभूति की प्रभावात्मकता के अतिरेक के कारण ही लौकिक दुःखों का अभाव, मनोविकारों का परिष्कार तथा रुचि का संस्कार होता है। इसके लोकानुरंजक होने से शिक्षा, उपदेश तथा अन्य नैतिक तत्त्वों को आत्मसात् करने तथा सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक तथा ऐतिहासिक ज्ञानवर्धन में सरलता होती है। चरित्र-निर्माण तथा आत्मोत्थान में सहायता मिलती है और इसकी सार्ववर्णिकता तथा सर्वजनीनता के कारण जीवन के प्रत्येक उद्देश्य को प्रेषणीय बनाकर सहज ही हृदयंगम कराया

---

१. व्यक्ति विवेक, प्रथम विमर्श, पृ० ९६,

२. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्।
ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः, ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति।
दशरूपकस्य हि-इदं सर्वं विलसितं, यदुतकथाख्यायिकामहाकाव्यमिति।
का० सू० वृ० १।३।३०—३२,

३. अभिनवभारती, पृ० २८२—२८३,

जा सकता है। कालिदास के शब्दों में, 'एकमात्र नाटक भिन्न रुचिवाले जनों का समाराधन करने में समर्थ है।'[1] भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक के द्वारा पुरुषार्थ-चतुष्टय की संप्राप्ति सर्वथा सर्वाधिक सहज तथा सरल है। अन्त में, हम कह सकते हैं कि नाट्य-मंच पर ही समस्त ज्ञान-विज्ञान की अवतारणा करके अत्यधिक सरसता, सरलता तथा सफलता से सत्यं, शिवं तथा सुन्दरं को अभिव्यंजित किया जा सकता है।

नाटक का स्वरूप

साहित्य में नाटक के लिये प्रायः नाटक, नाट्य, रूप, रूपक तथा रूप्य शब्दों का प्रयोग प्राप्त है। इनमें शाब्दिक समानार्थकता होने पर भी सभी परस्पर पर्याय अर्थों के द्योतक हैं, किन्तु आजकल इनमें से मुख्यतः नाटक, नाट्य तथा रूपक शब्दों का ही प्रचलन अधिक है। सामान्यतः नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है,[2] किन्तु आजकल नाट्य या नाटक शब्द पाणिनि

---

१. मालविकाग्निमित्र १।४,

२. यद्यपि विद्वानों ने नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति नट्, नाट् आदि से मानी है। पर आजकल प्रायः नट् से ही नाट्य का विकास माना जाता है। किन्तु विद्वानों में नट् शब्द के सम्बन्ध में भी मतभेद है। मोनियर विलियम्स तथा वेबर (संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ० ५२५, ऐ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० १९७) ने नट् को नृत्त का प्राकृत रूप माना है, जबकि प्रो० मनकड (टाइप्स ऑफ दि संस्कृत ड्रामा पृ० ६) तथा डा० गुप्त (दि इंडियन थियेटर, पृ० १३६) नट् को नृत्त की अपेक्षा बाद का मानते हैं किन्तु डा० त्रिगुणायत (शा० स० सि० पृ० १७९ तथा मा० ना० सा० में उनका लेख और दशरूपक की भूमिका) नट् तथा नृत्त दोनों को ऋग्वेद में प्रयुक्त मानकर, समानरूप से प्राचीन, अतः नट् से ही नाट्य का मूलतः विकास मानते हैं। किन्तु हम उनसे सहमत नहीं हैं। सर्वप्रथम ऋग्वेद में केवल 'नट' का अस्तित्व खोजने से ही नट् से नाट्य या नाटक का विकास नहीं माना जा सकता। दूसरे, ऋग्वेद में वस्तुतः 'नट्' नहीं अपितु अभिनट् शब्द है। सायण ने इस अभिनट् को व्याप्त्यर्थक 'नश् से व्युत्पन्न मानकर इसका अर्थ 'अभिव्याप्नोतु' लिखा है (मा अभिनट्: मा अभिव्याप्नोतु, नश्यतेर्व्याप्तिकर्मणो लुङि: ऋग्वेद, सायणभाष्य ७।१०५।२३): सम्भवतः डा० त्रिगुणायत को प्राकृत शब्द से भ्रम हो गया है। वस्तुतः नट् नृत का प्राकृत रूप है, किन्तु नट् नृत से प्राचीन नहीं है। प्राकृत से संस्कृत रूप ही प्राचीन होता है। ऋग्वेद (१०।१८।१३) में नृत्त का प्रयोग है, उसका अर्थ सायण ने हिलना-डुलना किया है। अतः हमारा विश्वास है कि नृत्त के मूल अर्थ ने ही नट् का अर्थविस्तार तथा अर्थपरिवर्तन किया है। उनके सिद्धान्तकौमुदी के उद्धरण से स्पष्ट है कि नृत्त अर्थ में नट् का प्रयोग हुआ अर्थात् नृत्त नट की अपेक्षा अपने अर्थ में अधिक बद्धमूल है। नट व्यपदेश से भी यही ध्वनित होता है। वस्तुतः अभिनय का तात्पर्य नटन् से है अर्थात् नृत्त से नट का और नट से नाट्य का विकास हुआ है।

के अनुसार 'नट्' धातु से ही व्युत्पन्न माना जाता है ।[१] इसी प्रकार रूपक शब्द 'रूप्' से 'ण्वुल्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न है ।[२] भारतीय वाङ्मय में रूपक शब्द अनेक अर्थों का द्योतक रहा है, किन्तु साहित्य में यह नाट्य या नाटक का ही बोधक है । दशरूपककार के अनुसार अवस्था की अनुकृति ही नाट्य होती है, उसे ही दृश्य होने से रूप कहा जाता है । यही नाट्य रूप के आरोप होने के कारण रूपक भी कहलाता है ।[३] इससे स्पष्ट है कि नाटक तथा रूपक में अवस्थाओं का अनुकरण तथा रूप का आरोप प्रमुख होता है । इसे ही नट का कार्य होने से नाट्य भी कहा जाता है ।

इसके अतिरिक्त, नाटक के वास्तविक स्वरूप के अधिग्रहणार्थ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर ज्ञात होता है कि मनुष्य, क्योंकि निसर्गत: एक अभिव्यंजनशील प्राणी है । अत: स्वानुभूतियों को स्वेच्छित माध्यम से अभिव्यक्त करना मानव-स्वभाव है । स्वानुभूति को दूसरों की अनुभूति बनाने के लिये ही वह अभिव्यक्ति का आश्रय लेता है । वस्तुत: यह अभिव्यक्ति ही नाटक या नाट्यकला का आधार है ।

समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य से देखने पर ज्ञात होता है कि मनुष्य ने प्रारम्भ से ही दु:ख-सुख आदि से प्रसूत भावों को अभिव्यंजित करने के लिये जो-जो माध्यम अपनाये, उन्होंने ही विभिन्न कलाओं को जन्म दिया है । नाटक भी उनमें से एक है । यही कारण है कि नाटक की उत्पत्ति को मनुष्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित माना जाता है । इससे स्पष्ट होता है कि नाटक में विभिन्न माध्यमों द्वारा दु:ख-सुख आदि से प्रसूत भावों की व्यंजना की जाती है ।

दार्शनिक दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि सर्वप्रथम एकाकी मनुष्य के, एक दार्शनिक की भाँति 'एकोऽहं बहुस्याम्' के रूप में, चिन्तन के फलस्वरूप नाट्य जैसी कला का आविर्भाव हुआ । अत: स्पष्ट है कि नाटक में चिन्तन तथा भिन्न रूपाभिव्यक्ति भी प्रमुख होती है । यही नहीं, बल्कि क्योंकि यह माना जाता है कि नाटक की उत्पत्ति उस दिन हुई जिस दिन बालक ने खेल ही खेल में अपने को किसी अन्य की कल्पना की ।[४] अत: यह भी स्पष्ट है कि नाटक सामान्यत: एक ऐसा खेल है, जिसमें नट अन्य की कल्पना

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, मैकडानल, पृ० ३४६,

२. रूपकम् क्ली० (रूपयतीति, रूपिण्वुल्) नाटकम् ।
(तस्य संज्ञातुहेमाह रूपारोपात्तुरूपकम्) इत्यादि । शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थखंड पृ० १७६,

३. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते । रूपकं तत्समारोपात्—।। दशरूपक १।७,

४. दि डिवलपमेंट ऑफ ड्रामेटिक आर्ट, डोनल्डक्लाइव स्टुअर्ट, पृ० १,

करके अभिनय का खेल खेलता है या अन्य का सर्वांगीण अनुकरण तथा उसकी अभिव्यक्ति करता है।

सैद्धान्तिक रूप से यद्यपि अनुकृति अभिव्यक्ति तथा रूप के आरोप को नाटक कहा जाता है, किन्तु वस्तुतः यह नाटक का आधार मात्र है। नाट्य तत्वतः एक कला है। अतः यह आवश्यक है कि अनुकृति या अभिव्यक्ति हृदयावर्जक हो तथा उसमें कलात्मकता का समाश्रय हो। इसलिये जब संवेदनशील कलाकार सौन्दर्यभावित अनुभूति को सौन्दर्य-प्रवण बनाकर अभिव्यक्त करता है, तभी उसकी अनुकृति सौन्दर्य-कनिष्ठ होने पर नाटक कहलाती है। नाट्य में इस सौन्दर्यतत्त्व की समधिक प्रतिष्ठा है। नाट्यशास्त्र में इसी सौन्दर्य तत्त्व को लक्ष्य में रखकर समस्त रंगमंचीय प्रावधान की अनिवार्यता का विधान किया गया है। अतः नाटक एक ऐसी समाश्रित कला है, जिसमें अन्य समस्त गीत, वाद्य आदि कलायें गौण तथा सहयोगिनी बनकर नाट्य को सौन्दर्यैकनिष्ठ बनाती हुई समधिक उत्कर्ष प्रदान करती हैं। अतश्च समस्त काव्यों तथा कलाओं में नाटक ही एक मात्र ऐसी विधा है, जो सम्पूर्णता तक गतिमान रहती है।

नाटक की परिभाषा

नाटक के स्वरूप के पर्यवेक्षण करने पर यह स्पष्ट हो गया है कि नाटक एक समाश्रिता कला है। अतः नाटक की एक सूत्रात्मक संश्लिष्ट परिभाषा करना कठिन है। तथापि अनेक प्राच्य पश्चात्य विद्वानों ने इसको सुनिश्चित, सीमित तथा सर्वांगीण परिभाषा में परिसीमित करने के प्रयास किये हैं। अरस्तू ने त्रासद (ट्रेजेडी) की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "त्रासद उस व्यापार विशेष का अनुकरण है, जिसमें गंभीरता हो, पूर्णता हो, तथा जिसमें एक विशेष परिणाम हो, भाषा अलंकृत, सजीव तथा विभाषाओं से युक्त हो और शैली वर्णन प्रधान न होकर नाटकीय हो, जो करूणा तथा भयप्रदर्शन द्वारा मनोविकारों का उचित परिष्कार कर सके।[२] स्पष्ट है कि इन्होंने अन्यान्य वाह्य आवश्यकताओं के अतिरिक्त अनुकृति तथा मनोविकार के परिष्करण या विरेचन पर विशेष बल दिया है। इनके अतिरिक्त सिसरो, ह्यूगो, सार्से तथा निकाल आदि अन्य पाश्चात्य विचारकों ने भी इन्हीं के कुछ संशोधन तथा स्पष्टीकरण के रूप में अपने विचार उपन्यस्त किये हैं। इनमें कोई नाटक को जीवन की प्रतिलिपि कहता है, तो कोई प्रकृति को प्रतिबिम्बत करने वाला दर्पण। कोई जीवन के प्रतिनिधित्व का साधन मानता है, तो कोई जीवन की अभिव्यंजन कला।

---

१. दि डिवलपमेंट ऑफ ड्रामेटिक आर्ट, डोनल्डक्लाइव स्टुअर्ट, पृ० १,

२. आन दि आर्ट ऑफ पोयट्रीः अरस्तू, पृ० ३५,

सामान्यतः पाश्चात्य विद्वानों ने अनुकरण की यथार्थता पर बल दिया है। यद्यपि आनुषंगिक रूप से कुछ तत्त्वों का भी निर्देश किया गया है, किन्तु उनमें समन्वय का अभाव है।[1] उनका विवेचक प्रायः एकांगी रहा है। उनकी दृष्टि बाह्य-रूप-रेखा पर विशेष जमी है, अन्तस्तत्त्वों पर नहीं।

यद्यपि भारतीय साहित्य-शास्त्री भी नाटक या रूपक के मूल में अनुकरण-भावना को ही प्रधान मानते हैं, परन्तु उन्होंने अपनी व्यापक विवेचनशक्ति द्वारा पूर्णता तक पहुँचने की चेष्टा की है। नाट्यशास्त्र के आचार्य मुनि भरत ने संपूर्ण त्रैलोक्य के भावानुकीर्तन को नाटक मानते हुए लिखा है—"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।"[2] मुनि भरत ने यहाँ अनुकृति के साथ भाव अर्थात् रस को भी प्रमुखता दी है। इसी को और भी स्पष्ट करते हुए तथा मूलभूत अन्य संश्लिष्ट तत्त्वों का निर्देश करते हुए आगे लिखा है—

'नानाभावोपसंपन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्॥[3]

यहाँ भरत ने भावरूप में रस की, अवस्था के रूप में रचनात्मक तत्त्वों की तथा अनुकरण के रूप में अभिनय तत्त्व की प्रतिष्ठा की है। मुनि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में नाटक का सर्वांगीण सूक्ष्म विश्लेषण किया है। एक-एक तत्त्व को अनेक प्रकार से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त परिभाषा को स्पष्ट करते हुए उन्होंने अन्यत्र लिखा है—

'यस्मात्स्वभावं संस्कृत्य सांगोपांगगतिक्रमैः।
अभिनीयते गम्यते च तस्माद्वै नाटकं स्मृतम्॥[4]

तथा यो यः स्वभावो लोकस्य नानावस्थान्तरात्मकः।
सांगाभिनयोपेतः नाट्यमित्यभिधीयते॥'[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भरत के अनुसार नाटक में अवस्थानुकरण, भावानुकरण एवं वृत्तानुकरण सांगोपांग तथा यथार्थ रूप से होना परमावश्यक है। यहाँ इन अवस्था, भाव तथा वृत से भरत का तात्पर्य क्रमशः नेता, रस तथा वस्तु तत्त्व से है। धनंजय ने भी नाटक की इसी प्रकार परिभाषा करते हुए

---

१. नाट्यकलाः डा० रघुवंश, पृ० ७,
२. नाट्यशास्त्र, १।१०४,
३. वही, १।१०८–९,
४. वही, २१।१२५,
५. वही, २१।१२३,

लिखा है:—

"अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपाद् दशधैव रसाश्रयम् ।।"[1]

इन्होंने भी समन्वित रूप से अवस्थानुकरण, रूपानुकरण तथा रस अर्थात् भावानुकरण को प्रमुखता दी है । धनंजय के अनुसार दशरूपकों को मुख्यतः रसाश्रित होना आवश्यक है । इसी प्रकार अन्यान्य अनेक विद्वानों ने परिभाषायें दी हैं, सभी में प्रायः आत्मभूत रस को प्रमुख मानकर अन्य तत्त्वों का निर्देश किया गया है । अतः भारतीय विचारधारा के अनुसार नाटक एक ऐसा अनुकरण है जिससे दर्शकों को रसास्वाद मिल सके । उपर्युक्त समग्र-विचारों के पर्यवेक्षण के पश्चात् निष्कर्ष रूप में यदि हम समन्वित तथा संश्लिष्ट परिभाषा करें, तो कह सकते हैं कि 'नाटक, त्रैलोक्य की भी सर्वांगीण यथार्थ अनुकृति पर आधारित एक रस प्रधान अभिनेय काव्य है ।" इससे स्पष्ट है कि नाटक में (१) यथार्थ अनुकृति, तथा (२) रस की प्रधानता आवश्यक है ।

नाट्य विधान एवं उसके मूलतत्त्व

नाटक के स्वरूप तथा परिभाषा के विवेचन-प्रसंग में आनुषंगिक रूप से नाटक की कुछ आधारभूत आवश्यकताओं तथा परिसीमाओं का उल्लेख हुआ है, किन्तु नाटककार इनसे कभी भी नियमित नहीं होता । नाटककार सर्वप्रथम एक कलाकार है, साहित्यकार है, अतः वह सर्वतंत्र स्वतंत्र होता है । स्वेच्छित प्रकार से प्रतिभा का प्रयोग करता है तथा स्वतंत्र चिन्तन के अनुरूप नवनवोद्भावना करता रहता है । कलाकार की कला का यदि नियमन तथा परिसीमन कर दिया जाय तो उसका सृजन यथार्थहीन हो जाता है, प्रतिभा-कुंठित हो जाती है तथा मौलिकता पर आवरण पड़ जाता है । फलतः वह नवनवोद्भावना नहीं कर सकता । तथापि, कलाकार स्वयं, क्योंकि विचार और अभिव्यक्ति दोनों की एक विशेष पद्धति अपना लेता है, अतः वह स्वयंनिर्मित परंपरा के रूप में उससे नियमित होकर ही कलाविधान करता है । समालोचक भी उसकी पद्धति-विशेष का सूक्ष्म अध्ययन करके उन्हें स्थूल रूप देता है और उन्हीं के आधार पर समीक्षण, परीक्षण तथा मूल्यांकन आदि किया जाता है । भारतीय साहित्यशास्त्रियों तथा नाट्यशास्त्रियों ने भी नाटकों के रूपविधान तथा शिल्प-विधान के सम्बन्ध में पर्याप्त व्यवस्था दी है । सामान्यतः उसी के आधार पर संस्कृत नाटकों का समीक्षण परीक्षण किया जाता रहा है ।

यद्यपि नाटकों के समीक्षण परीक्षण तथा मूल्यांकन में शास्त्रीय सैद्धान्तिक व्यवस्था को अपनाया जाना स्वभाविक है, किन्तु संस्कृत के अधिकांश नाटकों का सृजन भी शास्त्रीय सिद्धान्तों को आधार मानकर परंपरा के रूप में हुआ है । फलतः

---

१. दशरूपक १।७,

संस्कृत नाटकों का रूप-विधान तथा शिल्प-विधान प्रायः रूढ़-सा है। रूप-विधान की दृष्टि से पूर्वरंग, नान्दी, प्रस्थापना, कथोद्घातक तथा अंक-विभाजन आदि के सम्बन्ध में अनेक नाट्य-ग्रन्थों में अत्यधिक विस्तार से व्यवस्था दी गई है।[1] सामान्यतः नाटक में रूपविधान की अपेक्षा सर्वाधिक विशेषता शिल्पविधान की है। अतएव भारतीय आचार्यों ने शिल्पविधायक तत्त्वों का सूक्ष्म, गंभीर तथा व्यापक विवेचन किया है।

नाट्यशिल्प की दृष्टि से नाट्याचार्यों ने नाटक के मूलतत्त्व तीन माने हैं--वस्तु, नेता तथा रस। नाटक की परिभाषा के प्रसंग में भी हम वृत्त, भाव तथा अभिनय के रूप में इन्हीं का निर्देश कर आये हैं। दशरूपककार ने "वस्तुनेता रसस्तेषां भेदकः" कहकर इन्हीं ३ तत्त्वों का उल्लेख किया है।[2] यद्यपि कुछ विद्वान् दशरूपकोक्त ३ तत्त्वों को भेदक मात्र मानते हैं तथा वृत्ति और अभिनय को भी तत्त्वों में स्वीकार करके ५ तत्त्व मानते हैं,[3] किन्तु अभिनय तथा वृत्ति इन्हीं तत्त्वों में समाहित तथा संश्लिष्ट है। अतः इन्हें तत्त्व मानना उचित प्रतीत नहीं होता। मुख्यरूप से वस्तु, नेता, तथा रस ही ऐसे तत्व हैं, जिनके आधार पर समस्त नाट्यप्रासाद खड़ा किया जाता है। यही नहीं, बल्कि, इन्हीं भेदक तत्त्वों के आधार पर रूपकों की अनेक-रूपता का प्रस्तार हुआ है। रूपक के दशभेद तथा उपरूपकों के १८ भेदों का रूप विकास स्वयं एक वृहद् विवेच्य विषय है। प्रो० मनकड ने "टाइप्स ऑफ दि संस्कृत ड्रामा" में तथा

---

१. देखिये, साहित्य दर्पण षष्ठ परिच्छेद, दशरूपकः प्रथम प्रकाश तथा नाट्य-शास्त्र का २१।११७--१२० आदि।

२. दशरूपक १।११,

३. देखिये शा० स० सि० डा० त्रिगुणायत, पृ० १८८, १८९, डा० त्रिगुणायत ने वृत्ति तथा अभिनय को समतत्त्व माना है जबकि वस्तु नेता तथा रस को भेदकत्त्व। इस प्रकार समविषम दोनों को संयुक्त करके ये ५ तत्त्व मानने के पक्ष में हैं। किन्तु वास्तव में वृत्ति 'नाट्य मातरः' कही जाने पर भी तत्त्व नहीं हैं। पात्रों के कायिक, वाचिक और मानसिक व्यापार वैचित्र्य को वृत्ति कहते हैं, तथा ये रस की कारण होती हैं (वर्तंते रसोऽनयेति वृत्तिः)। अतः इनकी वस्तु, पात्र तथा रस से पृथक सत्ता स्वीकार करना असंभव है। अभिनय के बिना नाटक के स्वरूप की संभावना नहीं की जा सकती। अभिनय नाटक की एक आवश्यकता है। वस्तु नेता, रस के साथ स्वभावतः इसका सम्बन्ध है। अतः इसे भी पृथक् मानना ठीक नहीं है।

अन्य अनेक विद्वानों ने यत्र तत्र इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है,[1] जो कि वहीं द्रष्टव्य है।

वस्तुतः नाटक के इन मूलभूत ३ तत्त्वों में भारतीय मान्यता के अनुसार 'रस' का सर्वाधिक महत्त्व है। यही बात नाटक की परिभाषा से भी स्पष्ट हो चुकी है। इसी कारण यहाँ न केवल नाट्य की, अपितु काव्य की भी आत्मा रस स्वीकार किया गया है और इसका साम्य "रसो वै सः" के रूप में ब्रह्मानन्द से माना गया है। परन्तु पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार "पात्र" या नेता तत्त्व का सर्वाधिक महत्त्व है। इसी कारण पाश्चात्य विद्वानों ने चरित्र-चित्रण के ऊपर अधिक बल दिया है। यद्यपि वस्तुतः काव्य की आत्मा होने से "रस" का निःसन्देह अत्यधिक महत्त्व है, तथा रसोन्मीलन का आधार चरित्र-चित्रण होने से नेता का भी कम महत्त्व नहीं है। किन्तु हमारी मान्यता है कि रस तथा नेता (चरित्र-चित्रण) से भी "वस्तु" तत्त्व मुख्य हैं। यद्यपि "रस" आदि का महत्त्व अपने-अपने दृष्टिकोण से अधिक है, किन्तु उसका आधार "वस्तु" ही है। नाटक में जैसी वस्तु होगी उसी के अनुसार पात्र तथा उनका चित्रण होगा और उसी के अनुरूप रसोन्मीलन होगा। अतः वस्तु ही एक ऐसा तत्त्व है जिसकी उत्कृष्टता तथा भिन्नता के अनुसार पात्रों का चरित्र-चित्रण तथा रसोन्मेष भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। रूपकों के पात्र तथा रस की जो भेद-सीमा होती है, उसका भी मूल कारण वस्तु है। और, सम्भवतः यही कारण है कि इन तीन तत्त्वों में वस्तु का सर्वप्रथम परिगणन किया गया है। भारतीय आचार्यों ने इस वस्तु तत्त्व का न केवल स्वरूप की दृष्टि से अपितु नेता तत्त्व के कार्य आदि की दृष्टि से भी सूक्ष्म विवेचन किया है।[2] यहाँ अप्रासंगिक होने से विशेष विस्तार में जाना उपयुक्त नहीं है। हमें यहाँ केवल यही कहना अभीष्ट है कि नाटक के मूल तत्त्व—वस्तु, नेता तथा रस हैं। इनमें भी नाट्य विधान की दृष्टि से 'वस्तु तत्त्व' का ही सर्वाधिक महत्त्व है।

संस्कृत नाटकों का वर्गीकरण

प्रायः साहित्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में सामान्यतः संस्कृत के नाटकों का व्यवस्थित एवं व्यापक वर्गीकरण प्राप्त नहीं होता है। उनमें जहाँ कहीं संस्कृत के

---

१. रूपक तथा उपरूपकों की संख्या के सम्बन्ध में भी प्राचीन आचार्यों में मतभेद है, इसके लिए देखिये, भा० ना० सा० में "संस्कृत नाट्यशास्त्र में रूपक का स्वरूप तथा भेद प्रभेद" डा० त्रिगुणायत का लेख, तथा टाइप्स ऑफ दि संस्कृत ड्रामा : मनकड, पृ० ३९,

२. देखिये दशरूपक, १।११–१३, १।१७, १८, १।१९–२०, १।५६–५८, में क्रमशः वस्तु का स्वरूप, फल, कार्य, अभिनय की दृष्टि से भेद प्रभेद।

विशाल नाट्यसाहित्य का विवेचन किया गया है, वहाँ केवल भेद प्रभेद तथा स्वरूपगत धुंधली सीमाओं का निर्देश मात्र किया है। उदाहरण के लिये नाट्य ग्रन्थों में विशाल नाट्यसाहित्य को रूपक तथा उपरूपक दो वर्गों में विभक्त किया गया है।[1] इस भेद व्यवस्था का मुख्य आधार इनकी स्वरूप आदि की विशेषता है। रूपक नाट्य-विधा है तो उपरूपक नृत्य की। रूपक रसाश्रय है तो उपरूपक काललयाश्रय मात्र। इसी प्रकार इनकी अन्यान्य मूलभूत विशेषताओं के कारण इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है। इनमें एक कला की दृष्टि से चरम उत्कृष्टता का निदर्शन है तो दूसरा निम्नस्तर का। इसी प्रकार उपरूपकों को भी दो वर्गों में विभक्त किया गया है। भावाश्रय नृत्य को मार्ग तथा काललयाश्रित नृत्य को देशी कहा गया है।[2] इन दोनों के भी पुनः क्रमशः लास्य तथा ताण्डव की विशेषता से युक्त होने के कारण मधुर तथा उद्धत भेदों का निर्देश किया गया है।[3] किन्तु उपर्युक्त भेद प्रभेद के आधार पर संस्कृत के विशाल नाट्यसाहित्य का न तो पूरा-पूरा वर्गीकरण ही सम्भव है और न वह विवेचन की दृष्टि से उपयुक्त ही है। अतः हम इसे नाटकों के सर्वांगीण विवेचन की दृष्टि से ग्राह्य नहीं मानते।

डा० वी० राघवन ने दशरूपकों की प्रकारगत विशेषताओं के आधार पर समस्त रूपकों को शौर्यप्रधान (Heroic Drama) तथा सामजिक (Social Drama) दो वर्गों में विभक्त किया है।[4] डा० दशरथ ओझा ने इन्हें क्रमशः आदर्शोन्मुख तथा यथार्थोन्मुख नाम दिया है।[5] डा० राघवन् ने आदर्शोन्मुख में नाटक, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग और अंक को परिगणित किया है, जबकि यथार्थोन्मुख में प्रकरण भाण, प्रहसन तथा बीथी को।[6] यह वर्गीकरण भी केवल नाटकों के विकास की दृष्टि से किया गया है। अतः विशाल नाट्यसाहित्य के अध्ययन की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व नहीं है।

दशरूपककार ने रसाश्रित दशरूपकों के जिन वस्तु, नेता, तथा रस–तीन भेदक तत्त्वों का निर्देश किया है, उनके आधार पर भी समस्त नाटकों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—वस्तु-प्रधान (या घटना-प्रधान), पात्र-प्रधान तथा रस-

---

१. साहित्य दर्पण ६।३००–३,
२. दशरूपक, १।६,
३. वही १।१०,
४. दि सोशल प्ले इन संस्कृतः वी० राघवन्, पृ० १–६,
५. नाट्यसमीक्षाः दशरथ ओझा, पृ० १०,
६. दि सोशल प्ले इन संस्कृतः वी० राघवन्, पृ० १–६,

प्रधान। इसके अतिरिक्त दशरूपकोक्त ३ मूल तत्त्वों के आधार पर और भी सूक्ष्म वर्गीकरण किया जा सकता है :

(१) **रस के आधार पर:**—भारतीय आचार्यों ने नाटक में अंगीरस के सम्बन्ध में केवल २ रसों—वीर, शृंगार का विधान किया है।[1] किन्तु प्रतिभाशाली क्रान्तिकारी लेखक लक्षणग्रन्थों के अनुसार नाटक नहीं रचता है। अतः करुण तथा शांत आदि रसों का भी अंगीरस के रूप में विनियोग हुआ है, तथापि स्वतन्त्र रूप से सभी ६-१० रसों पर आश्रित नाटकों का अभाव है। अतः समस्त रसों के आधार पर ६-१० भागों में नाट्यसाहित्य को विभक्त करने की अपेक्षा ५ भागों में विभक्त करना उचित है। शृंगारप्रधान, वीरप्रधान, करुणप्रधान, शान्तप्रधान तथा अन्य। किन्तु यह वर्गीकरण भी केवल रस विवेचन की दृष्टि से उपयोगी हो सकता है, नाटकों के सर्वांगीण विवेचन की दृष्टि से नहीं। अतएव हम इसे ग्राह्य नहीं मानते।

(२) **पात्रों के आधार पर:**—नेता तत्त्व को आधार बनाकर पात्रों की बहुलता या अभाव के आधार पर समस्त नाटकों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—नायिकाप्रधान तथा नायकप्रधान। इसके अतिरिक्त एक पात्र वाले को एकाकी, (एक पात्री) दो पात्र वाले को युग्म (द्वि पात्री) आदि के रूप में भी विभागीकरण सम्भव है, किन्तु यह सर्वथा अनुपयोगी तथा अपूर्ण है। नाट्यकला के समीक्षण की दृष्टि से इस वर्गीकरण का किंचिदपि महत्त्व नहीं है।

(३) **वस्तु के आधार पर:**—वस्तु तत्त्व के आधार पर नाट्यसाहित्य का कई प्रकार से वर्गीकरण सम्भव है। उपजीव्यता के आधार पर प्रख्यातवस्तुप्रधान, उत्पाद्यवस्तुप्रधान तथा मिश्रवस्तुप्रधान वर्गीकरण किया जा सकता है, किन्तु न तो यह व्यवस्थित है और न विवेचन में विशेष सहायक ही। इसी प्रकार साहित्य विधाओं के आधार पर वैदिक नाटक, पौराणिक नाटक, महाभारत नाटक आदि वर्ग सम्भव हैं, किन्तु ये भी अत्यन्त सामान्य तथा एकांगी हैं। इसी प्रकार कालगत साहित्य के आधार पर भी वैदिककालीन, महाकाव्यकालीन, बौद्धकालीन आदि वर्ग बनाये जा सकते हैं। किन्तु ये भी अधिक उपयोगी प्रतीत नहीं होते हैं। सामान्यतः उपर्युक्त ३ तत्त्वों के आधार पर नाटकों का वर्गीकरण किया अवश्य जा सकता है, किन्तु वह सामान्य तथा एकांगी होगा। उसमें सार्वदेशिकता तथा सर्वकालिकता का अभाव होगा। यही नहीं, बल्कि समीक्षण की दृष्टि से अनुपयुक्त तथा भ्रांतिकर भी होगा। अतः हम कथावस्तु के आधार पर ही उनकी विशेषताओं को सम्मुख रख कर व्यापक वर्गीकरण करना उचित समझते हैं।

---

१. **"एक एव भवेदंग शृंगारो वीर एव वा" साहित्य दर्पण** ६।३०७,

प्रमुखतः विषयगत विशेषता के आधार पर हम समस्त नाट्यसाहित्य को निम्न भागों में विभक्त कर सकते हैं —

(१) पौराणिक, (२) सामाजिक, (३) रूपकात्मक (प्रतीकात्मक) (४) ऐतिहासिक तथा (५) अन्य ।

(१) **पौराणिक नाटकः**—पौराणिक नाटकों से हमारा अभिप्राय उन नाटकों से है, जिनमें प्रागैतिहासिक, दैवी तथा प्राचीन पुराकथात्मक इतिवृत्त को उपजीव्य बनाया गया हो या पौराणिक शैली अपनायी गई हो। अतः केवल पुराणग्रन्थों पर आधारित नाटकों को पौराणिक नाटक मानना उचित नहीं है। और क्योंकि प्राप्त पुराणों में इतिहास भी है, पुराण भी है। अतः पुराणों में प्राप्त पुराकथाओं पर आधारित नाटकों को ही पौराणिक कहना उचित है। इसके अतिरिक्त रामायण-महाभारत को भारतीय परम्परा में यद्यपि इतिहास माना जाता रहा है, तथापि इनकी पूर्ण ऐतिहासिकता का निश्चय अभी नहीं हुआ है और इनमें पौराणिक तत्त्व भी अधिकांश में परिव्याप्त हैं। अतः इन्हें भी पौराणिक संज्ञा प्राप्त है। यही कारण है कि हम रामायण तथा महाभारत पर आधारित नाटकों को पौराणिक नाटक कहना उचित समझते हैं। इसी प्रकार प्राचीन वाङ्मय में भी प्रायः उपाख्यान शब्द पुराण के पर्याय के रूप में प्रयुक्त है। अतः वैदिक आख्यानोपाख्यानों पर आधारित या वैदिक साहित्य पर आधारित नाटकों को भी पौराणिक नाटक कहना उपयुक्त है। यही नहीं, बल्कि अर्वाचीन आदर्शप्रधान, धार्मिक तथा भक्तिपरक इतिवृत्त को अति-रंजनात्मक, कल्पनाप्रधान पौराणिक शैली में रूपायित करने के कारण उन्हें पौराणिक नाटक ही कहना अधिक उचित समझते हैं।

उपर्युक्त निर्देश के पश्चात् हम कह सकते हैं कि पौराणिक नाटकों में दो तत्त्व प्रायः प्राप्त होते हैं — (१) पौराणिक शैली अर्थात् अतिशयोक्ति, अलौकिकता, अतिरंजनात्मकता, असाधारण चरित्र, चमत्कार-प्राधान्य तथा दैवी तत्त्वों का विनि-योग। (२) कथा-पुराकथा के रूप में धार्मिक-वृत्त वीरवृत्त तथा देवाख्यानपरक इतिवृत्त आदि। अतः हम रामकथा, कृष्णकथा, अन्य प्राचीन धार्मिक कथा, महाभारत, पुराकथा, वैदिक उपाख्यान तथा पौराणिक शैली में उपनिबद्ध आदर्शचरित्र, धार्मिक चरित्र तथा संतचरित्र पर आधारित नाटकों को पौराणिक नाटकों के अन्तर्गत मानते हैं। उत्तररामचरित्र, अभिज्ञानशाकुन्तल, वेणीसंहार आदि संस्कृत के अधिकांश नाटक इसी वर्ग में आते हैं।

(२) **सामाजिक नाटकः**—सामाजिक नाटकों से अभिप्राय उन नाटकों से है जिनमें सामाजिक इतिवृत्त को नाटक का आधार बनाया जाता है। प्रायः ऐसे नाटकों में समकालीन धार्मिक, आर्थिक तथा राजनैतिक आदि समस्या पर आधारित कथानक

को ही रूपायित किया जाता है। इन नाटकों में पात्र काल्पनिक तथा वास्तविक दोनों प्रकार के हो सकते हैं। सामान्यतः इनमें आधुनिक विषयों पर आधारित समस्या-प्रधान नाटक आते हैं।

यदि प्राचीन सामाजिक वस्तु को आधुनिक काल में उपजीव्य बनाकर नाटक लिखा जाये तो वह सामाजिक होने पर भी ऐतिहासिक नाटक के समान ही महत्त्वपूर्ण होगा। अतः प्राचीन कालीन सामाजिक नाटक को भी हम ऐतिहासिक नाटकों के समान महत्त्वपूर्ण समझते हैं। यदि ऐसे नाटकों में कदाचित् प्रासंगिक रूप से ऐतिहासिक वृत्त हो या राजनैतिक वातावरण हो तो ऐसे नाटकों को ऐतिहासिक नाटक मानना ही उचित होगा। उदाहरण के लिये बीसवीं सदी के गांधीविजय तथा भारत-विजय सामाजिक नाटक हैं, किन्तु मृच्छकटिक को सामाजिक नाटक होते हुए भी हम ऐतिहासिक नाटक के समान उपयोगी समझते है।

(३) **रूपकात्मक (प्रतीकात्मक) नाटकः**—रूपकात्मक नाटकों में वे नाटक आते हैं, जिनमें अमूर्ततत्त्वों की मूर्तकल्पना या लाक्षणिक तथा प्रतीकात्मक तत्त्वों पर सजीव पात्रों का आरोप करके रूपकशैली में नाट्ययोजना की जाती है। ऐसे नाटकों में श्रद्धा, भक्ति, विवेक आदि अमूर्त तथा भाववाचक तत्त्वों को मूर्तपात्रों के समान नाटकीय रूप दिया जाता है। इन नाटकों में—प्रायः वस्तु उत्पाद्य तथा आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक होती है। कभी-कभी इनमें सांसारिक सामाजिक या ऐतिहासिक घटनाओं का तथा १–२ वास्तविक पात्रों का भी विनियोग किया जाता है। प्रायः ऐसे नाटक धार्मिक तथा व्यंग्यप्रधान होते हैं। प्रबोधचन्द्रोदय, चैतन्य-चन्द्रोदय आदि नाटक इसी प्रकार के हैं।

(४) **ऐतिहासिक नाटकः**—ऐतिहासिक नाटकों में वे नाटक आते हैं जिनमें किसी न किसी रूप में इतिहास का विनियोग होता है। कथा-वस्तु प्रासंगिक या आधिकारिक रूप से ऐतिहासिक होती है; प्रधान या गौण पात्र ऐतिहासिक अवश्य होते हैं, अथवा पात्रों पर ऐतिहासिकता का आरोप अर्थात् इतिहासीकरण होता है। स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण तथा मुद्राराक्षस आदि नाटक इसी प्रकार के नाटक हैं।

(५) **काल्पनिक आदि अन्यः**—उपर्युक्त नाटक के प्रकारों से अवशिष्ट नाटकों को इस वर्ग में रख सकते हैं। जैसे कुछ नाटक नितान्त काल्पनिक होते हैं, उनकी वस्तु, पात्र आदि सभी कल्पना द्वारा अभिसृष्ट होती है उन्हें इस वर्ग में रखा जा सकता है। किन्तु, संस्कृत में ऐसे नाटक बहुत स्वल्प हैं, जो कि उपर्युक्त नाट्य प्रकारों के अन्तर्गत न आ सकें। अतः नाटकों के सर्वांगीण विवेचन की दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकरण को हम व्यवस्थित तथा अधिक उचित समझते हैं।

ऐतिहासिक नाटक

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक हमारे प्रबन्ध का विवेच्य विषय है। इसके 'ऐतिहासिक नाटक' शब्द से स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध इतिहास से नहीं, अपितु इतिहास पर आश्रित नाटकों से है। अतः नाट्य तत्त्व ही इसमें प्रमुख है, इतिहास नहीं; तथापि, इन नाटकों में इतिहास का विनियोग किसी न किसी रूप में आवश्यक होता है। यही कारण है कि इतिहास तथा कल्पना के विनियोग-प्रकार के आधार पर इनके अनेक प्रकार संभव है। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् पौराणिक नाटकों को भी ऐतिहासिक कहना उचित समझते हैं तो कुछ प्रागैतिहासिक नाटकों को भी। अतः इन नाटकों के उपजीव्यभूत इतिहास का स्वरूप तथा प्रकार आदि भी पृथक् विवेच्य विषय है। अतएव हम ऐतिहासिक नाटकों के विवेचन से पूर्व इतिहास के स्वरूप, प्रकार तथा उनके विनियोग-प्रकार से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का समाधान तथा स्पष्टीकरण आवश्यक समझते हैं। यही नहीं, बल्कि मुख्यतः संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक अन्य भाषाओं के ऐतिहासिक नाटकों से कुछ भिन्न तथा विशेष प्रकार के होते है, अतः अग्रिम अध्यायों में उनके अध्ययन से पूर्व इन सब विषयों पर आवश्यकतानुसार संक्षिप्त प्रकाश डालेंगे।

२

इतिहास और ऐतिहासिक नाटक

इतिहास ऐतिहासिक नाटक का मूलआधार है। इतिहास की भूमि पर ही ऐतिहासिक नाटक का प्रासाद खड़ा किया जाता है। यद्यपि ऐतिहासिक नाटक सर्वप्रथम नाटक है, तथापि आधारभूत इतिहास के बिना उस नाटक की रचना असम्भव है। अतएव ऐतिहासिक नाटककार को ऐतिहासिक नाटक के सृजन के लिए किसी न किसी रूप में वस्तु, पात्र आदि तत्त्व इतिहास से ही सँजोने पड़ते हैं। किन्तु, इतिहास अनेक रूपात्मक है। इतिहास के भी अनेक स्रोत होते हैं तथा इतिहास का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। अतः नाटककार कहाँ से, किस रूप में इतिहास का चयन करता है, यह उसकी मान्यता, प्रतिभा, उद्देश्य तथा अभिरुचि पर निर्भर करता है। इसी प्रकार यह इतिहास की सीमा में आकर इसे ही क्यों उपजीव्य बनाता है तथा इसके भी किसी विशेष स्थल या प्रसंग को ही क्यों रूपायित करता है, आदि प्रश्न भी उसके उद्देश्य तथा अभिरुचि से सम्बन्धित हैं। तथापि, यह सब ऐतिहासिक नाटकों के अध्ययन की दृष्टि से अनुसन्धेय हैं। अतः यहाँ विशेष विस्तार का अवसर न होते हुए भी, इस पर संक्षेप में प्रकाश डालना आवश्यक है।

इतिहास का स्वरूप, परिभाषा एवं क्षेत्र

सामान्यतः भूतकालीन तत्वों की खोज तथा उनके विवरण को ही इतिहास माना जाता है।[१] भारत में इतिहास के लिए पुरावृत्त, उपाख्यान, पुराणोपाख्यान, पुरावृत्तोपाख्यान आदि शब्द भी प्रचलित रहे हैं।[२] इंगलिश में इसे हिस्ट्री कहा जाता है। हिस्ट्री शब्द ग्रीक हिस्टोरिया का तत्सम है, जिसका अर्थ है तलाश, खोज, अनु-

---

१. ए स्टडी आफ हिस्ट्री: ए० जे० टायनबी, वाल्यूम १, १९४८, पृ० ४४१,

२. इंगलिश संस्कृत डिक्शनरी: मोनियर विलियम्स, १९५६, पृ० ३४५, तथा अमरकोष १।६।४,

सन्धान, सूचना आदि ।[1] इतिहास शब्द भी यही अर्थ रखता है, इति+ह+आस= इस प्रकार निश्चय रूप से हुआ ।[2] अतः इतिहास में घटनाओं के क्रमिक वर्णन तथा निश्चयात्मकता का होना आवश्यक है ।

साधारणतः इतिहास-निर्माण के दो मूलभूत आधार हैं । मनुष्य तथा भूमि । अतः किसी भी देश के मनुष्यों के क्रिया-कलापों को, जो कि प्रवहमान समय के प्रवाह के साथ प्रवाहित हो रहे हैं, यदि कोई शास्त्र संग्रह करता है तो वह केवल इतिहास है । अतएव माना जाता है कि "भूतकालीन तथ्यों का कालक्रम से संग्रह ही इतिहास है ।"[3] इसी प्रकार कुछ विद्वान् इतिहास को "काल के सूत्र में पिरोई हुई घटनाओं की माला"[4] कहना अधिक उचित मानते हैं ।

निःसन्देह, इतिहास के निर्माण में काल तथा घटना दोनों का समान महत्त्व है । काल से पृथक इतिहास का कोई स्वरूप सम्भव नहीं है । काल की भित्ति पर ही इतिहास की इमारत निर्मित होती है ।[5] इतिहास का निर्माण काल पर होता है, और उस निर्धारण का आधार है घटनायें । अतः हम काल तथा घटनाओं को इतिहास के दो प्रमुख आयाम मान सकते हैं । इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि "मनुष्य के अतीत की घनाओं का निश्चयात्मक ज्ञान ही इतिहास है । आज की प्रत्येक घटना कल इतिहास का रूप ले लेगी । इस प्रकार इतिहास में अतीत काल से सम्बन्धित मनुष्यों की सभी महत्त्वपूर्ण घटनाओं, प्रयत्नों तथा चरित्रों का विवरण होता है । विवरण शब्द से स्पष्ट है कि इतिहास में उन घटनाओं का निश्चयात्मक रूप से क्रमिक वर्णन आवश्यक है ।

प्रत्येक इतिहासकार को किसी भी देश या जाति का इतिहास निर्माण करते समय देश की स्थिति, प्राकृतिक अवस्था, सांस्कृतिक सीमाएँ, भौगोलिक संकाय,

---

१. एन्साइक्लोपेडिया आफ सोशल साइन्सेज, भाग ७, पृ० ३५६ : देखो—नाथूराम प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, १९४६, पृ० २७४, वस्तुतः जर्मन धातु गैशेरन (Gusherhen) से निर्मित गेशिष्टे (Geechichte) शब्द के अर्थ से हिस्ट्री के प्रचलित अर्थ वाले शब्द में विशेष साम्य है । क्योंकि गेशिष्टे भी घटनाओं पर विशेष बल देता है ।

२. 'इति+इत्थं, ह+निश्चयेन, आस+बभूव,' ।

३. ए न्यू इंगलिश डिक्शनरी: एच० ए० मरे, १९०१, पृ० ३०४,

४. अनुसन्धान और प्रक्रिया : (इतिहास और साहित्य) डा० ताराचन्द्र, १९६०, पृ० १५५,

५. वही ।

स्थानीय आवास-प्रवास, भाषा तथा सांस्कृतिक विनियोग आदि के सम्बन्ध में समुचित ज्ञान होना आवश्यक होता है। इसके अतिरिक्त इतिहास में काल-निर्णय तथा साक्षियों की साख की जाय, ये दोनों भी आवश्यक हैं।[१] इसीलिए वह अन्य विज्ञानों का समाश्रय ग्रहण करता है। अतः स्पष्ट है कि इतिहास केवल स्वाश्रित नहीं, अपितु पराश्रित है। इसमें अन्य शास्त्रों तथा विज्ञानों का विनियोग आवश्यक है।

अर्वाचीन दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास एक विज्ञान है। विज्ञान में प्रायः साधारण नियमों की व्याख्या तथा तुलनात्मक आधार पर उनका प्रयोग किया जाता है।[२] इसमें भी तथ्यों का अन्वेषण, शोध तथा प्रमाणों की साक्षी अपेक्षित होती है। अतः दोनों में साम्य है। यही नहीं, बल्कि आर्कियॉलाजी, एथ्नालाजी, फ़िलालॉजी, ज्याग्राफी, क्रानोलाजी आदि विज्ञान इतिहास के प्रमुख अंग हैं। मुख्यतः क्रानोलाजी तथा ज्याग्राफी को तो सूर्यचन्द्र के समान इतिहास की दो आँखें कहा जाता है।[३] स्पष्ट है कि इतिहास में अन्यान्य विज्ञानों के आधार पर भूतकालीन तत्वों तथा तथ्यों का अन्वेषण, प्रमाणीकरण तथा उन्हें क्रमिक एकरूपता देने का प्रयास रहता है। इस दृष्टि से इतिहास विज्ञान है।

यद्यपि यह सच है कि इतिहास में वैज्ञानिकता रहती है। अवैज्ञानिक प्रकार से इतिहास की घटनाओं का कालक्रम निश्चित कर देने मात्र से इतिहास इतिहास नहीं कहा जा सकता। किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर भी हैं। इतिहास विज्ञान के समान पदार्थ का प्रत्यक्षीकरण, पृथक्करण तथा प्रयोग नहीं कर सकता। इतिहासकार का पदार्थ काल में है, स्थल में नहीं।[४] अतः इतिहास अन्य विज्ञानों के समान विज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त अनुमान-प्रक्रिया तथा संश्लिष्ट संभाव्यता के आधार पर इतिहास में एकरूपता लाने के लिये कल्पना का विनियोग भी आवश्यक होता है।[५] टॉयनवी के शब्दों में इतिहासकार जनता के भावों तथा विचारों की अभिव्यक्ति के क्षेत्र में कल्पना का आश्रय लेने को विवश है।[६] यही कारण है कि ऐतिहासिक कही जाने वाली घटनाओं में पूर्ण निश्चयात्मकता न होकर कल्पना तथा

---

१. अनुसन्धान और प्रक्रियाः (इतिहास और साहित्य) डा० ताराचन्द्र, १९६०, पृ० १५५,
२. ए स्टडी आफ हिस्ट्रीः टायनवी, भाग १, पृ० ४४१,
३. 'जोग्राफी एन्ड क्रोनोलाजी आर दी सन एन्ड दी मून दी राइट आइ एण्ड लैफ्ट आफ आल हिस्ट्री'।
४. देखो—नाथूराम प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २७४,
५. देखो, वही, पृ० २७६,
६. ए स्टडी आफ हिस्ट्री, भाग १, पृ० ४४५,

संभावना का व्यापार भी होता है। अतः इतिहास विज्ञान भी है और कला भी। यह विज्ञान के समान स्थितियों, संस्थाओं, प्रगतियों तथा आन्दोलनों का विश्लेषण अवश्य करता है पर साथ ही कला के समान उनका सांगोपांग वर्णन एवं सृजन भी करता है।[1] अतः विज्ञान तथा कला का संतुलित निर्वाह होने पर ही सफल इतिहास सृजन संभव है और विज्ञान तथा इतिहास के इस समन्वय होने पर ही सत्य और शील के समन्वय होने से मनुष्य की प्रगति होती है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि इतिहास के रूप निर्माण में जब विज्ञान तथा कला दोनों समन्वयात्मक रूप से सक्रिय रहते हैं, तभी इतिहास के उद्देश्यों की प्राप्ति होती है। और यही कारण है कि इतिहास का महत्त्व विज्ञान तथा कला से भी अधिक बढ़ जाता है।

इतिहास की परिवर्तनवादी प्रवृत्ति

इतिहासकार को इतिहास का अध्ययन तथा सृजन करते समय तथा स्थानगत प्रचलित प्रवृत्तियों से अनुशासित रहना पड़ता है।[3] वह देश-काल की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसी प्रकार टायनवी के शब्दों में, जबकि वह स्वयं अपने विचारों तथा भावों को उस वातावरण से जिसमें वह रहता है, पृथक् नहीं रख सकता,[4] तो यह भी निश्चित है कि उसे देश, काल तथा वातावरण के अनुसार अपने विचारों, मान्यताओं और अभिव्यक्ति-प्रकार में परिवर्तन करना होता है। यही कारण है कि देश-विदेश के इतिहास सृजन की प्रक्रिया, प्रवृत्ति तथा दृष्टिकोण ने समय-समय पर बदलाव लिया है। इस दृष्टि से इतिहास को आधुनिक वैज्ञानिक रूप तक पहुँचाने वाले पाश्चात्यों की विचारधारा का सर्वेक्षण करने पर परिवर्तन की प्रवर्तमान प्रक्रिया की हमारी धारणा और भी स्पष्ट हो जाती है।

प्रारम्भ में पाश्चात्य इतिहास-जगत में इतिहास के जनक हेराडोटस तथा लिवी के इतिहास ग्रन्थों को, कल्पनाओं के अम्बार में तथ्यांश मात्र होने पर भी इतिहास का प्रतिनिधि माना जाता था। बाद में मोमसन जैसे प्रतिनिधि इतिहासकार आते हैं, टायनवी के अनुसार, जिनकी कृतियों में अपनी शक्ति को शिलालेख, हस्तलिखित ग्रन्थ आदि सामग्री से जैसा-तैसा व्यवस्थित-अर्धव्यवस्थित इतिहास लिख दिया गया है।[5] वस्तुतः हेरोडोटस आदि के ग्रन्थ पूरे अर्थ में इतिहास

---

१. अनुसन्धान और प्रक्रियाः इतिहास और साहित्य, डा० ताराचन्द्र, पृ० १६५,
२. देखो, इतिहास दर्शनः डा० बुद्धप्रकाश, पृ० ३९८,
३. ए स्टडी आफ हिस्ट्रीः टायनवी, भाग १, पृ० १,
४. वही, पृ० १५,
५. वही, पृ० ४,

की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इन्हें इतिहास का पहला कदम मात्र माना जाता है।[१] इसके बाद जय-पराजय, षड़यन्त्र विद्रोह की घटनाओं को इतिहास माना जाने लगा। इनमें राजा-सामन्त आदि की घटनाओं से इतिहास के पृष्ठ रंगे होते हैं। जर्मन इतिहासकार रौंके ने भी इतिहास को यथार्थवादी चोगा पहनाया तथा राजनैतिक इतिहास के सृजन को महत्त्व दिया।[२] १६वीं शदी में माकियावेली तथा गिबन ने इतिहास को और भी नये मोड़ दिये।[३] १६वीं शदी में डार्विन की विकासवादी विचारधारा ने सभी विचारधाराओं को प्रभावित किया और इतिहास राजतन्त्र से अकुलाहट अनुभव करने लगा।[४] फलतः राजतन्त्र तथा सामन्तवाद से ऊपर उठा, किन्तु आज पुनः दृष्टिकोण में परिवर्तन आ रहा है और इतिहास की अभिनव परिसीमाओं, मौलिक मान्यताओं तथा स्वरूप एवं मापदण्डों का पुनर्निर्धारण हो रहा है।

अर्वाचीन विचारधारा के अनुसार केवल राजनैतिक महत्वाकांक्षा तथा उत्थान-पतन की कहानी ही इतिहास नहीं मानी जाती, अपितु आज इतिहास में सभ्यता तथा संस्कृति के उद्घाटित एवं प्रकाशित करने की चेष्टा अधिक रहती है। टायनबी इतिहास पर राजनैतिक तथा आर्थिक आदि संस्थाओं तथा दशाओं का प्रभाव स्वीकार करता है।[५] वह प्रचलित प्रवर्तमान प्रत्येक वातावरण को इतिहास की दृष्टि से महत्त्व देता है।[६] उसका मत है कि वह जिस समाज में रहता है तथा जो समाज मानव के विभिन्न समयों तथा स्थानों के रहने का स्थान है, उसका प्रभाव उस पर पड़ना आवश्यंभावी है।[७] इसी प्रकार वह इतिहासकार के द्वारा समाज के विभिन्न समुदायों या वर्गों के सूक्ष्म भेदों तथा सम्वन्ध के रहस्यों का उद्घाटन आवश्यक मानता है।[८]

उपर्युक्त बिहंगावलोकन से स्पष्ट है कि इतिहास में परिवर्तनवादी प्रवृत्ति

---

१. अनुसन्धान और प्रक्रियाः इतिहास और साहित्यः डा० ताराचन्द का लेख, पृ० १५८,
२. देखिये, इतिहास दर्शन, डा० बुद्ध प्रकाश, पृ० १०,
३. अनुसन्धान और प्रक्रियाः डा० ताराचन्द का लेख, पृ० १५६–१६०,
४. अनुसन्धान और प्रक्रियाः डा० ताराचन्द का लेख, पृ० १६०,
५. ए स्टडी आफ हिस्ट्रीः टायनबी, पृ० २,
६. वही, पृ० १६,
७. वही।
८. वही, पृ० ३६,

निसर्गतः रहती है । अतः इतिहास के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में दृष्टिकोण तथा मान्यताओं में परिवर्तन होता रहा है तथा होता रहता है । यद्यपि टायनबी आदि का अभिनव इतिहासदर्शन अभी सार्वभौमिक स्वीकृति नहीं पा सका है किन्तु कालान्तर में सम्भवतः यह स्वीकार किया जाने लगेगा । अतः आज भी इतिहास की धारा राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दो कूलों के मध्य प्रवाहित हो रही है । अतः वैज्ञानिक दृष्टि से प्रचलित इतिहास के दो ही मूलभूत आधार हैं—राजनैतिक तथा सांस्कृतिक । इसके अतिरिक्त आज भी इतिहास में तीन गुण आवश्यक हैं—(१) निश्चयात्मकता, (२) घटनाक्रम तथा (३) तिथिक्रम ।

प्राचीन भारत का इतिहास एवं उसका स्वरूप

इतिहास के स्वरूप तथा इतिहास-सृजन की प्रवृत्ति आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डालने के पश्चात् यहाँ भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में चर्चा करना उपयुक्त होगा । क्योंकि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः भारतीय इतिहास से है । सामान्यतः भारत के प्राचीन इतिहास के अभाव तथा भारतीयों में इतिहास-लेखन की अयोग्यता आदि के सम्बन्ध में फ्लीट तथा अलबरूनी आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अनेकशः आरोप लगाये हैं । किन्तु उनके आरोप तथा आक्षेप निराधार हैं ।

इतिहास के सम्बन्ध में प्राचीन वाङ्मय में अनेक उल्लेख प्राप्त हैं ।[1] इसके अतिरिक्त भारत का प्राचीन वाङ्मय सुर, असुर, राजा-महाराजाओं आदि के वृत्तान्तों से भरा पड़ा है ।[2] यही नहीं, बल्कि प्राचीन भारत में वंश परम्परा का ज्ञान तथा तिथि, ज्ञान भी रहा है ।[3] भारतीयों का इतिहास नहीं रहा है या उन्हें इतिहास-प्रेम नहीं है, ऐसी बात नहीं है, अपितु इसका कारण इतिहास के सम्बन्ध में केवल दृष्टिकोण का अन्तर है । हम निर्देश कर चुके हैं कि इतिहास के स्वरूप, परिभाषा तथा प्रवृत्ति आदि के सम्बन्ध में परिवर्तन होता रहा है तथा होता रहता है । प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार इतिहास में सुधारपूर्ण तथा जीवन में उपादेय घटनाओं का आख्यानात्मक वर्णन रहता था । प्राचीन परम्परा के अनुसार पुरुषार्थ चतुष्टय से सम्बन्धित कथात्मक पूर्ववृत्त ही इतिहास कहा जाता

---

१. देखिये, अवर हिस्टारिकल सेन्सः जे० बी० ओ० आर० एस० १०, १९२४, पृ० ३२७–२८,
२. वही, पृ० ३२६,
३. वही, पृ० ३२६–३३,

रहा है।[1] कौटिल्य के समय तक सम्भवत: यही मान्यता प्रचलित थी। कौटिल्य के शब्दों में जिन ग्रन्थों में पुराण इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र हो, वह इतिहास होता है—

" पुराणमितीवृतमाख्यायिकोदाहरणधर्मशास्त्रमर्थशास्त्रंचेति इतिहास: ।

भारत के प्राचीन इतिहास का प्रणयन इसी स्वरूप के अनुरूप हुआ है। इस इतिहास-पुराण का भारत में वृहद्भंडार है। अत: भारतीयों के इतिहास के अभाव की आशंका अनुपयुक्त है।[2]

किन्तु, भारत में जिन पुराणों की कथाओं को इतिहास माना जाता है, उनमें तथ्यांश कम तथा आख्यान का परिमाण अधिक रहता था।[3] अत: आज जिस प्रकार के वैज्ञानिक इतिहास की अपेक्षा रखते हैं उसका अभाव अवश्य माना जा सकता है। किन्तु विद्वानों का मत है कि इस प्रकार का इतिहास प्राचीन काल में संभवत: ही कहीं रहा हो। पाश्चात्यों के उपलब्ध प्राचीन इतिहास भी कम भ्रष्ट नहीं है। तथापि, इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिरोडोटस आदि की कृतियाँ अपेक्षाकृत इतिहास के अधिक निकट हैं, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि भारतीय पौराणिक साहित्य में ऐतिहासिक सामग्री नहीं है।

प्राचीन भारत की ऐतिहासिक सम्पत्ति का कुछ समय पूर्व तक न तो सम्यक् अन्वेषण ही हुआ था और न उचित मूल्यांकन ही। परन्तु, आधुनिक प्राच्य पाश्चात्य विद्वानों ने अनवरत शोध के पश्चात् भारतीय वाङ्मय तथा अपार पुरातत्व सामग्री के रूप में भारत की ऐतिहासिक समृद्धि तथा परम्परा को प्रकाशित तथा प्रमाणित किया है। अत: आज यह माना जाता है कि भारत में राजनैतिक तथा ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वास्तविक निर्माण सुदूरपूर्वकालीन प्रागैतिहासिक युग में ही हो चुका था। प्रस्तरधातुयुगीन तथा सिन्धुसभ्यता की प्राप्त सामग्री से तत्कालीन सर्वांगीण सांस्कृतिक विकास का सम्यक्ज्ञान हो जाता है। उसके बाद की वैदिक, वैदिकोत्तर तथा बौद्ध युग की अपार लिखित सामग्री एवं पुरातत्व सामग्री उपलब्ध है, जिससे भारतीय इतिहास के प्राचीन स्वरूप तथा

---

१. धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तकथावृत्तमितिहासं प्रचक्षते ।।

२. विशेष देखिये, अवर हिस्टारिकल सैन्स: जे० बी० ओ० आर० एस० १०, १९२४,

३. अनुसन्धान और प्रक्रिया, इतिहास और साहित्य, डा० ताराचन्द, पृ० १५४,

परम्परा का ज्ञान होता है। इसीलिये सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान ए. स्टीन ने भारतीय इतिहास की समृद्धि को स्वीकार किया है।[1]

किन्तु भारतीय ऐतिहासिक सामग्री की समृद्धि के अनुसन्धान के आधार पर यद्यपि यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि भारतीयों में इतिहास—प्रेम, प्रतिभा तथा ज्ञान रहा है, तथापि प्राचीन भारत में जबकि गणित ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विषयों को वैज्ञानिक रूप देकर अतिसमृद्ध किया गया है, तब क्या कारण है कि प्राचीन भारत के इतिहास में वैज्ञानिकता का अभाव रहा है? दूसरी ओर जबकि ग्रीक, रोमन आदि ने इसे वैज्ञानिक रूप दिया है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में इतिहास के प्रति वास्तविक रुचि का अभाव था। अतएव यहाँ इतिहास के वैज्ञानिक रूप की उपेक्षा हुई है। अनुमानतः इसके तीन प्रमुख कारण हैं- (१) प्राचीन भारत में ऐहिक चरित्रों की अपेक्षा पारलौकिक विषयों के चिन्तन, अनुशीलन तथा अनुलेखक को अधिक महत्व दिया जाता था। (२) प्राचीन भारत में व्यक्ति की अपेक्षा घटनाओं को अधिक महत्व दिया जाता था। (३) प्राचीन भारत में इतिहास को पौराणिक पद्धति से ही लिखने की परंपरा थी। संभवतः अतएव प्राचीन भारत का वैज्ञानिक इतिहास प्राप्त नहीं है। किन्तु वैज्ञानिक स्वरूप के अभाव के कारण प्राचीन भारत में ऐतिहासिक परम्परा के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में यहाँ संक्षेप में प्रकाश डालना उपयुक्त होगा।

प्राचीन भारत के इतिहास को प्रणयन-परंपरा

(१) **वैदिक वाङ्मय में ऐतिहासिक परम्परा का समारम्भः**—भारत की साहित्य-परम्परा का समारम्भ वैदिक वाङ्मय से माना जाता है। वैदिक वाङ्मय में उल्लिखित वंश, गोत्र, प्रवर आदि की तालिकाओं से ही भारतीय इतिहास-लेखन का श्रीगणेश माना जा सकता है।[2] कर्मकांड आदि विषयों की पृष्ठभूमि में उद्भूत वैदिक आख्यानों में भी प्राचीन इतिहास निहित है। विद्वानों की मान्यता है कि मुख्यतः दाशराज्ञयुद्ध तथा दानस्तुति आदि से सम्बन्धित आख्यान तत्कालीन इतिहास की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार देवासुर संग्राम आदि भी प्रतीक रूप में ऐतिहासिक माने जाते हैं। विद्वानों की मान्यता है कि प्राचीन सामरिक वृत्तान्तगर्भित आख्यानों में इतिहास का अंश अवश्य रहता था। अधिकांश वैदिक साहित्य सामरिक वृत्तान्तों के रूप में लिखा गया है। सम्भवतः इनके अभिलेखन में भी ऐतिहासिक प्रवृत्ति ही प्रेरक

---

१. **देखिये, हिस्ट्री आफ क्लासीकल संस्कृत लिटरेचरः एम० कृष्णमाचारियर, प्रस्तावना, पृ० ३८,**

२. **इतिहास दर्शनः डा० बुद्धप्रकाश, पृ० १७,**

रही है । [1] तथापि, क्योंकि उनमें अलौकिक शक्तिसम्पन्न देवता आदि के हस्तक्षेप को भी सहजरूप में स्वीकार किया गया है[2] तथा उनका अपने विशेष ढंग सेव र्णन किया है अतएव उनमें निश्चयात्मकता तथा क्रमबद्धता आदि का अभाव है। अतः ये इतिहासग्रन्थों की परिसीमा में नहीं आते, किन्तु प्रागैतिहासिक सामग्री के स्रोत के रूप में इनका महत्व है । इसी कारण वैदिक साहित्य के इतिवृत्तात्मक स्थलों से लेखन-क्रम का सभारम्भ तथा उन्हें प्रागैतिहासिक सामग्री का स्रोत मानना उचित समझते हैं।

(२) रामायण महाभारत में ऐतिहासिक परंपरा

भारतीय परम्परा में रामायण महाभारत को इतिहास कह कर पुराण साहित्य में भिन्नता का संकेत दिया है, किन्तु इन्हें १८ पुराणों के साथ-साथ पुराण संज्ञा से भी अभिहित किया गया है ।[3] इनके अध्ययन से भी इनमें व्याप्त पौराणिक तत्त्वों के अस्तित्व का स्पष्ट पता चलता है । इसके अतिरिक्त इनकी सर्जना भी पुराणों के समान आख्यानों के रूप में हुआ है । अतएव इन्हें आख्यान भी कहा गया है ।[4] भारतीय इतिहास की परम्परा के अनुसार परम्परागत वीर कथाओं को धर्म, दर्शन, राजनीति, इतिहास, पुराण और काव्य की सुन्दरता से सँवार कर वाल्मीकि तथा व्यास ने अपनी परिष्कृत भाषा में रूप दिया है ।[5] अतः भारतीय परम्परा के अनुसार हम उन्हें आदि इतिहासकार भी कह सकते हैं ।[6]

किन्तु, रामायण वस्तुतः आदि काव्य है तथा वाल्मीकि आदि-कवि । यद्यपि रामायण में ऐतिहासिक आख्यानक तथा अन्य अनेक पौराणिक तत्त्व हैं, अतएव स्वयं वाल्मीकि ने उसे आख्यान,[7] काव्य,[8] गीत,[9] कथा,[10] तथा संहिता[11] तक कह दिया

१. देखिये—वही, पृ० १६१–५८,
२. इतिहास और दर्शन, डा० बुद्धप्रकाश. पृ० १७,
३. ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, विन्टरनित्ज़, भाग १, १६२७, पृ० ५१७,
४. वही, पृ० ३११,
५. सं० सा० इति०: गैरोला, पृ० २७३,
६. रामायण, विशेषतः महाभारत विकसित महाकाव्य है, अतः इन्हें किसी एक व्यक्ति की तथा एक समय की कृति नहीं माना जाता । संभवतः पुराणविद् श्रुतजीवियों का इनके विकास में पूरा-पूरा योग रहा है ।
७. रामायण, युद्ध०. ४।३२, ११८, १२८,
८. वही, बाल० २।४१, ४२,
९. वही, ४।२७,
१०. वही, २।३६,
११. वही, युद्ध १२, १२८,

है। महाभारत भी एक ऐसा ही ग्रन्थ है। उसके मूल में भी प्राचीन इतिहास के अंश अवश्य हैं किन्तु, उन पर अन्य विषयों के तथा आख्यानोपाख्यान के इतने पर्त चढ़े हैं कि वह विशालसागर या विश्वकोष के रूप में परिवर्तित हो गया है। स्वयं व्यास ने उसमें अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, धर्मशास्त्र की सत्ता तो स्वीकार की ही है,[1] साथ ही उसे इतिहास, पुराण, आख्यान, तथा साहित्य भी लिखा है। वस्तुतः ऐसा कोई भी विषय नहीं, जो इसमें न हो।[2] अतः इसके लिए विभिन्न अभिधानों का प्रयोग सर्वथा उचित है। हापकिंस के अनुसार महाभारत में आख्यान कथापुराण और इतिहास शब्दों का प्रयोग समान रूप में हुआ है और सभी में किसी न किसी प्राचीन कहानी, घटना या आख्याओं का वर्णन है।[3] इन कथा, कहानी या आख्यानों के बाह्यरूप से ये निरीकल्पित तथा तथ्यहीन प्रतीत होती हैं, परन्तु वस्तुतः वे निराधार तथा कल्पित नहीं है, अपितु उनका ऐतिहासिक आधार हैं तथा उनमें इतिहास के लिये अन्य उपयोगी सामग्री हैं।

डा० भार्गव के अनुसार रामायण में केवल रामकथा ही नहीं है अपितु समकालीन कुछ राजवंशावलियाँ भी हैं जो कि पौराणिक वंशावली के संशोधन के लिये अति महत्वपूर्ण है। उनका कथन है कि रामायण काव्य है, इतिहास ग्रन्थ नहीं। इस कथा की बाह्य रूपरेखा तथा मुख्य-मुख्य चरित्र ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं, किन्तु वे परिबृंहित तथा काल्पनिक है। उनकी मान्यता है कि परिबृंहित तथा काल्पनिक अंश में से भी मूल ऐतिहासिक अंश खोजा जा सकता है।[4]

रामायण की अपेक्षा महाभारत अधिक ऐतिहासिक प्रतीत होता है। महाभारत के युद्ध तथा युधिष्ठिर और अर्जुन आदि के चरित्रों को विद्वानों ने ऐतिहासिक होने का अनुमान किया है। परन्तु वास्तविकता यही है कि अभी तक रामायण तथा महाभारत की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में अनुमान तथा सम्भावनायें ही की गयी हैं। अतः इनके चरित्र तथा घटनाओं को ऐतिहासिक मानने के लिये अभी पर्याप्त शोध अपेक्षित है। यद्यपि हम यह तो मानते हैं— कि इनमें भारत के वीर-युग का इतिहास अवश्य है, किन्तु इन्हें अभी ऐतिहासिक मानने की अपेक्षा प्रागैतिहासिक सामग्री का स्रोत मानना ही अधिक उपयुक्त है।

---

१. अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदंमहत् कामशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना ।। आदि० २।८३,
२. 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तद् क्वचिद् ।'
३. दि ग्रेट ऐपिक आफ इण्डिया० हापकिन्स, पृ० ५०,
४. इण्डिया इन दि वैदिक एज; डा० पी. एल. भार्गव, पृ० २१,

(३) पुराणों में ऐतिहासिक परम्परा

पुराण शब्द वाङ्मय विशेष का द्योतक है । पुराण शब्द का सामान्य अर्थ है प्राचीन । यह हिन्दी के 'पुराना' शब्द का संस्कृत रूप है । निरुक्त के अनुसार पुरानी बात को नवीन ढंग से कहने के कारण पुराण नामकरण हुआ (पुराणं कस्मात्, पुरानवं भवति) ।[1] पद्मपुराण के अनुसार प्राचीन परम्परा को कहने के कारण पुराण नाम पड़ा ।[2] स्पष्ट है कि पुराणों में प्राचीन परम्परा का वाचन-अनुवाचन होता है ।

सामान्यत: पौराणिक साहित्य धार्मिक उपाख्यानों के रूप में निबद्ध ऐसा साहित्य है, जिसमें विभिन्न कालों में प्राचीन परम्परागत विश्वासों के आधार पर प्राकृतिक, आश्चर्योत्पादक, अतिरंजनात्मक, दैवी तथा मानवी वर्णनों को धार्मिक रूप देकर उपन्यस्त किया गया है । अत: पुराणों में धार्मिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक पक्ष प्रधान है, तथापि ऐतिहासिक अनुशीलन भी उसका एक भाग है। प्राचीन वीर-युग में, जिसका हम प्रागैतिहासिक युग के रूप में उल्लेख कर आए है, इतिहास का स्वरूप पौराणिक रहा है । पुराणों में भी प्राचीन इतिहास पौराणिक रूप में ही उपलब्ध है ।

भारतीय परम्परा के अनुसार वैदिक काल में ही पुराणों का अस्तित्व माना जाता है,[3] किन्तु वे आज हमें उस रूप में प्राप्त नहीं है । अनुमानत: समय-समय पर उनमें रूप परिवर्तन हुए हैं । डा० भार्गव ने अपने "वैदिक कालीन भारत" नामक शोधग्रन्थ में पौराणिक-साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् यह स्वीकार किया है कि पुराणों के कई संस्करण हुए हैं । उनके अनुसार उपलब्ध पुराण प्राचीन पुराणों से सर्वथा भिन्न तथा नवीन संस्करण हैं । पौराणिक अनुशीलन के बाद उन्होंने इनमें तथा प्राचीन पुराणों में पर्याप्त अन्तर माना है ।[4] कुछ विद्वानों का मत है कि पुराणों का संक्षिप्तीकरण हुआ है,[5] तथा कुछ विषयों की दृष्टि से इनमें अभिवृद्धि भी स्वीकार करते हैं । यहाँ हम इस विवाद में न पड़ कर इतना ही कहना उचित समझते हैं कि पुराणों का पुन: संपादन तथा वर्गीकरण अवश्य हुआ है तथा सम्भवत: समय-समय पर इनमें अन्यान्य विषयों का प्रक्षेप भी होता रहा है ।

---

१. निरूक्तः ३।१९।२४,

२. पद्मपुराण १।२।५३, तथा देखिये अमरकोषः पुराणे प्रतनप्रत्नपुरातन-चिरन्तनाः । ३।७५,

३. देखिये, सं० सा० इति० गैरोला पृ० २८६-२८६,

४. इंडिया इन दि वैदिक ऐजः डा० पी. एल. भार्गव, पृ० १३, १६,

५. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २२ जुलाई, १९५६ में गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी का लेख ।

कुछ विद्वान पुराणों के अतिरिक्त इतिहास ग्रन्थों का पृथक् अस्तित्व भी मानते हैं,[1] किन्तु यह एक विवादास्पद विषय है। हम कह आये हैं कि वैदिक साहित्य में पुराणों का अनेकश: उल्लेख हुआ है, परन्तु वेद, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् आदि ग्रन्थों के साथ जिन पुराणों का उल्लेख हुआ है वे अब उपलब्ध नहीं है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि प्राचीन युग में उनकी स्थिति अवश्य थी और उनमें न केवल सृष्टि विषयक कथा का वर्णन था, वरन् उनकी दिव्य कथाएँ वंशवृत्तों से भी संपृक्त थी।[2] आज भी पुराणों का हमें लगभग यही रूप प्राप्त है।

भारतीय परम्परा के अनुसार पुराणों के पंचलक्षण बतलाये गए हैं:—सृष्टि-विस्तार एवं प्रलय, वंशावली, मनुओं का समय एवं उनकी घटनाएँ तथा विशेष वंशों के राजाओं का चरित्र, ये जिसमें हों उसे ही पुराण कहा जाता है।[3] इन पंचलक्षणों के अंतिम लक्षण से पुराणों में इतिहास के अस्तित्व का ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि पौराणिक साहित्य में इतिहास अपेक्षाकृत अधिक परिमाण में उपलब्ध होता है, जबकि रामायण तथा महाभारत में इसका अस्तित्व अति प्रच्छन्न है। डा० भार्गव ने लिखा है कि अधिकांश पुराणों की सामान्य विशेषता प्राचीन आर्य शासकों की वंशावलियाँ प्रस्तुत करना है।[4] उन्होंने पुराणों को वैदिककाल के इतिहास के रूप में अत्यधिक उपयोगी माना है।[5] इसके अतिरिक्त पुराणों में कलियुग के अर्वाचीन राज-वंशों से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री भी प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये विष्णु-पुराण में मौर्यवंश से सम्बन्धित, वायुपुराण में गुप्तवंश से सम्बन्धित तथा मत्स्य पुराण में आन्ध्रवंश से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री प्राप्त है। अत: स्पष्ट है कि पुराणों में सृष्टि से लेकर वर्तमान तक का अर्थात् अतीत अनागत का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। अतीत का इतिहास सर्वत्र उपलब्ध है, किन्तु भविष्य-वाणियों के रूप में अनागत का इतिहास प्रस्तुत करना पुराणों की ही अपनी विशेषता है। संक्षेप में, उपरि निर्दिष्ट संक्षिप्ततम परिशीलन से स्पष्ट है कि भारतीय पुराण-इतिहास में विषयेतर सामग्रियों के होते हुए भी इतिहास है। अतः प्राचीन भारत में इतिहास-परम्परा को अस्वीकार करना समीचीन नहीं है।

---

१. देखिये, सं० सा० इति० गैरोला, पृ० २८९-९०,

२. वही, पृ० २९०,

३. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥

४. इंडिया इन दि वैदिक एज; डा० भार्गव, पृ० १३,

५. वही, पृ० १९,

किन्तु, पुराण-साहित्य की अपनी विशेष रचना-पद्धति है, विषयेतर सामग्रियों की प्रचुरता तथा इतिहास के आंशिक रूप में संप्रयोग के कारण इन्हें इतिहास-ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। पुराण पुराण है, इतिहास नहीं। पुराण इतिहास से भिन्न विषय है। अतः प्राप्त पुराणों को इतिहास नहीं माना जा सकता। वस्तुतः इनका मुख्य विषय धार्मिक तथा आध्यात्मिक है। इनमें वेद आदि के प्राचीन सिद्धान्तों तथा मान्यताओं को दृष्टान्त तथा आख्यानोपाख्यान के रूप में नवीन करके रखा गया है। उपलब्ध पुराण विशेषतः मतवाद के उद्देश्य से भी अभिसृष्ट हैं। इनमें कल्पना का भी स्वच्छन्द प्रयोग हुआ है। अतः उनमें वर्णित अनेक घटनाओं पर विश्वास करना तक कठिन है। इनके आख्यानोपाख्यानों के आवरण, अतिरंजनात्मकता, अलौकिक तथा दैवी हस्तक्षेप के कारण इन्हें इतिहास नहीं, अपितु इतिहास का प्रबल स्रोत ही मानना उचित है। अतः जिस प्रकार हैरीडोटस, थ्यूसीडाइटस तथा कटियल आदि ने प्राचीन साहित्य, अनुश्रुति तथा काव्यपरंपराओं के संशोधन-परिशोधन करके अपने इतिहास को रूप दिया है, उसी प्रकार उपर्युक्त श्रोतों के आधार पर भारत का प्राचीन इतिहास लिखा जा सकता है तथा लिखा जा रहा है।

पुराण इतिहास के अतिरिक्त भी भारतीय—इतिहास-सृजन की परम्परा बहुत बाद तक प्रवर्तमान रही है। इसी परम्परा में राजतरंगिणी-कार कल्हण जैसे इतिहासकार उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपने समय में प्राप्त अनेकविध सामग्री का उपयोग कर वैज्ञानिक ढंग का इतिहास लिखने का प्रयास किया है। कल्हण ने राजकथाओं से सम्बन्धित प्राचीन ग्रन्थ तथा प्रशस्तिपट्ट आदि का उपयोग किया है।[1] स्पष्ट है कि इस समय तक भारत में इतिहास का रूप बदल चुका था तथा एक व्यवस्थित रूप हो चला था। हर्षचरित आदि अनेक इतिहासमूलक ग्रन्थों से तथा अन्य भारतीय वाङ्मय के अनुशीलन से पुनः यही स्पष्ट होता है कि भारत में प्राचीनकाल से ही इतिहास की परम्परा प्रवर्तमान रही है। समय-समय पर भारत में भी इतिहास का स्वरूप बदला है तथा भारत में भी इतिहास के वैज्ञानिक स्वरूप तक पहुँचने की चेष्टा रही है।

(४) लोक कथाओं में इतिहास

उपर्युक्त साहित्य के अतिरिक्त लोककथा तथा दन्तकथा भी इतिहास के लिये महत्त्वपूर्ण हैं। ये मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं: मौखिक तथा लिपिबद्ध। सर्वप्रथम, ये एक के बाद एक परम्परित रूप से लोक में सन्तरण करती हुई आश्चर्यात्मक तथा लोकप्रिय तत्त्वों से अभिवृद्ध होती रहती है। बहुत समय तक प्रवाहित

---

१. देखिये, अवर हिस्टारिकल सेन्स, जे. बी. ओ. आर. एस. १०, १६२४, पृ० ३२४,

होने के बाद या किसी शिल्पी को अभिभूत कर लेने पर ये लिपिबद्ध हो जाती हैं। सामान्यतः लोक कथाओं की यह प्रवृत्ति होती है कि वे किसी मूलभूत स्थूल आधार पर शनैः शनैः एक के बाद एक लोकविश्वासों तथा लोक-प्रसिद्धियों के रूप में कल्पित पर्तों से आवृत होती रहती है। मुख्यतः इनमें अनुरंजनात्मक, उप-देशात्मक तथा कुतूहलपूर्ण तत्त्वों के विनिवेश के लिये कल्पना का भी खुलकर प्रयोग होता है। यही नहीं, बल्कि, कभी-कभी कल्पना का इतना अधिक प्रयोग होता है कि मूल रूप ही नष्टप्रायः सा प्रतीत होता है। किन्तु, लोक कथाओं को गढ़ने का काम एक दिन में या एक व्यक्ति द्वारा नहीं होता, अपितु विभिन्न व्यक्तियों की कल्पना द्वारा लम्बे समय में ये कथाएँ विकसित रूप को प्राप्त कर पाती हैं। अतः इन्हें विकसित कथा भी कहा जा सकता है।

लोक कथाओं की सृजन-प्रवृत्ति से इतना तो निश्चित हो जाता है कि लोककथाएँ इतिहास ग्रन्थ नहीं हैं, तथापि इनसे इतिहास सँजोया जा सकता है। हमारा विश्वास है कि इन लोक कथाओं की सृजन परम्परा में भी मूलतः इतिहास परम्परा ही प्रवहमान रहती है। सर्वप्रथम लोककथा के प्रवर्तक किसी लोककथा या लोक तत्व से प्रभावित होकर ही इसे सँजोते हैं। अतः लोककथाओं की उद्‌भावना निराधार नहीं होती, अपितु ऐतिहासिक या सामाजिक तथ्यपूर्ण घटनाओं को बीज-रूप में लेकर कल्पना द्वारा उनका पल्लवन किया जाता है। अतः इन लोककथाओं में निहित तिरोहितप्रायः ऐतिहासिक कथांश को खोजा जा सकता है। इस प्रकार इनके कथांश से न केवल इतिहास के रिक्त अंशों को भरने में तथा तथ्यों की पुष्टि में सहायता मिल सकती है, अपितु कभी कभी अन्य अनेक ऐतिहासिक घटनाएँ भी प्रकाश में आ जाती हैं। सिंहासनद्वात्रिंशिका, बैतालपंचविंशति, भोजप्रबन्ध आदि इसी प्रकार की लोक-कथात्मक कृतियाँ हैं। इतिहासकारों ने भी इनका इतिहास के संस्कार परिष्कार में पर्याप्त प्रयोग किया है। मौखिक लोककथाओं से भी इतिहासकारों ने इतिहास को रूप दिया है। यही नहीं, बल्कि इन मौखिक तथा लिखित लोककथाओं की ऐतिहासिकता या लोकप्रियता से प्रभावित होकर साहित्य-कारों ने भी नाटक, काव्य आदि के रूप में इन्हें उपजीव्य बनाया है। अतः लोककथाओं पर आधारित न केवल कथात्मक कृतियों से, अपितु नाटक तथा काव्यों की लोककथाओं से भी ऐतिहासिक कथांश को सँजोया जा सकता है।

भारतीय इतिहास की स्रोत सामग्री

भारतीय इतिहास की परम्परा का संक्षिप्त सर्वेक्षण करने के पश्चात् यह स्वाभाविक हो जाता है कि भारतीय इतिहास की समस्त स्रोत सामग्री पर सामान्य-रूप से दृष्टिपात कर लिया जाय। हमने इतिहास-प्रणयन की परम्परा के रूप में

भारतीय वाङ्मय के ही नहीं, अपितु संस्कृत साहित्य के अंशमात्र का उल्लेख किया है। वास्तविकता यही है कि भारतीय इतिहास की अपार स्रोत सामग्री अनेकरूपों में परिव्याप्त है। सामान्यतः भारतीय इतिहास के निर्माण के लिये दो प्रकार की सामग्री उपलब्ध है:—स्वदेशी तथा विदेशी। स्वदेशी उपादान भी दो रूपों में प्राप्त हैं—(१) स्थिर या कलात्मक, (२) लिपिबद्ध।

स्थिर तथा कलात्मक उपादानों से हमारा तात्पर्य देश की कलाकृतियों, मुद्रा, मूर्ति, स्तम्भ, प्रासाद, विहार, स्मारक, गुफा आदि स्थापत्य सामग्री से है। यह सामग्री मूर्तरूप होती है, अतः अपरिवर्तनशील तथा प्रामाणिक होती है। इससे मुख्यतः तत्कालीन संस्कृति-सभ्यता के सम्बन्ध में प्रचुर प्रामाणिक ज्ञान होता है। अजन्ता एवं एलोरा की गुफायें तथा प्राचीन बौद्धमूर्तियाँ आदि इसी प्रकार की सामग्री है। किन्तु, यह कलात्मक सामग्री मूक तथा अचल होती है। अतः इसे अन्य ऐसी सामग्री की अपेक्षा होती है जो इसे वाणी तथा गति प्रदान कर सके। इसके अतिरिक्त, यह केवल इतिहास के किसी अंग विशेष की ओर सशक्त संकेत भर कर सकती हैं तथा प्रामाणिकता की छाप लगा सकती है। अतः इसे लिपिबद्ध सामग्री की अपेक्षा रहती है।

लिपिबद्ध सामग्री भी दो रूपों में उपलब्ध होती है : (१) अपरिवर्तनशील, तथा (२) परिवर्तनशील। अपरिवर्तनशील भी दो रूपों में प्राप्त होती है। एक में, वे विश्वस्त प्रामाणिक ग्रन्थ आते हैं, जो तथ्यपूर्ण तथा ऐतिहासिक घटनाओं के रूप में ही उपनिबद्ध हैं। इनसे इतिहास की घटनाओं पर प्रायः निश्चयात्मक तथा स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। अतः इनमें परिवर्तन तथा संशोधन की विशेष संभावना नहीं होती है। इसमें एक तो समकालीन राजाओं के आश्रित रहकर लिखे गये या अन्य किसी ऐतिहासिक कारण से रचित ग्रन्थ आते हैं जोकि प्रायः इतिहासग्रन्थों के समान होते हैं। राजतरंगिणी सुकृतसंकीर्तन, वस्तुपालतेजपाल-प्रशस्ति, कीर्तिकौमुदी आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त दूसरे में, विश्वस्त विशुद्ध स्रोतभूत ऐतिहासिक सामग्री है, जैसे ताम्रपत्र अभिलेख आदि। इनसे इतिहास का सर्वांगीण विवरण प्राप्त नहीं होता, बल्कि ये केवल किसी घटना विशेष पर ही प्रकाश डालते हैं। उपर्युक्त दोनों प्रकार की लिपिबद्ध सामग्री इतिहास को लक्ष्य में रखकर अभिसृष्ट होने के कारण अपरिवर्तनीय होती है।

परिवर्तनशील लिपिबद्ध सामग्री वह है जिसकी रचना का उद्देश्य इतिहास न होकर कुछ भिन्न होता है। यह भी मुख्यतः दो उपविभागों में प्राप्त है—(१) पारलौकिक, (२) ऐहिक। ऐहिक में विषय-विशेष को आधार बनाकर लिखे गये समस्त लौकिक ग्रन्थ आते हैं। ये लेखक की अधिकृत कृति के रूप में रचित होने के कारण कोई अन्य व्यक्ति इनमें परिवर्तन आदि नहीं कर सकता।

ऐहिक सामग्री के भी, इतिहासोपलब्धि की दृष्टि से, दो उपभेद हो सकते हैं, इतिहासमूलक तथा इतिहासेतर विषयमूलक। इतिहासमूलक वे होते हैं जिनमें किसी ऐतिहासिक घटना को उपजीव्य बनाकर साहित्यिक रूप में पल्लवित किया जाता है। इनमें मूलरूप में ऐतिहासिक अंश होने पर भी लेखक उद्देश्य-विशेष के अनुसार कुछ परिवर्तन आदि कर देता है, और ऊपर से एक साहित्यिक आवरण डाल देता है। इनमें समस्त ऐतिहासिक काव्य, ऐतिहासिक नाटक, कथाग्रन्थ तथा चरितग्रन्थ आदि आते हैं। इतिहासेतरविषयमूलक ग्रन्थों का आधार इतिहास न होकर अन्य विषय होता है। इनमें मुख्यतः साहित्यिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक आदि कृतियाँ आती हैं। यद्यपि इनसे प्रत्यक्षतः ऐतिहासिक घटनाओं पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है, तथापि इनमें इतिहासोपयोगी सांस्कृतिक राजनैतिक आदि अनेक प्रकार की सामग्री प्राप्त होती है। यही नहीं, बल्कि कभी कभी इनसे अत्यन्त महत्व की सूचनायें भी प्राप्त होती हैं, जिनसे इतिहास के संस्कार–परिष्कार में अत्यन्त सहायता मिलती है। अष्टाध्यायी, भाष्य, निरुक्त तथा कालिदास, भवभूति आदि के ग्रन्थ इसी प्रकार के हैं।

पारलौकिक सामग्री में समस्त वैदिक तथा लौकिक धार्मिक साहित्य आता है। वेद, ब्राह्मण उपनिषद, रामायण, महाभारत तथा स्मृति आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। पुराण तथा रामायण आदि पर हम संक्षेप में प्रकाश डाल चुके हैं। ये सभी ग्रन्थ धार्मिक पृष्ठभूमि में अभिसृष्ट होने पर भी प्रसंगतः इतिहासोपयोगी अमूल्य संकेत छोड़ जाते हैं, जिनसे इतिहास के रिक्त स्थान भरने में तथा उसके सांस्कृतिक रूप को सँवारने में पर्याप्त सहायता मिलती है। कभी इनमें अर्धैतिहासिक तथा इतिहासमूलक आख्यान भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि ये विषयेतर के आख्यानोपाख्यानों आदि से भ्रष्ट-प्रायः से ही प्रतीत होते हैं, तथापि अनुसंधान के द्वारा इनसे प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है।

पारलौकिक साहित्य सामग्री में संस्कृत के अतिरिक्त कुछ अन्य भाषाओं के महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी आते हैं, जैसे बौद्धों के जातक तथा जैनों के आगम, पुराण आदि। इनसे ऐतिहासिक घटनाओं के ज्ञान के अतिरिक्त तत्कालीन राजनैतिक, सांस्कृतिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यह समस्त स्वदेशी सामग्री है। इसके अतिरिक्त कुछ विदेशी सामग्री भी भारतीय इतिहास के लिये उपयोगी है। संक्षेप में, विदेशियों द्वारा लिखित इतिहास, यात्रा विवरण तथा संस्मरण आदि के सामंजस्य के आधार पर भारतीय इतिहास का संस्कार, रिक्त स्थानों की पूर्ति तथा तथ्यों की पुष्टि की जा सकती है। उपर्युक्त समस्त स्वदेशी स्रोतभूत उपकरणों के आधार पर ही भारतीय इतिहास का निर्माण किया गया है।

(१) इतिहासमूलक

ऐहिक स्रोत सामग्री के इतिहासमूलक ग्रन्थों से ही हमारे विवेच्य विषय का सम्बन्ध है। अतः यहाँ इस पर कुछ विशेष विस्तार से प्रकाश डालना उपयुक्त होगा। इतिहासमूलक में सामान्यतः समस्त ऐतिहासिक-साहित्यिक रचनायें आती हैं। मुख्यतः इनसे हमारा तात्पर्य उन साहित्यिक रचनाओं से है, जिन की उपजीव्य वस्तु ऐतिहासिक होती है। अतः इस वर्ग में समस्त ऐतिहासिक काव्य, नाटक, कथा-ग्रन्थ तथा चरितग्रन्थ आदि आते हैं। इतिहासमूलक ग्रन्थों में यही आवश्यक नहीं है कि उपजीव्यभूत ऐतिहासिक सामग्री मूलतः इतिहासग्रन्थों से ही सँजोयी गयी हो, अतः इनमें आनुश्रुतिक दन्त-कथा तथा समकालीन ऐतिहासिक वृत्त को भी रूपायित किया जा सकता है। इसकी मुख्यतम शर्त उसकी ऐतिहासिकता का विनिश्चय है। किन्तु, जब इतिहासमूलक रचनाओं में आश्रयभूत राजा के चरित्र से सम्बन्धित घटनाओं या समकालीन लोककथा को संस्कार करके उपजीव्य बनाया जाता है, तब इनका ऐतिहासिक महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है।

इन इतिहासमूलक रचनाओं में रचियता एक ओर कलाकार के दायित्व का निर्वाह करता है तो दूसरी ओर सीधे ही इतिहास के स्रोतों से वस्तुचयन करने पर उसे इतिहासकार के दायित्व का भी निर्वाह करना पड़ता है। इन कृतियों में इतिहास तथा साहित्यिक तत्त्वों का सम्मिश्रण होता है, कहीं ऐतिहासिकता उभरी हुई होती है तो कहीं आवृत। इतिहासकार उन साहित्यिक आवरणों को हटाकर इतिहासोपयोगी तत्त्वों का चयन करता है। इसके अतिरिक्त इनमें मुख्यतः ऐतिहासिक इतिवृत्त को आधार बनाने के कारण इतिवृत्त के रूप में ही सामग्री नहीं मिलती, अपितु इतिहास के समानान्तर ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक वातावरण की अभिसृष्टि होने के कारण इतिहासोपयोगी अन्यान्य सांस्कृतिक तत्वोपलब्धि भी प्रचुर मात्रा में होती है।

(२) ऐतिहासिक नाटक

ऐतिहासक नाटक इतिहासमूलक साहित्य में अन्यतम है, किन्तु इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ भी हैं। प्रायः इतिहास किसी देशकाल की घटना विशेष तक ही सीमित रहता है, अतः इतिहास या इतिहास-मूलक चरितग्रन्थों के समान इसमें इतिवृत्तात्मकता की अपेक्षा नहीं होती। इसमें यह भी आवश्यक नहीं है कि वह किसी ऐतिहासिकग्रन्थ से ही वस्तुचयन करके उसी रूप में उसको रूपायित करे, बल्कि ऐतिहासिक नाटककार लोककथा आदि कहीं से भी किसी भी घटनाविशेष को चुनने को पूर्ण स्वतंत्र है। ऐतिहासिकनाटक में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व इतिवृत्त की निश्चयात्मकता है। अतः ऐतिहासिक नाटककार का यह कर्तव्य है कि वह साहित्य के सत्य की सुरक्षा के साथ-साथ कृति को विश्वसनीय बनाने के लिये वृत्तगत निश्चयात्मकता

का निर्वाह करे तथा इतिहास के सत्य को न मरने दे। तथापि, ऐतिहासिक नाटककार सर्वप्रथम कलाकार है अतः वह साहित्य-रस के समुचित निर्वाह के लिये ऐतिहासिक इतिवृत्त में परिवर्तन आदि को भी स्वतंत्र है। स्पष्ट है कि ऐतिहासिकनाटकों में नाट्यरूप ही प्रमुख होता है। अतः उनसे इतिहासग्रन्थ के समान विशुद्ध इतिवृत्तात्मक तथा सर्वांगीण इतिहास की अपेक्षा रखना अनुपयुक्त होगा। वास्तविकता यही है कि ऐतिहासिक नाटक इतिहास के लिए एक स्रोतभूत सामग्री के रूप में निःसंदिग्धरूप से अत्यन्त उपयोगी है। उसका विश्लेषण करने पर ऐतिहासिक घटनाओं तथा सांस्कृतिक उपलब्धि के द्वारा कोई भी इतिहासकार अपने इतिहास का परिष्कार कर सकता है, रिक्त स्थानों की पूर्ति कर सकता है, विस्मृत-इतिहास-प्रसंगों को रूप दे सकता है तथा इतिहास को मांसल बना सकता है।

इतिहास और ऐतिहासिक नाटक का सम्बन्ध

इतिहासक की स्रोत सामग्री पर दृष्टि डालते हुए हम देख चुके हैं कि इतिहासकार इतिहास को रूप देते समय सभी प्रकार की साहित्यिक कृतियों से उपयोगी सामग्री सँजोता है। किन्तु जिस प्रकार इतिहासकार साहित्यिक स्रोतों से तथ्यों तथा घटना आदि का चयन करता है, उसी प्रकार साहित्यकार भी इतिहास को अपने उद्देश्य के अनुरूप उपजीव्य बनाकर अपनी कृति प्रस्तुत करता है। इस प्रकार की साहित्य तथा इतिहास के पारस्परिक सम्बन्ध की परम्परा प्राचीन काल से चलती आयी है। सामान्यतया कल्पित साहित्य को छोड़कर प्रत्येक साहित्यविधा इतिहास से सहायता लेती है। अतएव साहित्य को, विशेषतः नाटकों को, प्रभाव आदि की दृष्टि से इतिहास अभिधान दे दिया गया है।

इतिहास की स्रोत सामग्री की चर्चा से यह भी स्पष्ट हो गया है कि साहित्य में (कल्पित साहित्य को छोड़कर) प्रच्छन्न या प्रकट, अधिक या स्वल्प मात्रा में इतिहास या इतिहासोपयोगी सामग्री अवश्य रहती है। इतिहासकार इतिहास की रूप-सज्जा में उसका प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त इतिहास-निर्माण में कला भी सक्रिय रहती है[1] तथा इसमें साहित्य का अंश भी पर्याप्त मात्रा में होता है। अतः इतिहास को भी साहित्य कहना किसी सीमा तक उचित होगा। यही कारण है कि पाश्चात्य कुछ विद्वान् इतिहास को गद्यकाव्य के रूप में स्वीकार करते हैं तथा कवि को इतिहासकार कहना उचित समझते हैं।[2] यद्यपि यह व्यक्तिगत मान्यता मात्र है तथापि, परस्पर आदान-प्रदान तथा अन्य समानताओं के रूप में दोनों में घनिष्ठ

---

१. **इसी प्रबन्ध के इसी अध्याय में इतिहास का स्वरूप, देखिये।**

२. **देखिये—समीक्षा शास्त्र, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ४७७,**

सम्बन्ध अवश्य है। यही नहीं, बल्कि साहित्य की नाट्यविधा से इतिहास का लोकहित तथा अन्यान्य उद्देश्यों की समानता के कारण और भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव सम्भवत: मुनि भरत ने नाटक को इतिहास कहा है।[1] टायनवी ने लिखा है कि ऐतिहासिक नाटक तथा अन्य साहित्यिक कृतियों में शैली मात्र साहित्यिक होती है, अन्यथा इतिहास की ही पर्याप्त मात्रा होती है।[2] जो भी हो, निष्कर्ष यही है कि सामान्यत: साहित्य, उसमें भी नाटक और उसमें भी ऐतिहासिक नाटक का इतिहास से अत्यधिक सम्बन्ध है। इतिहासकार साहित्य, नाटक, मुख्यत: ऐतिहासिक नाटकों के प्रयोग के लिये स्वतंत्र है, उसी प्रकार नाटककार ऐतिहासिक नाटक के सृजन में इतिहास के किसी भी रूप से, किसी भी घटना का, किसी रूप में प्रयोग करने को स्वतंत्र है। इस सम्बन्ध में विशेष अग्रिम अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक और इतिहास की परिसीमाएँ

आधुनिक कुछ विद्वान् भारतीय परंपरा के अनुसार रामायण, महाभारत तथा पुराण साहित्य को इतिहास ग्रन्थ मानने पर बल देते हैं। मुख्यत: पुराणों में, क्योंकि वंशानुचरित के रूप में ज्ञात इतिहास प्राप्त है, तथा उनके अनेक राजाओं के चरित्र तथा वंशावलियाँ सत्य प्रमाणित हो चुकी हैं, अत: वे पुराणों को भारतीय इतिहास के प्रामाणिक ग्रन्थ मानने के पक्ष में हैं। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने पुराणों के आधार पर भारत का इतिहास लिखा है तथा प्रचलित इतिहास में अनेक संशोधन किये हैं।[3] यही नहीं, बल्कि हिन्दी के कुछ ख्यातनामा नाटककारों ने पौराणिक इतिवृत्त पर आधारित नाटकों को ऐतिहासिक नाटक के रूप में प्रचलित किया है।[4] किन्तु हम न तो पुराणों को इतिहास-ग्रन्थ मानने के पक्ष में हैं और न पुराकथा पर आश्रित नाटकों को ऐतिहासिक नाटक। यद्यपि इतिहास-प्रणयन की परम्परा के प्रसंग में इस सम्बन्ध में प्रकाश डाल चुके हैं, तथापि यहाँ पुन: पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों से सम्बन्धित संभावित भ्रम को दूर करना तथा संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के इतिहास की परिसीमा निर्धारित करना उचित समझते हैं।

---

१. नाट्यशास्त्र: १।१६,

२. ए स्टडी आफ हिस्ट्री : टायनवी, पृ० ४४६,

३. देखिये, भारतवर्ष का बृहद इतिहास, भगवद्दत्त, भाग १, २, आदि।

४. जयशंकर प्रसाद का जनमेजय का नागयज्ञ इसी प्रकार का है। सेठ गोविन्द दास ने "राम से गान्धी" नाटकमाला में रामकृष्ण आदि को ऐतिहासिक माना है। डा० रांगेयराघव ने भी 'स्वर्गभूमि का यात्री' को ऐतिहासिक लिखा है।

भारत की इतिहास-परम्परा की चर्चा के प्रसंग में हमने वैदिक वाङ्मय में इतिहास-लेखन का समारम्भ माना है। यह भी निश्चित सा है कि उनमें वीर युग के वृत्तान्तों का उल्लेख अवश्य है, किन्तु हम किसी भी प्रकार से उन्हें इतिहास स्वीकार नहीं कर सकते। अतएव हमने इतिहास की कड़ी के रूप में उनकी चर्चा की है। भारतीय परम्परा में इतिहास के नाम से व्यवहृत रामायण महाभारत केवल काव्य हैं, इतिहास ग्रन्थ नहीं। इस सम्बन्ध में डा. वेनीप्रसाद ने ठीक ही लिखा है कि – "यह सच है कि रामायण और महाभारत में बहुत से राजाओं और युद्धों के वर्णन हैं, पर इनके इतिहास में काव्य और कल्पना का ऐसा समावेश है कि किसी घटना की ऐतिहासिकता पूरी तरह प्रमाणित नहीं होती। दूसरे, अगर मान भी लें कि पांडवों का निवास या कुरुक्षेत्र का युद्ध या ऐसी ही कोई और घटना ऐतिहासिक है तो भी तारीख का पता नहीं लगता और अन्य घटनाओं से इनका सम्बन्ध स्थिर नहीं किया जा सकता।"[1] अतएव हमने इन्हें इतिहास के स्रोत के रूप में उल्लेख करते हुए प्रागैतिहासिक स्वीकार किया है, ऐतिहासिक नहीं।

इसी प्रकार पुराणों को भी हमने इतिहास का प्रबल स्रोत मानते हुए प्रागैतिहासिक माना है, ऐतिहासिक नहीं। पुराणों की संख्या १८ है, इनमें केवल ७ में कलियुग के राजाओं का वृत्तान्त मिलता है, इनमें भी अत्युक्तिपूर्ण काल्पनिक तथा दैवी घटनाओं का इतना आधिक्य है कि इन्हें सहज ही इतिहास-ग्रन्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता। पुराण वास्तव में इतिहास से भिन्न विषय है। सामान्यतः यह शब्द प्राचीन काल्पनिक अत्युक्तिपूर्ण सत्यासत्य कथाओं का अर्थाभिव्यंजक है। ब्रिटिश विश्वकोष के अनुसार पुराण के अन्तर्गत वंशानुक्रम तथा इतिहास के अतिरिक्त पौराणिक दैवी, उपाख्यान तथा दन्तकथाओं का समावेश है।[2] पुराणों के पंचलक्षणों के अनुसार भी वंशानुचरित के रूप में इनमें आंशिक इतिहास अवश्य है किन्तु वह अन्य विषयों से तिरोहितप्रायः हो गया है। डा. भार्गव के अनुसार पुराणों के संस्करणकर्ताओं तथा पुरोहितों ने उनकी ऐतिहासिक सामग्री पर कल्पना तथा व्याख्यात्मक कथाओं के पर्त चढ़ा दिये हैं।[3] अतः समग्ररूप में उन्हें इतिहास ग्रन्थ मानना तो दूर रहा, उन ऐतिहासिक अंशों को विशुद्ध रूप में खोज पाना तक सतत अनुसन्धान का विषय है।

इसके अतिरिक्त हम उल्लेख कर चुके हैं कि इतिहास के लिये विशेष

---

१. **हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता : डा० वेनीप्रसाद, पृ० ११८,**

२. **एनसाइक्लोपेडिया ब्रिटेनिका, वाल्यूम १९, संस्करण ११, पृ० १२८,**

३. **इंडिया इन दि वैदिक एज; डा० भार्गव, पृ० १२-१३,**

व्यवस्था पद्धति, क्रमबद्धता, निश्चयात्मकता, घटनाक्रम तथा वैज्ञानिकता का होना आवश्यक है, जबकि पुराणों में इनका अभाव है। यही नहीं, बल्कि न तो उनका रचनाकाल निश्चित है और न रचनाकार ही। यहाँ तक कि उनमें परस्पर विरोध भी है। वस्तु की दृष्टि से भूल तथा घटनाक्रम इतना अत्युक्तिपूर्ण है कि अधिकांश काल्पनिक प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त पुराणों के सम्बन्ध में अत्यधिक प्राचीनता तथा अनादिता की मान्यता भी इन्हें इतिहास मानने में बाधक है।[1]

धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से हम पुराणों में अविश्वास नहीं करते, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनमें सहज विश्वास भी नहीं होता है। हम ही क्यों स्वय पुराणों में सुप्रसिद्ध पौराणिक व्यक्तियों के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह व्यक्त किया गया है। विष्णुपुराण में लिखा है कि भगीरथ आदि, सगर, दशानन, राम लक्ष्मण तथा युद्धिष्ठिर आदि हुए हैं इस सम्बन्ध में क्या सच है, क्या झूठ, कोई भी नहीं जानता[2]।" स्पष्ट है कि पुराणों के रचयिताओं को ही जब सगर, भगीरथ जैसे व्यक्तित्वों के अस्तित्व के सम्बन्ध में निश्चय नहीं है, तब उनसे सम्बन्धित वृत्तान्त को ऐतिहासिक कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

इसके अतिरिक्त पुराणों में एक ओर सृष्टि से लेकर वर्तमान तक का वर्णन देने की चेष्टा है, अनेक पुराकथा तथा अभिनव-वृत्तान्तों का अनुकथन है, किन्तु महाभारत की युद्ध जैसी प्रसिद्ध घटना का वर्णन नहीं है, जबकि महाभारत के युद्ध को इतिहासकार भी ऐतिहासिक मानते हैं। इसी प्रकार और भी ऐसे अनेक कारण हैं, जिनसे कि पुराणों को न तो इतिहास-ग्रन्थ[3] माना जा सकता है, न उनके समस्त वृत्तान्त को ऐतिहासिक।

हम यह अवश्य मानते हैं कि पुराण निरे कल्पित नहीं हैं। इनमें आंशिक रूप से जो इतिवृत्त उपलब्ध हुए हैं, विद्वानों ने उनकी वंशावलियाँ तैयार की हैं तथा इतिहासकारों ने उन्हें ऐतिहासिक स्वीकार किया है। हमारा अनुमान है कि अन्य पौराणिक वृत्तान्तों में भी ऐतिहासिकता हो सकती है, किन्तु यह सब शोध का

---

१. अथर्व० में चारों वेदों के साथ पुराणों का आविर्भाव माना है। मत्स्य० में वेदों से भी पूर्व पुराणों के स्मरण का उल्लेख है तथा देखिये साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २२ जुलाई १६५६ में श्री चतुर्वेदी का लेख।

२. भगीरथाद्याः सगरः ककुस्थो दशाननो राघवलक्ष्मणौ च।
युधिष्ठिराद्याश्च बभूवुरेते सत्यं वा मिथ्या ववणुते न विद्मः।।
विष्णुपुराण ४।२४।१४६,

३. देखिये इतिहास दर्शनः डा० बुद्धप्रकाश, पृ० १८,

विषय है। विद्वानों ने इस ओर अनेक प्रयत्न किये हैं, किन्तु जब तक बहुमत से अथवा सुदृढ़ साक्ष्यों पर उन्हें ऐतिहासिक नहीं माना जाता, उन्हें इतिहासग्रन्थ मानना तथा उन पर आधारित नाटकों को ऐतिहासिक मानना कदापि उचित प्रतीत नहीं होता।

सामान्यतः इतिहासकारों के अनुसार उदयन से पूर्ववर्ती वृत्तान्त चाहे कितना भी प्रसिद्ध क्यों न हो, विवादस्पद है।[1] इसके अतिरिक्त जबकि अनेक बुद्ध-पूर्व की घटनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से विवादास्पद हैं, तो सुदूर की कहने वाले पुराणों को बिना किसी आधार के ऐतिहासिक नहीं माना जा सकता। अतः जब तक पुराणों में वर्णित कथाओं के सम्बन्ध में इतिहासकार किसी मान्य निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते, उन्हें पौराणिक मानना ही उचित होगा। टायनबी के अनुसार पुराण प्राचीन इतिहास के उत्स अवश्य हैं, किन्तु वे उत्सभर हैं तथा उसके लिये भी अन्वेषण अपेक्षित है।[2] यही कारण है कि हमने पुराणों को भारतीय इतिहास का प्रबल स्रोत मानते हुए उन्हें प्रागैतिहासिक माना है तथा उन पर आश्रित नाटकों का पौराणिक नाटक के रूप में पृथक् निर्देश किया है।

अंत में, पुराण आदि से सम्बन्धित संभावित भ्रम के निराकरण के लिये तथा संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के इतिहास की सीमा निर्धारित करने के लिये भारत के विशाल इतिहास को सामान्यरूप से हम ३ भागों में विभक्त करना चाहेंगे—(१) प्रागैतिहासिक, (२) ऐतिहासिक तथा (३) जीवनचरितात्मक। इन्हीं को दूसरे शब्दों में ख्यात, ज्ञात तथा जीवन-चरित-प्रधान भी कह सकते हैं। प्रागैतिहासिक के रूप में वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि का उल्लेख कर आए हैं, इनसे सम्बन्धित नाटकों को हमने पौराणिक नाटक के वर्ग में रखा है। जीवन-चरित प्रधान नाटकों में प्रायः क्योंकि राजनैतिक घटनाओं का अभाव होता है, नैतिक तत्त्व प्रधान होता है, किवदन्तियों के आधार पर उपन्यस्त होते हैं तथा वे पौराणिक अर्थात् अतिरंजनात्मक, दैवी-तत्त्व-मिश्रित शैली में रचित होते हैं, अतः इन्हें भी पौराणिक वर्ग में रखा है।[3] इनसे अवशिष्ट ऐतिहासिक अर्थात् ज्ञात तथा प्रामाणिक इतिहास पर आश्रित नाटकों को ही हम ऐतिहासिक नाटकों के प्रसंग में विवेच्य मानते हैं। सामान्यतः ज्ञात इतिहास बौद्धयुग से प्रारम्भ होता है। अतः बौद्ध युग से उत्तर-कालीन ज्ञात इतिहास पर आधारित नाटकों को ही ऐतिहासिक नाटकों के क्रम में उनके महत्त्व आदि के अनुसार संक्षिप्त तथा विस्तार से अध्ययन करना अभीष्ट है।

---

१. पालिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शेन्ट इंडिया; राय चौधरी, पृ० १३२,

२. ए स्टडी आफ हिस्ट्री, पृ० ४४२,

३. ए स्टडी आफ हिस्ट्री, पृ० ४४६ तथा ४५१ में चरित्र तथा इतिहास का अध्ययन करते हुए चरित्र को इतिहास से हेय माना है।

३

ऐतिहासिक नाटक : स्वरूप तथा शिल्प

ऐतिहासिक नाटक का स्वरूप एवं परिभाषा

ऐतिहासिक नाटक के 'ऐतिहासिक' शब्द से स्पष्ट है कि इनमें अन्य ऐतिहासिक साहित्य के समान कथावस्तु तथा पात्र आदि इतिहासग्रहीत होते हैं। मुख्यतः हमने नाटकों के वर्गीकरण के प्रसंग में उपजीव्यभूत कथावस्तु, जिसे मुनि भरत ने नाटक का शरीर कहा है,[1] के ऐतिहासिक होने के कारण ही ऐतिहासिक नाटक के रूप में उल्लेख किया है। किन्तु, इसमें समग्ररूप में विशुद्ध इतिहास का ही प्रयोग नहीं होता, अपितु इतिहास उसका एक आधार है, इसी आधार पर नाटककार अपने कलात्मक उपकरणों एवं साहित्यिक प्रतिभा द्वारा रसमय भव्य-नाटकीय प्रासाद खड़ा करता है। यही कारण है कि इन्हें इतिहास न कहकर ऐतिहासिक कहा जाता है। इसमें न तो इतिहास के समान तथ्यों एवं आँकड़ों का संग्रह तथा घटनाओं का विवरण होता है, न विशुद्ध साहित्यिक-कृति के समान काल्पनिकता का विनिवेश ही। इसके अतिरिक्त, यहाँ जहाँ एक ओर इतिहासग्रहीत वस्तु आदि का नियोजन करके ऐतिहासिकता का समावेश किया जाता है, वहाँ दूसरी ओर कल्पना द्वारा उसे कलात्मक घटनीय रूप दिया जाता है, तथा उसकी कला द्वारा ऐतिहासिकता को सम्प्रेषणीय बनाकर नाट्य-रूप में प्रतिष्ठा की जाती है। अतएव कालरिज ने लिखा है कि ऐतिहासिक नाटक इतिहास से ग्रहण की हुई घटनाओं का एक ऐसा संकलन है, जहाँ घटनाओं के काल-कारण के सम्बन्ध की अन्विति नाटकीय कल्पना द्वारा काव्यात्मक प्रकार से परस्पर जोड़ दी जाती है।[2]

इस प्रकार प्रायः ऐतिहासिक नाटक के रूप तथा विषय को लेकर इनकी परिभाषा दी जाती रही है। कुछ विद्वान् इतिहास के उद्देश्य से रचे नाट्यरूप को

---

१. इतिवृत्तं हि नाट्यस्य (काव्यस्य) शरीरं परिकीर्तितम्-नाट्यशास्त्र २१।१,

२. देखिये : प्र० ऐति० ना०, डा० जोशी, पृ० २७, टिप्पणी।

ऐतिहासिक नाटक कहते हैं, तो कुछ राष्ट्रीय तथा राजनैतिक परिप्रेक्ष्य को अधिक महत्त्व देते हैं । हमारे विचार में "इतिहास से सँजोयी कथावस्तु के आधार पर रचित कलात्मक नाट्यरूप ही ऐतिहासिक नाटक है ।" इस परिभाषा के अनुसार भी नाटककार इतिहास की वस्तु एवं पात्रों का न्यूनधिक विनियोग जिस नाट्यप्रतिभा से करता है, उसी पर उसकी सफलता-असफलता निर्भर करती है ।

स्पष्ट है कि इतिहास तथा काव्यात्मकता का नाट्यरूप में समन्वयात्मक समुचित प्रयोग ही ऐतिहासिक नाटक के रूपनिर्माण का मूलतत्त्व है । इतिहास तथा कलात्मक नाट्यतत्वों के विन्यास से ही नाटकीय विधान सम्पूर्णता का संप्राप्ति करके सजीव, मांसल तथा सरस कलाकृति के रूप में प्रादुर्भूत होता है । अत: हम कह सकते हैं कि जब ऐतिहासिक वस्तु, पात्र, तथा संस्कृति आदि को कल्पना से सजीव तथा मांसल बनाकर एक सरस कलात्मक नाट्यकृति के रूप में उपन्यस्त किया जाता है, तब वह ऐतिहासिक नाटक कहलाता है । इससे स्पष्ट है कि ऐतिहासिक नाटक के मुख्यत: दो तत्त्व है—(१) इतिहास से संग्रहीत वस्तु, पात्र आदि तत्त्वों के विनियोग के रूप में ऐतिहासिकता, तथा (२) नाट्यसुलभ नाटकीयता या कलात्मकता । इन तत्त्वों के विनियोग आदि के सम्बन्ध में विचार करने से पहिले नाटक में इतिहास प्रयोग के उद्देश्यों को स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं जिनके कारण नाटककार इतिहास की नाट्यरूप में अवतारणा करता है ।

ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास प्रयोग को सोद्देश्यता

नाटक की सोद्देश्यता के सम्बन्ध में हम प्रथम अध्याय में संक्षेप में प्रकाश डाल चुके हैं । इतिहास के स्वरूप आदि पर भी द्वितीय अध्याय में संक्षेप में प्रकाश डाला है, तथा ऐतिहासिक नाटक के स्वरूप की चर्चा के प्रसंग में देख चुके हैं कि इतिहास का विनियोग इनका एक प्रमुखतत्त्व है । अत: यह प्रश्न स्वाभाविक है कि नाटककार इतिहास का नाटक में प्रयोग क्यों करता है । यद्यपि यह सत्य है कि नाटक के उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही इतिहास का विनियोग किया जाता है, किन्तु इतने मात्र से जिज्ञासा शांत नहीं होती । वास्तविकता यही है कि नाटककार इतिहास की लोकप्रियता, विशालता तथा महत्त्व के कारण ही इस ओर आकृष्ट होता है, जिससे कि नाटक की उपादेयता भी द्विगुणित हो सके ।

प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन नवीन वस्तु चाहता है । नाटककार भी इसीलिये लोक से, साहित्य से तथा कल्पना जगत से चिर-नवीन वस्तु की अवतारणा का प्रयास करता है । इतिहास अतीत की गाथाओं का अपार भण्डार है । इसमें एक से एक नये भिन्न-भिन्न प्रकार के चरित्रों की उपलब्धि सहज हो जाती है । अतएव नाटककार किसी न किसी रूप में इतिहास को जाने अनजाने नाटक का उपजीव्य बना लेता

है। किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण कारण इतिहास का महत्त्व, उपादेयता तथा लोकप्रियता है।

इतिहास का महत्त्व

सामान्यतः इतिहास का प्रत्येक देश तथा जाति के लिये अत्यधिक महत्त्व है। इतिहास देश का जीवन है तथा देशवासियों की जीवनीशक्ति भी। इतिहास केवल अतीत का मुकुर नहीं है, अपितु जयचन्द्र विद्यालंकार के शब्दों में "वह अतीत की ज्योति से वर्तमान-स्वरूप को पहिचानने और भविष्य के मार्ग के उजियारा करने की चेष्टा है।[1] वास्तव में इतिहास का तीनों कालों की दृष्टि से समधिक महत्त्व है। यदि भूत का इतिहास वर्तमान का प्रेरक है तो आज का बनने वाला इतिहास कल प्रेरक बनेगा। इस सम्बन्ध में डा. एन. वेंकटरमैया का यह कथन सर्वथा सत्य है कि "यद्यपि इतिहास भूत का रिकार्ड है, किन्तु ऐसी बात नहीं कि वह वर्तमान की रुचि से रहित हो, और न भविष्य के लिए मृत अर्थात् व्यर्थ है; भूत वर्तमान के बीज रूप में है, जिसका फल भविष्य होगा।[2]" यही कारण है कि इतिहास न केवल वर्तमान काल के लिये उपयोगी है, अपितु भविष्य के लिये भी उसका महत्त्व है। दूसरे शब्दों में इतिहास का महत्त्व सार्वकालिक है।

"इतिहास एक प्रकार से अतीत के समस्त उत्थान-पतन, सफलता-असफलता, उपलब्धि तथा संघर्ष की कहानी है। अतः इतिहास का प्रयोजन मनुष्य के गत अनुभवों तथा क्रियाकलापों की निरीक्षण-परीक्षण ही है।"[3] अतः इतिहास के अध्ययन से वर्तमान के निर्माण में सहायता मिलती है। टर्नर के अनुसार इतिहास एक ऐसी सामाजिक स्मृति है, जो वर्तमान को अतीत के साथ सम्बन्धित करके वर्तमान को बोधगम्य बनाती है।[4] अतः इतिहासकार को आवश्यक है कि वह भूतकाल का

---

१. इतिहास प्रवेश: जयचन्द्र विद्यालंकार, प्रस्तावना (नागपुर इतिहास परिषद् के अध्यक्षीय भाषण का उद्धरण)।

२. "Though history is a record of the past, it is not whithout interest to the present, for the past is not dead to the future. The past is the seed of the present of which the future is the fruit" Dr N. Venkataramanayya, All India Oriental Conference 14th–Session. Darbhanga, 1948 Part II Presidental address of Historical section.

३. अनुसन्धान और प्रक्रिया, इतिहास और साहित्य: डा० ताराचन्द्र, पृ० १६४,

४. इतिहास दर्शन, डा० बुद्धप्रकाश, पृ० ३३५,

चित्र तो प्रस्तुत करे, किन्तु वर्तमान को भी अपनी दृष्टि से ओझल न होने दे। डा. वेंकटरमैया के शब्दों में इतिहासकार एक व्याख्याता का कार्य करता है। वह अतीत का अध्ययन करता है तथा उसकी वर्तमान के रूप में व्याख्या भी करता है।[1] यही नहीं, उनका यह भी कथन है कि इतिहासकार को चाहिये कि उन गलत विचारों को जो कि हाल में जनता के मष्तिष्क में घर कर गये हैं, संशोधन करे, हटाए और उनके सच्चे यथार्थ चरित्र तथा महत्त्व पर प्रकाश डाले।[2] स्पष्ट है कि इतिहास में अतीत का चित्र ही प्रतिबिम्बित नहीं होता, अपितु वर्तमान की व्याख्या भी रहती है। यही कारण है कि इतिहास को सर्वोत्तम संरक्षक के अतिरिक्त देश की तथा राष्ट्र की कठिनाइयों तथा बाधाओं को सुलझाने में सहायक भी माना जाता है।

वास्तव में इतिहास देश की अमूल्य संपत्ति है तथा राष्ट्र की प्रतिष्ठा का द्योतक है। यह विनाश का शास्त्र नहीं है। इसमें पतन और ह्रास का क्रन्दन ही नहीं होता है, उत्थान और विकास का संगीत भी होता है।[3] जयचन्द विद्यालंकार के शब्दों में "इतिहास राष्ट्र का आत्मपर्यवेक्षण, आत्मानुचिंतन, आत्मानुस्मरण और आत्मानुध्यान है।"[4] इतिहास के बिना अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान असंभव है। अतः इतिहास की खोज आत्मा की जिज्ञासा है।[5] इतिहास को जानना अपने को जानना है और इस जानने से बढ़कर किसी ज्ञान का मूल्य नहीं है।[6] अतः यदि आत्मज्ञान सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है तो इतिहास ज्ञान भी उससे न्यून नहीं है। यही कारण है कि जब इतिहास के माध्यम से स्वदेश, राष्ट्र, जाति, समाज तथा उनकी प्रथा एवं परंपराओं का अभिज्ञान होता है तो हृदय अह्लाद से भर उठता है।

परिवर्तित मान्यताओं के अनुसार इतिहास केवल राष्ट्र या राजा सामन्तों की कहानी नहीं है, अपितु सर्वजनीन तथा सार्वभौम भावना से ओत-प्रोत होता है। वास्तव में इतिहास मानव की सम्पूर्ण प्रगति का वृत्तान्त है।[7] इसकी राष्ट्रीयता का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व है। वर्तमान समय में राष्ट्र का निरपेक्षरूप से कोई अस्तित्व

---

१. आल इंडियन ओरियन्टल कान्फ्रेंस, १४ सत्र, दरभंगा, १६४८ का इतिहास विभाग का अध्यक्षीय भाषण।
२ वही,
३. इतिहासदर्शनः बुद्ध प्रकाश, पृ० ३४०-४१
४. इतिहास प्रवेशः, जयचन्द्र विद्यालंकार, प्रस्तावना,
५. अनुसन्धान और प्रक्रिया (इतिहास और साहित्य) डा० ताराचन्द्र, पृ० १६४,
६. वही,
७. इतिहासदर्शनः बुद्ध प्रकाश, पृ० १७०,

नहीं है। अतः इतिहास में चित्रित राष्ट्रीय भावना, राष्ट्र के यथार्थ चित्र तथा राष्ट्रीय संस्कृति की अत्यधिक उपादेयता है। आज किसी का अनुराग केवल व्यक्तिगत या राष्ट्रीय इतिहास से नहीं होता, अपितु मानवमात्र के इतिहास से होता है। मानव से मानव का प्रकट अप्रकट अनेक प्रकार का सम्बन्ध है। कम से कम मानवता के सम्बन्ध से समस्त मानव परिवार एक है। अतएव मानव का मानव से स्वाभाविक लगाव तथा रागात्मक सम्बन्ध होता है। और, आज जब कि विश्व की दूरियाँ मिट गई हैं, ज्ञान के साधन बढ़ गये हैं, परस्पर लगाव तथा आकर्षण भी उतना ही अभिवृद्ध हो गया है। अतएव प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक मनुष्य के सम्बन्ध में अवश्य कुछ न कुछ जिज्ञासा रखता है। यही नहीं, अपितु स्थान, देश, काल, पशु, पक्षी आदि के प्रति भी इसी प्रकार का आत्मिक सम्बन्ध तथा जिज्ञासा होती है। यह जिज्ञासा सार्वकालिक, सार्वदेशिक तथा विश्वजनीन है। इस जिज्ञासा की शांति का साधन है इतिहास। इतिहास के अनुशीलन-श्रवण-मनन तथा अनुध्यान के द्वारा प्रत्येक मनुष्य अपनी जिज्ञासाओं की शांति करके तृप्ति, आत्मसंतोष तथा प्रसन्नता का अनुभव करता है।

संक्षेप में, इतिहास एक ओर अतीत की संस्कृति का दर्शन कराने वाला चित्र संग्रह है, तो दूसरी ओर अतीत की कथा कहने वाला या गौरवगाथा गानेवाला चारण। यही नहीं, बल्कि इससे भी अधिक यह एक कलाकृति है, साहित्य है, दर्शन है तथा विज्ञान है। डा० ताराचन्द के शब्दों में "इतिहास क्या है यह जानने के लिये हमें यह देखना चाहिए कि इतिहास क्या नहीं है?"[१] जब हम इसका उत्तर खोजने की चेष्टा करते हैं तो सहज ही इतिहास का सार्वभौम रूप प्रकट हो जाता है, और हम स्वीकार करते हैं कि इतिहास में सब कुछ है। तथापि, इसमें सबसे अधिक अमूल्य अतीत की संस्कृति तथा सभ्यता की धरोहर है, जिसके कारण प्रत्येक जन-मन में उसके प्रति सहज अनुराग, प्रेम तथा श्रद्धा होती है। और अतएव जिसे सँजोने को प्रत्येक श्रद्धालु इतिहास के अनुशीलन को बाध्य होता है।

नाटक में इतिहास प्रयोग का उद्देश्य

ऐतिहासिक नाटककार उपर्युक्त इतिहास की उपादेयता, लोकप्रियता तथा सार्वभौम महत्त्व से आकृष्ट होकर उसे और भी अधिक सम्प्रेषणीय बनाने के लिये, अपने नाट्य सुलभ उद्देश्यों की संप्राप्ति के लिये तथा नाट्यकला की समधिक सफलता की संप्राप्ति के लिये नाट्यरूप में संप्रयोग करता है। इसलिये पाश्चात्य समालोचक निकल ने भी काव्यात्मक प्रभाव की ओर उन्मुखता को एक कारण माना

१. अनुसन्धान की प्रक्रिया : इतिहास और साहित्य : डा० ताराचन्द, पृ० १५५,

है।[1] किन्तु आधुनिक लेखकों ने कुछ नवीन दृष्टिकोणों से भी उपादेय समझकर इतिहास का नाट्यरूप में प्रयोग किया है। यहाँ तक कि पाश्चात्य विद्वानों ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को भी लक्ष्य में रखकर नाटक में इतिहास का प्रयोग किया है।[2] किन्तु यह सामान्य मत का प्रतिनिधित्व नहीं करता। सामान्यतया नाटककार इतिहास के किसी भी अंश का किसी भी उद्देश्य से प्रयोग करने के लिये स्वतन्त्र है, तथापि सर्वसाधारण ध्येय नाटक द्वारा समाज में अतीत के गौरव, उसके प्रति श्रद्धा, राष्ट्रप्रेम तथा आत्मगौरव की भावना का उन्मेष करना होता है। इतिहास के प्रयोग द्वारा राष्ट्रीय महापुरुषों के चरित्र, तथा आदर्श के चित्रण द्वारा अनेक प्रकार की चारित्रिक शिक्षा देना, बलिदान तथा त्याग का आदर्श प्रस्तुत करना, तथा राष्ट्रीय भावना का संचार करना सरल होता है। यही नहीं, बल्कि नाटककार इतिहास को नाट्यरूप में प्रदर्शित करके और भी अधिक तीव्र तथा व्यापक रूप से प्रभाव डालने में सफल होता है। विश्व के अधिकांश ऐतिहासिक नाटक इसी उद्देश्य से अभिसृष्ट हुए हैं।

इसके अतिरिक्त, ऐतिहासिक नाटक में प्राचीन जीवन व घटना के चित्रण के साथ-साथ सांस्कृतिक चित्र को प्रस्तुत करना भी एक उद्देश्य है, किन्तु इसके मूल में भी देश प्रेम की भावना तथा राष्ट्र गौरव की भावना निहित होती है। यह दो कारणों से होता है, सर्वप्रथम जिनका अतीत गौरवपूर्ण तथा उत्कर्षपूर्ण रहा है और वर्तमान भी समुज्ज्वल एवं विकासशील है उनमें स्वाभिमान का इतना अतिरेक होता है कि वे अपने अतीत की स्वर्णिम झाँकी पाने को विकल हो उठते हैं। कहा जाता है कि शेक्सपियर के अधिकांश नाटक इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर लिखे गये थे, अतएव लोकप्रिय भी हुए थे।[3] दूसरे, अतीत यदि गौरवपूर्ण तथा साहस की कथाओं से भरा हो तथा वर्तमान पतनशील हो, तब भी साहस संघर्ष तथा उत्थान आदि की प्रेरणा के उद्देश्य से भी ऐसे नाटकों का सृजन होता है, अथवा वर्तमान की विभीषिका से मुक्ति के लिये भी ऐसे नाटक लिखे जाते हैं, जिनसे वे वर्तमान से पलायन करके अतीत के चित्रों के साये में तथा अतीत के गौरव के आवरण में अपने को मुक्त समझते हैं। निकल ने लिखा है कि अंग्रेजी नाटककारों ने ऐतिहासिक भूत को पुनर्जीवित करने के लिये या वर्तमान के यथार्थ से त्राण पाने के लिये ऐतिहासिक

---

१. ब्रिटिश ड्रामा, निकल, पृ० ४८४,
२. दि वोग्यू आफ हिस्टारिक प्ले, वर्ल्ड ड्रामा, निकल, पृ० ८५५,
३. शेक्सपियर, ज्य.जं इयान दथिक, पृ० ११५,

नाटक रचे।[1] यह कारण भी प्रत्येक देश के ऐतिहासिक नाटकों के सृजन के संबंध में पाया जाता है।

उपर्युक्त उद्देश्य सामान्य है। वास्तविकता यही है कि ऐतिहासिक नाटकों के अभिसर्जन का उद्देश्य समय, देश तथा परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहता है। युद्ध आदि के अवसर पर प्रायः राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत, देश-प्रेम, त्याग, बलिदान को चित्रित करने वाले नाटकों की रचना होती है। निकल के अनुसार युद्ध के समय प्रायः स्वदेश प्रेम तथा स्वतंत्रता की भावना से नाटक रचे गये। १२वीं सदी में रंगमंच पर ऐसे नाटकों के प्रयोग का सर्वप्रमुख कारण भूत से सहायता तथा अनुरंजन की खोज थी।[2] इसी प्रकार इतिहास में वर्तमान के समाधान के उद्देश्य से भी ऐतिहासिक नाटकों का सृजन होता है। हम कह चुके हैं कि इतिहास वर्तमान की व्याख्या करता है। नाटककार भी भूत के आधार पर वर्तमान की समालोचना के रूप में इतिहास का उपयोग करता है। निकल ने फ्रांस के नाटककारों के सम्बन्ध में लिखा है कि अतीत में उनकी रुचि होने का प्रमुख कारण यह है कि वे वर्तमान की समालोचना के लिये भूत और सुदूरभूत से स्वेच्छिन्न वस्तु की उपलब्धि में सफल होते हैं।[3] वास्तव में वर्तमान का समाधान खोजने के लिये भूत की ओर उन्मुख होना एक स्वाभाविक कारण है। डा० जोशी के अनुसार ऐतिहासिक नाटक दो प्रकार से इस उद्देश्य की प्राप्ति करता है। या तो वह वर्तमान को भूत में समाहित कर नाटक का सृजन करे या भूत को वर्तमान के सांचे में ढाल दे।[4] इस प्रकार जब नाटक रचा जाता है तो वर्तमान की त्रुटियाँ व अभाव आदि स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं और भूत की सफलताएँ तथा उपलब्धियाँ वर्तमान की समालोचना करती हुई मार्ग प्रदर्शित करती-सी प्रतीत होती हैं।

हम यह भी उल्लेख कर चुके हैं कि इतिहास का सम्बन्ध अतीत या वर्तमान

---

१. **वर्ल्ड ड्रामा : दि वोग्यू आफ हिस्टारिकल ड्रामा, पृ० ८६२ तथा ब्रिटिश ड्रामा, पृ० ४८५,**

२. **वर्ल्ड ड्रामा : निकल, पृ० ८५५,**

३ Our principal interest for these dramatist in theme taken from the past lies of course, in the manner through which the choice of subject matter from past ages and for some there is the added incentive which comes from realization that only through the handling of a dislanced story can there be even a hope of approaching the quality of tragedy : World Drama Nicoll, P. 857.

४. **प्र० ऐति० ना०, डा० जोशी, पृ० १३,**

से नहीं, भविष्य से भी है। अतः ऐतिहासिक नाटक का सृजन भविष्य में संभावित भय से सुरक्षा पाने, संघर्षों पर विजय पाने तथा भविष्य को और भी प्रशस्त करने के उद्देश्य से भी होता है। यह उद्देश्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कहा जाता है कि शैक्सपियर के प्रायः समस्त ऐतिहासिक नाटक (केवल हेनरी अष्टम को छोड़कर) संदिग्ध तथा भविष्य के प्रति भय के समय ही लिखे गये थे। वह इनमें युद्ध के भय के प्रति चेतावनी दे रहा था। उसने अपने नाटक में भविष्य के भय को चित्रित किया तथा भविष्य की रक्षा की इच्छा व्यक्त की है।[1] समालोचकों की मान्यता है कि जब शेक्सपियर ने अपने नाटक लिखे तब वह भूत की ऐतिहासिक घटनाओं के प्रयोग के पक्ष में न था, किन्तु उसने नाटक अवश्य लिखे तथा इतिहास के सम्बन्ध में उसकी मान्यता थी कि अतीत की घटनायें भविष्य तथा वर्तमान के लिये अत्यधिक महत्त्व रखती हैं। उसकी मान्यता थी कि गत इतिहास के ऊपर दृष्टिपात करने पर वर्तमान तथा भविष्य के लिये अमूल्य अनुभव प्राप्त होते हैं। उसके मत में इतिहास के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई ईश्वरीय शक्ति हमेशा कार्य करती है तथा करेगी।[2] स्पष्ट है कि नाटक में इतिहास का प्रयोग वर्तमान तथा भविष्य के निर्माण के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

यही नहीं, बल्कि वास्तव में देखा जाय तो ऐतिहासिक-नाटकों का मानवता के कल्याण की दृष्टि से भी अत्यधिक महत्त्व है। हम इतिहास तथा मानवता के संबंध का निर्देश कर चुके हैं। साहित्य, विशेषतः नाट्यसाहित्य और उसमें भी ऐतिहासिक नाटक का इतिहास के संप्रयोग के कारण मानवता से सीधा सम्बन्ध है। हीगल ने एक स्थान पर साहित्य-स्रष्टा के सम्बन्ध में लिखा है कि एक महान साहित्यकार न केवल अदृष्ट सौन्दर्य का अनावरण करता है, अपितु वह मानवता का वक्ता भी होता है। अपने चारों ओर लोगों के अस्पष्ट स्वरों को सुनता है, उन्हें एकत्र करता है, ठोस आकार देता है और अन्त में लोगों के मौन आवेगों को ऊंची आवाज देता है।[3] इसके अतिरिक्त हीगल ने जब कि इतिहास को मानव की संपूर्ण प्रगति का वृत्तान्त माना है,[4] अतः यदि उपर्युक्त साहित्यकार तथा इतिहास से सम्बन्धित विचारों को संयुक्त करके देखें तो ऐतिहासिक नाटक के सम्बन्ध में उपर्युक्त मान्यता अधिक चरितार्थ होती हैं। यही विचार हमें मेकमिलन के कथन में प्राप्त होता है। उसने लिखा

---

१. **शैक्सपियर : ज्यार्ज इयान दथिक पृ० ११७,**

२. **वही, पृ० ११५,**

३. **देखिये, प्र० ऐति० भा०, डा० जोशी, पृ० १२,**

४. **देखिये, इतिहास दर्शन, डा० बुद्धप्रकाश, पृ० १७०,**

है कि ऐतिहासिक नाटककार का एक मात्र उद्देश्य जीवन और देशकाल से चयन की हुई घटनाओं तथा परिस्थितियों की ठीक-ठीक एव कलात्मक अभिव्यक्ति है, जो एक दूसरे से इस प्रकार संबंधित हैं कि मानवता और उसके भविष्य पर नया प्रकाश पड़ सके।[1]

मुख्यतया उपर्युक्त उद्देश्यों के कारण ही इतिहास का नाटक में प्रयोग होने से ऐतिहासिक नाटकों का उद्देश्य परिवृद्ध हो जाता है। ऐतिहासिक नाटकों के अभि-सर्जन का उद्देश्य देश, राष्ट्र, जाति तथा भूत, भविष्य, वर्तमान से सम्बन्धित होने के साथ-साथ संपूर्ण मानवता से भी होता है। सामान्यतः साहित्य या इतिहास से जिस उद्देश्य की उपलब्धि नहीं हो सकती, उसकी ऐतिहासिक नाटक द्वारा समष्टिरूप में सहज ही संप्राप्ति हो जाती है। संक्षेप में, इतिहास तथा साहित्य दोनों के प्रयोजनों का लाभ ही ऐतिहासिक नाटक से नहीं होता, अपितु, इतिहास को नाट्यरूप में संप्रेषणीय बनाकर और भी अधिक सरलता, स्वाभाविकता से तथा सर्वजनप्रिय रूप में उभयनिष्ठ व्यापक प्रयोजनों की सिद्धि होती है।

प्रायः सर्वत्र उपर्युक्त उद्देश्यों को लक्ष्य में रखकर ऐतिहासिक नाटकों का सृजन किया गया है। किन्तु ये सभी सार्वकालिक तथा सार्वदेशिक नहीं हैं, अपितु देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार कहीं कुछ प्रयोजन महत्त्वपूर्ण होते हैं तो अन्यत्र कुछ। निकल के शब्दों में जब अंग्रेजी नाटककार भूत के परिवेश में वर्तमान की समालोचना करने से हिचकिचाते थे, तब अमेरिका में ठीक विपरीत ही अनुसरण किया गया। वहाँ अतीत के प्रसंगों के परिवेश में सामाजिक मानदण्डों को अभिव्यक्त किया गया।[2] स्पष्ट है कि प्रत्येक देश में ऐतिहासिक नाटकों की रचना का उद्देश्य समान नहीं होता। यही नहीं, बल्कि एक देश में भी समय तथा परिस्थिति के अनुसार कुछ विशेष उद्देश्यों के कारण ही नाटकों का सृजन हुआ करता है। भारत में भी उपर्युक्त सभी उद्देश्यों के कारण नाटकों का सृजन नहीं हुआ है। विशेषतः संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के सृजन में उपर्युक्त उद्देश्यों को कारण नहीं माना जा सकता।

संस्कृत नाटकों में इतिहास प्रयोग का उद्देश्य

भारतीय परम्परा के अनुसार नाट्य साहित्य की सोद्देश्यता के सम्बन्ध में हम प्रकाश डाल चुके हैं। उससे स्पष्ट है कि नाट्य साहित्य ही नहीं, अपितु समस्त काव्य साहित्य का सर्वप्रमुख उद्देश्य आत्मभूत "रस" माना गया है। इसके अतिरिक्त हमने अनुरंजन, लोकोपदेश, पुरुषार्थ-चतुष्टय आदि समस्त उद्देश्यों का भी निर्देश

---

१. देखिये, प्र० ऐति० ना०, डा० जोशी, पृ० १०,
२. शेक्सपियर, ज्वार्ज इयान दथिक, पृ० ११५,

किया है। सामान्यतया समस्त संस्कृत-नाटकों का सृजन उसी के अनुरूप हुआ है। संस्कृत के प्राचीन नाटकों का मुख्यतम उद्देश्य "रसप्रवण रचना का निर्माण करना" रहा है, जबकि उपर्युक्त ऐतिहासिक नाटकों के उद्देश्य मुख्यतः वस्तु-सापेक्ष्य हैं। भारतीय विचार-धारा में वस्तुगत उद्देश्यों पर विशेष बल नहीं दिया गया है। उनकी मान्यता रही है कि रस के निविष्ट होने पर वस्तुगत प्रयोजन आनुषंगिक रूप से समाहित हो जाते हैं। यही कारण है कि भारतीय विचारधारा में वस्तुगत उद्देश्यों को गौण एवं मुख्य मानकर "रस" को ही मौलिभूत प्रयोजन माना गया है।

भारत में मुख्यतः संश्लिष्ट रूप से नाटक के प्रयोजनों का निर्देश किया गया है। मुनि भरत ने अनुरंजन के साथ-साथ मनुष्य के सार्वभौम विकास को भी नाटक का उद्देश्य माना है[1]। इसी प्रकार यहाँ लोकोपदेश आदि उद्देश्यों का भी निर्देश किया है, किन्तु सबका नियामक "रस" ही रहा है। फ़लतः प्रायः समस्त संस्कृत-नाटकों का उद्देश्य रसोन्मेष करना है। ऐतिहासिक नाटक भी इसके अपवाद नहीं हैं। यद्यपि भारतीय आचार्यों ने नाटक में ऐतिहासिक वस्तु के विनियोग पर विशेष बल दिया है,[2] किन्तु उनके बल देने का मुख्य कारण रसोन्मीलन, नाट्य प्रभाव तथा नाट्य सृजन में सफलता एवं सरलता ही है। अतः संस्कृत नाटककारों ने उपर्युक्त उद्देश्यों तथा प्रयोजनों की अपेक्षा से एतिहासिक नाटकों का सृजन नहीं किया है। भास, कालिदास आदि के ऐतिहासिक नाटकों की रचना का मुख्य उद्देश्य रसोन्मीलन ही प्रतीत होता है। तथापि, उनमें अन्यान्य उद्देश्यों की प्रासंगिक उपलब्धि भी होती है। उदाहरण के लिए मालविकाग्निमित्र अतीत के गौरव तथा सांस्कृतिक परम्परा की झलक दिखाता है, तो प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण तथा मुद्राराक्षस में राजनैतिक पक्ष प्रधान है। परन्तु इनका मुख्य उद्देश्य रसनिर्भर रचना का निर्माण ही है, क्योंकि संस्कृत नाटककार परम्परा के प्रति अतिशय आग्रहशील है। संस्कृत का नाट्यशिल्प प्रायः परम्पराग्रस्त एवं रूढ रहा है। संस्कृत के ऐतिहासिक नाटककार का उद्देश्य या तो रसनिर्भर रचना करना रहा है या समकालीन एवं आश्रयदाता राजाओं की प्रणय लीला का वर्णन अथवा प्रशस्ति लिखना! कुछ गिनी चुनी रचना ही इसकी अपवाद हो सकती हैं। अतः प्रत्यक्षतः हमें संस्कृत नाटकों की रचना में उपर्युक्त उद्देश्यों की संभावना करना समीचीन नहीं है।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक मुख्यतः रस–प्रधान, प्रणय–प्रधान, तथा प्रशस्तिपरक है। इनमें प्राचीन ऐतिहासिक नाटक प्रणय–प्रधान तथा रस–प्रधान है।

---

१. नाट्यशास्त्र, १।१११–११३,

२. विशेष देखिये—इसी प्रबन्ध में इसी अध्याय में आगे 'भारतीयमत में इतिहास तथा कल्पना प्रयोग।'

समकालीन नाटक प्रशस्तिपरक है तथा अर्वाचीन नाटक राष्ट्र प्रेम और राष्ट्रीय गौरव से संबंधित है। इसके अतिरिक्त कुछ मुद्राराक्षस आदि ऐसे भी हैं जिनके मूल में उपर्युक्त उद्देश्यों को भी खोजा जा सकता है। अंत में, हम यही कहेंगे कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक मुख्यतः रस प्रधान हैं। रस तथा नाट्य-प्रभाव के उद्देश्य से ही उनमें इतिहास-प्रयोग किया गया है, अन्यान्य वस्तुगत उद्देश्यों का विनियोग उनमें आनुषंगिक रूप से ही हुआ है। अतः यद्यपि सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय-तत्त्व उनमें प्रसंगतः मिलते अवश्य हैं, किन्तु उनसे उन्हीं की अपेक्षा रखना कथमपि उचित नहीं है।

ऐतिहासिक नाटक एवं उनमें इतिहास का रूप

ऐतिहासिक वस्तुचयनः—ऐतिहासिक-नाटक में इतिहास-प्रयोग का विषय अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। साधारणतया नाटककार वस्तुचयन के लिये स्वतंत्र होता है। यह उसकी इच्छा है कि वह वस्तुचयन सीधे ही स्रोतों से करे या इतिहास ग्रन्थों से। किन्तु कथानक का विश्वस्त तथा विश्रुत होना आवश्यक होता है। इस दृष्टि से वह वस्तु-चयन चार प्रकार से कर सकता है—

१. **मूलस्रोत ग्रंथों से:**—यदि वह मूल स्रोत ग्रन्थों से सामग्री चुनता है तो उसे यथासंभव इतिहासकार के दायित्व का भी निर्वाह करना होता है। वस्तु के संस्कार परिष्कार के अतिरिक्त उसे प्रामाणिक तथा विश्वस्त रूप देना आवश्यक है। इस तरह वह साहित्यकार तथा नाटककार दोनों का कार्य करता है।

२. **इतिहास ग्रन्थों से:**—इतिहास ग्रन्थों से वस्तु चुनकर नाटकीय रूप देना हर नाटककार का कार्य होता है।

३. **समकालीन कथानक से:**— समकालीन कथानक को भी प्रशस्ति आदि के रूप में नाट्यबद्ध किया जाता है किन्तु इसमें विश्वसनीयता तथा निश्चयात्मकता के होने पर भी अतिरंजनात्मक तत्त्वों का सहज विनियोग हो जाता है।

४. **(अ) निकटभूत के लोकप्रिय ऐतिहासिक कथावृत्त से:**—नाटककार कुछ पूर्व की ऐतिहासिक घटना का भी संग्रह कर सकता है, किन्तु उसमें विशुद्धता का होना आवश्यक है। कहीं ऐसा न हो कि लोकप्रिय होने से तथा किंवदन्तियों के रूप में प्रवहमान होने से उसके सत्य पर आवरण पड़ गया हो। अन्यथा इसका उसे उचित परिष्कार करके ही विनियोग करना आवश्यक होता है।

(ब) लोककथाओं से:—कभी-कभी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति को पुनर्जीवित करने के उद्देश्य से, प्राचीन आचार विचार और आदर्श को प्रस्तुत करने की भावना से या उसके लोकप्रिय तत्त्व की अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से प्रख्यात लोकप्रिय लोक-कथाओं की समृद्ध संपत्ति का भी आवश्यक संस्कार करके तथा विश्वसनीय रूप देकर,

नाट्य-लेखन होता है। इसमें भी कोई न कोई निश्चित ऐतिहासिक तत्त्व के विनियोग द्वारा विश्वसनीयता तथा प्रामाणिकता उत्पन्न करना आवश्यक होता है।

उपर्युक्त उपजीव्यता के आधार पर मूलतः ऐतिहासिक नाटकों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) पश्चात्कालीन तथा (२) समकालीन। इनको भी क्रमशः २-२ उपविभागों में विभक्त कर सकते हैं:—

पश्चात्कालीनः—(१) विशुद्ध ऐतिहासिक ग्रन्थों पर आधारित, तथा (२) इतिहास के स्रोत ग्रन्थों पर आधारित

समकालीनः—(३) समकालीन ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित, (४) ऐतिहासिक लोकवृत्त पर आधारित।

ऐतिहासिक वस्तु का रूप

नाटककार के सम्मुख दो उद्देश्य होते हैं (१) साहित्यिक कृति के रूप में नाट्य रूप का सफल निर्माण, (२) उद्देश्य विशेष का सफल निर्वाह। इन्हीं उद्देश्यों को लक्ष्य में रख कर वह कथा वस्तु का चयन करता है। किन्तु उसके सामने ज्ञात, अज्ञात, सुदूर एवं निकट आदि अनेक प्रकार के कथानक होते हैं। इन रूपों में से किसका चयन करे, इस सम्बन्ध में विद्वानों का मतभेद है।

पाश्चात्य मत

साधारणतया पाश्चात्य समालोचक इस सम्बन्ध में एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वान् यह आवश्यक नहीं मानते कि कथानक, घटना या पात्र आदि ज्ञात तथा ख्यात ही हों, तो कुछ दूर तथा सुदूर की घटना को ही अधिक महत्त्व देते हैं। पाश्चात्य समालोचक रेसाइन के अनुसार कथानक जितने ही दूर-सुदूर-अल्पज्ञात काल का या फिर, दूसरे देशों के इतिहास का प्रयोग किया जाय, उतनी ही सफलता ज्यादा संभव है। रेसाइन स्वदेशी तथा सुपरिचित इतिवृत्त के प्रयोग को उचित नहीं मानता। उसकी मान्यता है कि कथानक एक सहस्र वर्ष पूर्व का या एक सहस्र मील की दूरी का होने पर सफलता अधिक संभव है[1]। इसके विपरीत कॉलरिज की मान्यता है कि कथानक उन्हीं के इतिहास का होना चाहिए, जिनके लिए वह लिखा जा रहा है।[2]

उपर्युक्त दोनों मत 'मत' मात्र हैं, सिद्धान्त नहीं। हमें पाश्चात्य नाट्य-साहित्य में इनके अनेक अपवाद भी उपलब्ध हैं, जो कि नाट्यकला की दृष्टि से

---

१. देखिये प्र० ऐति० ना० डा० जोशी, पृ० ३५-३६,

२. वही, पृ० २६-२७,

अत्यन्त लोकप्रिय हैं। वास्तविकता यही है कि नाट्यप्रतिभा, वस्तुगत आदर्श एवं प्रभाव के अभाव में किसी भी प्रकार के कथानक का विनियोग सफल नहीं हो सकता। अतः नाटक में आदर्श चरित्र, चमत्कारपूर्ण वस्तु और प्रभावोत्पादक नाट्य विन्यास ही आवश्यक तत्त्व हैं।

भारतीय मत

भारतीय परंपरा के पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि प्रायः समस्त भारतीय विद्वान वस्तुचयन के स्वरूप के सम्बन्ध में एक मत हैं। नाट्याचार्य मुनि भरत से लेकर सभी आचार्यों ने वस्तु के रूप में 'ख्यातवृत्त' को ही उपजीव्य बनाने का विधान किया है।[1] भारतीय आचार्यों ने इस विषय के सम्बन्ध में अधिक न लिख कर 'ख्यातवृत्त' जैसे सूत्रात्मक शब्द का प्रयोग किया है। किन्तु इसका अभिप्राय केवल "वृत्त" के ख्यात होने से ही नहीं है, अपितु इस सूत्रात्मक शब्द द्वारा वस्तु, पात्र, चरित्र, घटना आदि सभी के ख्यात होने का निर्देश किया गया है। विश्व के अधिकांश नाटककारों ने ख्यात तत्त्व को ही दृष्टि में रखकर "वस्तु" आदि का चयन किया है। विश्व के सफलतम ऐतिहासिक नाटकों में कोई न कोई ख्यात अंश अवश्य प्राप्त होता है। भारतीय मत के अनुसार अधिकारिक कथानक का प्रख्यात होना आवश्यक है। प्रासंगिक कथानक कल्पित भी हो सकते हैं। पात्र तत्त्व के सम्बन्ध में भी यही मान्यता है।

सामान्यतः "ख्यात" शब्द का तात्पर्य यही है कि वस्तु तथा पात्र आदि के सम्बन्ध में इतनी प्रसिद्धि अवश्य हो कि वृत्त को श्रोता तथा दर्शक थोड़ा बहुत अवश्य पहिचान सकें, कम से कम उन्हें उसका यत्किंचित् परिचय अवश्य हो। अतएव ख्यात शब्द से प्रसिद्ध वृत्त की अपेक्षा की जाती है। चाहे वृत्त सुदूर का हो या निकट का, उसका ख्यात होना भारतीय नाट्यशास्त्र की प्रथम शर्त है। मुख्यतः ऐतिहासिक नाटकों की दृष्टि से इस तत्त्व का अधिक महत्त्व है, क्योंकि:—

(१) ख्यात तत्त्व ही वह तत्त्व है जो नाटक को कल्पित होने से रोकता है तथा ऐतिहासिक रूप प्रदान कर "ऐतिहासिकता" की रक्षा करता है।

(२) ऐतिहासिक नाटकों के उपर्युक्त उद्देश्यों की दृष्टि से भी वृत्त के ख्यात होने पर ही कृतकार्य होने की संभावना अधिक रहती है।

(३) नाटक की रस-निर्भरता, नाट्य-प्रभाव तथा नैतिक आदर्शों की अमिट छाप

---

१. **विशेष देखिये आगे इसी अध्याय में 'भारतीय मत में इतिहास तथा कल्पना प्रयोग।'**

छोड़ने के लिए तथा सुपरिचित आदर्श का उदाहरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से भी ख्यात वृत्त का महत्त्व है।

(४) "ख्यात" तत्त्व का सर्वाधिक महत्त्व यह है कि, क्योंकि वृत्त ख्यात होने से दर्शकों की स्मृति पर स्वभावतः परिव्याप्त होता है, संस्कार रूप से स्थायित्व लिए रहता है। अतः दर्शक या पाठकों का बिना किसी पूर्व परिचय की अपेक्षा के तादात्म्य संभव हो जाता है। उन्हें अनावश्यक कल्पना में नहीं उलझना पड़ता। नाटककार की कल्पना के साथ-साथ उनकी भी कल्पना शीघ्रता से उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। फलतः उससे रसोद्बोध तथा साधारणीकरण में अत्यन्त सहायता मिलती है और अक्लिष्ट कल्पना के किसी अवरोध के बिना सहज ही संवेदन, अनुभावन तथा रसास्वादन की क्रिया स्वतः सम्पन्न हो जाती है।

(५) नाटक में इतिहास के ख्यात-वृत्त को आधार बनाने पर नाट्य-रचना सरल तथा उसकी सफलता निश्चितप्रायः हो जाती है। क्योंकि "वृत्त" विश्वस्त होने से सभी की आस्थाओं को समेटे होता है। अतः कल्पित वृत्त के समान विश्वसनीयता पैदा करने की लेखक को आवश्यकता नहीं होती।

(६) ख्यात वृत्त उसी का होता है, जिसने असाधारण कार्य करके इतिहास में ज्योतित नक्षत्र के समान चरित्र प्रकाशित किया हो, संघर्षों की नींव पर सफलता का प्रासाद खड़ा किया हो, परिस्थिति के प्रतिकूल प्रवाह को परिवर्तित कर अनुकूलता प्राप्त की हो तथा आशातीत महनीय सफल कार्यकलापों के द्वारा इतिहास के उत्थान-पतन में अपना स्थान बनाया हो। ऐसे ख्यात वृत्त से जहाँ ऐतिहासिक उद्देश्यों की सफलता की संभावना रहती है, वहाँ नाटकीय प्रभाव, चमत्कार, रस तथा आदर्श की दृष्टि से भी सर्वाधिक सहायता मिलती है। ख्यात वृत्त को नाट्य रूप में प्रयोग करने से भारतीय उद्देश्यों की पूर्ति तो होती ही है, इसके साथ-साथ पाश्चात्य नाटकारानुमोदित-नाटकीय प्रभाव, चरित्रोद्घाटन तथा सामयिक समस्याओं के समाधान आदि उद्देश्यों की भी पूर्ति होती है।[1]

(७) इसके अतिरिक्त हमारी यह भी मान्यता है कि ख्यात तथा ज्ञात वृत्त को रसोद्बोध एव नाट्यप्रभाव में बाधक मानना भ्रम मात्र है। वास्तव में नाट्य-प्रभाव तथा रसोद्बोध का सम्बन्ध वस्तु की अपेक्षा नाटककार की प्रतिभा तथा शिल्पकुशलता से अधिक

---

१. *The author are all intentent first on producing effective* dramas, second on revealing characters and thairdly on faithfully evoking spirit of the times with which they deal. 'World Drama' Nicoll, P. 863,

है। यही कारण है कि एक ही वृत्त पर आधारित भिन्न लेखकों की लेखनी से उद्भूत नाटक का प्रभाव तथा सफलता भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है तथा सुन्दरतम चमत्कारपूर्ण वस्तु भी प्रतिभाहीन नाटककार के हाथ में पड़कर सफल नहीं हो पाती। ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं, जिनके अनुसार नाटककारों ने ख्यात तथा चिरपरिचित वस्तु को उपजीव्य बनाकर भी अत्यधिक सफल-नाटकों का सृजन किया है। अतः हम वृत्त के अल्पज्ञात या सुदूर के सिद्धान्त को विशेष महत्त्व नहीं देते।

ऐतिहासिक नाटक में कल्पना-प्रयोग

हम यह उल्लेख कर आये हैं कि ऐतिहासिक नाटकों का मूलभूत आधार इतिहास है, किन्तु उसे नाट्कृति बनाने के लिये वह कल्पना-प्रयोग भी करता है। इसी प्रकार हमने यह भी निर्देश किया है कि इतिहासकार भी इतिहास-निर्माण करते समय एकरूपता देने को तथा विश्रृंखलता दूर करने को कल्पना का आश्रय भी लेता है। किन्तु दोनों के कल्पना प्रयोग में अन्तर है। अतः ऐतिहासिक नाटक में कल्पना प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ लिखने से पहिले हम दोनों में कल्पना प्रयोग की सीमाओं के सम्बन्ध में संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं।

१. इतिहास तथा नाटक में कल्पना-प्रयोग

इतिहासकार को इतिहास में कल्पना का प्रयोग करना भी आवश्यक होता है, किंतु उसमें भी उसकी वैज्ञानिक दृष्टि सक्रिय रहती है, कलाकार की नहीं। अतः इतिहासकार का कल्पना-प्रयोग अनुमान-प्रक्रिया तथा सम्भाव्यता के आधार पर सीमित मात्रा में होता है। इतिहासकार जब घटना तथा तिथियों को उस काल की अनुमानित पृष्ठभूमि में कार्यकारण के रूप में प्रामाणिक कलेवर प्रदान करके विवरण देता है तभी इतिहास की प्राणप्रतिष्ठा होती है, ऐतिहासिक गुणों से संपृक्त होता है तथा घटनीयता का समावेश होता है। यह सब कल्पना की क्रियाशक्ति है। इतिहास में यह कल्पना का कार्य प्रमाणों के आधार पर सीमित मात्रा में प्रक्रिया-विशेष के द्वारा होता है, स्वच्छन्द नहीं। यद्यपि वह अतीत के गर्भ से तथ्यों का अन्वेषण करके कल्पना द्वारा एक रूपता प्रदान करता है, तथापि उसका आग्रह ऐतिहासिक तिथियों, स्थूल घटनाओं या ऐतिहासिक सत्य के प्रति ही अधिक होता है। इतिहास में कल्पना-प्रयोग का उद्देश्य तथ्यों एवं घटनाओं के रिक्त स्थानों की पूर्ति, रंगहीन स्थानों का (उभारना) अनुरंजन, विश्रृंखलित कड़ियों का जोड़ना तथा उसे घटनीय रूप प्रदान कर एक रूप एवं एक प्रवाह में आकार विशेष में स्थापित करना मात्र होता है। इतिहासकार प्रामाणिक सामग्री का अन्वेषण करता है, साक्ष्यों की निकष पर कसता है, उप-

युक्तता को सतोलता है; तब एक तत्वान्वेषक वैज्ञानिक की भाँति उसका प्रयोग करता है। अतः उसे निराधार, स्वच्छन्द तथा अप्रासंगिक कल्पना-प्रयोग का अधिकार नहीं हैं। वह कल्पना-प्रयोग भी संभावित तथ्य के रूप में या अनुमानित इतिहास के रूप में ही करता है। अतः स्पष्ट है कि इतिहासकार केवल कल्पना के डैनों पर बैठकर स्वच्छन्द रूप से उड़ान नहीं भरता, अपितु इतिहास की प्रामाणिकता से नियंत्रित रहता है। उसकी कल्पना केवल कल्पना नहीं होती, अपितु "संभावित-इतिहास" के सदृश होती है। संक्षेप में, इतिहासकार की कल्पना विज्ञान के समानान्तर ही सक्रिय रहती है, निरपेक्ष तथा स्वच्छन्द नहीं। अतः इतिहासकार विज्ञान का आँचल पकड़ कर उसके परिवेश में ही कल्पना का प्रयोग करता है स्वच्छन्द होकर नहीं।

लेकिन, नाटककार एक कलाकार है। उसका उद्देश्य रसनिर्भर, कलात्मक रचना करना है। वह एक कलाकार के समान कल्पनाशक्ति के माध्यम से उन घटनाओं एवं तथ्यों के स्थूल अम्बार के गर्भ में निहित अनुभूतिपूर्ण सत्य को आविर्भूत करता है। वह इतिहास की शुष्क वस्तु को कल्पना के द्वारा ही सजीव, सरल तथा प्रभावोत्पादक बनाकर एक कलाकृति के रूप में प्रस्तुत करता है। नाटककार की कल्पना-शक्ति का आश्रय पाकर इतिहास का सत्य अतीत के आवरण को छोड़कर वर्तमान की परिधि में जनजीवन के शाश्वत सत्य के सदृश उभर कर मुखर हो उठता है। अतः स्पष्ट है कि नाटक में कल्पना का समुचित प्रयोग करने की अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्रता है, जबकि इतिहास में कल्पना के अतिप्रयोग से वह भ्रष्ट प्रायः सा प्रतीत होता है। उसकी विश्वसनीयता तिरोहित हो जाती है और वह विज्ञान तथा शास्त्र के स्तर से च्युत हो जाता है। वस्तुतः नाटक में कल्पना-प्रयोग होने पर ही नाटकीय प्रभाव, रस--निर्भरता, चमत्कृति तथा साहित्यिकता की पूर्ति होती है। कल्पना के अभाव में नाट्यकला की कल्पना ही असंभव है। अतः ऐतिहासिक नाटक में कल्पना-प्रयोग आवश्यक है, किन्तु अन्य साहित्यिक कृतियों के समान स्वच्छन्द नहीं। इनमें एक ओर ऐतिहासिकता का निर्वाह करना होता है तो दूसरी ओर नाटकीयता तथा कलात्मकता का। इस प्रकार अन्य कलाकृतियों की अपेक्षा ऐतिहासिक नाटक का महत्त्व द्विगुणित होता है, तो दायित्व भी द्विगुणित हो जाता है। अतः ऐतिहासिक नाटक में कल्पना-प्रयोग, प्रकार तथा सीमाओं के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है।

(२) ऐतिहासिक नाटक में कल्पना-प्रयोग की परिसीमा

सर्वप्रथम, ऐतिहासिक नाटककार एक नाटककार है, कलाकार है, इतिहासकार नहीं। इतिहास लिखना उसका उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य है कि अतीत के सत्य को, इतिहास से कंकाल के रूप में ग्रहण करके मांसल, सरस, सजीव, रोचक बनाकर,

मुखर-चित्रमय नाट्यरूप में प्रस्तुत करना । इस प्रस्तुतीकरण में सर्वप्रमुख सहायक उसकी निर्मातृ-शक्ति कल्पना की कलात्मकता होती है । अतः उसे यहाँ कल्पना-प्रयोग का पूरा-पूरा अधिकार है ।

यद्यपि उसे यह अधिकार है कि वह अतीत की तथ्यभूत वस्तु को सँजोकर कलात्मक कृति के रूप में मांसल, रसमय तथा सप्राण बनाकर पुनर्जीवित करे । किन्तु उसका यह दायित्व भी है कि वह इतिहास को भ्रष्ट न होने दे । अतः उसे भी कल्पना प्रयोग में एक सीमा तक सीमित रहना पड़ता है । उस पर भी ऐतिहासिकता का अंकुश होता है । उसका दायित्व है कि वह कल्पना का इतना अतिप्रयोग न करे कि ऐतिहासिकता तिरोहित हो जाय और वह केवल सामान्य नाटक मात्र बनकर रह जाय । इसी प्रकार वह कल्पना का इतना न्यून प्रयोग भी न करे कि वह एक कथनोपकथनात्मक इतिहास सा प्रतीत होने लगे । यद्यपि वह अपने उद्देश्य के अनुसार इतिहास के न्यूनाधिक प्रयोग के लिए स्वतंत्र है, किन्तु कल्पना का संतुलित प्रयोग उसकी शिल्प-कुशलता तथा प्रतिभा की अपेक्षा रखता है । कल्पना के प्रयोग के अभाव में नाट्यकृति नहीं बन सकती, और कल्पना के अतिप्रयोग से उसका ऐतिहासिक रूप नहीं रह सकता । अतः ऐतिहासिक नाट्यसृजन में इतिहास तथा कल्पना अतिशयरूप से संश्लिष्ट तथा परस्पर सम्बन्धित तत्त्व हैं । इनके प्रयोग के सम्बन्ध में कोई भी निश्चित सर्वसम्मत मानदण्ड निर्धारित करना असंभव है, तथापि विद्वानों ने इनके प्रयोग के सम्बन्ध में यथा-प्रसंग कुछ रूपरेखा दी है ।

पाश्चात्य मत

पाश्चात्य विद्वान् इस सम्बन्ध में एक मत नहीं है । उनके मतों को साधारणतया तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं:—

कल्पनावादी—कुछ विद्वान कल्पना के हर संभव प्रयोग के पक्षपाती है । इनके अनुसार संभाव्यता को दृष्टि में रख कर ऐतिहासिक वस्तु, पात्र तथा घटना आदि का स्वेच्छित प्रयोग संभव है । इनमें अरस्तु ने शक्यता को सबसे अधिक महत्त्व दिया है । ऐतिहासिक तत्त्व की दृष्टि से वह केवल एक दो पात्रों के नामों को ही ऐतिहासिक कृति में पर्याप्त मानता है । शेष में कल्पना-प्रयोग की स्वतंत्रता देता है । उसकी मान्यता हैं कि ज्ञात विषय भी बहुत कम व्यक्तियों को ज्ञात होता है । अतः वह ज्ञात इतिहास में भी परिवर्तन करने की स्वीकृति प्रदान करता है ।[1] लेसिंग भी अरस्तु का समर्थक है । इसका यह भी मत है कि ऐतिहासिक परम्परा-प्राप्त-वस्तु तथा उत्पाद्य में कोई विशेष अन्तर नहीं होता । यहाँ तक कि यह ऐति-

१. **देखिये—प्र० ऐति० ना०: डा० जोशी, पृ० १९-२०,**

हासिक वस्तु की नाम, चरित्र तथा वातावरण से रहित रूपरेखा मात्र पर्याप्त समझना है तथा नाम एवं घटना तक गढ़ने की स्वीकृति देता है।[1] इसी प्रकार शिकर की मान्यता है कि नाटककार का दायित्व नाटकीय प्रभाव का निर्वाह करना है, न कि केवल शुष्क ऐतिहासिक इतिवृत्त का।[2] हेडलिन ऐव का मत भी इनसे साम्य रखता है। यह भी नाटककार को इतिवृत्त में स्वेच्छित परिवर्तन का अधिकारी मानता है।[3]

समन्वयवादी

कुछ अन्य विद्वान इतिहास तथा कल्पना-प्रयोग को समान महत्त्व देते हैं। ये नाटकीय उद्देश्यों तथा नाट्यसफलता की दृष्टि से आधारभूत इतिहास में परिवर्तन के पक्षपाती हैं। होरेस ऐतिहासिक सत्य तथा कल्पना के सम्बद्धतापूर्ण प्रयोग को उचित मानता है, तथा नाटकीय प्रभाव को दृष्टि में रखकर घटनाओं में भी नाटकीय सम्बद्धता के साथ जन-विश्वासों के अनुरूप किये गये परिवर्तनों को भी उचित ठहराता है।[4] इसी प्रकार कॉलरिज सम्भाव्यता की परिधि में कलात्मकता के अनुसार इतिहास की घटनाओं में परिवर्तन का अधिकार देता है।[5]

यथार्थवादी

कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो इतिहास पर अधिक बल देते है। स्कैलिगर इसी मत के समर्थक हैं। वह ज्ञात इतिहास में परिवर्तन को किंचिदपि उचित नहीं मानते तथा कल्पना के प्रयोग की उतनी ही अनुमति देते हैं जितने से वह उद्देश्यविशेष-उपदेश शिक्षा, आदर्श, मनोरंजन आदि में सफल हो सके।[6]

समीक्षा:—उपर्युक्त कल्पनावादी मत को हम उचित नहीं मानते। हम स्पष्ट कर चुके हैं कि कल्पना के यथेच्छ प्रयोग से न ऐतिहासिकता उभर सकती है, न इतिहास रस का निर्वाह ही हो सकता है। ऐतिहासिक नाटक में इतिहास की पृष्ठभूमि तथा रूपरेखा के यथार्थ को बिना स्वीकार किये ऐतिहासिक वृत्त तथा वातावरण आदि की उपेक्षा करके यथेच्छ रूप से मूलकथानक में परिवर्तन, परिवर्धन आदि करके सफल ऐतिहासिक नाटक नहीं रचा जा सकता। अतः कल्पना पर अधिक

---

१. **देखिये, प्र० ऐति० ना० : डा० जोशी, पृ० २४,**
२. **वही,** २५-२६,
३. **वही,** २२-२३,
४. **वही,** २०-२१,
५. **वही,** २६-२७,
६. **वही,** २१-२२,

आग्रह रखना उचित नहीं है। इसी प्रकार इतिहास का अतिप्रयोग अनुपयुक्त है। इतिहास के अतिप्रयोग से कलात्मकता तिरोहितप्राय: हो जाती है। और सजीवता, सरसता तथा प्रभावोत्पादकता का आविर्भाव नहीं होने से ऐतिहासिक नाटक, रंगमंच पर इतिहास का एक संवादात्मक रूप सा ज्ञात होता है। अतः समन्वय का मध्यम मार्ग ही सर्वथा उपयुक्त है। किन्तु सफल ऐतिहासिक नाटकों का जब परिशीलन करते हैं तो ज्ञात होता है कि उनमें इस समन्वय-भावना के रहते हुए भी चरम-उद्देश्यभूत-नाटकीय सफलता, नाट्यप्रभाव या रसनिष्पत्ति के लिये नाटककार कल्पना का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग करने को विवश हो जाता है और समन्वय नहीं कर पाता।

भारतीयमत में इतिहास तथा कल्पना-प्रयोग

भारतीय आचार्यों ने पृथक् रूप से ऐतिहासिक नाटकों के विषय में कुछ नहीं लिखा है, तथापि उनके सामान्य विवेचन से ही कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। भारतीयों ने एक ही समन्वयात्मक मार्ग को प्रमुखता दी है। उन्होंने केवल सर्वसामान्य सिद्धान्तों का ही निरूपण किया है, जो कि सर्वत्र समान रूप से घटित होते हैं। भारतीयों की समन्वयात्मक व्यापक दृष्टि में ऐसा कोई भी विषय नहीं, जो उनके सामान्य विवेचन से छूट पाया हो। अतः ऐतिहासिक विषय की चर्चा भी वहाँ अनायास मिश्रित रूप में उपलब्ध हो जाती है।

नाट्यशास्त्रकार भरत

मुनि भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में वस्तु के विवेचन में ख्यातइतिवृत्त को ग्रहण करने का आदेश तो दिया है, परन्तु उसके यथातथ्यवर्णन का कोई स्पष्ट निर्देश न देकर, विशेषतः रसनिर्भर बनाने पर ही बल दिया है। भरत का सर्वाधिक आग्रह 'रस' पर है। उनकी मान्यता है कि बिना रस के कोई किसी अर्थ में प्रवृत्त ही नहीं होता,[1] चाहे वह किसी भी विषय-विशेष से सम्बन्धित क्यों न हो। और रस-सृष्टि का आधार कल्पना है। अतः भरत के उपर्युक्त निर्देश से उनका स्पष्ट अभिप्राय कल्पना प्रयोग से है।

मुनि भरत ने नाटक की परिभाषा भी कथावस्तु के ही आधार पर देते हुए लिखा है कि देवता, मनुष्य, राजा, महात्माओं–महापुरुषों के पूर्ववृत्तों की अनुकृति को नाटक कहते हैं।[2] स्पष्ट है कि नाटक का विषय सार्वदेशिक है। यद्यपि भरत ने

---

१. नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते, "नाट्यशास्त्र" ६।३१-३२,

२. देवतानामृषीणां च राज्ञामथकुटुम्बिनाम्। कृतानुकरणं लोके नाट्यमेतद्भ–विष्यति ।।" नाट्यशास्त्रः १।११८,

तथा "देवतानां मनुष्याणां राज्ञां-लोकमहात्मनां। पूर्ववृत्तानुकरणं नाटकं नाम-तद्भवेत् ।।

विशेष रूप से इतिहास शब्द का यहाँ प्रयोग नहीं किया है, परन्तु मनुष्य, राजा तथा लोक-महात्मा शब्द से इतिहास की ओर ही निर्देश है। इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में कई जगह "इतिहास" शब्द का भी प्रयोग हुआ है। भरत के अनुसार नाटक (काव्य) के विकास में इतिहास का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। अतएव उन्होंने नाटक को "सेतिहास पंचमवेद" कहा है।[1] इस इतिहास शब्द से नाट्य में कथात्मक तत्त्व के रूप में उनका इतिहास पर ही आग्रह है। यही कारण है कि भरत ने स्पष्टतः कथातत्व की परिकल्पना के लिये इतिहास की भी स्वीकृति दी है।[2] यद्यपि भरत द्वारा प्रयुक्त इतिहास शब्द वर्तमानकालिक प्रचलित इतिहास शब्द से भिन्न है, किन्तु वह व्यापक है। अतः उसमें आधुनिक अर्थ भी समाहित है। भरत ने नाट्यशास्त्र को भी इतिहास कहा है।[3] उनके इन प्रयोगों में वर्तमान में गृहीत इतिहास का अर्थ भी समाहित है। निष्कर्षरूप में उनके द्वारा प्रयुक्त इतिहास शब्द से यही तात्पर्य है कि नाटक में ख्यातवृत्त का ही प्रयोग किया जाय। यही कारण है ख्यातवृत्त के उदाहरणस्वरूप 'इन्द्रविजय' नामक भारत के सर्वप्रथम नाटक का कथानक तत्कालीन मान्यताप्राप्त इतिहास से सँजोया गया है। स्पष्ट है कि भरत के अनुसार नाटक में इतिहास का अतिशय महत्त्व है।

भरत द्वारा नाटक में इतिहासप्रयोग पर बल देने का कारण यह है कि भारतीय मत में नाटक के प्रयोजन तथा उद्देश्य की संप्राप्ति अधिक रूप से इतिहास-प्रयोग द्वारा ही संभव है। नाटक का प्रयोजन नानाभावों से युक्त नाना अवस्थाओं से आविष्ट लोकवृत्त का अनुकरण करना है। अतएव इसमें उत्तम, मध्यम तथा अधम प्रकृति के पुरुषों के चरित्र का आश्रय लिया जाता है, तभी लोकोपदेश तथा हितोपदेशरूप व्यावहारिक प्रयोजन की पूर्ति होती है।[4] ये समस्त प्रयोजन मुख्यतः इतिहास को उपजीव्य बनाने पर विशेष सफलता से स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं। अतएव भरत ने प्रकारान्तर से मान्यता प्रकट की है कि नाटक की कथावस्तु इतिहास से ही ग्रहण की जानी चाहिये। भरत का इस सम्बन्ध में मत है कि प्रख्यातवस्तु तथा प्रख्यात नायक आदि का अवलम्बन लेना उपादेय है। क्योंकि प्रख्यात-वस्तु के उपजीव्य बनाने पर ही राजर्षिवंश के चरित्र की प्राप्ति संभव है और प्रायः राजाओं के चरित्र ही नाना रसभाव से युक्त हुआ करते हैं।[5] स्पष्ट है कि भरत के अनुसार नाटक के

---

१. नाट्यसंज्ञमिमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्। वही, १।१५,
२. वेदविद्येतिहासानामर्थानां परिकल्पनम्। वही १।११६,
३. इतिहासो-मया सृष्टः। वही, १।१६,
४. नाट्यशास्त्र, १।१०४–११८,
५. वही, २०। १०, ११, १२,

प्रयोजनों की सफलता की अधिकतम आशा से इतिहास-प्रयोग उपादेय है।

किन्तु मुख्यत: विचारणीय यह है कि भरत के मत में ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास का रूप क्या है ? इतिहास कितना हो तथा कल्पना कितनी ? भरत का पृथक्रूप से इस विषय में कुछ भी स्पष्ट मत नहीं है। किन्तु, भरत के मत में "रस" नाटक का चरम उद्देश्य है। इतिहास नाटक का आधार एवं उपजीव्य मात्र है। अत: इतिवृत्त को नाटक का शरीर कहा है[1] तथा रस को आत्मा।[2] शरीरभूत इतिवृत्त नाटक का ढाँचा या एक नग्नकंकाल मात्र होता है। उसमें आत्मभूत "रस" का निक्षेप करके सजीवता का संचार करना, मांसल बनाना, प्राण प्रतिष्ठा करना कल्पना या काव्यकला का कार्य है। नाटकीय उद्देश्य को दृष्टि में रखकर कल्पना-प्रयोग की तथा कथावस्तु में परिवर्तन परिवर्धन की समस्त स्वायत्तता कलाकार को है। अतएव भरत ने लिखा है कि कथावस्तु चयन करते समय कलाकार का यह कर्तव्य होता है कि वह मूलकथा के उन अंशों का जो रस या नायक के चरित्र के प्रतिकूल हों, परिहार करे अथवा अन्यथा कल्पना करे, तथा परिवर्तन परिवर्धन करके परिष्कार करे।[3] अत: भरत के मत में नाटककार ऐतिहासिक कथा-सूत्र को ग्रहण करके नाटक के निर्माण में अपने उद्देश्य की सफलता के लिये कल्पना-प्रयोग में स्वतंत्र है।

दशरूपककार धनंजय

इतिहास तथा कल्पना-प्रयोग के सम्बन्ध में दशरूपककार धनंजय ने और भी अधिक स्पष्टीकरण करने की चेष्टा की है। धनंजय के अनुसार वर्गीकृत कथावस्तु सामान्यतया तीन प्रकार की होती है[4]—प्रख्यात, उत्पाद्य, मिश्र। प्रख्यात में इतिहास, पुराण आदि से संग्रहीत, उत्पाद्य में कविकल्पित, तथा मिश्र में प्रख्यात एवं उत्पाद्य की मिश्रित वस्तु होती है। इससे स्पष्ट है कि धनंजय के अनुसार नाटककार स्वेच्छित वस्तु-चयन का अधिकारी है। यहाँ प्रख्यातवस्तु से विशेषत: ऐतिहासिक वस्तु से ही तात्पर्य है। दशरूपक में धनिक ने प्रख्यात के लिये "इतिहासादे:" लिखा है।[5] किन्तु व्याख्याकार प्राय: "आदि" शब्द-प्रयोग के कारण तथा इतिहास शब्द का व्यापक पुरातन अर्थ स्वीकार करके इसका इतिहास पुराण आदि अर्थ करते हैं। अत: संभव है कि धनंजय का भी अभिप्राय यहाँ इतिहास, पुराण आदि से ही रहा है। हम कह

१. नाट्यशास्त्र, २०।५१, २१।१,
२. वही, २०।५१,
३. देखिये, वही अध्याय २०,
४. दशरूपक, १।१५,
५. वही, धनिक की वृत्ति,

चुके हैं कि इतिहास के अतिरिक्त पुराण भी प्रचीन परंपरा में इतिहास माने जाते रहे हैं।[1] इस प्रकार धनंजय का भी इतिहास पर आग्रह है।

इसके अतिरिक्त नाटक में प्रख्यात वस्तु की निर्वाहकता तथा कल्पना के बारे में, धनंजय का मत है कि वह परिवर्तन-परिवर्धन का पूर्ण अधिकारी है। धनंजय के अनुसार नाटक का उद्देश्य है "रस-प्राप्ति," न कि व्युत्पत्ति। क्योंकि व्युत्पत्ति तो इतिहास आदि से ही संभव है[2] स्पष्टतः यहाँ नाटक को (विशेषतः ऐतिहासिक नाटक को) इतिहास आदि से महत्त्वपूर्ण बतलाया है। नाटक मे वस्तु (इतिहासादि) की अपेक्षा मौलिभूत रसरूप प्रयोजन के निमित्त अधिक सक्रिय रहना होता है। इसी 'रस' निष्पादन की दृष्टि से नाटककार को अधिकार है कि वह वस्तु तथा पात्र में यथेच्छ परिवर्तन करे, जिससे नाटक आनन्दनिष्यन्द में कृतकार्य हो सके।

धनंजय के अनुसार प्रख्यात वंश का राजर्षि नाटक का नायक होना चाहिए, तथा मुख्यतः आधिकारिक वस्तु प्रख्यात होनी चाहिए।[3] किन्तु यह आवश्यक है कि नायक को हमेशा उदात्त तथा अभिलषित उद्दिष्ट गुणों से युक्त ही प्रदर्शित किया जाय।[4] अतएव उसे अधिकार है कि वह इतिवृत्त में रस तथा नायक के चरित्र के प्रभाव की दृष्टि से जो विरुद्ध हो उसका परित्याग करदे, या फिर अन्यथा सर्जना या परिकल्पना करे।[5] धनंजय का स्पष्ट मत है कि नाटककार का कर्तव्य यह है कि वह हमेशा ध्यान रखे कि वस्तु, अलंकार आदि के द्वारा न तो रस से वस्तु अतिदूर हो, और न रस का तिरोभाव ही।[6] निष्कर्ष रूप में हम मान सकते हैं कि धनंजय रसरूप उद्देश्य, वस्तुगत आदर्श तथा प्रभाव को दृष्टि में रख कर नाटककार को कल्पना-प्रयोग की स्वतंत्रता देता है। उसकी मान्यता है कि वह वस्तु तथा चरित्र का कैसा ही स्वेच्छित सृजन तथा विन्यास करे, आधिकारिक वस्तु तथा चरित्र प्रख्यात अवश्य हो।

आनन्दवर्धन

ध्वन्यालोक नामक अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में आचार्य आनन्दवर्धन ने इस विषय पर सबसे अधिक व्यवस्थित तथा विस्तृत प्रकाश डाला है। उन्होंने भरत के

---

१. देखिये इसी प्रबन्ध का द्वितीय अध्याय
२. दशरूपक १।६,
३. वही, ३।२३
४. दशरूपक, ३।२२,
५. वही, ३।२४,
६. न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत्।
रसं वा न तिरोदध्यात् वस्त्वलंकारलक्षणैः।। वही ३।३२-३३,

प्रख्यात वस्तु–विषय तथा प्रख्यात उदात्त नायक के प्रयोग का औचित्य का समर्थन करते हुए नाटक में इतिहास–प्रयोग की उपादेयता नाट्य–शिल्प के आधार पर सिद्ध की है। उनका मत है कि इससे (अर्थात् ख्यात वृत्त के प्रयोग से) नायक के औचित्य-अनौचित्य के विषय में लेखक भ्रम में नहीं पड़ता है। किन्तु यदि कल्पित कथा के आधार पर नाटकादि का निर्माण किया जाय, तो उसमें अप्रसिद्ध और अनुचित नायक के स्वभावादि के वर्णन में बड़ी भूल होने की संभावना रहती है।[1] अतः इस लाभ की दृष्टि से इतिहास–प्रयोग ही अधिक उपादेय है। इसके अतिरिक्त कल्पित तथा ख्यात दोनों में रस तथा औचित्य की दृष्टि से भी ऐतिहासिक वस्तु ही नाटक के लिये हितकर है। मूल कारिका की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि "औचित्य युक्त ऐतिहासिक या कल्पित कथा-शरीर का ग्रहण अभिव्यंजक होता है। इसके प्रतिपादन का तात्पर्य यही है कि इतिहासादि में रसवती विविध कथाओं के होने पर भी विभावादि के औचित्य से युक्त कथावस्तु यदि उनमें हो तो उसे ही ग्रहण करना चाहिए, अन्य को नहीं। और ऐतिहासिक कथावस्तु से अधिक कल्पित कथावस्तु में सावधान रहने का प्रयत्न होता है। क्योंकि कल्पित वस्तु में असावधानी से भूल कर जाने पर कवि की अव्युत्पत्ति की बहुत अधिक संभावना रहती है।[2] ऐतिहासिक इतिवृत्त के ग्रहण करने से इस दायित्व से सहज ही मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आनन्द-वर्धन का आग्रह ऐतिहासिक वस्तुचयन में, विशेषतः लेखक की सुविधा तथा सफलता की अधिक सभावना के कारण ही है।

आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त अभिमत के अतिरिक्त कल्पना के प्रयोग के सम्बन्ध में भी विचार व्यक्त किये हैं। उनके विचार से कवि तथा कथाकार को कल्पना-प्रयोग की पूर्ण स्वतंत्रता है। उनका मत है कि "ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल स्थिति (कथांशादि के प्रसंग) को छोड़कर, मध्य में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथा का संस्करण एवं परिष्करण करना

---

१. अतएव च भरते प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यककर्तव्यतयोपन्यस्तम्। तेन हि नायकौचित्यानौचित्य–विषये कविर्न व्यामुह्यति। यस्तूत्पाद्यवस्तु नाटकादि कुर्यात् तस्याप्रसिद्धानुचित-नायक-स्वभाववर्णने महान् प्रमादः। ध्वन्यालोक ३।१४, की व्याख्या, पृ० २६०,

२. औचित्यवतः कथाशरीरस्यवृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहोव्यंजक इत्यनेनैतत् प्रतिपादयति यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावाद्यौचित्यवत् कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत्। वृत्तादपि च कथाशरीरा-दुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्नवता भवितव्यम्। तत्र ह्यनवधानात् स्खलतः कवेरव्युत्पत्ति-सम्भावना महती भवति। वही, पृ० २६३,

आवश्यक है ।[1] अतः भारतीय कलाकार को यह पूर्ण अधिकार है कि वह कथावस्तु में नायक का या रस के विरोधी अंशों का परित्याग करदे, या फिर स्वेच्छित प्रकल्पना करे । नाटककार ऐतिहासिक कथावस्तु को यथार्थ या यथावद्रूप में चित्रित मात्र करके ही अपने दायित्व का निर्वाह नहीं कर सकता । उसका प्रमुख उद्देश्य है —"रस-निर्भर कलाकृति का निर्माण करना ।" अतएव वस्तु आदि के अनुचित, अनुपयुक्त अंशों की काँट-छाँट तथा परिवर्तन-परिवर्धन का उसे समस्त अधिकार है । आनन्दवर्धन का स्पष्ट मत है कि "काव्य का निर्माण करते समय कवि को पूर्णरूप से रसपरतंत्र ही होना चाहिए । इसलिए यदि इतिहास में इसके विपरीत भी स्थिति दीख पड़े तो उसे तोड़कर स्वतंत्ररूप से रस के अनुरूप किसी अन्य प्रकार की कथा निबद्ध करले । क्योंकि इतिवृत्तमात्र के निर्वाह से ही कवि का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, वह तो केवल इतिहास से भी सिद्ध हो सकता है ।[2] स्पष्ट है कि साहित्य को इतिहास बनाना कलाकार का कार्य नहीं है, अपितु एक रसमय कलाकृति बनाना है । इसके लिये उसे कल्पना-प्रयोग की पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त है ।

उपर्युक्त शब्दों द्वारा आनन्दवर्धन ने इतिहास तथा कल्पनाप्रयोग पर अधिक स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है । यहाँ कल्पना-प्रयोग तथा इतिहास-प्रयोग के औचित्य-निर्देश के साथ-साथ इतिहासकार तथा ऐतिहासिक-कलाकार के मध्य एक सीमांकन करने की भी सफल चेष्टा की है । दोनों के भेद, उद्देश्य तथा प्रायोगिक-विधान का भी सूत्रात्मक स्वल्प शब्दों में संक्षिप्त-विश्लेषण कर डाला है । आनन्दवर्धन द्वारा उल्लिखित 'रसपरतंत्र' शब्द का अत्यधिक स्वारस्य है । इस शब्द से स्पष्ट होता है कि भारतीय नाटककार का 'रस' ही चरम उद्देश्य होता है । अतः वह इतिवृत्त आदि के अधीन न होकर मुख्यतः रस के अधीन ही रहता है । नाट्यगत रसनिष्पत्ति में ही उसके कला-कौशल, तथा कृतित्व आदि की सार्थकता है । दूसरी ओर 'मात्र' शब्द तथा 'प्रयोजन' शब्दों की सार्थकता भी यह निर्देश करती है कि केवल इतिवृत्त मात्र से इतिहासकार का प्रयोजन या उद्देश्य भले ही सिद्ध हो जाय, किन्तु कलाकार के उद्देश्य की सिद्धि किंचिदपि नहीं होती । स्पष्टतः दोनों का उद्देश्य तथा प्रयोजन भिन्न है । अतः रसपरतंत्र कलाकार को कल्पना-प्रयोग का भी स्वेच्छित अधिकार है ।

---

१. **इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।**
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट-रसोचित-कथोन्नयः ।। ३।११ ध्वन्यालोक, पृ० २५७,

२. **कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतंत्रेन भवितव्यम् । तत्रेतिवृत्ते, यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतंत्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत् । नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किंचित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः । वही, पृ० २६४,**

भारतीय मत में कल्पना-प्रयोग की परिसीमा

भारतीय-साहित्यशास्त्रियों की मान्यता के अनुसार जबकि भारतीय कलाकार का मुख्य उद्देश्य 'रस' है, अत. यह भ्रम हो सकता है कि भारतीयों के अनुसार रस-निर्भर रचना के निर्माण के लिये कलाकार कल्पना का स्वतंत्रतापूर्वक अत्यधिक प्रयोग भी कर सकता है। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। भारतीयमत में कलाकार कल्पना के उच्छृंखल-प्रयोग द्वारा 'रसपेशलता' के छद्म से वस्तुतत्त्व की उपेक्षा तथा अनर्गल, अनुचित कल्पना करने को कदापि स्वतंत्र नहीं है। भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने यथासम्भव सभी की मर्यादाएँ बनाने की चेष्टा की है। इस प्रसंग में यह जान लेना पर्याप्त होगा कि पाश्चात्य समालोचकों ने "सम्भाव्यता" तथा सम्बद्धता के द्वारा जहाँ एक लोचदार सीमा रेखा बनाने की चेष्टा की है, उससे कहीं दृढ़तर मर्यादा भारतीयों ने "औचित्य" के विधान द्वारा बना दी है। भारतीय साहित्यिक विवेचना तथा रचना-विधान औचित्य के परिवेश पर ही आधारित है। साहित्य के गुण-दोष आदि का समस्त विवेचन औचित्य तथा अनौचित्यपूर्ण प्रयोग-विधान को दृष्टि में रखकर ही किया गया है। भारतीय विवेचना-पद्धति की यह विशेषता है कि भारतीय साहित्य का समग्र विवेचन-प्रस्तार एकांगी न होकर परस्पर सम्बद्ध, एकरूप तथा समस्त उद्देश्यों को एक दृष्टि में समेट कर ही हुआ है। अनियत-विषयत्व तथा ग्राम्यत्व आदि दोषों का विवेचन अनौचित्य को ही दृष्टि में रख कर किया गया है।[1] भारतीय सिद्धान्त न तो कहीं अति को महत्त्व देते हैं, न न्यूनता को। अतएव समस्त भारतीय साहित्य-शास्त्र में व्यावहारिक रूप से औचित्य के महत्त्व को स्वीकार किया गया है।

भारतीय मत में जब कि रस-परतंत्र-कलाकार का उद्देश्य 'रस-पेशल' रचना करना है, तो उसे सर्वांगीण रूप से औचित्य-सापेक्ष्य रहना आवश्यक हो जाता है। अन्यथा वहाँ 'दोष' ही उत्पन्न नहीं होते, अपितु उसको 'कामचार' या उच्छृंखल तक कह कर भारतीय समालोचकों ने उसकी उपेक्षा की है।[2] भारतीय मत में कलाकार का नियमन करने वाला औचित्य सिद्धान्त ही है, अतएव वक्तृ, वाच्य तथा विषय आदि का नियामक औचित्य को ही बतलाया गया है।[3] ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन का काव्य के संबध में कथन है कि महाकाव्य तो रसप्रधान तथा इतिवृत्तप्रधान दोनों

१. भा० सा० शा० बलदेव उपाध्याय, भाग २, पृ० ५५-५७,

२. तत्र यदा कविरपगत-रसभावो वक्ता तदा रचनायां : कामचार : ।
यदा हि कविनिवद्धो—इत्यादि, ध्वन्यालोकः ३।६, की व्याख्या, पृ० २४५,

३. ध्वन्यालोक, ३।६, ७,

प्रकार के देखे जाते हैं, उनमें रस-प्रधान ही श्रेष्ठ है। रसप्रधान महाकाव्य में जो रस के औचित्य का निर्वाह नहीं करता वह कामचार अर्थात् मनमानी करने वाला है।[1]

इसके अतिरिक्त अभिनेयार्थ नाटकादि में मुख्यतः रसयोजना करने पर ही बल देते हुए लिखा है कि नाटककार को रस पर ही आग्रह रखना चाहिए।[2] किन्तु, वास्तव में यदि रसप्रधान तथा इतिवृत्तप्रधान नाटकों के वर्ग भी स्वीकार करलें तो हमें यह नहीं मानना चाहिए कि इतिवृत्त-प्रधान अर्थात् ऐतिहासिक आदि नाटकों में रसमयता का अभाव होता है। हाँ, यहाँ इतना अवश्य है कि केवल 'रस' निष्पत्ति के पीछे इतिवृत्त की उपेक्षा करना अनुचित ही माना जायगा। ऐसे नाटकों में रस-औचित्य के साथ वस्तुगत औचित्य का परिपालन भी सर्वथा आवश्यक है, अन्यथा रसगत औचित्य का कदापि सम्पादन हो ही नहीं सकता। क्योंकि रस-औचित्य के निर्वाह न होने में वस्तु, नेता तथा भावविभाव आदि की अनौचित्यपूर्ण योजना ही मुख्य कारण होती है। दूसरे शब्दों में, वस्तु, नेता आदि के औचित्य के निर्वाह होने पर रस-औचित्य का स्वतः निर्वाह हो जाता है। आनन्दवर्धन ने इसीलिए लिखा है कि मुख्यतः अनौचित्य ही रसभंग का प्रधान कारण है। अनुचित वस्तु के सन्निवेश करने पर ही रस-संश्लिष्ट रचना नहीं होती है। अतः रसोन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन।[3]

औचित्यमार्ग के प्रवर्तक क्षेमेन्द्र ने "औचित्य विचार चर्चा" में विस्तार से औचित्य का स्वरूप-निरूपण करते हुए, पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य-विधान के महत्व का प्रतिपादन किया है। इसी प्रतिपादन के द्वारा उन्होंने भारतीय साहित्यकार की सीमाओं का निर्धारण करने का सफल प्रयास भी किया है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में रसात्मक रचना ही श्रेष्ठ होती है, और रसभंग में अनौचित्य के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं होता। अतएव क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही रस का जीवितभूत स्वीकार किया है।[4] अतः सर्वत्र भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार कल्पना-प्रयोग में भी औचित्य का अतिक्रमण वर्ज्य है।

---

१. ध्वन्यालोक, ३।७ की व्याख्या, पृ० २५३,
२. अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः। वही, पृ० २५३,
३. देखिये, ध्वन्यालोक ३।१४ की व्याख्या, पृ० २६०,
४. अनौचित्यादृते नान्यत् रस-भंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

वस्तुतः भारतीय दृष्टि में 'वस्तु, नेता तथा रस का एक संश्लिष्ट त्रिकोणात्मक आयाम है, जिसे औचित्य ही नियंत्रित करता है। प्रमुख उद्देश्य भूत 'रस' के भंग में औचित्य के अभाव के निर्देश से स्वत एव वस्तु तथा नेता के औचित्य की आनुषंगिक उपादेयता स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि वस्तु तथा नेता तत्त्व का संविधान भी तो उसी निमित्त से होता है। जबकि भरत औचित्यपालन के रूप में लोक के व्यावहारिक तथा यथावद्रूप में क्रियाकलाप के पालन को परमावश्यक मानते हैं,[1] तथा क्षेमेन्द्र रस का जीवित भूत औचित्य को मानते हैं और आनन्दवर्धन अनौचित्य को ही रसभंग का कारण स्वीकार करते हैं। स्पष्ट है कि रसोन्मेष के लिये वस्तु और नेता गत औचित्य भी पालन किया जाय। कल्पना का प्रयोग वहीं तक स्वीकार्य है, जहाँ तक वस्तु तथा नेता का रूपविधान अनुचित न हो तथा ऐतिहासिकता को विकृत न करदे। वस्तु तथा नेता में मूलतः स्थित अनुचित स्थलों तथा चरित्रों का परिष्कार जहाँ आवश्यक है, वहाँ कल्पना द्वारा अनुचित तथा कुप्रभावकारी और वस्तु तथा नेता की वास्तविकता को नष्ट करने वाली परिकल्पना भी सर्वदा वर्ज्य है। यही नहीं, बल्कि भरत ने नाट्य-रचना के अतिरिक्त नाट्य-प्रदर्शन में भी औचित्य पर बल दिया है।[2] वेष-भूषा, बोलचाल, भाषा तथा कार्यकलाप सभी में औचित्य के महत्त्व की प्रतिष्ठा की है। इसी प्रकार दशरूपककार ने भी औचित्य-निर्वाह तथा अनौचित्य के परिहार पर बल दिया है।[3]

ऐतिहासिक नाटककार की दृष्टि से इतिहास तथा कल्पना-प्रयोग में रस ही परमप्रयोजन है। उसी के लिये वस्तु, नेता आदि का विन्यास तथा कल्पना का विनियोजन किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि औचित्य के परिवेश में, रसभंग से बचने के लिये, कल्पना द्वारा इतिहास की तथ्यभूत सोद्देश्यता तथा प्रामाणिकता की सुरक्षा सर्वथा आवश्यक है। कल्पना-प्रयोग वहीं तक उपादेय है, जहाँ तक इतिहास की मूलभूत सोद्देश्यता तथा इतिवृत्तात्मकता नष्ट न हो जाये। इस प्रकार इतिहास एवं कल्पना प्रयोग का भी औचित्य ही नियमन करता है, तथापि इनके प्रयोग के लिये कोई दृढ़ नियम नहीं बनाये जा सकते। उनका प्रयोग लेखक के उद्देश्य, दृष्टिकोण, वस्तु का स्वरूप, चयनप्रकार तथा प्रतिभा आदि सभी पर निर्भर करता है। उपर्युक्त समस्त विश्लेषण के आधार पर कुछ स्थूल तथ्य निकाले जा सकते हैं:—

---

१. अनौचित्याद्ऋते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

२. नाट्यशास्त्र २३।६८, तथा देखो १०।१०६, २६।११३,

३. वही, १४।६८,

४. दशरूपक ३।२४,

(१) ऐतिहासिक नाटक में रस सृष्टि के लिये कल्पना प्रयोग की पूर्ण स्वतंत्रता है, किन्तु इसकी इतनी 'अति' न हो कि इतिहास की सोद्देश्यता, इतिवृत्तात्मकता तथा इतिहास का सत्य ही नष्ट हो जाय।

(२) ऐतिहासिक नाटक में रससृष्टि के लिये कल्पना-प्रयोग के अतिरिक्त वस्तुगत अनुचित स्थलों का परिष्कार तथा पात्रगत चारित्रिक न्यूनताओं का संस्कार आवश्यक है, किन्तु इससे इतिहास का यथार्थ नष्ट न होने पाये।

(३) नाट्यरूप के समुचित विन्यास के लिए तथा स्वकीय प्रयोजनोपलब्धि के लिये कल्पना के समाश्रय से उपयुक्त प्रसंगों तथा पात्रों की परिकल्पना भी आवश्यक है।

(४) मुख्य ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास-रस तथा ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि के लिये और समग्र वस्तु, पात्र आदि का इतिहासीकरण करने के लिये कल्पना का स्वेच्छित प्रयोग सम्भव है।

(५) ऐतिहासिकता में बाधक तथा निराधार कल्पना ऐतिहासिक नाटकों में सर्वथा वर्ज्य है। काल्पनिक भावुकता इतनी अधिक न हो कि नाटक काल्पनिक बन जाय।

(६) औचित्य के परिवेश में सम्भाव्यता तथा सम्बद्धता को दृष्टि में रख कर इतिहास तथा कल्पना का समन्वित, संतुलित प्रयोग ही ऐतिहासिक नाटकों में अपेक्षित है।

(७) ऐतिहासिक रूक्षता से बचने के लिये, विकीर्ण सामग्री के संयोजन के लिये, ऐतिहासिक घटनाओं के रिक्त स्थानों की संपूर्ति के लिये, घटनासूत्र की क्रम-व्यवस्था के लिये, तथा उद्देश्य विशेष की पूर्ति के लिये कल्पना-प्रयोग का नाटककार को पूर्ण अधिकार है।

ऐतिहासिक नाटक तथा इतिहास

ऐतिहासिक नाटक में कल्पना तथा इतिहास प्रयोग के सम्बन्ध में प्राच्य-पाश्चात्य समस्त विद्वानों के विचारों के समालोचन के बाद एतिहासिक नाटक तथा इतिहास के सामान्य अन्तर पर भी दृष्टि डाल लेना उचित होगा। यद्यपि साधारणतया ऐतिहासिक नाटककार तथा इतिहासकार दोनों ही घटनीयता तथा संभाव्यता से सीमित होकर ही कल्पना का प्रयोग करते हैं। दोनों ही औचित्य द्वारा नियंत्रित होते हैं; किन्तु इतिहास में तथ्य तथा सत्य-सापेक्ष्य सम्भाव्यता का प्रयोग होता है तो नाट्य-रूप में कलात्मकता से आविष्ट सम्भाव्यता का। स्पष्टतः नाटक में इतिहास

में प्रयुक्त संभावित कल्पना से बढ़कर, अपेक्षाकृत अधिक घटनीय, औचित्यपूर्ण तथा सम्भावित कल्पना-प्रयोग की स्वतंत्रता है।

हमें दोनों के सूक्ष्म अन्तर को आत्मसात् करने के लिये यह स्मरण रखना चाहिए कि ऐतिहासिक नाटक में कल्पना की मुख्यता तथा कलात्मकता से समावृत इतिहास की गौणता होती है, जबकि इतिहास में इतिहास-प्रमुख तथा कल्पना प्रच्छन्न होती है। ऐतिहासिक नाटककार इतिहास का प्रयोग उपजीव्य के रूप में आधार के लिये करता है। जबकि इतिहास में इतिहास-लेखन ही मुख्य होता है। स्पष्ट है कि कुछ ऐतिहासिक विवरणों को प्रस्तुत करने मात्र से तथा पात्रों और घटनाओं के वर्णनमात्र से ऐतिहासिक नाटक नहीं बन सकता। अतः इतिहासकार जिस प्रकार इतिहास में ऐतिहासिकता लाने के लिये यत्किंचित् कल्पना का संभाव्यता तथा अनुमान-प्रक्रिया के आधार पर प्रयोग करता है, उसी प्रकार नाटककार को नाटकीयता लाने के लिये कल्पना का स्वच्छन्द रूप से प्रयोग करता है। ऐतिहासिक नाटक में इतिहास की ऐतिहासिकता तथा नाट्य की नाटकीयता दोनों का मंजुल सामंजस्य ही उसके सफल निर्माण का आधार है। उपर्युक्त विवेचन से उनकी भिन्नता को संक्षेप में इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते है :—

स्वरूपभेद

(१) ऐतिहासिक नाटक कलाकृति है तो इतिहास शास्त्र।
(२) प्रथम दृश्य काव्य है तो दूसरा श्रव्य ग्रन्थ।
(३) एक में कल्पना प्रधान है तो दूसरे में विषय प्रधान है।
(४) एक का बाह्य रूप दस अंक तक प्रायः सीमित है, तो दूसरे का असीमित।

उद्देश्यभेद

नाटक सरस, मनोरंजनप्रधान, पुरुषार्थचतुष्टयसाधक, झटिति प्रभावोत्पादक एवं रमणीयता·नैतिकता तथा व्यावहारिक-यथार्थता से परिपूर्ण होता है, जबकि इतिहास विधिनिषेधात्मक, उपदेशप्रधान, प्रामाणिकता के आधार पर नैतिक अनैतिक सभी कुछ अतीत की यथार्थ कथा तथा घटना का विवरण मात्र देता है। सत्य की सुरक्षा, प्रामाणिक-विवरण इसका मुख्य उद्देश्य है। नाटक दृश्य होने से स्थायी प्रभावशाली है तो इतिहास स्थायी रेकार्ड है। नाटक हृदयस्पर्शी होता है तो इतिहास बौद्धिक। नाटक सभी को उपादेय है, सर्वजनीन तथा सर्वलोकोपयोगी है किन्तु इतिहास वर्ग विशेष को ही उपादेय है।

स्पष्टतः दोनों में बहुत अन्तर है। ऐतिहासिक नाटककार इतिहास का

यथावद् चित्रण या अनुकरण न करके कलात्मकता द्वारा अभिनव सृजन करता है। वह इतिहास की वैज्ञानिकता की सुरक्षा—किसी भी प्रकार नहीं कर सकता। इतिहास के बन्धनों की उपेक्षा करके तथ्यान्वेषण की नीरसता से उठकर सरस, सजीव-उपलब्धि के रूप में एक अभिनव कलाकृति मात्र प्रस्तुत करना उसका उद्देश्य होता है। अतः वह कल्पना के प्रयोग का इतना भी अधिकारी होता है कि कहीं-कहीं तथ्यों, घटनाओं, पात्रों आदि की अभिनवसृष्टि भी कर लेता है। किन्तु इतिहासकार इस अधिकार से वंचित होता है। अभिनवसृजन करने की ऐतिहासिक नाटककार की मौलिक स्वायत्तता है, इतिहासकार की नहीं। वह तो केवल द्रष्टा, अन्वेषक तथा परिकलन-कर्ता मात्र है, जबकि ऐतिहासिक नाटककार द्रष्टा-स्रष्टा दोनों ही होता है। किसी भी तरह नाटक इतिहास नहीं हो सकता और न इतिहास नाटक। ऐतिहासिक नाटक में ऐतिहासिकता मात्र उपलब्ध हो सकती है। इसी ऐतिहासिकता की उद्भावना ऐतिहासिक नाटक की सफलता का रहस्य है।

ऐतिहासिकता की निर्वाहकता

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि ऐतिहासिक नाटक तथा इतिहास का उद्देश्य भिन्न-भिन्न होता है। अतः नाटककार इतिहास से संगृहीत वस्तु को यथावद्रूपेण तद्रूप में व्यवहृत न करके कल्पना द्वारा परिवर्धन-परिवर्तन करके अनेक मोड़ भी दे देता है, तथा नाटकीय प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से स्वयं अभिस्रष्टा का कार्य भी करता है। तथापि ऐतिहासिक नाटककार की समस्त वस्तु-सघटना इतिहास के परिवेश में न्यूनाधिक उसकी सीमाओं को स्पर्श करते हुए ही होती है।

ऐतिहासिक नाटककार ऐतिहासिक परिवेश में केवल वस्तु का परिवर्तन-परिवर्धन तथा नूतन अभिसृजन भी नहीं करता, अपितु पात्र तथा चरित्र आदि के विषय में भी ऐसा करने को स्वतंत्र होता है। इस प्रकार यद्यपि उसे समस्त ऐतिहासिक तत्त्वों का निर्वाह करना उतना आवश्यक नहीं, तथापि वस्तु, पात्र, घटना, चरित्र आदि विषयक स्थूल तत्त्वों की निर्वाहकता किसी अंश में अपेक्षित ही होती है, जिससे कि नाटक का ऐतिहासिक स्वरूप नष्ट न हो जाय। हाँ, हो सकता है उसका रूप गौण-मुख्य या न्यूनाधिक हो, किन्तु उसकी स्थिति अवश्य रहती है। पर, नाटककार नाट्य-रचना में जहाँ वस्तु, नेता, रस आदि के विन्यस्त करने में उद्देश्य विशेष या नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से स्वतंत्रतापूर्वक, किन्तु ऐतिहासिक आधार पर, काल्पनिक भावुकता का प्रयोग करता है, वहाँ, ऐतिहासिक—आधार पर कलात्मकता के प्रयोग करने पर भी वह कदाचित् कल्पित प्रायः न बन जाय, इसलिये उसे सदा यह ध्यान रखना होता है कि उसकी नाटकीय कलात्मकता भी ऐतिहासिक

रंग से रँगी हो। नाटक में ऐतिहासिक रंग देना ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि द्वारा ही संभव है। ऐतिहासिक वातावरण के सृजन का मूलाधार है देशकाल का यथोचित प्रस्तुतीकरण। अतः इतिहासकार के समान ही ऐतिहासिक नाटककार को वस्तु-सापेक्ष देशकाल का सर्वांगीण सूक्ष्मज्ञान आवश्यक होता है। यद्यपि संभव है कि नाटक में नाटककार के व्यक्तित्व तथा तत्कालीन देश काल का प्रतिबिम्बन भी यथावसर निसर्गतः हो जाय, तथापि वह इतना उभर नहीं पाता,[1] जितना नाट्य-वस्तुगत देशकाल। अतः देशकाल के सूक्ष्मज्ञान के आधार पर ही उस देश की, उस काल की संस्कृति-सभ्यता का चित्र खींचना होता है। बिना इसके न तो ऐतिहासिक वातावरण की अभिसृष्टि ही संभव हो सकती है, और न ऐतिहासिक रंग ही निखर सकता है। स्पष्टतः ये तीनों परस्पर सम्बन्धित हैं, तथा सर्वाधिक रूप से वस्तु तथा पात्र के स्थूल तत्त्वों की अपेक्षा सूक्ष्म ऐतिहासिक तत्त्वों की निर्वाहकता इन्हीं के सृजन द्वारा संभव होती है। स्थूल सूक्ष्म उभयरूप से जितना अधिक इन ऐतिहासिक तत्त्वों का निर्वाह होगा उतनी ही अधिक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक उपलब्धि ऐतिहासिक नाटकों से संभव हो सकेगी, और उतनी ही अधिक इतिहास-रस की निष्पत्ति भी होगी।

इतिहास-रस तथा ऐतिहासिक रंग

साहित्यशास्त्र में यद्यपि साहित्यिक नवरसों के अतिरिक्त इतिहास रस का उल्लेख नहीं है किन्तु आधुनिक समालोचकों ने इसका उल्लेख किया है।[2] अतः यह कुछ नवीन प्रतीत होता है। किन्तु यह शब्दतः नया है। यद्यपि साहित्यिक रसों में इतिहास रस कुछ भिन्न है पर मूलभूत साम्य भी है।[3] अतएव हम इस अभिधान को उचित मानते हैं। इतिहास रस, ऐतिहासिक कृतियों का स्वाभाविक 'धर्म' है जिसके बिना ऐतिहासिक कृति सफल नहीं कही जा सकती।[4] इतिहास-रस का मुख्य आधार ऐतिहासिक विषय होता है। ऐतिहासिक कृतियों का अनुशीलन करते समय निसर्गतः एक विशेष प्रकार की अनुभूति होती है और क्योंकि यह अनुभूति है, तथा रस के समान आनन्दप्रद तथा मानसिक 'सरण' जैसी प्रक्रिया है। अतः इसका साहित्यिक रसों की अनुभूति से भी बहुत साम्य है। अतएव इसे 'इतिहास रस'

---

१. **संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में इसका निर्णय कठिन है। अधिकांशतः उनमें नाटककार के समकालीन देशकाल का प्रभाव ही अधिक होता है।**

२. **देखो, प्र. ऐति. बा. डा. जोशी, पृ. ३४—३५,**

३. **समितिवाणी, वर्ष, १, अंक २ में पृ. १६ पर लेखक का लेख।**

४. **वही, पृ. १६,**

अभिधान दिया गया है।[1] किन्तु अन्य साहित्यिक रसों के समान इसके अनुभाव विभावादि की कल्पना नहीं की गई है।

ऐतिहासिक कृतियों में इतिहास-रस वस्तुतः ऐतिहासिकता या ऐतिहासिक अनुभूति का ही नाम है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने ऐतिहासिक कृतियों में प्राप्त होने वाले आनन्द विशेष को इतिहासरस माना है।[2] कुछ विद्वान् ऐतिहासिक वातावरण द्वारा सृष्ट एक विशेष प्रकार की अनुभूति को इतिहास रस कहना उचित समझते हैं तो कुछ सरस ऐतिहासिक वातावरण के चित्रण को ही 'इतिहास-रस' कहना उपयुक्त मानते हैं।[3] किन्तु यदि गंभीरता से देखा जाय तो इस 'इतिहास-रस' की कल्पना करने वालों का इससे अधिकांश में तात्पर्य मुख्यतः घात-प्रतिघात मारधाड़-प्रधान राजनैतिक इतिहास को सँजोकर लिखी गयी कृतियों से तथा संस्कृतिप्रधान ऐतिहासिक कृतियों से अधिक प्रतीत होता है। हम वस्तुतः ऐतिहासिकता को इतिहास-रस कहना अधिक ठीक समझते हैं। इस एतिहासिकता की अभिसृष्टि तथा उसका आस्वाद करा देना ही ऐतिहासिक नाटककार का उद्देश्य होता है।

ऐतिहासिक नाटकों में नाटकीयता के अतिरिक्त, वैपयिक दृष्टि से ऐतिहासिकता के समन्वित, मंजुल निर्वाह द्वारा ही इतिहास-रस की उद्भावना होती है। इसी उद्देश्य से वह उपयुक्त इतिहास की वस्तु तथा पात्र आदि का चयन करता है, वातावरण की सृष्टि करता है तथा देशकाल की उद्भावना करता है, तभी ऐतिहासिक रंग समस्त नाटक पर छा जाता है तथा नाट्यगत नाटकीयता को अपने रंग से परिव्याप्त कर लेता है। नाट्यगत नाटकीयता में ऐतिहासिक रंग (हिस्टोरीकल कलर) छा जाने पर ऐतिहासिकता तथा इतिहास-रस की उद्भावना होती है। इसी ऐतिहासिकता की उद्भावना होने पर दर्शक अतीत के गर्भ में पहुँच कर तथा अपनी वर्तमान स्थिति को भुलाकर, सजीव अतीत का साक्षात्कार करता है। फलतः तत्कालीन समस्त अनुभूति इतिहास से अनुप्राणित हो उठती है। यही अनुभूति इतिहास-रस है। इस इतिहास-रस की अनुभूति के समय साहित्यिक रस के समान ही साधारणीकरण जैसी 'इतिहासीकरण' की प्रक्रिया द्वारा पाठक या दर्शक अपनी वर्तमान वैयक्तिक स्थिति से उठकर उसी युग में विचरण करने लगता है और उसी देशकाल में पहुँचकर तत्कालीन घटना आदि से साहित्यिक सरस विधा द्वारा और

---

१. समितिवाणी, वर्ष, १, अंक २ में पृ. १६ पर लेखक का लेख।
२. देखिये प्र. ऐति. ना. डा. जोशी, पृ. ३५,
३. वही, पृ. ३४—३५

भी अधिक आनन्दानुभव करता है। यही सरस, सजीव, ऐतिहासिक अनुभव इतिहास-रस है।[1]

ऐतिहासिकता के आवश्यक तत्त्व

ऐतिहासिक नाटकों में इस ऐतिहासिकता या इतिहास-रस की उद्भावना के लिये नाटककार को विभिन्न रचनात्मक तत्त्वों का समाश्रय लेना होता है। उपर्युक्त विवेचन में हम ऐसे तत्त्वों का प्रसंगतः निर्देश कर आये हैं, उनमें प्रमुख हैं:—

(१) ऐतिहासिक वस्तु तथा पात्र तथा (२) ऐतिहासिक वातावरण;

ऐतिहासिक वस्तु या पात्रः— यह ऐतिहासिक नाटक का मुख्य तत्त्व है। इस पर प्रसंगतः हम पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। दूसरा तत्त्व अत्यधिक उपादेय है। अतः इस तत्त्व के सम्बन्ध में किंचित् विस्तार से चर्चा करना आवश्यक है।

ऐतिहासिक वातावरणः—ऐतिहासिक नाटक में आधारभूत इतिवृत्तात्मक कंकाल इतिहास से ही सँजोया जाता है, तथा कल्पना द्वारा उसके कलेवर को मांसल, सप्राण और सजीव बनाकर उसकी नसों में नाटकीय रस का संचार किया जाता है, किन्तु इतने मात्र से उसमें ऐतिहासिकता सक्रान्त नहीं होती। जब तक ऐतिहासिक रंग उसमें उभर नहीं आता, ऐतिहासिकता की अनुभूति सर्वथा असंभव है। इसके लिये उसे कुछ विशेष करना पड़ता है। मुख्यतः ऐतिहासिक नाटक को क्योंकि इतिहास की भूमि पर खड़ा किया जाता है। अतः वस्तु तथा पात्रगत समस्त क्रिया-कलाप के चित्रण को भी इतिहासमय होना आवश्यक है, जिससे दर्शक को नाट्यगत ऐतिहासिकता के कारण तद्देशिक तथा भूतकालिक संस्कृति-सभ्यता की झलक मिल सके, नाट्यगत ऐतिहासिक रसवत्ता सहज ही अभिभूत कर सके, तथा मृत यथार्थ पुनर्जीवित हो सके। यह सब ऐतिहासिक वातावरण की अभिसृष्टि द्वारा ही संभव होता है। अतः स्पष्ट है कि ऐतिहासिक नाटकों में वातावरण का अत्यधिक महत्त्व है।

ऐतिहासिक नाटक में ही नहीं, अपितु सभी प्रकार के नाटकों में 'वातावरण' ही प्रमुख तत्त्व है। यहाँ वातावरण से अभिप्राय है कि नाटककार जिस देश-काल की वस्तु, पात्र आदि उपजीव्य तत्त्वों पर नाट्यविन्यास कर रहा है, उसी देश-काल की संस्कृति-सभ्यता का प्रयोग कर नाटकीय घटना, चरित्र तथा अन्य समस्त क्रिया-कलाप को ऐतिहासिक-रंग से सजा कर, वर्तमान की दैशिक तथा कालिक स्थिति तथा अनुभूति को उस क्षण के लिये अतीत के वातावरण में ढाल दे। इसके लिये

---

१. **समितिवाणी, त्रैमासिक, १।२, पृ. १६ लेखक का लेख।**

वस्तु के अनुरूप ही देशकाल का चित्रण करते समय कल्पित अतीत की भूमि पर समस्त जलवायु, पशु-पक्षी, मनुष्य आदि का सृजन करना होता है जिससे वस्तुगत घटना तथा पात्रों की एकरूपता स्थापित हो सके, और दर्शक वर्तमान स्थिति को भुला कर अतीत के ऐतिहासिक वातावरण में विचरण कर सके।

वातावरण द्वारा ही विभिन्न प्रकार के नाटकों की वैषयिक विशेषता का अनुभावन होता है; अतएव पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि वातावरणों की उद्भावना भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है। सामान्यतः प्रत्येक प्रकार के वातावरण के लिये वस्तु के अनुरूप संस्कृति-सभ्यता का चित्रण अर्थात् रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, बोल-चाल, उठन-बैठन, खान-पान, वस्त्राभूषण कलाकौशल तथा सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि समस्त चित्रण उस देश-काल की विशेषताओं से युक्त होना चाहिए। ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास का वस्तु-तत्त्व एक स्थूल केन्द्र बिन्दु है, जिसके परितः नाटकीयता अपना सरस परिवेश बनाती है, और ऐतिहासिक वातावरण उस कलात्मक वृत्त को ऐतिहासिक रंग देता है। फलतः केन्द्रीय ऐतिहासिक सत्य अपने मौलिक रूप में उभर पड़ता है। स्पष्ट है कि वातावरण द्वारा ही वस्तुगत विशेषताओं का परिज्ञान होता है, इतिहास की रसवत्ता का आस्वाद होता है, तथा इसी की अंगुली पकड़कर अतीत के गर्भगृह में प्रवेश कर वह साँस लेता है। फ्रेंच उपन्यासकार ड्यूमा के ये शब्द यदि सत्य हैं कि इतिहास वह खूंटी है, जिस पर मैं अपने नाटकों को लटकाता हूँ,[1] तो डा. जोशी का यह कथन भी कुछ कम सत्य नहीं कि ऐतिहासिक वातावरण ही वह दीवाल है, जिस पर वह खूंटी गाढी जाती है।[2]' वास्तव में ऐतिहासिक वस्तु तथा वातावरण दोनों परस्पर सम्बन्धित तत्त्व हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व निरर्थक-सा है। अतः ऐतिहासिक कृतियों में दोनों का ही संश्लिष्ट प्रयोग आवश्यक होता है।

किन्तु ऐतिहासिक नाट्य रचना में केवल इतिहास ग्रन्थों का ज्ञान मात्र ही अपेक्षित नहीं होता, अपितु नाटककार की संवेदनशीलता, बहुज्ञता, बहुश्रुतता तथा काल्पनिक उर्वरता और कलात्मकता भी आवश्यक होती है। इतिहासज्ञान के अतिरिक्त लेखक जितना ही अधिक संवेदनशील कल्पनाशील मनोवैज्ञानिक तथा भावुक होगा, उतना ही अधिक अतीत की यथार्थ अनुभूति को सँजोकर नाटक को ऐतिहासिकता से अनुप्राणित कर सकेगा। इस प्रकार नाटकीय कलात्मकता तथा ऐतिहासिकता के समुचित समन्वय होने पर स्वाभाविकता, यथार्थता तथा सजीवता

---

१. देखिये, पू. ऐति. ना. डा. जोशी, पृ. ३३,

२. वही,

के सामंजस्यपूर्ण आविर्भाव से ही सफल समर्थ ऐतिहासिक नाटक का निर्माण संभव होता है।

ऐतिहासिक नाटकों के वातावरण की सृष्टि दो प्रकार से होती है : १. वाह्य तथा २. आन्तरिक।

(१) वाह्य से तात्पर्य है—"रंगमंचीय उपादानों द्वारा वातावरण की सृष्टि।" पर्दे, खम्बे, शिल्प तथा अन्य स्थापत्य आदि के निर्माण एवं प्रदर्शन द्वारा या चित्रकला आदि के द्वारा जब ऐतिहातिक चित्र खींचने तथा तत्कालीन झाँकी देने का प्रयास किया जाता है तब उसे वाह्य वातावरण कह सकते हैं। मुख्यत: यह 'वाह्य' स्थूल उपकरणों पर आश्रित होता है। इनमें प्रमुख हैं—(१) रंगमंचीय आलेखन, (२) दृश्य प्रसाधन (३) पात्रों की वेशभूषा, परिधान तथा अलंकरण, (४) ध्वनि, प्रकाश आदि अन्य।

वास्तव में जैसा कि नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने विस्तार से विवेचन किया है, उससे प्रमाणित होता है कि नाटकीय प्रभाव की दृष्टि से यह वाह्यतत्त्व परमावश्यक है। इस वाह्यसृष्टि से नाटककार को प्रभावोत्पादन में बहुत सहयोग मिलता है, तथा दर्शक भी सहज ही बिना किसी क्लिष्ट कल्पना के वस्तु को आत्मसात् कर लेता है।

वाह्य वातावरण की उद्‌भावना करना केवल नाटककार का ही कार्य नहीं होता, अपितु सूत्रधार, नट, तथा निर्देशक की प्रतिभा भी बहुत कुछ हद तक इसमें सक्रिय रहती है, तथापि मूलत: वह नाटककार के निर्देशों पर ही अवलबित रहती है—अत: वाह्य वातावरण भी नाटककार की प्रतिभा द्वारा अभिसृष्ट होता है।

(२) आन्तरिक-वातावरण की अभिसृष्टि समग्र रूप में नाटककार की क्रिया-शक्ति पर समाश्रित होती है। यह स्थूल न होकर सूक्ष्म, सर्वांगीण तथा मुख्यत: नाट्य-कला या वस्तु तथा पात्र से सम्बन्धित होती है। नाटककार जब वस्तु के अनुरूप पात्रों के आचार-विचार, स्वभाव-प्रभाव, भाषा-भूषा, बोल-चाल आदि चरित्रगत व्यावहारिक तत्त्वों का यथार्थत: इतिहास सम्मत चित्रण करता है, तभी नाट्यरूप में आन्तरिक वातावरण के माध्यम से ऐतिहासिकता प्रकट होती है। यहाँ तक की प्राचीन तत्कालीन ऐतिहासिक शब्द उच्चारण-प्रकार, परंपरा तथा प्रथाओं के चित्रण से वातावरण के निर्माण में बहुत अधिक सहायता मिलती है।

मुख्य रूप से आन्तरिक वातावरण की सृष्टि के लिये यह आवश्यक है कि नाट्यवस्तु के अनुरूप ही देश-काल की पृष्ठभूमि का निर्माण किया जाय। समस्त भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा सांस्कृतिक चित्र भी उसी देश काल के अनुरूप होना आवश्यक है। इनमें व्यतिक्रम होने से न केवल नाट्यप्रभाव में न्यूनता आती है, अपितु वह उपहासास्पद हेय रचना मात्र बन जाता है। अत: नाट्य प्रभावोन्मेष की

दृष्टि से ऐतिहासिक यथार्थवादी चित्रण होना भी आवश्यक है, तभी नाट्य के सद्यः प्रभाव के साथ-साथ ऐतिहासिकता की उद्भावना अधिक सम्भव होती है।

इस वातावरण की सृष्टि में तत्कालीन संस्कृति का यथातथ्य चित्रण तो आवश्यक है ही, इसके साथ ही घटनाओं का आनुपूर्व यथाक्रम विन्यास भी आवश्यक है। जिस काल की जो घटनाएँ जिस क्रम से हों उनके विन्यास के साथ-साथ उसी समय के वातावरण में उसी समय का सांस्कृतिक चित्र प्रस्तुत करना आवश्यक है। ऐसा करने पर ही ऐतिहासिक यथार्थ तथा आन्तरिक वातावरण की सृष्टि संभव है। संक्षेप में, आन्तरिक अर्थात् नाट्यशिल्प में वातावरण की उद्भावना के लिये हम चार वस्तु आवश्यक समझते हैं:—

(१) कालिक ऐकता—अर्थात् जिस समय की वस्तु हो उसका रूप-विधान तथा अभिव्यक्ति उसी समय के अनुरूप हो।

(२) वस्तु तथा विचारों की विशुद्धता—अर्थात् तटस्थ होकर वस्तु तथा विचारों को रूपायित किया जाय। इनमें संकरता नहीं होनी चाहिए।

(३) घटनाओं की क्रमबद्धता—घटनाविन्यास में पूर्वापर क्रम ऐतिहासिक हो, तथा विश्वसनीयता में बाधक घटनाओं का प्रक्षेप न किया जाय।

इसी प्रसंग में यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि समकालीन घटनाओं पर आधारित नाटक में देशकाल से प्रभावित भाषा का प्रयोग स्वाभाविकता की अभि-वृद्धि के लिए आवश्यक होता है। विशेष रूप से यदि लेखक भी इसी देशकाल से संबंधित हो तो पात्रों के व्यक्तित्व तथा देशकाल के अनुरूप ही भाषा-भूषा के प्रयोग की आशा रखना आवश्यक है, किन्तु भिन्न देश-काल के लेखक से इसकी आशा करना उचित नहीं है। क्योंकि तब लेखक इतिहास-ग्रन्थ आदि के आधार पर ही इसका प्रयोग करता है। किन्तु विशेषतः संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में ऐसा नहीं हुआ है।

उपर्युक्त प्रकार से जहाँ जितनी ही अधिक सफलता से वातावरण का निर्माण होगा तथा ऐतिहासिकता की उद्भावना होगी वहाँ उतनी ही अधिक मात्रा में नाटक अपने उद्देश्य में सफल होगा, तथा ऐतिहासिक तत्वों की उपलब्धि होगी और नाटक की सोद्देश्यता अभिवृद्ध हो जाएगी।

ऐतिहासिक नाटकों के विभिन्न रूप :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सफल ऐतिहासिक नाटक के लिए इतिहास तथा कल्पना का संतुलित सामंजस्यपूर्ण प्रयोग ही आवश्यक होता है, किन्तु ऐति-हासिक नाटक की रचना करते समय समस्त नाटककारों की प्रवृत्ति सामान्यतः वस्तु, पात्र तथा उद्देश्यों के प्रति या नाट्यविधान के सम्बन्ध में एक समान नहीं होती है।

इनका चयन तथा विन्यास सुविधा, रुचि, दृष्टिकोण तथा उद्देश्य आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न होता है। कभी कोई नाटककार कल्पना का खुलकर प्रयोग करता है, तो कोई-न्यूनाधिक रूप से। सुदूर अतीत की अज्ञात वस्तु होने पर प्रायः कल्पना के अनुसार सम्भाव्यता के आधार पर ही नाट्यविधान होता है; तो दूसरी ओर निकट अतीत की ज्ञातवस्तु होने पर विशुद्ध ऐतिहासिकता ज्यादा होती है। यही कारण है कि कहीं ऐतिहासिकता अधिक होती है तो कहीं काल्पनिक भावुकता।

यद्यपि प्रत्येक नाटककार ऐतिहासिक नाटक के सभी तत्त्वों का समन्वित संश्लिष्ट प्रयोग करता है, तथापि प्रायः रूपविधान में विभिन्नता होती है। यहाँ तक कि कभी-कभी इतिहास से स्थूल नाम तथा घटना भर ही सँजोता है, तो कभी समुचित रूप में उपयोग करने पर भी उद्देश्य कुछ भिन्न होता है। परिणाम यही होता है कि कहीं हमें ऐतिहासिकता ज्यादा प्राप्त होती हैं, तो कहीं स्थूल ऐतिहासिक तत्त्व, और कहीं काल्पनिकता। इन विभिन्न प्रवृत्तियों के अनुसार विद्वानों ने विभिन्न रूपात्मक नाटकों को ऐतिहासिक स्वीकार किया है: —

(१) सफल ऐतिहासिक नाटक वे होते हैं, जिनमें इतिहास तथा कल्पना का संतुलित प्रयोग होता है, अतः उनमें ऐतिहासिकता और इतिहास-रस की यथार्थ अनुभूति होती है। यही आदर्श रूप हैं।

(२) कुछ वे, जहाँ मूल वस्तु इतिहास से सँजोयी जाती है, किन्तु गौण पात्र ही इतिहास के होते हैं, मुख्य पात्र कल्पित होते हैं, केवल नामकरण आदि द्वारा उन पर ऐतिहासिकता का आरोप किया जाता है।

(३) वे, जहाँ पात्र तथा वस्तु दोनों काल्पनिक होते हैं, वातावरण ऐतिहासिक होता है और वस्तु तथा पात्र का ऐतिहासीकरण किया जाता है।

(४) वे, जहाँ प्राचीन ऐतिहासिक पात्रों के नामों के आधार पर कथा गढ़ के ऐतिहासिक वातावरण द्वारा ऐतिहासिक जामा पहनाया जाता है।

(५) वे, जहाँ विश्रृंखल—इधर-उधर फैली हुई अतीत की घटनाओं को कल्पना द्वारा संयुक्त कर नाट्यविन्यास किया जाता है।

(६) वे, जहाँ पौराणिक पात्रों तथा कथा को सुपरिचित ऐतिहासिक वातावरण में रखकर विन्यास किया जाय, किन्तु ऐसे नाटकों में प्रायः अत्युक्तिपूर्ण तथा अतिमानवी चित्रण को स्थान नहीं दिया जाता।

(७) वे, जहाँ किंवदन्तियों से तथा धार्मिक परम्परा से पात्र और घटना को सँजोकर ऐतिहासिक वातावरण द्वारा ऐतिहासिकता से समावृत कर दिया जाता है।

(८) वे, जहाँ धार्मिक संत आदि के चरित पर ऐतिहासिकता का प्रक्षेप

करते हुए नाटक निर्माण कर दिया जाता है।

(६) इसी प्रकार, कुछ वैदिक व पौराणिक वस्तु एवं पात्र को इतिहास में ढालकर लिखे नाटकों को भी ऐतिहासिक नाटक मानते हैं।

ऐतिहासिक नाटक के उपर्युक्त सभी रूप सफल ऐतिहासिक नाटकों का प्रतिनिधित्व नहीं करते। यह सत्य है कि लेखक समस्त रूपों में किसी न किसी रूप में ऐतिहासिकता या ऐतिहासिक वातावरण उँडेलने की चेष्टा करता है, तथापि हम उन्हें ऐतिहासिक स्वीकार नहीं कर सकते। सर्वप्रथम, हमने वैदिक, पूर्व वैदिक, पौराणिक, धार्मिक, या किंवदन्तीसापेक्ष्य वस्तु को ऐतिहासिक नहीं माना है। अतएव इतिहास की रूपरेखा देते हुए इन्हें प्रागैतिहासिक तथा पौराणिक कहा है। जैसा कि हमने इतिहास की मान्यता स्वीकार की है, उसके अनुसार ऐतिहासिक नाटक में मुख्यतः कथा-वस्तु ख्यात ज्ञात, विश्वस्त तथा विशुद्धप्रायः होनी आवश्यक है, संभावित या अनुमानित नहीं। इसी प्रकार कुछ पात्र भी ख्यात इतिहास के होने चाहिएँ।

अतः दन्तकथा, धार्मिक आख्यान आदि को हमने ऐतिहासिक नहीं माना है, अतः ऐसे वृत्त पर आधारित नाटकों को हम यहाँ ऐतिहासिक मानना उचित नहीं समझते। इसी प्रकार चरित-प्रधान सामाजिक तथा प्रतीकात्मक नाटकों को भी हम ऐतिहासिक नहीं मानते, भले ही उनमें यत्र-तत्र ऐतिहासिक महत्त्व के स्थल और सूचना ही प्राप्त क्यों न हों। संभव है कुछ समय बाद उन्हें भी ऐतिहासिक मान लिया जाय। संक्षेप में, जहाँ कम से कम थोड़ी बहुत ऐतिहासिक वस्तु या १-२ प्रमुख ऐतिहासिक पात्रों का विनियोग किया गया है, उन्हीं नाटकों को हमने ऐतिहासिक नाटक के अध्ययन के लिए चुना है। (इनमें भी राजनैतिक-पक्ष को ही हमने प्रमुखता दी है।) इस प्रकार के नाटक प्रणय-प्रधान, सांस्कृतिक या विशुद्ध राजनैतिक आदि सभी प्रकार के हैं।

४

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक तथा उनका वर्गीकरण

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के सम्बन्ध में, यद्यपि ऐतिहासिक नाटकों के स्वरूप तथा शिल्प आदि के प्रसंग में यथावसर संक्षेप तथा विस्तार से विचार प्रकट करते आये हैं, तथापि, क्योंकि ये ही हमारे विवेच्य हैं, अतः इनके समालोचन से पूर्व पृथक् रूप से इन पर प्रकाश डालना आवश्यक है। हमने मुख्यतः प्रचलित दृष्टिकोण के अनुसार ऐतिहासिक नाटकों के सम्बन्ध में सामान्य रूप से प्रकाश डाला है, किन्तु संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की कुछ अपनी निजी विशेषताएँ हैं तथा ये अन्य भाषाओं के ऐतिहासिक नाटकों से भिन्न हैं। इनके लिखने का प्रयोजन तथा शिल्पविधान आदि भी अपना निजी है। अतः इनसे अन्य भाषाओं के नाटकों के समान रूप, शिल्प तथा उपलब्धि आदि की आशा करना तथा उसी कोण से इनका अनुशीलन परिशीलन करना उचित नहीं है। संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में प्रायः देश-काल तथा कालक्रम की संगति का अन्वेषण कठिन कार्य है। इसके अतिरिक्त (प्राचीन एवं मध्यकालीन) संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक मुख्यतः रंजक तथा रसाश्रयी शैली में रचित हैं। अतः इतिहास पर आधारित संस्कृति-प्रधान तथा रोमांसप्रधान (प्रणयप्रधान) नाटकों को भी हम ऐतिहासिक नाटकों में परिगणित करते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के ये नाटक इतिहास ग्रन्थों पर आधारित नहीं हैं, अपितु इतिहास के स्रोत हैं; अतः इनके अध्ययन के लिए कुछ व्यापक तथा भिन्न दृष्टि रखना आवश्यक है। किन्तु, इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि इनका नाट्यसाहित्य में महत्व नहीं है या ऐतिहासिक दृष्टि से ये महत्त्वहीन हैं। बल्कि, वास्तविकता यह है कि न केवल नाट्यसाहित्य में, अपितु भारतीय वाङ्मय में इनका अपना विशेष महत्त्व है।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का महत्त्व

सामान्यतः हम संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का स्थूल रूप में त्रिविध महत्त्व मानते हैं:—

(१) **साहित्यिक महत्त्व**— संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का प्रायः संस्कृत के मूर्धन्य तथा प्राचीन नाटककारों ने सृजन किया है। अतः नाट्यसाहित्य में इनका प्राचीनता तथा साहित्यिक समुपलब्धि आदि की दृष्टि से समधिक महत्त्व है।

(२) **ऐतिहासिक महत्त्व**—संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों से भारत के प्राचीन इतिहास पर, पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अतः भारत जैसे देश के लिए, जिसका कि बहुत सा प्राचीन इतिहास प्राचीन खण्डहरों तथा किंवदन्तियों के साक्ष्य के आधार पर ही लिखा गया है, इन नाटकों का अत्यधिक महत्त्व है। यही कारण है कि इतिहासकारों ने भास, कालिदास तथा विशाखदत्त के नाटकों के आधार पर प्राचीन इतिहास के अनेक विस्मृत अध्यायों को रूप दिया है तथा संस्कार-परिष्कार किया है। प्राचीन ही नहीं, अपितु मध्यकालीन हम्मीर-मदमर्दन आदि अनेक नाटकों ने भी इतिहास निर्माण में अत्यधिक सहायता दी है।

(३) **सांस्कृतिक महत्त्व** सांस्कृतिक दृष्टि से भी ये नाटक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा उपन्यास तथा नाटक ही मुख्यतः सांस्कृतिक स्वर देने वाले होते हैं। यही नहीं, बल्कि संस्कृति तथा इतिहास से संयुक्त होने के कारण हम इन्हें ही वास्तविक इतिहास कहना अधिक उचित समझते हैं। और जब कि भारत में प्राचीन ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव है, तो संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक नाटकों का महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा

यदि हम भारत की प्राचीन परम्परा के अनुसार 'इतिहास' शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण करें तो संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा का समारम्भ अत्यन्त प्राचीनकाल से ही माना जा सकता है। इस दृष्टि से यदि देखें तो वैदिक साहित्य के संवाद सूक्त, जिन्हें नाट्योद्भव का बीज माना जाता है, भी ऐतिहासिक ठहरते हैं। जैसे पुरूरवा—उर्वशी संवाद, जहाँ से कालिदास ने प्रेरणा ग्रहण करके "विक्रमोर्वशीयम्" नाटक लिखा, ऐतिहासिक हैं। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र तथा महाभाष्य के उल्लेखों की परम्परा के अतिरिक्त, भास, कालिदास आदि ने भी इस परम्परा को समृद्ध किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि इतिहास को व्यापक अर्थ में ग्रहण करने पर ऐतिहासिक नाटक ही नाट्य-साहित्य आदि के निदर्शन तथा उनकी परम्परा अति समृद्ध मानी जा सकती है। किन्तु, इतिहास का "ज्ञात" इतिहास से ही तात्पर्य ग्रहण करने पर ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा को समृद्ध नहीं माना जा सकता।

यद्यपि ज्ञात तथा ख्यात इतिहास को ही इतिहास मानने पर भी, जैसा कि

हमने भी स्वीकार किया है,[1] भास, कालिदास, विशाखदत्त तथा शूद्रक आदि प्राचीन नाटककारों की रचनाएँ हमें ऐतिहासिक नाटकों के रूप में प्राप्त होती हैं। यही नहीं, बल्कि इनसे भी पूर्व के "वासवदत्ता नाट्यधारा" नामक प्राचीन ऐतिहासिक नाटक के उपखंड भी प्राप्त हैं, जिन्हें कि कुछ विद्वान् मौर्यकालीन सुबन्धु की रचना मानते हैं।[2] इससे भी संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा की प्राचीनता स्पष्ट होती है, तथापि इसे परिमाण की दृष्टि से विशेष समृद्ध नहीं माना जा सकता।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों को न्यूनता एवं उसके कारण

संस्कृत साहित्य में प्राचीन ऐतिहासिक नाटक बहुत अधिक नहीं हैं। मुख्यतया इस न्यूनता का कारण यह है कि भारतीय जन-जीवन निसर्गत: धार्मिक भावना से ओतप्रोत है। अतएव भारतीयों का धार्मिक तथा नैतिक आदर्श के प्रति ही अधिक आग्रह रहा है। यही नहीं, बल्कि नाट्यशास्त्र में भी नायक के आदर्श के ऊपर विशेष बल दिया गया है तथा रसवाद और सुखान्त भावना नाट्य शिल्प की मूल आधार मानी गई है। नाट्य के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु साधारण जीवन में भी संस्कृति तथा सभ्यता के रूप में उपर्युक्त विशेषताएँ परिव्याप्त रही हैं। यही कारण है कि प्रारम्भ से भारतीय नाटककारों ने भी रामायण, महाभारत तथा पुराणों के इतिवृत्त को ही अधिकतर संजोया है और इसीलिए धार्मिक तथा नैतिक आदर्श की अधिकाधिक अपेक्षा के कारण वह ऐतिहासिक इतिवृत्त तथा लोकवृत्त के उपयोग से प्राय: विमुख रहा है। यही कारण है कि समस्त विशाल संस्कृत नाट्य साहित्य में धार्मिक तथा पौराणिक नाटकों की संख्या ही अधिक है। संक्षेप में, इस न्यूनता के कारणों को इस प्रकार लिखा जा सकता है:—

(१) भारतीय जीवन में धार्मिक भावना की प्रमुखता।
(२) धार्मिक तथा नैतिक आदर्श के प्रति आग्रह की अधिकता।
(३) भारतीय साहित्य के पौराणिक धार्मिक ग्रन्थों में उच्चादर्शों की उच्च मर्यादा का आधिक्य।
(४) सुखान्त की भावना तथा साहित्य में आनन्दवाद की स्वीकृति।
(५) वस्तु की अपेक्षा नायक के आदर्श की आकांक्षा।
(६) आत्मभूत रस की नियामकता।

---

१. देखिये, इसी प्रबन्ध का इतिहास—द्वि० अध्याय।
२. ,, इसी प्रबन्ध में उदयन कथा सम्बन्धी अन्य नाटक।

(७) नाट्य शास्त्रीय नियमों का परिपालन।
(८) सांसारिक चरित्र को काव्य का आधार बनाने के प्रति घोर अरुचि।
(९) अन्य सांस्कृतिक मान्यताएँ पारलौकिक दृष्टि, काव्य की रंजक-धार्मिकता तथा रस के प्रति प्रतिबद्धता आदि।

हम यहाँ इन कारणों के विशेष विस्तार में नहीं जाना चाहते। किन्तु इतना स्पष्ट है कि उपर्युक्त कारणों से ही संस्कृत का नाटककार इतिवृत्त के रूप में इतिहास के प्रयोग से वंचित रह कर गतानुगतिक रूप से प्रसिद्ध पौराणिक वस्तु का ही पौनः पुन्येन पिष्टपेषण करता रहता है। उसे स्वतन्त्र अभिव्यंजना तथा नवीन प्रयोगों की अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं मिल सका तथा परिणाम-स्वरूप 'इतिहास' और राजनीति के विषयों को लेकर रचना करने की प्रवृत्ति का उदय ही नहीं हुआ। अन्त में, समस्त संस्कृत-नाट्य-साहित्य के पर्यवेक्षण करने के पश्चात् यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश संस्कृत नाटकों की रचना का उद्देश्य यथार्थ जीवन का प्रतिबिम्बन तथा युगीण साहित्य का निर्माण नहीं रहा है। अतः उनमें यथावसर कहीं–कहीं युगीण तत्त्वों तथा सांस्कृतिक विशेषताओं का समावेश अवश्य हो गया है, परन्तु यथार्थतः संस्कृत में प्राचीन परम्परागत पौराणिक नाटकों की संख्या ही अधिक है, ऐतिहासिक नाटकों की नहीं।

इसके अतिरिक्त, जबकि हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि भारत में इतिहास के प्रति वास्तविक रुचि का अभाव रहा है तथा इतिहास का स्वरूप एवं सृजन प्रवृत्ति भी भिन्न रही है, तो यहाँ उसी के अनुरूप नाटकों की रचना होना भी अस्वाभाविक नहीं है। यही कारण है कि संस्कृत में आधुनिक प्रकार के ऐतिहासिक नाटकों का अभाव है। इसके अतिरिक्त यहाँ जो कुछ साहित्यिक प्रयास के रूप में लिखे भी गये हैं उनमें निकट–अतीत तथा समकालीन रचनाओं का ही प्राचुर्य है और इनकी भी अपनी कुछ वैयक्तिक विशेषताएँ हैं।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की विशेषताएँ

संस्कृत-नाट्य-साहित्य में नाट्य रचना न तो वस्तु को दृष्टि में रख कर होती है, न पात्र या चरित्र को, अपितु 'रस' ही एकमात्र उसका लक्ष्य होता है। वस्तु, नेता, रस इन तीनों तत्त्वों में उद्देश्य की दृष्टि से क्रमशः एक के बाद एक का महत्व अधिक माना जाता रहा है। इसी मान्यता के कारण 'वस्तु' का महत्त्व अन्य तत्वों की अपेक्षा गौण हो गया है। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों में न तो वस्तु की विविधता तथा वस्तु-संघट्टना की अनेकरूपता ही दृष्टिगोचर होती है और न वस्तु की चमत्कृति आदि ही। यहाँ तक कि इनमें आत्मभूत रस की अभिव्यंजना

में इतना अधिक आग्रह दिखलाया गया है कि वस्तुतत्त्व उभर तक नहीं सका है और वस्तुगत स्वाभाविक विशेषताएँ भी दबी रह गई हैं।

भारतीय मत के अनुसार वस्तु का विनियोग नायक तत्त्व के लिए होता है और नायक का रस के लिए। स्पष्ट है कि वस्तु का विनियोग आनुषंगिक आधारमात्र माना गया है। अतएव वस्तु-चयन नायक के आदर्श तथा रसपेशलता की सम्भावना को दृष्टि में रख कर ही किया गया है। सामान्यतः इस दृष्टि से उपयुक्त होने पर ही प्रसंगवश यदाकदा ऐतिहासिक कथानक का भी प्रयोग हुआ है, किन्तु उसमें भी 'रसप्रक्षेप' ही नाटककार का मुख्य उद्देश्य रहा है, ऐतिहासिकता की उद्भावना नहीं। यही कारण है कि ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित संस्कृत के इन रस-प्रधान नाटकों में अन्य भाषाओं के यथार्थवादी ऐतिहासिक नाटकों के समान अन्तर्द्वन्द्व के दर्शन नहीं होते, और इस अन्तर्द्वन्द्व के अभाव के कारण ही उनमें इतिहास-रस का आस्वाद नहीं हो पाता, फलतः वे संघर्षहीन शिथिल काव्यमात्र से प्रतीत होते हैं।

यद्यपि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में सैद्धान्तिक रूप से कल्पना तथा इतिहास दोनों का प्रयोग हुआ है, किन्तु कुछ प्राचीन नाटकों को छोड़कर अन्य में प्रायः कल्पना की अपेक्षा इतिहास गौण तथा न्यून ही रहा है। इतना ही नहीं, बल्कि कल्पना-तत्त्व कहीं-कहीं इतना प्रमुख हो गया है कि उसने इतिहास को बिल्कुल दबा दिया है। संस्कृत के ऐतिहासिक नाटककारों ने मुख्य-मुख्य नाम तो अवश्य ऐतिहासिक ही प्रयुक्त किये हैं, किन्तु गौणमात्र, बल्कि मुख्य तथा गौण घटनाएँ तथा प्रधान पात्रों के चरित्र तक को कल्पना के आधार पर ही गढ़ लिया है। अतएव बहुत से नाटकों में केवल कुछ नाम ही ऐतिहासिक हैं तथा कुछ नाटक सर्वतः काल्पनिक से ही प्रतीत होते हैं। मुख्यतः बाद के नाटककारों ने कल्पना को विशेष स्थान दिया है। अतएव उनके ऐतिहासिक नाटक नाममात्र को ऐतिहासिक रह गए हैं।

इसके अतिरिक्त, संस्कृत नाटकों में काव्य तत्त्व की प्रचुरता होती है और बाद के नाटकों में यह काव्यात्मकता और अधिक बढ़ गई है। यही कारण है कि कुछेक नाटकों को छोड़ कर अधिकांश संस्कृत नाटकों में काव्यात्मकता ने नाटकीयता को दबा दिया है और अतएव संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रायः गत्यात्मकता, नाटकीयता, कौतूहलता तथा नाट्यसुलभ स्वाभाविकता का अभाव है। यद्यपि संस्कृत के प्रतिनिधि ऐतिहासिक नाटक स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण, मृच्छकटिक तथा मुद्राराक्षस आदि में समस्त संस्कृत नाटकों की अपेक्षा नाटकीयता तथा गत्यात्मकता अधिक है तथा इनमें काव्यतत्त्व दोष के रूप

में प्रयुक्त नहीं हुआ है, तथापि अधिकांश नाटकों में घातप्रतिघात की सृष्टि न होने से ऐतिहासिकता का आस्वाद नहीं होता।

यही नहीं, अपितु इन नाटकों में आत्मभूत "रस" की प्रतिष्ठा के साथ-साथ, अधिकांश में, शृंगार रस के प्रति अत्यधिक आग्रह भी है। भारतीय परम्परा के अनुसार नाटक में शृंगार और वीर रस का अंगीरूप में सम्प्रयोग उचित माना गया है। संस्कृत में वीर रस के नाटक बहुत कम हैं, अधिकांश में रसराज के रूप में प्रतिष्ठित शृंगार को ही रूपायित किया गया है। यही कारण है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में भी प्रणय-प्रधान कथानकों की अधिकता है तथा इनमें शृंगारिक वातावरण की सृष्टि हुई है, ऐतिहासिक की नहीं; और वे भी प्रायः राजनैतिक प्रभाव से अछूते रहे हैं।

अन्त में, संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक मुख्यतः कुछ विशेष प्रयोजन से रचित होने के कारण भी कुछ विशेष प्रकार के होते हैं। सामान्यतः अन्य भाषाओं के ऐतिहासिक नाटकों के समान इनका उद्देश्य राष्ट्रीय, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक तथा समस्या का समाधान आदि नहीं है, अपितु रसपेशल नाट्यकृति का निर्माण करना है। अधिकांश संस्कृत के नाटककार ऐतिहासिक नाटकों के अभिसृजन में साहित्यिक उद्देश्य से ही प्रेरित हुए हैं। अतएव सरस नाट्यकृति के निर्माण में ही अपनी नाट्यकला की इयत्ता समझते रहे हैं। इसके अतिरिक्त बाद के अधिकांश नाटक या तो परम्परा के रूप में रचित हैं या प्रशस्तियों के रूप में। अतः उनमें न तो नाटकीयता का निर्वाह हुआ है, न ऐतिहासिकता का ही।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में सामान्यतः पात्र तथा वस्तु के रूप में न्यूनाधिक मात्रा में इतिहास का प्रयोग अवश्य हुआ है, किन्तु अधिक नाटकों में इतिहास तथा कल्पना के सन्तुलित निर्वाह का अभाव है। इसके अतिरिक्त इनके अभिसृजन में रचयिता का दृष्टिकोण प्रायः राजनैतिक न रह कर कुछ भिन्न रहा है। यही नहीं, बल्कि इनमें से अधिक नाटकों में भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण ही साध्य तथा प्रमुख रहे हैं, ऐतिहासिक तथा राजनैतिक दृष्टिकोण नहीं। सामान्यतः वैषयिक प्रमुखता के आधार पर हम इन्हें तीन प्रकार का पाते हैं:—

(१) राजनैतिक, (२) सामाजिक तथा (३) रोमांटिक।

इनमें से भी एक-एक प्रकार में कई-कई दृष्टिकोणों की संकरता है। उदाहरण के लिए राजनैतिक-पक्ष-प्रधान ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिकता से संपृक्त नाटक बहुत स्वल्प है। इनमें मुख्यतः बाद के राष्ट्रीय-चरित्र-प्रधान तथा समकालीन प्रशस्तिपरक नाटकों का ही बाहुल्य है। अतः हम यहाँ उनकी सूक्ष्म

विशेषताओं के आधार पर पृथक्-पृथक् परिचय देना उचित समझते हैं:—

१. राजनैतिक :

(अ) राजनैतिक वातावरण से युक्त संघर्ष प्रधान ऐतिहासिक नाटकः— संस्कृत में ऐसे नाटक, जिनकी रचना मुख्यतः राजनैतिक वातावरण में हुई है, बहुत कम हैं। इसमें वीर-रस-प्रधान होने से अनजाने ही राजनैतिक पक्ष की प्रधानता हो गई है। फलतः इनमें ऐतिहासिकता का भी अच्छा निर्वाह हुआ है। यहाँ तक कि वीर रस की उद्भावना के कारण इनमें स्त्री पात्रों का भी सर्वथा अभाव है। इनमें राजनैतिक जोड़-तोड़, परिस्फुट अन्तर्द्वन्द्व, घात-प्रतिघात, कूटनीतिक चालें तथा युद्ध सम्बन्धी एवं बौद्धिक संघर्ष की प्रधानता के कारण इतिहास-रस का संचार होने से ये सरस तथा सजीव बन पड़े हैं। किन्तु इनमें मुद्राराक्षस, आदि कुछ गिने-चुने नाटक हैं। अर्वाचीन समालोचकों के अनुसार ये ही सफलतम ऐतिहासिक नाटक हैं।

(ब) समकालीन राजाओं के वर्णन प्रधान ऐतिहासिक नाटकः—संस्कृत के पाश्चाद्वर्ती ऐतिहासिक नाटकों में ऐसे भी बहुत से नाटक हैं जिनकी रचना आश्रित राजाओं या निकट भूत के समकालीन प्रायः राजवृत्तान्तों को आधार बनाकर हुई है। किन्तु, इनमें ऐतिहासिकता से संपृक्त नाटक बहुत कम हैं, इनमें से कुछ नाटकों में रूढ़ ढंग से नाटक का ढांचा भर खड़ा कर दिया गया है तथा संवादों के माध्यम से अपने मन्तव्य को प्रकट भर कर दिया है। इनमें प्रायः राजनैतिक घात-प्रतिघात तथा ऐतिहासिकता की अभिव्यंजना नहीं हुई है। मुख्यतया इनमें राजवृत्तान्तों तथा राजनैतिक क्रिया-कलाप का वर्णन ही किया गया है। हम्मीरमदमर्दन, प्रताप रूद्रकल्याण आदि इसी प्रकार के नाटक हैं।

(स) पश्चाद्वर्ती-राष्ट्रीय चरित्र प्रधान नाटकः—अर्वाचीन अनेक लेखकों ने परम्परा के रूप में प्रताप, शिवाजी आदि के चरित्रों तथा उनसे सम्बन्धित घटनाओं को संजोकर भी अनेक नाटक लिखे हैं। इनमें विश्रुत घटना तथा चरित्र को अभिनवकृति के रूप में नाट्यबद्ध किया गया है। इनमें से कुछ नाटकों में ऐतिहासिकता का भी सुन्दर सन्निवेश हुआ है, किन्तु अन्य आधुनिक भाषाओं के ऐतिहासिक नाटकों के समान ये उतने सफल नहीं हैं। मेवाड़ प्रताप, बंगीय प्रताप, संयोगिता-स्वयम्बर आदि इसी प्रकार के नाटक हैं।

२. सामाजिक-पक्ष-प्रधान नाटक :

संस्कृत में ऐसे भी कुछ नाटक हैं जिनमें सामाजिक-पक्ष-प्रधान है, तथा राजनैतिक घटना का आनुषंगिक रूप से विनियोग हुआ है। यद्यपि ये नाटक मुख्यतः सामाजिक या संस्कृति प्रधान हैं, तथापि इनकी आनुषंगिक ऐतिहासिक

कथा एवं प्राचीन सांस्कृतिक पक्ष के कारण इनका पर्याप्त ऐतिहासिक महत्त्व है। मृच्छकटिक ऐसा ही नाटक है।

३. शृंगारिक वातावरण से संपृक्त रोमांटिक नाटक :

संस्कृत के ऐसे नाटकों में मुख्य-कथा के रूप में लोक-कथा या समकालीन ऐतिहासिक इतिवृत्त से प्रणय कथा को सँजोकर तथा प्रासंगिक घटना एवं पात्रों की परिकल्पना करके नाट्यबद्ध कर दिया गया है। ये नाटक न केवल शृंगार की पृष्ठभूमि में रचित हैं, अपितु इनमें शृंगार के प्रति अतिशय आग्रह होने के कारण इनकी ऐतिहासिकता राजा-रानियों के पारस्परिक षड्यंत्र तथा राजनैतिक दावपेंच के रूप में मुख्यतः अन्तःपुर की प्राचीर तक ही सीमित रही है। ऐसे अधिकांश नाटकों में नायिका-उपनायिकाओं के क्रिया-कलाप, मान-मनौव्वल, अनुराग-तिरस्कार, ईर्ष्या-द्वेष आदि के प्रमुख होने के कारण राजनैतिक तथा राष्ट्रीय तत्त्व तिरोहित प्रायः हो गया है। फलतः संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व आदि के अभाव के कारण ये सामान्य काल्पनिक नाटक से प्रतीत होते हैं। इनमें एक प्रकार से राजाओं के गृहस्थ-जीवन के चित्रण होने के कारण वैवाहिक आदि तत्त्व ही प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त इनमें कल्पना का स्वच्छन्द प्रयोग हुआ है तथा रस-सृष्टि के लिए वस्तु तत्त्व की उपेक्षा की गई है। तथापि इस प्रकार के कुछ नाटकों में प्रसंगतः महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का भी प्रक्षेप हो गया है। संस्कृत के अनेक नाटक तथा मुख्यतः नाटिकाएँ इसी प्रकार की हैं—सामान्यतः इनमें एक नायक, दो से तीन तक नायिकाएँ, विदूषक तथा एक दो परिव्राजिका आदि पात्रों का विनियोग हुआ है। मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, प्रियदर्शिका आदि इसी प्रकार की कृतियाँ हैं।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में यद्यपि इतिहास तथा कल्पना दोनों तत्त्वों का प्रयोग हुआ है, तब भी कल्पना की अधिकता तथा राजनैतिक वातावरण से अछूते होने के कारण अधिकांश नाटकों में राजनैतिक संघर्ष तथा ऐतिहासिकता के स्वर मुखर नहीं हो पाये हैं। जहाँ तक ऐतिहासिक वातावरण का सम्बन्ध है, इनमें आन्तरिक तथा बाह्य वातावरण की सृष्टि सामान्यतः स्वाभाविक रूप से हुई है, नाटककार ने अपनी ओर से इसके लिए विशेष कुछ प्रयत्न नहीं किया है। इसके अतिरिक्त संस्कृत स्वयं प्राचीन भाषा है। प्राचीन होने के साथ-साथ यह प्राचीनता की द्योतक भी है तथा संस्कृत नाटकों का रचना-प्रकार एवं शिल्प-विधान भी ऐसा होता है कि जिसमें नाटककार को अपनी ओर से विशेष प्रदर्शन करना अपेक्षित नहीं होता। वस्तु के स्वाभाविक चित्रण द्वारा स्वतः ऐतिहासिक वातावरण-सा अभिव्यक्त होने

लगता है। यही कारण है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में—अन्य भाषाओं के नाटकों के समान रचयिता द्वारा लिखी हुई लम्बी-लम्बी भूमिकाओं तथा वस्तु की ऐतिहासिकता की व्याख्या तथा शोध-प्रवृत्ति का अभाव है। वेश-भूषा आदि के सम्बन्ध में भी कोई संकेत नहीं दिये जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक अपने निजी प्रकार के हैं। अत: उन्हें आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखना तथा आधुनिक ऐतिहासिक नाट्य-सिद्धान्त के कोण से उनका समीक्षण परीक्षण तथा मूल्यांकन करना उचित नहीं होगा। इसी प्रकार ये प्राचीन भाषा के, प्राचीन शैली में भिन्न उद्देश्य से विशेष परिस्थितियों में रचित हैं। अतएव हम यह मानते आये हैं कि उनमें आधुनिक भाषाओं के ऐतिहासिक नाटकों के समान ऐतिहासिकता की आशा रखना भी उचित न होगा। तब भी, संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक ऐतिहासिक हैं। उनकी वस्तु तथा पात्र न्यूनाधिक रूप से ऐतिहासिक है। अत: उनका ऐतिहासिक दृष्टि से भी समधिक महत्त्व है। इसके अतिरिक्त इनकी सर्वाधिक विशेषता यह है कि इनमें अधिकांशत: इतिहास ग्रन्थों से वस्तु का संकलन नहीं किया गया है, प्रत्युत् इनकी ऐतिहासिक वस्तु ने स्वयं इतिहास के निर्माण में सहयोग दिया है तथा अब भी ये पर्याप्त मात्रा में ऐसी ऐतिहासिक सामग्री से समृद्ध हैं जिससे इतिहास में अनेकों अध्याय जोड़े जा सकते हैं तथा संस्कार, परिष्कार किया जा सकता है। अत: संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक ऐतिहासिक दृष्टि से भी अन्य भाषाओं के नाटकों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त जहाँ तक साहित्यिकता का सम्बन्ध है, इनमें मुख्यत: संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक नाटकों का महत्त्व निर्विवाद है।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का वर्गीकरण

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के विषय में अनेक प्रकार से पर्याप्त प्रकाश डालने के उपरान्त अब उनका वर्गीकरण करना भी उचित होगा। हम बतला चुके हैं कि ऐतिहासिक नाटक के दो मूलतत्त्व होते हैं—इतिहास तथा नाट्यकला। नाट्य-कला क्योंकि मुख्यत कल्पना से संश्लिष्ट होती है अत: इसका हमने कल्पना या कलात्मकता के नाम से भी निर्देश किया है। हम यह भी लिख चुके हैं कि इतिहास तथा नाट्यकला के युग्मरूप से संतुलित विनियोजन द्वारा ही ऐतिहासिक नाटक का निर्माण होता है। अत: सस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का वर्गीकरण करते समय, दोनों तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए ऐसा वर्गीकरण करना अधिक उचित होगा, जिससे दोनों तत्त्वों का सम्बन्ध प्रतिफलित हो सके तथा उनका उचित मूल्यांकन भी। यद्यपि इन दोनों तत्त्वों के प्रयोग, मात्रा तथा स्वरूप के आधार पर नाटकों के अनेक भेद हो सकते हैं, किन्तु हम यहाँ विशेष विस्तार में न जाकर इनके रचनातंत्र के आधार पर निर्मित कुछ स्थूल वर्गों में ही संस्कृत के समस्त ऐतिहासिक नाटकों क समाहित करना चाहेंगे।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक सर्वप्रथम नाटक हैं, बाद में ऐतिहासिक। अतः प्रथम आवश्यकता उनकी साहित्यिकता एवं नाटकीयता है, ऐतिहासिकता बाद की। इससे यह तो निश्चित है कि ये किसी न किसी रूप में नाटक तो होंगे ही, किन्तु इनमें ऐतिहासिकता का प्रक्षेप किस सीमा तक हुआ है, तथा उससे नाट्यकला पर क्या प्रभाव पड़ा है, यही प्रश्न विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक नाटक के लिखते समय नाटककार ने इतिहास का प्रयोग किस दृष्टिकोण से किया है तथा उसमें ऐतिहासिक सत्य की अभिव्यंजना किस सीमा तक हुई है आदि प्रश्न भी कम महत्त्व के नहीं हैं। हम इन्हीं सब पहलुओं को सम्मुख रख कर संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के निम्न भेद कर सकते हैं:—

(१) विशुद्ध ऐतिहासिक—(क) संतुलित सफल ऐतिहासिक, (ख) सफल ऐतिहासिक, (ग) ऐतिहासिक, (घ) संतुलित ऐतिहासिक।

(२) इतिहास प्रधान ऐतिहासिक—(क) घटना प्रधान, (ख) चरित्रप्रधान, (ग) प्रशस्तिपरक।

(३) कल्पना प्रधान ऐतिहासिक—(क) काल्पनिक ऐतिहासिक, (ख) कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक।

१. विशुद्ध ऐतिहासिक नाटक :

नाटककार जब नाट्यरचना के लिए विश्रुत, ज्ञात एवं प्रामाणिक इतिहास से वस्तु तथा पात्र सँजोकर उनसे सम्बन्धित घटना तथा चरित्र को नाट्यरूप में रूपायित करता है तब वह विशुद्ध ऐतिहासिक नाटक की श्रेणी में आता है। इनमें मुख्य कथानक तथा पात्र विशुद्ध ऐतिहासिक होते हैं। यद्यपि इनमें प्रासंगिक घटना तथा गौण पात्रों को परिकल्पना तथा इतिहासीकरण करके भी उपन्यस्त किया जा सकता है तथापि समग्र रूप में ये प्रामाणिक होते हैं तथा समुचित ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि द्वारा ऐतिहासिकता तथा इतिहास-रस से ओतप्रोत होते हैं।

इनमें भी जब नाटक में कल्पना या नाटकीय पक्ष का समुचित सामंजस्य होता है तथा संतुलित एवं समनुपातिक ढंग से दोनों तत्त्वों के निर्वाह से ऐतिहासिकता तथा नाटकीयता के संमिश्रण के साथ-साथ कला के स्वर मुखर हो उठते हैं और इतिहास प्राणवान होकर साकार हो उठता है, तब उसे संतुलित ऐतिहासिक नाटक कहते हैं। किन्तु, दूसरी ओर कल्पना, इतिहास तथा वातावरण सभी के विनियोग होने पर भी नाटक में तालमेल नहीं बैठता तथा विशृंखल से होने से नाट्यकला निष्प्राण और इतिहास-रस की सहज अनुभूति नहीं हो पाती है, उन्हें ऐतिहासिक नाटक ही माना जा सकता है, प्रतिनिधि नहीं।

इसके अतिरिक्त इनमें जब नाटकीय पक्ष तथा इतिहास के संतुलित विनियोग

के साथ-साथ दृष्टिकोण भी ऐतिहासिक होता है अर्थात् जिस प्रकार का इतिहास में नायक का स्वरूप तथा स्थान है, उसी प्रकार का यदि नाटक में चित्रित हो तो उसे हम सफल संतुलित ऐतिहासिक नाटक कहना उचित समझेंगे। उदाहरण के लिए मुद्राराक्षस तथा भास के ऐतिहासिक नाटक इसी प्रकार के हैं। इसके अतिरिक्त जब कथानक ऐतिहासिक अवश्य हो, किन्तु उसका दृष्टिकोण ऐतिहासिक न हो, तथापि यथासम्भव इतिहास के अनुसार ही चरित्र आदि का नाटक में समावेश किया गया हो, और सम्भव-कल्पना भी की गई हो, तब उसे हम सफल ऐतिहासिक कहना ही उचित समझते हैं।

२. इतिहास-प्रधान ऐतिहासिक नाटक :

जब नाट्यरचना में इतिहास तत्त्व तो इतना प्रबल हो जाता है कि कल्पना पक्ष या नाटकीयता का समुचित निर्वाह नहीं हो पाता, अथवा जब इतिहास अधिक उभर आता है तथा वह कल्पना को समाच्छादित-सा कर लेता है, तब हम उसे इतिहास-प्रधान ऐतिहासिक नाटक की श्रेणी में रखना उचित समझते हैं। सामान्यतः ऐसे नाटकों में कभी-कभी इतिहास को संवादात्मक रूप में ही प्रस्तुत कर दिया जाता है तथा कल्पना का समुचित सामंजस्य न होने से ऐतिहासिकता तथा इतिहास-रस की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। यही नहीं, बल्कि ऐसे नाटकों में साहित्यिक-रस का भी परिपाक नहीं होता है। अतः ऐसे नाटक मुख्यतः संवादात्मक इतिहास से प्रतीत होते हैं। हम्मीरमदमर्दन, राजविजय नाटक, प्रतापरुद्र-कल्याण आदि इसी प्रकार के नाटक हैं। इनमें भी मुख्यतः कुछ नाटक विशुद्ध ऐतिहासिक घटना-प्रधान हैं तो कुछ केवल चरित-प्रधान तथा कुछ में केवल आश्रित राजाओं की प्रशस्ति मात्र उपलब्ध होती है।

३. कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक नाटक :

कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक नाटक वे होते हैं, जहाँ कल्पना इतिहास को अभिभूत कर लेती है। ऐसे नाटकों में वातावरण तथा कुछ पात्रों के नाम भर ऐतिहासिक होते हैं, किन्तु पात्रों का चरित्र तथा अन्य घटनाएँ इतिहास से न सँजोकर संभाव्यता के आधार पर अनुमानित रूप से गढ़ली जाती हैं। या, कहीं प्रामाणिक इतिहास की वस्तु तथा पात्र होने पर भी इतने निर्बल रूप से विन्यस्त होते हैं कि उनका इतिहास-पक्ष तिरोहितप्रायः हो जाता है और वे काल्पनिक नाटक से प्रतीत होते हैं। सामान्यतः संस्कृत की नाटिकाएँ तथा कौमुदी-महोत्सव आदि नाटक इसी प्रकार के हैं। कल्पना-प्रयोग के आधार पर इनको भी दो प्रकारों में विभक्त कर सकते हैं:—(१) काल्पनिक—ये वे नाटक होते हैं जहाँ वस्तु तथा पात्र की कल्पना करके इतिहास पर आरोप कर लिया जाता है तथा इतिहासीकरण द्वारा उसमें ऐतिहासिकता का प्रक्षेप किया जाता है। यद्यपि इनमें पर्याप्त अनैतिहासिक

तत्त्व होते हैं तथापि प्रायः वस्तु तथा पात्र उत्पाद्य होने पर भी एक दो विश्रुत पात्र होना आवश्यक होता है, चाहे वे वस्तु से असम्बद्ध हों या अनैतिहासिक हों। (२) कल्पनाप्रधान, जहाँ ऐतिहासिक घटना तथा पात्र स्वल्प एवं गौण हों तथा कल्पित पात्र और घटना मुख्य रूप में चित्रित की गई हो, उन्हें हम कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक नाटक कह सकते हैं। इनमें कभी-कभी वस्तु तथा पात्र लोक-कथा या किंवदन्तियों से लेकर इतिहासीकरण भी कर लिया जाता है। इनमें भी पात्र तथा वस्तु में से कोई न कोई तत्त्व किसी न किसी अंश में विश्रुत इतिहास का होना आवश्यक होता है।

उपर्युक्त वर्गीकरण मुख्यतः हमने संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के स्वरूप तथा रचनातंत्र की दृष्टि से किया है। अतः सामान्यतः इसमें संस्कृत के प्रायः समस्त ऐतिहासिक नाटक आ सकते हैं। कुछ उदाहरणों का हमने वहीं निर्देश भी किया है, किन्तु विशेष रूप से नाटकों के समालोचन के प्रसंग में ही इनका निर्देश किया जायगा।

हमने यह वर्गीकरण सामान्यतः संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के स्वरूप के अनुसार किया है, किन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण के अनुसार ही उनका यहाँ अध्ययन करना उचित तथा संभव न होगा। अतः हम प्रस्तुत अध्ययन क्रम में संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों को उनकी प्राचीनता, उपयोगिता, महत्त्व तथा अध्ययन की आवश्यकता के आधार पर दो भागों में विभक्त करके यथावसर संक्षेप तथा विस्तार से ही समालोचन करना उचित समझते हैं। इसलिए हमने उन्हें निम्नलिखित भागों में विभक्त किया है।

(१) संस्कृतिक के प्राचीन ऐतिहासिक नाटक

सर्वप्रथम हमें संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक नाटकों का अध्ययन अभीष्ट है। इन प्राचीन नाटकों में हम संस्कृत के प्रमुख ५ ऐतिहासिक नाटककारों की रचनाओं का इस क्रम से अध्ययन करेंगे—

(क) भास का स्वप्नवासवदत्ता तथा प्रतिज्ञा यौगन्धरायण।

(ख) कालिदास का मालविकाग्निमित्र।

(ग) शूद्रक का मृच्छकटिक।

(घ) हर्ष की प्रियदर्शिका तथा रत्नावली एवं उदयन संबंधी अन्य नाटक।

(ङ) विशाखदत्त का मुद्राराक्षस तथा देवीचन्द्रगुप्तम्।

संस्कृत साहित्य के उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण नाटकों का उनके महत्त्व के अनुसार संक्षेप तथा विस्तार से सर्वांगीण सांस्कृतिक अध्ययन करते समय सर्वप्रथम नाटककारों

के समय पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। नाटककारों के समय पर प्रकाश डालना इसलिऐ आवश्यक हैं, क्योंकि हमारा उद्देश्य संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अध्ययन भी करना है। यद्यपि ऐतिहासिक नाटकों में सांस्कृतिक चित्रण वस्तु से सम्बन्धित देश काल का ही होना आवश्यक है तथापि व्यवहारतः प्रायः ऐसा होता नहीं है। विशेषतः संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के सांस्कृतिक चित्रण को वस्तु के देशकाल का मानना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। अतएव हमारा विश्वास है कि संस्कृत के नाटकों में अधिकांशतः लेखकों ने अपने देश काल के अनुसार ही सांस्कृतिक चित्रण किया है। इसी सांस्कृतिक दाय के तथा अन्य ऐतिहासिक निष्कर्षों के उचित मूल्यांकन के लिए नाटककार के समय का निर्धारण आवश्यक है। इसके अतिरिक्त संस्कृत के नाटककारों का समय प्रायः विवादास्पद है। अतः नाटकों के सर्वांगीण अध्ययन की दृष्टि से भी उनका समय निर्धारण करना उचित प्रतीत होता है। इसके अनन्तर क्रमशः नाटकों की ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक समृद्धि का संक्षिप्त समालोचन तथा अध्ययन करेंगे। ऐतिहासिक विवेचन में वस्तु तथा पात्रों की ऐतिहासिकता तथा कल्पना-प्रयोग आदि का विश्लेषण करना हमें अभीष्ट होगा। साहित्यिक समालोचन में नाट्यकला के परिप्रेक्ष्य में वस्तु, नेता तथा रस को सामने रखकर संक्षिप्त समीक्षण तथा मूल्यांकन करना उचित समझते हैं। इसी तरह सांस्कृतिक-चित्रण में मुख्यतः नाटकों के आधार पर ही उस उपलब्धि पर प्रकाश डालेंगे।

२ संस्कृत के मध्यकालीन तथा अर्वाचीन ऐतिहासिक नाटक

इस दूसरे भाग में सर्वप्रथम संस्कृत के मध्यकालीन सुप्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटक—हम्मीरमदमर्दन, कौमुदीमहोत्सव, ललित-विग्रहराज प्रभृति का संक्षिप्त अध्ययन सर्वेक्षण के रूप में करेंगे। इनमें भी नाटक यान टककार का समय निर्धारण और ऐतिहासिक तथा साहित्यिक समालोचन ही हमें अभीष्ट होगा। इसी भाग के अन्त में अर्वाचीन नाटककारों की ऐतिहासिक कृतियों का संक्षिप्ततम परिचय देना भी उचित समझेंगे।

द्वितीय खण्ड

संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक नाटक

स्वप्नवासवदत्तम्[1] एवं प्रतिज्ञायौगन्धरायण

भास, संस्कृत के प्रथम नाटककार होने के कारण निःसन्देह भारत के "प्रथम नाटककार"[2] तो हैं ही, किन्तु इसके साथ ही स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण के रचयिता होने के कारण उन्हें संस्कृत का प्रथम ऐतिहासिक नाटककार होने का भी गौरव प्राप्त है। यही कारण है कि हम भास को न केवल संस्कृतनाटकों का पिता, अपितु भारतीय नाटकों का पिता तथा "संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का प्रवर्तक" कहना अधिक उचित समझते हैं। आज से लगभग ६० वर्ष पूर्व तक केवल सूक्तियों या उद्धरणों के रूप में ही भास के कृतित्व का परिचय प्राप्त था, कोई कृति उपलब्ध न थी। सर्वप्रथम मैसूर की पुरातत्व-शोध के सर्वेक्षण के प्रसंग में पं० आनन्दल्वर को भस का सर्वोत्कृष्ट नाटक "स्वप्नवासवदत्तम्" प्राप्त हुआ। उसके पश्चात् सन् १९१२-१३ लगभग श्री टी० गणपति शास्त्री ने भास के १३ नाटकों को खोजकर त्रिवेन्द्रम् की अनन्त-शयनम् ग्रन्थमाला से प्रकाशित कराया, तभी से इन १३ नाटकों के रचयिता के रूप में भास के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का अनुशीलन, परिशीलन होता रहा है। सामान्यतः इतिवृत्त के आधार पर ये नाटक चार वर्गों में विभक्त किए गये हैं—(१) रामायण नाटक, (२) महाभारत नाटक, (३) उदयन–नाटक, (४) कल्पित नाटक। इनमें उदयननाटक स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० ऐतिहासिक हैं।

प्रथितयशस् भास

भास, संस्कृत साहित्य के न केवल प्राचीनतम नाटककार हैं, अपितु सर्वाधिक

---

१. सामान्यतः संस्कृत के स्वप्नवासवदत्तम्, को कुछ विद्वानों ने हिन्दी में स्वप्नवासवदत्त तथा कुछ ने स्वप्नवासवदत्तम् भी लिखा है, हम भी स्वप्नवासवदत्तम् या दत्ता ही लिखना उचित समझते हैं। संक्षेप में इसको प्रायः स्वप्न० के रूप में उल्लेख किया है। तथा प्रतिज्ञा यौगन्धरायण को प्रतिज्ञा०।

२. भासः ए० एस० पी०, अय्यर, पृ० ३

"यशस्वी" भी हैं। कालिदास ने स्पष्टतः उन्हें "प्रथितयशस्" स्वीकार किया है।[1] इसके अतिरिक्त कालिदास से लेकर १२वीं सदी तक के बाण, राजशेखर, वाक्पतिराज, जयदेव आदि लब्ध प्रतिष्ठ कवियों, तथा दंडी, भामह, वामन, अभिनवगुप्त, भोज, सर्वानन्द, शारदातनय आदि काव्यशास्त्रियों ने किसी न किसी रूप में भास का उल्लेख किया है, प्रशंसा की है तथा अपनी-अपनी निकष पर कसा है। इससे स्पष्ट होता है कि नाटककार भास तथा उनकी कृतियाँ प्राचीनकाल में किसी से छिपी नहीं रही हैं। प्राचीनकाल से ही कवियों तथा काव्य-मर्मज्ञों ने उनके महत्व को सम्यक् निरखा-परखा है। परम्परागत उल्लेखों से यद्यपि भास के महनीय कृतित्व का निःसंदिग्ध साक्ष्य उपलब्ध हो जाता है, तथापि अर्वाचीन समालोचकों ने समस्त नाटकचक्र के रूप तथा शिल्प आदि के अन्तर के कारण अन्तः बाह्य-साक्ष्य के आधार पर पौनः पुन्येन उनका समीक्षण परीक्षण किया है। फलतः भास का कृतित्व एक समस्या के रूप में बनकर रह गया है और आज भी भास के कृतित्व की प्रामाणिकता अपेक्षोन्मुखी है।

भास के कृतित्व की प्रामाणिकता

भास के १३ नाटकों की समुपलब्धि से निश्चित रूप से संस्कृत साहित्य, विशेषतः नाट्यसाहित्य के कोष की अभिवृद्धि हुई है। किन्तु इनके प्रकाशन ने समालोचक जगत में एक अभूतपूर्व हलचल सी मचा दी, जिससे सभी को एक कदम आगे सोचने को बाध्य होना पड़ा। परिणामस्वरूप भास के प्राप्त नाटकों की प्रामाणिकता—अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में पर्याप्त बौद्धिक संघर्ष के पश्चात् विद्वानों ने अपने-अपने पृथक् मत स्थापित किए हैं, उन मतों को हम संक्षेप में तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं।

(i) **प्रथम वर्ग में**—वे विद्वान् हैं जिन्होंने प्रकाशित नाटकों को निःसंदिग्ध रूप से भास का स्वीकार किया हैं। इनका नेतृत्व श्री टी० गणपति शास्त्री करते हैं।

(ii) **द्वितीय वर्ग में**—पूर्णतः विरोधी हैं तथा ये त्रिवेंद्रम् से प्रकाशित नाटकों को भास की कृति स्वीकार नहीं करते। इनमें प्रो० सिलवांलेवी, पी० वी० काणे, भट्टनाथशास्त्री, डा० बार्नेट, कृष्ण-पिशरोदी-रामापिशरोदी, रामावतार शास्त्री तथा कुप्पु स्वामी जैसे विद्वान् हैं। इन विद्वानों ने अधिकांश में काव्यशास्त्रों एवं कवियों के उल्लेखों से प्राप्त नाटकों का सूक्ष्म मिलान तथा सामंजस्य करके प्रकाशित नाटकों में

---

१. **पारिपार्श्विकः—"प्रथितयशसां भाससौमिल्ल–कविपुत्रादीनांप्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः।" मालविकाग्निमित्र, प्रस्तावना १।१-२**

तत्तत् स्थलों पर कुछ अभावों के कारण भास के कर्तृत्व में सन्देह व्यक्त किया है, या फिर कुछ अन्य नाटकों की समानताओं के आधार पर नाटकचक्र को कल्पित भास की रचना मानकर बहुत बाद का माना है। अतः ये विरोधी अभाववादी या परिवर्तन वादी हैं। जहाँ तक काव्यशास्त्रों में प्राप्त उल्लेखों के अभाव का प्रश्न है, यह विरोध का कोई सुदृढ़ तर्क नहीं है। प्रतिलिपि, संस्करण तथा संक्षिप्तीकरण से भी ये अभाव संभव है। अनेक विद्वानों ने भी इन विरोधों का समाधान किया है[1]। इसके अतिरिक्त मत्तविलास जैसी कृति के साम्य के आधार पर भास के कर्तृत्व का खंडन करना भी निर्णयात्मक नहीं माना जा सकता।[2] बार्नेट ने भास के कर्तृत्व के सम्बन्ध में जितनी भी आपत्तियाँ उठायी हैं तथा जो-जो तर्क रखे हैं उनका विन्टर्निट्ज जैसे समर्थ समालोचकों ने खंडन कर दिया है[3] तथा बार्नेट के ७—८वीं सदी में नाटकों को मानने के आधारभूत तर्कों को चुनौती दी है।[4] सारांशतः विरोधी मत की इतनी अधिक छीछालेदर हो चुकी है कि यह मत अधिकांश में निर्मूल-प्रायः हो गया है।

(iii) **तृतीय वर्ग**—उनका है जो कि सूक्ष्म अध्ययन के आधार पर समन्वय-वादी, तटस्थ या मध्यम मार्ग स्वीकार करते हैं। इनमें मुख्यतः डा० सुकथानकर तथा प्रो० विन्टर्निट्ज आदि है। ये प्रकाशित समग्र नाटकों को उसी रूप में भास की मौलिक कृति स्वीकार नहीं करते।[5] एक ओर ये इन्हें भास की स्वीकार करते हैं

---

१. प्रो० सिलवांलेवी, रामावतारशास्त्री तथा देवधर आदि ने नाट्यदर्पण, नाटक–लक्षण–रत्नकोश तथा ध्वन्यालोकटीका आदि में प्राप्त उल्लेखों तथा सूक्तिग्रंथों में प्राप्त उद्धरणों के आधार पर सभी नाटकों को भास का नहीं माना है। उनके समाधान के लिये देखियेः काले की स्वप्न० की भूमिका, अय्यर का भास, पृ० २०—३८ तथा विन्टर्निट्ज का "सम प्राब्लम्स आफ इंडियन लिटरेचर" आदिग्रंथ।

२. संस्कृत ड्रामाः कीथ, पृ०९३,

३. सम प्राब्लम्स आफ इंडियन लिटरेचरः विन्टर्निट्ज, पृ०११५–१२९,

४. वही, पृ०१२२,

५. एम. विन्टर्निट्ज ने समस्त नाटकों को तीन वर्गों में विभक्त करके सभी वर्गों साहित्यिक, भाषागत, शैलीगत तथा नाम–वर्णन–शिल्प आदि के साम्य के आधार पर स्वप्न० को सुनिश्चित रूप से भास का स्वीकार करते हुए अन्य को भी भास की कृति माना है। वही, पृ०१२२तथा १ ९,

तो दूसरी ओर इन्हें परिवर्तित तथा संक्षिप्त भी। इसमें ऐसे अनेक उपमत हैं[1] जो कुछ को भास की स्वीकार करते हैं कुछ को नहीं।[2] तथापि किसी न किसी रूप में निर्णयात्मक रूप से ये भास के कर्तृत्व के समर्थक ही हैं तथा इसी समर्थन में एवं विरोधियों के मत के खंडन में ही इन्होंने अपनी शक्ति का उपयोग किया है। अतः हम इन्हें निष्कर्षतः भास के कर्तृत्व के सहयोगी ही स्वीकार करते हैं।

बहुलतः आजकल प्रबल मत उनका है जो कि त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित नाटकों को भास का स्वीकार कहते हैं। इस मत के समर्थकों ने प्रायः नाटक के समुद्धर्ता श्री टी० गणपति शास्त्री की ही मान्यताओं को स्वीकार किया है। इसमें मुख्यत डा० पुसलकर, एस०एम० परांजपे, कीथ, थोमस, काले, अय्यर, डॉ० व्यास, डा० भार्गव तथा श्री उपाध्याय आदि विद्वान हैं जिन्होंने श्री शास्त्री द्वारा प्रस्तुत नाटकचक्र की उन २ विशेषताओं के समर्थन के अतिरिक्त अन्य भी अन्तः बाह्य साक्ष्यों तथा साम्यों के अन्वेषण द्वारा समस्त नाटकचक्र को भास का सिद्ध करने का प्रयास किया है। निष्कर्ष रूप में इनकी मान्यताएँ हैं कि—

(१) प्रायः भास के समस्त नाटक "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" से प्रारम्भ होते हैं। अतः बाण के "सूत्राधारकृतारम्भै..........." इत्यादि उल्लेख से इनकी पुष्टि होती है। बाद के नाटकों में ऐसा नहीं मिलता है।

(२) प्रायः प्रस्तावना के स्थान पर स्थापना शब्द का प्रयोग है।

(३) "स्थापना" में भी प्रस्तावना की परम्परा के अनुसार "नाटक तथा नाटककार" के नाम आदि का उल्लेख नहीं किया गया है।

(४) प्रायः प्रत्येक नाटक भरत-वाक्य के "इमां सागरपर्यन्तां..........." इत्यादि वाक्य से समाप्त होता है।

(५) कुछ नाटकों के प्रारम्भ में "मुद्रालंकार" का भी प्रयोग प्राप्त है।

(६) वाक्पतिराज के द्वारा निर्दिष्ट "ज्वलनमित्र" की नाटकों में सार्थकता है, विशेषतः स्वप्न० में तो इसका स्पष्ट वर्णन है।

(७) राजशेखर ने निश्चित रूप से भास कृत स्वप्न० का उल्लेख तथा उसके संविधान की उत्कृष्टता का निर्देश किया है। भास के प्राप्त स्वप्न० से उसका इतिवृत्त तथा संघटना का साम्य है।

---

१. देखिये, हि० सं० लि० : दासगुप्ता भाग १, पृ०१०६—८,

२. प्रो० जागीरदार ने इन नाटकों को २ वर्गों में बांटा है। उनमें प्रतिज्ञा० प्रतिमा० स्वप्न०, पंचरात्र को प्राचीन तथा भास का ही स्वीकार किया है, विशेष द्रष्टव्यः ड्रामाज इन संस्कृत लिटरेचर, पृ०७५,

(८) प्राचीन (पूर्वोक्त) अलंकार ग्रन्थों में उद्धत उद्धरणों, वृत्त निर्देशों तथा नामोल्लेख आदि का प्राप्त नाटकों से अधिकांश में साम्य है।

(९) इनमें अनेक अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं, जिनसे प्राचीनता स्पष्ट है तथा इनकी प्राकृत एवं संस्कृत कालिदास से पूर्व की हैं सभी की शैली सरल तथा प्रांजल है।

(१०) इनमें नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्णतया पालन नहीं किया गया है।

(११) त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित नाटकों में भाव, भाषा, शब्द, पात्र, नाम, मुहावरे, वर्णन तथा शिल्प साम्य है। यही नहीं, अपितु कल्पना, शैली तथा अभिव्यक्ति के अतिरिक्त वाक्य और पंक्ति तक समान हैं।

(१२) जयदेव के "भासो हासः" के अनुसार इसमें प्रायः सुरुचिपूर्ण हास्य भी मिलता है।

(१३) अनेक नाटकों में "पताका स्थानक" की विशेषता है।

(१४) इनकी मान्यता है कि जब कि राजशेखर आदि के उल्लेख के आधार पर स्वप्न० निःसन्देह रूप से भास का है, तो अन्य भी स्वप्न० से साम्य रखने के कारण भास के ही प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त समस्त विशेषताओं के परिप्रेक्ष्य में भास के नाटकों का अध्ययन करके, विद्वानों ने विरोधी मतों का समाधान करते हुए सभी नाटकों को भास की कृति स्वीकार किया है, और आपाततः सत्य प्रतीत होने के कारण यही मान्यता सामान्यतः प्रचलित भी है,[1] किन्तु इन नाटकों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर ये मान्यता निस्सार प्रतीत होती है। समर्थक पक्ष के विद्वानों ने मुख्यतः समानताओं के आधार पर ही अध्ययन किया है, विभिन्नताओं के आधार पर नहीं। यद्यपि विभिन्नताओं का विवेचन यहाँ हमें अभीष्ट नहीं है, तथापि हम यह मानते हैं कि एक स्थान–विशेष में समुदाय विशेष के द्वारा सम्पादित होने के कारण ही इन नाटकों में परस्पर समानताएँ हैं। अतः केवल समानताओं के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालना विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। यदि समानताओं के समान विभिन्नताओं का अध्ययन भी किया जाय तो निष्कर्ष भी भिन्न रूप में ही निकलने की संभावना है।

यही क्यों, बल्कि तथाकथित मान्य समानताएँ या विशेषताएं भी समस्त नाटकों में प्राप्त नहीं होती हैं। भास के कृतित्व के समर्थकों के अग्रगामी श्री टी०

---

१. **दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी (१९५१) पृ० २६०–६१;**

गणपति शास्त्री ने जिन ६–७ प्रमुख विशेषताओं का निर्देश किया है, वे सभी में नहीं, अपितु कुछ में ही उपलब्ध हैं, और वे भी सम्पूर्ण रूप में नहीं। अनेक नाटकों में मंगल-श्लोक नहीं हैं, स्थापना के स्थान पर प्रस्तावना भी है तथा भाषा, शैली आदि भी पर्याप्त भिन्न हैं।[१] इसके अतिरिक्त इन नाटकों का चरित्र-चित्रण, भाषा, शिल्प, विषय आदि की दृष्टि से सूक्ष्म अध्ययन करने पर भी उनमें अनेक विषमताएँ दृष्टिगत होती हैं। जान पड़ता है कि उपर्युक्त समस्त रचनाएँ न एक काल की हैं, न एक लेखनी की।[२] अतः वस्तुतः आज इस बात का विशेष महत्व नहीं है कि उक्त नाटकों को भास की कृति कहा जाए या अन्य किसी अज्ञात कवि की। अपितु विचारणीय तो यह है कि उन सबको एक ही व्यक्ति की कहा जाए या नहीं।[3] यहाँ हम अप्रासंगिक होने से समस्त नाटकों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण में नहीं उलझना चाहते। हम पूर्ववर्ती पक्ष विपक्ष के समस्त मतों के तथा नाटकों के अनुशीलन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित समस्त नाटक मौलिक रूप में भास के नहीं हैं।

स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० के अतिरिक्त किसी अन्य नाटक के संबंध में दृढ़ता से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। तथापि विश्वास है कि इन सभी नाटकों के समय-समय पर संस्करणों के कारण परिवर्तन, रूपान्तरण तथा संक्षिप्तीकरण आदि अवश्य हुए हैं।[४] भास के कर्तृत्व के समर्थक कीथ भी इससे सहमत हैं तथा वह यह भी स्वीकार करते हैं कि इस (रूपान्तर) का उत्तरदायित्व केरल के अभिनेताओं का है।[५] विन्टरनिट्ज राजशेखर के उल्लेख के आधार पर स्वप्न० को निःसंदिग्ध रूप से भास की रचना मानते हैं और उसी के ही आधार पर अन्य नाटकों के कर्तृत्व का निर्णय करने की चेष्टा की है।[६] अय्यर का अनुमान है कि भास ने स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० लिखे होंगे। शेष अन्य उसके शिष्यों तथा सहयोगियों ने पूर्ण किये होंगे। उनके केवल कुछ अंश-मात्र भले ही भास ने लिखे हों, किन्तु समस्त नाटक शेक्सपियर के नाटकों के समान भास के नाम से चला दिए गए हैं।[७] जो भी हो, हम अन्य समस्त नाटकों के भास के कर्तृत्व के विवाद में यहाँ नहीं

१. देखिये, ड्रामाज इन संस्कृत लि. रेचर, : जागीरदार, पृ० ७५–७६,
२. वही. पृ० ७६,
३. सं० सा० इति०: कीथ (हिन्दी) प्राक्कथन, पृ० ९,
४. भास, अय्यर, पृ० ४४,
५. सं०सा०इति (हिन्दी) : कीथ, प्राक्कथन, पृ०१३,
६. सम प्राबलम्स ऑफ इंडियन लिटरेचर : विन्टरनिट्ज, पृ० १२१,
७. भास : अय्यर, पृ० ३३,

पढ़ना चाहते । पर, हम यह अवश्य मानते हैं कि समस्त नाटकचक्र भास रचित नहीं हैं। उदाहरण के लिए हम चारुदत्त जैसे नाटक को भास की रचना कदापि नहीं मानते,[१] किन्तु हमारा विश्वास है कि हमारे विवेच्य ऐतिहासिक नाटक स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० निश्चित रूप से भास-प्रणीत है ।

भास के असंदिग्ध नाटक : स्वप्नवासवदत्ता तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण

भास के ऐतिहासिक नाटक स्वप्न० का राजशेखर ने नाम्ना भास की कृति के रूप में उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त अन्य अनेक कवियों तथा अलंकार-शास्त्रियों ने भी स्वप्न० का अनेक प्रकार से उल्लेख किया है, अतः स्वप्न० को निःसंदिग्ध रूप से भास का माना जाता है । किन्तु, भास के उपलब्ध स्वप्न० में अभिनवगुप्त द्वारा उद्धृत श्लोक, नाटक-लक्षण-रत्नकोष में वर्णित उद्धरण तथा शारदातनय के उद्धृत कथासार से पूर्णतः साम्य न होने के कारण प्रो० देवधर इसे राजशेखर द्वारा उल्लिखित भास का मौलिक नाटक स्वीकार नहीं करते,[२] किन्तु उन्होंने स्पष्टतः स्वप्न० का भास की कृति के रूप में अस्वीकार नहीं किया है । प्रो० देवधर ने स्वप्न० को यद्यपि भास का स्वीकार किया है तथा उदयन कथा पर आश्रित दोनों नाटकों की समानता तथा सम्बन्धों की भी स्वीकृति दी है,[३] किन्तु उपलब्ध नाटक को निष्कर्षतः उन्होंने भास की उत्कृष्ट मौलिक कृति न मानकर रंगमंचीय रूपान्तर ही माना है ।[४] हमारी भी यद्यपि यही मान्यता है कि भास के ये नाटक मौलिक रूप में नहीं, अपितु संस्करण तथा रूपान्तर आदि के रूप में ही प्राप्त है । नाटकों में अभाव तथा भिन्नता भी उनके अनेक संस्करण, अनुलेखन, प्रतिलेखन तथा रूपान्तरण की पुष्टि करती है, किन्तु स्वप्न० के सम्बन्ध में अमौलिकता का सन्देह करना समीचीन प्रतीत नहीं होता है । यद्यपि स्वप्न० में अनेक अभाव तथा त्रुटियों की ओर विद्वानों ने संकेत किया है । तथापि विशेष महत्त्वपूर्ण तो यह है कि अधिकांश काव्यशास्त्रों में उल्लिखित उद्धरण तथा संस्करण वर्तमान स्वप्न० से मेल खाते हैं । राजशेखर के

---

१. देखिये, इसी प्रबन्ध में 'मृच्छकटिक' के अध्याय में चारुदत्त की परिवर्तिता ।

२. दि प्लेज एस्क्राइब्ड टु भास, देअर ओथेन्टिसिटी एण्ड मैरिट्स, : सी. आर. देवधर, पृ० ६१-६२, काले ने स्वप्न० के अपने संस्करण में इसी एक अभाव को दूर करने की चेष्टा की है ।

३. दि प्लेज एस्क्राइब्ड टु भास, देअर ओथेन्टिसिटी एन्ड मैरिट्स: सी. आर. देवधर, पृ० १८,

४. वही, पृ० १८ तथा भास नाटकचक्र की भूमिका, पूना, पृ० १०,

शब्दों में भी भास का स्वप्न० ही आलोचकों की अग्नि में सफल सिद्ध हुआ है। अर्वाचीन समालोचकों ने भी विरोधी मतों का खण्डन तथा जिज्ञासाओं का समाधान करके स्वप्न को निःसंदिग्ध रूप से भास का स्वीकार किया है।[1] यह अवश्य है कि इस सुदीर्घकाल में अनेक अभिनेताओं तथा सस्कर्ताओं के हाथ में पड़ने के कारण स्वप्न० में भी कुछ परिवर्तन तथा संक्षिप्तीकरण हुआ है, किन्तु हमारा विश्वास है कि इसमें भास की मौलिकता अधिकांश में सुरक्षित है। अतः हम स्वप्न-वासवदत्ता को भास का अपेक्षाकृत अधिक मौलिक नाटक स्वीकार करते हैं।

दूसरा ऐतिहासिक नाटक प्रतिज्ञायौगन्धरायण स्वप्न० का ही पूरक है। कथानक पात्र आदि की दृष्टि से दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। शिल्प आदि की दृष्टि से भी भिन्न-भिन्न नहीं हैं। इन दोनों के अन्तः सम्बन्ध इतने घनिष्ठ है कि विद्वान दोनों को मूल रूप में एक ही नाटक तक स्वीकार करते हैं। हम भी इन्हें पूरक,[2] मानकर निश्चित रूप से भास की ही कृति स्वीकार करते हैं। भामह आदि के साक्ष्यों के आधार पर भी इसकी पुष्टि होती है।[3] अतः विरोधी भी किसी न किसी रूप में प्रतिज्ञा० तथा स्वप्न० दोनों को भास का ही स्वीकार करते हैं।[4] निष्कर्षतः हमारे विवेच्य दोनों नाटक प्रतिज्ञा० तथा स्वप्नवासवदत्ता निश्चित रूप से भास प्रणीत हैं। इसके अतिरिक्त हमारी यह भी मान्यता है कि भास की ये दोनों कृतियाँ प्राचीन समय से ही अति प्रसिद्ध थीं तथा इनका इतिवृत्त, ख्यात था। अतः सम्भवतः इनमें किसी ने अधिकांश में परिवर्तन परिवर्धन करने का साहस नहीं किया है।

भास का समय

भास के समय के सम्बन्ध में भी कर्तृत्व के समान ही पर्याप्त मतभेद है। सामान्यतया विद्वानों के मत ईस्वी पूर्व पाँचवीं सदी से, ईस्वी की पाँचवीं सदी तक अर्थात् १००० वर्ष के बीच में बिखरे हुए हैं किन्तु पूर्वोक्त कालिदास प्रभृति कवियों तथा दण्डी भामह आदि काव्यशास्त्रियों के उद्धरणों एवं उल्लेखों से इतना सुस्पष्ट है कि भास उनसे पूर्व हुए हैं। अतः भास के समय-निर्धारण में यह बाह्यसाक्ष्य भी प्रमुख आधार है। सर्वप्रथम हम देखते हैं कि १२वीं सदी से लेकर कालिदास तक

---

१. संस्कृत ड्रामा : कीथ, १९५९, पृ० ९२–९३, तथा, सम प्राब्लम्स ऑफ इण्डियन लिटरेचर : विन्टर्निट्ज, पृ० १२१–१२२,

२. हमारा अग्रिम विवेचन देखो,

३. भामहालंकार ४।३९–४२

४. दि प्लेज एस्क्राइब्ड टु भास० देवधर, १९२७, पृ० १८,

प्राय: अनेक कवियों ने भास तथा उनकी कृतियों का उल्लेख किया, परन्तु उनमें कालिदास का उल्लेख सबसे पहला है, अत: भास के समय की प्रथम सीमा कालिदास है। दूसरी ओर, भास के सुप्रसिद्ध तथा विश्वस्त नाटक स्वप्न० में "दर्शक" का महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उल्लेख है।[1] अत: निश्चित रूप से भास दर्शक के पश्चात् हुए होंगे। हमें इन दोनों सीमाओं के मध्य ही भास का समय खोजने का प्रयास करना है।

कुछ विद्वानों ने भास को कल्पित तथा वास्तविक, दो व्यक्ति मानकर त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित नाटकों का रचयिता केरल के कवि कल्पितभास को बहुत बाद में (सप्तम सदी में) मानने की चेष्टा की है, किन्तु इनका अनेक प्रकार से पर्याप्त खंडन हो चुका है।[2] कम से कम स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० के सम्बन्ध में कल्पितभास की कल्पना तो सर्वथा उपहासास्पद ही है। क्योंकि मूलत: ये दोनों नाटक नि:सदेह (प्राचीन) भास की ही रचनाएँ हैं।

बाह्य साक्ष्य

कालिदास ने "मालविकाग्निमित्र" नाटक में भास का उल्लेख किया है।[3] इसके अतिरिक्त भास के नाटकों तथा कालिदास की कृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से भी भास कालिदास से प्राचीन प्रमाणित होते हैं। नाटक की भाषा, शैली, शिल्प, छन्द, अलंकार तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि आदि सभी प्रकार से भास की प्राचीनता स्पष्ट है। कीथ भी भास को कालिदास से पूर्ववर्ती मानते है।[4] अत: इन बाह्य तथा अन्त: साक्ष्यों के आधार पर सामान्यतया भास को प्राक्लौकिक-संस्कृत युगीन माना जाता है। डा० लेस्नी तथा बेनर्जी शास्त्री ने भाषा-शास्त्र के आधार पर प्राकृतप्रयोग का सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन करके भास को कालिदास से पूर्व का प्रमाणित किया है। अत: कालिदास का समय ही भास की पूर्व सीमा ठहरता है। यद्यपि कालिदास का समय भी स्वयं विवादास्पद है, किन्तु हम अर्वाचीन शोध के आधार पर यह स्वीकार करते हैं कि कालिदास निश्चित रूप से ईस्वी पूर्व प्रथम-

---

१. देखिये, दि डेट ऑफ भास: यूनीवर्सिटी ऑफ राज० स्टडीज: पी. एल. भार्गव, पृ० ४६ तथा इसी अध्याय में स्वप्न० का ऐतिहासिक विवेचन।

२. भरतवाक्य के "राजसिंह" का तर्क आजकल व्यर्थ हो गया है। सं० सा० इति० कीथ, प्राक्कथन, (हिन्दी) पृ० १०, भास० अय्यर पृ० २३–३१, सम प्राब्लम्स आफ इंडियन लिट०: विन्टर्निट्ज, पृ० १२४ आदि,

३. देखो मालविका० की प्रस्तावना,

४. सं० सा० इति० : कीथ, प्राक्कथ, (हिन्दी), पृ० १०,

शतक के ही हैं;[1] और जब कि कालिदास ने भास का उल्लेख किया है, तो स्पष्ट है कि भास का समय कालिदास से पूर्व अर्थात् ईस्वी पूर्व में होना चाहिए। अतः अब केवल इतनी समस्या शेष है कि भास कालिदास से अर्थात् ईस्वी पूर्व प्रथम सदी से कितने पूर्व के हैं।

बाह्यसाक्ष्य के आधार पर यह प्रकट है कि भास ईस्वी पूर्व में होने से संस्कृत साहित्य के प्राचीन नाटककार हैं,[2] किन्तु विद्वानों ने ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर इस सम्बन्ध में अपने-अपने भिन्न-भिन्न मत दिये हैं। कुछ विद्वान् कण्वकालीन मानते हैं,[3] तो कुछ मनु के पीछे तथा वात्स्यायन और भरत से पूर्व,[4] जबकि जयचंद्र विद्यालंकार सातवाहन काल में मानते हैं। किन्तु ये सभी मत एकांगी हैं तथा इनमें से अधिकांश का खंडन भी हो चुका है। वास्तविकता यही है कि भास कालिदास के साक्ष्य के आधार पर ईसा से सुदूर पूर्व में हुए थे।

कालिदास ने भास के लिए "प्रथितयशस्" कहा है तथा भास के बाद सौमिल्ल तथा कविपुत्र का उल्लेख किया है।[5] अतः प्रतीत होता है कि कालिदास और भास के बीच में सौमिल्ल तथा कविपुत्र हुए होंगे, अर्थात् भास और कालिदास के मध्य पर्याप्त अन्तर रहा है। इसी का संकेत कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र में "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" कह कर दिया है। यहाँ "पुराण" शब्द भास की रचनाओं की ओर इंगित करता है। किसी चीज को पुराना होने के लिए पर्याप्त समय अपेक्षित होता है। इसके अतिरिक्त एक नाटक-चक्र की रचना करके प्रथितयशस् होने के लिए भी कम समय नहीं चाहिए। इसके अलावा कालिदास द्वारा उल्लिखित "वर्तमानस्य" शब्द का भी बड़ा स्वारस्य है। उसकी सार्थकता भी भास की सुदूरपूर्व स्थिति की ओर निर्देश करती है। इसके साथ ही कालिदास जैसे कवि द्वारा श्रद्धा-व्यक्ति भी लम्बी दूरी की पोषक है। श्रद्धा एक दिन में पैदा नहीं होती। इन सभी सार्थक उल्लेखों के आधार पर भास को कालिदास से कम से कम एक डेढ़ शतक पूर्व

---

१. देखिये, इसी प्रबन्ध में कालिदास का समय तथा देखिये-विक्रमादित्य : डा० राजवली पांडेय, भा० इति० की रूपरेखा; जयचन्द्र विद्यालंकार, भाग २, पृ० ७८४–७८;

२. ड्रामाज इन संस्कृत लिटरेचर,: जागीरदार, पृ ७६,

३. भा० इति० रूपरेखा, भाग २, जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ० ९१८–१९,

४. वही,

५. वही,

६. मालविकाग्निमित्रः प्रस्तावना १।१-२,

मानना अपेक्षित है । यह अनुमान संभवतः उन विद्वानों के भी अनुरूप है, जो कालिदास को गुप्तकाल में रखकर भास द्वितीय तथा तृतीय ई० में मानते थे। इस अनुमान पर भास को लगभग ईस्वी पूर्व तृतीय में रखना उचित होगा ।

अन्तःसाक्ष्य

उपर्युक्त अनुमान की पुष्टि भास के अन्यः अन्तः साक्ष्यों से भी होती है । जैसा कि हम स्पष्ट करेंगे, भास के उदयन नाटकों का उपजीव्य बृहत्कथा[1] नहीं है, बल्कि जनजीवन में प्रवाहित तरल लोककथा है । दोनों के तुलनात्मक पर्यवेक्षण से स्पष्ट होता है कि दोनों में (अर्थात् भास की कथा तथा बृहत्कथा में) निश्चित् रूप से भास उदयन-कथा अर्थात् उदयन की घटनाओं से विशेष सुपरिचित, अतः उदयन के अधिक निकट रहा है । अतएव भास बृहत्कथा अर्थात् गुणाढ्य से भी पूर्व अर्थात् ईस्वी पूर्व से भी पूर्व का ही ठहरता है ।[2] परन्तु मुख्य प्रश्न यह है कि भास को ईस्वी पूर्व में या ईस्वी पूर्व तृतीय में ही माना जाय अथवा और भी पूर्व ।

भास के नाटकों के आविष्कर्ता टी० गणपति शास्त्री ने भास को पाणिनि तथा चाणक्य से भी पूर्व का स्वीकार किया है ।[3] उन्होंने आधारभूत एक प्रमुख प्रमाण की ओर ध्यान आकृष्ट किया है । अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने "अपीह श्लोकौ भवतः" कहकर एक श्लोक का उल्लेख किया है[4] जो कि भास के प्रतिज्ञा० में भी उपलब्ध[5] है । इससे स्पष्ट होता है कि भास निश्चित रूप से कौटिल्य से पूर्व में हुए होंगे । यद्यपि कुछ विद्वानों का अनुमान है कि संभवतः यह श्लोक कौटिल्य से ही प्रतिज्ञा० में उद्धृत किया गया है किन्तु ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता ।

---

१. हमारा विवेचन इसी प्रबन्ध में देखिये

२. वही

३. विन्टरनिट्ज आदि भी इनके मौलिक तर्कों का खंडन नहीं कर सके हैं। उन्होंने केवल नकारात्मक अस्वीकृति दी है, किन्तु ये अस्वीकृति बिना तर्कों के अग्राह्य है ।

४. "तुल्यवेतनोऽस्मि अनुश्रूयते—समाप्तवक्षिणानां यज्ञानामृथेषु सा ते गतिर्या शराणामि' ति अपीह श्लोकौ भवतः—
"यान् यज्ञासिद्धै" स्तपसा च..........परित्यजन्तः ।
"नवं शराव सलिलस्य पूर्णं..........कृते न युध्येत् ।"
इति मंत्रि पुरोहिताभ्यामुत्साहयेद् योधान् ।" अर्थशास्त्र अधिकरण, १०, अध्याय ३,

५. प्रतिज्ञा० ४।२,

अर्थशास्त्र में "अपीहश्लौकौ" कह कर उल्लेख करने से स्पष्ट है कि मूलतः यह उसका नहीं है। और, जबकि वह प्रतिज्ञा० में प्राप्त है, तो हमें मूलतः उसे प्रतिज्ञा० का ही स्वीकार करना चाहिए।

कुछ यह भी मानते हैं कि सम्भवतः ये दो श्लोक सुभाषित कथनों के रूप में विद्वन्-समाज में रूढ़ रहे हैं। अतः न उनको कौटिल्य के भास से लिया है, न भास ने कौटिल्य से। उनका तर्क है कि क्योंकि कौटिल्य हमेशा जिनके वचनों या मतों को लेते हैं उनका नाम जरूर देते हैं।[1] इसी कारण यह भास को कौटिल्य से उत्तरकालीन भी मानते हैं। किन्तु यह मत भी ठीक नहीं है।[2] क्योंकि भास एक कवि था, मौलिक नाटक रच रहा था। वह उद्धरण देकर अपनी मौलिकता को कलंकित न करता, वह नवीन रचना भी कर सकता था। किन्तु कौटिल्य कोई कवि न था, शास्त्रकार था। उसका ग्रन्थ भी विषय-विशेष का शास्त्रीय ग्रन्थ है। अतः इसमें उद्धरण का संकलन सर्वथा सम्भव भी है। कौटिल्य में उद्धृत श्लोक की स्थिति से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। इस दृष्टि से भास को कौटिल्य से पूर्व माना जाना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।[3] इसके अतिरिक्त श्री दीक्षितार ने भास तथा कौटिल्य के ग्रन्थों के भाषागत साम्य का विस्तार से अध्ययन करते हुए शब्द तथा अर्थ के साम्य के आधार पर भी भास को पूर्ववर्ती प्रमाणित किया है।[4] अतः भास को परवर्ती मानना सर्वथा भ्रामक है।

किन्तु, किसी के काव्य को उद्धरण योग्यता प्राप्त करने के लिए कम से कम २५ वर्ष से अधिक समय ही अपेक्षित है। अतः भास चाणक्य से कम से कम २५–३० वर्ष पूर्व ही रहा होगा। अर्थात् कौटिल्य का समय चन्द्रगुप्त मौर्य के मन्त्री होने से ३२१ ई० पू० निश्चित प्रायः है तो भास को भी ईस्वी पूर्व चतुर्थ के उत्तरार्ध में ही मानना होगा। इस सम्बन्ध में श्री अय्यर का अनुमान ध्यान देने योग्य है। उनका कथन है कि भास निश्चित रूप से कौटिल्य के ज्येष्ठ समकालीन थे, जैसे टैगोर गांधी के।

---

१. प्रा० भा० शा० पद्धति० डा० अलतेकरः द्वि० सं० पृ० १०,
२. यदि यह मान भी लिया जाय कि भास तथा कौटिल्य ने सुभाषित के रूप में इसका संग्रह किया था, किन्तु इससे यह नहीं माना जा सकता कि भास कौटिल्य के बाद में हुए थे। इस मान्यता से हमारे मत पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है।
३. देखिये, भासः अय्यर, पृ० ४, ४४,
४. ए वाल्यूम ऑफ स्टडीज इन इन्डालाजी १९४१, पृ० १२५–९,

अतः यह मौर्यकाल में अर्थात् ई० पू० चतुर्थशतक में थे।[१] अतः निश्चित रूप से भास को ई० पू० चतुर्थ शतक से बाद का नहीं, पहिले का ही माना ठीक होगा।

उपर्युक्त भास के समय की पुष्टि भास के ग्रन्थ-साक्ष्यों से भी होती हैं। भास ने प्रतिमा नाटक के एक स्थल पर माहेश्वर "प्राचेतस" जैसे प्राचीन व्यक्तियों के साथ बृहस्पति के अर्थशास्त्र का उल्लेख किया है,[२] न कि चाणक्य के अर्थशास्त्र का। बृहस्पति चाणक्य के पूर्ववर्ती थे, इनका परिचय चाणक्य को भी था, अतः उसने एक अर्थशास्त्री के रूप में उसका उल्लेख किया है। महाभारत तथा कामसूत्र में भी बृहपति का एक अर्थशास्त्री के रूप में उल्लेख होने से प्राचीनता निःसंदिग्ध है।[३] अगर भास, इतिहास के प्रवाह को मोड़ देने वाले, महान् अर्थशास्त्री कौटिल्य के बाद हुआ होता तो उसका उल्लेख अवश्य करता। किन्तु स्थिति ठीक विपरीत है। भास चाणक्य के द्वारा प्रमाणित एवं उद्धृत होने की योग्यता रखता है, जबकि चाणक्य भास द्वारा नहीं। स्पष्ट है कि भास निश्चित रूप से चाणक्य से पूर्व हुए, इसमें संदेह को स्थान नहीं है।

उपर्युक्त मत की पुष्टि में एक और अन्य प्रबल अन्तःसाक्ष्य भी उपन्यस्त किया जा सकता है। भास के ऐतिहासिक नाटक स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० में ३ प्रसिद्ध राजाओं की घटनाओं का उल्लेख हुआ है : वत्सराज उदयन, उज्जैनी का प्रद्योत तथा राजगृह या मगध का दर्शक। प्रद्योत तथा उदयन की ऐतिहासिकता तथा समकालीनता निसंदिग्ध है,[४] किन्तु दर्शक का उल्लेख बौद्ध साहित्य में नहीं हुआ है। तथापि पुराण और स्वप्नवासवदत्ता के उल्लेख के आधार पर दर्शक की ऐतिहासिकता प्रकट है।[५]

---

१ Bhasa was evidently a senior contamporary of Kautilya, some thing like Tagore being a senior contomporary of Gandhi and belonged to the fourth century **B.** C. and lived in the days of Chandra Gupta Maura : Bhasa', **A.** S P. Ayyar, P. 5,

२. **भौः। काश्यपयोगोऽस्मि सांगोपांगवेदमधीये मानवीयं धर्म-शास्त्र माहेश्वरं योगशास्त्रं वार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च। "प्रतिमा नाटक ५।८–९,**

३. **सं० सा० इति०: वाचस्पति गेरोला, पृ० ५२६,**

४. **देखिये, पालिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शन्ट इंडियाः रायचौधरी, पृ०२०४,**

५. **वही, पृ० २१६, तथा अर्ली हिस्ट्री आफ एन्शन्ट इंडिया, पृ० ३८–३९, प्रा० भा० इति०: त्रिपाठी, पृ० ८४,**

यद्यपि दर्शक का पिता अजातशत्रु निसंदिग्ध रूप से प्रद्योत तथा उदयन का समकालीन था[1] किन्तु स्वप्नवासवदत्ता के अनुसार प्रद्योत, उदयन तथा दर्शक की समकालीनता भी प्रकट होती है।[2] अजातशत्रु के बाद दर्शक गद्दी पर बैठा। दर्शक का समय ४६६-४५ ईसा पूर्व के लगभग माना जाता है।[3] अतः प्रद्योत, उदयन तथा दर्शक में दर्शक सबसे बाद का ठहरता है। नाटक में दर्शक का उल्लेख होने के कारण स्पष्ट है कि भास दर्शक के बाद हुआ। भास के नाटकों के ऐतिहासिक विश्लेषण से यह जान पड़ता है कि दर्शक के राज्यासीन होने के कुछ समय बाद में ही नाटक की" रचना हुई। अतः हमारा अनुमान है कि भास के ऐतिहासिक नाटकों के आधार पर भास का समय लगभग ईसा पूर्व चतुर्थ के उत्तरार्ध में ही मानना अधिक उचित है[4]।

उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि के लिए नाटकों में अन्य भी साक्ष्य मिल जाते हैं, जैसे भाषा में आर्ष और अपाणिनीय प्रयोग एक ओर उनकी प्राचीनता बतलाते हैं, वहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि वह तब हुए जब पाणिनि व्याकरण का सम्यक् प्रचार नहीं हो पाया था। शैली की सरलता तथा नाट्यविन्यास की स्वाभाविकता भी प्राचीनता सिद्ध करती है। इसके अतिरिक्त नाटकों का सामाजिक तथा सांस्कृतिक चित्रण, विशेषतः ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान, लोप होती हुई श्रमणसंस्कृति की छाया आदि विशेषताएं निश्चित रूप से चाणक्य के युग की ओर निर्देश करती हैं। प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण तथा अविमारक में बौद्धों के प्रति घृणा यही स्पष्ट करती है कि उनकी रचना बौद्ध-जैन युग तथा मौर्य युग के बीच में तब हुई जबकि बौद्ध धर्म राजधर्म नहीं रह गया था। इसी प्रकार स्वप्न-वासवदत्ता का भरता-वाक्य भी मौर्यकालीन भारत की ओर निर्देश करता है। अन्यान्य अनेक विद्वानों ने और भी ऐसी बहुत सी विशेषताओं को खोजा है, जिनसे भास की प्राचीनता स्पष्टतः प्रकट होती है। अतः भास को चतुर्थ शतक ई० पू० के उत्तरार्ध में मानना सर्वथा उचित है।

---

१. बुद्धिस्ट इंडिया : राइज डेविड्ज, पृ० ३,

२. देखिये हमारा अग्रिम ऐतिहासिक विवेचन,

३. किन्तु विंसेन्ट स्मिथ के अनुसार अजात० का देहान्त ४७५ ई० पू० में तथा उदयन का राज्यकाल ४५० ई० पू० है। अतः स्मिथ दर्शक का राज्यकाल ४७५–४५० ई० पू० मानते हैं।

४. पुशलकर जैसे कुछ विद्वान् भास को महापद्मनन्द के समय में भी मानते हैं किन्तु यह उचित नहीं है। अय्यर का मत है कि संभवतः भास महा पद्मनन्द के उत्तरार्ध में हुए हों तथा नाटक मौर्यकाल में ही रचे हों। देखो : भास : अय्यर पृ० ६–७,

कुछ विरोधी तर्क तथा उनका समाधान

कुछ विरोधी विद्वानों के अनुसार उपर्युक्त संभावित भास की तिथि के सम्बन्ध में कुछ आशंकाएँ हो सकती हैं, किन्तु यदि उन पर भी पूर्वापर विचार किया जाय तो वे आशंकाएँ सारहीन प्रतीत होती हैं। उदाहरण के लिए प्रमुख रूप से—

(१) प्रतिमा नाटक में मेधातिथि शब्द के प्रयोग[1] को लेकर कुछ विद्वानों ने कहा है कि मेधातिथि क्योंकि मनुस्मृति के टीकाकार थे, तथा वे लगभग ईस्वी की १०वीं सदी में हुए अतः इनका उल्लेखकर्त्ता भास निश्चित् रूप से बहुत बाद में हुआ है। किन्तु यह कथन सर्वथा निमूंल है। भास द्वारा उल्लिखित "मेधातिथि" वास्तव में मनुस्मृति के टीकाकार न होकर एक वैदिक पुरुष हैं। दूसरे, नाटक में प्राचीनतम महेश्वर, बृहस्पति आदि के साथ उल्लेख होने से उन्हीं के समान उनकी प्राचीनता स्पष्ट होती है। तीसरे, जैसा कि डा० सुकथान्कर ये सुझाया है निश्चित रूप से मेधातिथि का स्वतन्त्र न्याय-शास्त्र ग्रन्थ होना चाहिए। भास ने न्याय-शास्त्र-कार का ही उल्लेख किया है, न कि मनुस्मृति की टीकाकार का। चौथे, यह रावण की गर्वोक्ति है। रावण यहाँ अर्थशास्त्र, योगशास्त्र आदि के ज्ञान का बखान करता है। अत: इसमें मनुस्मृति के टीकाकार उल्लेख मानना कुछ भी औचित्य नहीं रखता। इसके अतिरिक्त कालिदास से लेकर १२वीं सदी के ग्रंथों में उल्लिखित भास का समय इतने बाद में मानना कोई भी महत्त्व नहीं रखता है। अतः मेधातिथि से संबंधित आशंका सर्वथा व्यर्थ हो जाती है।

(२) कुछ विद्वान् प्रतिमा नाटक के ही "मानवं धर्मशास्त्र" शब्द को लेकर भी भास की तिथि को पीछे धकेलना चाहते हैं। वैसे तो मनु तथा मनुस्मृति का समय ही विवादास्पद है, तब भी क्योंकि डाक्टर पुग्लकर ने मनुस्मृति को ईसा पूर्व १०० से ईसा १०० के बीच माना है[2] तथा डा० जायसवाल ने १५० ई० पूर्व से १२० ईसा पूर्व के बीच[3]। अतः कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मानव धर्म के उल्लेख में मनु का ही निर्देश है, इसलिये मनु के बाद भास होने से ईसा पूर्व में कदापि नहीं हो सकते। यह मत भी सर्वथा भ्रामक है। वास्तव में भास के द्वारा उल्लिखित मनु एक प्राचीन ऋषि हैं। "मनु का नाम अत्यन्त प्राचीन काल से कई रूपों में मिलता है। ये मानव जाति के आदि पुरुष, राजसंस्था के प्रथमकर्त्ता और धर्म के प्रथम व्यवस्थापक हैं। तैत्तिरीय ओर मैत्रायिणी संहिताओं (२।२।१०।२,१।१।५,) में और छान्दोग्य०

---

१. **देखिए प्रतिमा नाटक** : ५।८—६,
२. **देखिये : सं०सा० इवि : गैरोला, पृ०** ७४३,
३. वही,

(८।१५) में उन्हें वैदिक ऋषि और तांड्य ब्राह्मण में धर्म का विधान करने वाला कहा गया हैं। यास्क (७००ई०पू०) ने निरुक्त (३।१।४,) में मनु का एक श्लोक प्रमाण रूप में उद्धृत किया है। बौधायन (४।१।१४,३।१६,) और आपस्तम्ब (२।१६।१,) के धर्म कर्त्ता के रूप में मनु का प्रमाण दिया गया है[१]।" अतः स्पष्ट है कि मनु के बचन अति प्राचीन हैं। "महाभारत, एवं कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी प्राचीन ऋषि के रूप में मनु का उल्लेख है।[२] मानव धर्म-शास्त्र के कुछ अंश प्राचीन-तम ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। संप्रति प्राप्त मनु-स्मृति से मानव धर्मशास्त्र के प्राप्तांश बिलकुल भी मेल नहीं खाते[३]"। अतः मानव-धर्म शास्त्र से वर्तमान मनुस्मृति का साम्य मानकर भास को मनु के बाद का बतलाना सर्वथा निराधार है।

(३) हाँ, एक आशंका "राम के अवतार" को लेकर उठाई गई है। यह कुछ महत्त्वपूर्ण भी है। प्रो० "विन्टर्निट्ज" ने निर्देश किया है कि राम के अवतार के रूप में मान्यता ईस्वी की प्रथम सदी के पूर्व के किसी शिलालेख में नहीं दीख पड़ती[४] अमरकोश में भी अन्य अवतारों के साथ बुद्धावतार का उल्लेख है, राम का नहीं है। अतः जयचन्द्र विद्यालंकार भी रामावतार की कल्पना को ईस्वी पूर्व प्रथम सदी के बाद की मानते हैं।[५] रामकथा के मर्मज्ञ विद्वान् कामिल बुल्के का भी यही मत है[६] किन्तु भास के अभिषेक नाटक में राम का अवतार के रूप में चित्रण है। अतः भास ईस्वी पूर्व के कथापि नहीं बैठते। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि मेगस्थनीज ने मौर्यकाल में कृष्ण-पूजा का तो उल्लेख किया है, पर रामपूजा का नहीं। इसके अतिरिक्त ईस्वी पूर्व प्रथम शतक से पूर्व जहाँ कहीं राम-कृष्ण का उल्लेख हुआ है वहाँ "राम" शब्द बलराम के लिए ही प्रयुक्त है। अतः भास को ईस्वी पूर्व चतुर्थ के अन्त में मानना उचित नहीं है। किन्तु यह सन्देह भी निर्मूल है।

हम व्यक्त कर चुके हैं कि नाटक-चक्र के समस्त नाटक भास के प्रतीत नहीं होते हैं। अतः हमारा मत है कि अभिषेक भी चारुदत्त के समान भास की रचना नहीं है। हमने "चारुदत्त की अमौलिकता, तथा परिवर्तितता" पर विस्तार से प्रकाश

---

१. हिन्दू सभ्यता : ए० के० मुकर्जी : (हिन्दी) पृ० १५६–१५६,
२. भा० इति० रूपरेखा : जयचन्द्र विद्यालंकार : पृ० ६११,
३. सं० सा० इति० : गैरोला, पृ० ७३६,
४. सम प्राब्लम्स ऑफ दि इंडियन लिट० : विन्टर्निट्ज, पृ० १२३,
५. भा० इति० रूपरेखा, जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ ६२२,
६. रामकथा: कामिल बुल्के, पृ०१४६–इनका मत है कि संभवतः ई० पू० से ही रामावतार की भावना प्रचलित हुई।

डालते हुए चारुदत्त को भास की रचना न होने का संकेत किया है।[1] अभिषेक के सम्बन्ध में भी हमारा यही अनुमान है कि यह भास की रचना नहीं है। जागीरदार ने भी शिल्प, भाषा, चरित्रचित्रण तथा छन्द आदि के आधार पर अभिषेक को भास की रचना स्वीकार नहीं किया है[2]। इसके अतिरिक्त अभिषेक में राम का अवतार के रूप में चित्रण है, जबकि भास के (अधिक संभावित) प्रतिमा० में राम का आदर्श मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में है। इससे भी यही प्रकट होता है कि अभिषेक० प्रतिमा० के लेखक की रचना नहीं है।[3] अतः अभिषेक के रामावतार चित्रण के आधार पर भास की प्राचीनता को झुठलाना न्याय्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों का यह भी आक्षेप संभव है कि यदि भास शुंगों से भी पूर्व में थे तो महाभाष्य में पंतजलि ने अन्य काव्य एवं नाटकों के उल्लेख के समान भास या भास की किसी कृति का उल्लेख क्यों नहीं किया ? किन्तु यह आक्षेप भी व्यर्थ, तथा स्वयं उनके ही प्रतिकूल ठहरता है। श्री अय्यर ने अनुमान किया है कि भाष्य में बालचरित का कसंवध के रूप में निर्देश दिया है।[4] वास्तविकता यही है कि बालचरित में भी कंसवध का संदर्भ है और हम मानते हैं कि भास के नाटकों के अनुलेखन, प्रतिलेखन तथा संस्करण हुए हैं। अतः हमारा विश्वास है कि संस्कर्ता या अभिनेताओं ने कंसवध का संपादन करते समय भक्तिपरक रुचिकर नाम बालचरित रख लिया है। जिस तरह कि हमने आगे स्पष्ट किया है कि शूद्रक के मृच्छकटिक के मौलिक कृति का नाम संभवतः "दरिद्र चारुदत्त" आदि कुछ था, किन्तु किसी संपादक ने "मृच्छकटिक" नाम रखा तो किसी ने चारुदत्त; तो क्या यह संभव नहीं है कि कंसवध का ही रंग-मंच की दृष्टि से बेडोल सा बालचरित संस्करण कर दिया हो। यदि बालचरित भास की रचना है, तो निसंदिग्ध रूप में कंसवध रूपान्तर प्रतीत होता है, अन्यथा यह स्वप्नवासवदत्ता के रचयिता भास की रचना कदापि नहीं मानी जा सकती। और, इसीलिए हमारा विश्वास है कि भाष्य में इसी के सम्बन्ध में उल्लेख है। इससे पुनः यही प्रमाणित होता है कि भास का समय भाष्य के रचयिता पंतजलि से पूर्व है।

कुछ विद्वानों ने उपर्युक्त कुछ आशंकाओं के आधार पर तथा प्रतिमा नाटक में प्रतिमा प्रयोग तथा अन्य अनेक नाटकों में चित्रित स्मृतिकालीन संस्कृति-सभ्यता की

---

१. देखिये, इसी प्रबन्ध का मृच्छकटिक अध्याय
२. ड्रामाज इन संस्कृत लिट० : जागीरदार, पृ० ७५,
३. वही,
४. भास : अय्यर, पृ० ४३,

छाया आदि देखकर भास को "कण्वकाल" "शुंगकाल" तथा "सातवाहन काल" में रखने का प्रस्ताव किया है। किन्तु यह मत भी सर्वथा निर्मूल तथा अग्राह्य सिद्ध हो चुका है। वास्तविकता तो यह है कि स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध भास के तथाकथित नाटकों के आधार पर भास के सम्बन्ध में मान्यता स्थापित करना अस्वाभाविक है। जागीरदार के शब्दों में वे प्राचीन अवश्य हैं, किन्तु विभिन्न समय में तथा विभिन्न व्यक्तियों की लेखनी से संपादित प्रतीत होते हैं।[1] अतः उनके कुछ स्थलों का आश्रय लेकर भास के समय को पीछे खींचने का प्रयास सर्वथा अनुचित है। यहाँ अन्य नाटकों के विषय में विचार करने का न अवसर है न प्रसंग है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि हमारे विवेच्य प्रतिज्ञा० तथा स्वप्न० निश्चित एवं निःसंदिग्ध रूप से भास की रचना है। उनमें हमें ऐसा कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर भास को बाद का माना जाय। अतः भास की प्रमाणिक कृति स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० के आधार पर भास का समय चतुर्थ शतक ईस्वी पूर्व के अन्त में ही मानना सर्वथा उचित है।

प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण एवं स्वप्नवासवदत्ता: परस्पर पूरक:

प्रतिज्ञा० और स्वप्न० दोनों एक दूसरे के पूरक नाटक हैं। दोनों को सम्मिलित करके एक विशालकाय नाटक भी बन सकता है। यद्यपि स्पष्टतः दोनों एकाकार कृति नहीं हैं। पृथक्-पृथक् दो कृति हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि लेखक की दृष्टि में, दोनों को लिखते समय, एक ही कथानक रहा होगा, जिसे अपनी सुविधानुसार उसने पृथक्-पृथक् दो कृतियों के रूप में कुछ समय के अन्तर से नाट्यबद्ध किया है। यद्यपि दोनों ही नाटक अपने-अपने रूप की परिधि में पूर्ण हैं, तथापि दोनों को संयुक्त कर देने पर एक सुन्दर कथानक तैयार हो सकता है। इसके अतिरिक्त दोनों इसलिए भी परस्पर पूरक हैं कि एक के बिना दूसरे को सहज ही समझा नहीं जा सकता। किन्तु हमारे सम्मुख ये दोनों रूपों में पृथक्-पृथक् दो नाटक हैं। इन दोनों की घटना की एकरूपता तथा क्रमबद्धता में कुछ मध्यान्तराय एवं शैली में भी अंतर है। अतः स्पष्ट होता है कि इन दोनों के लिखने में समय का कुछ व्यवधान अवश्य रहा है।

क्रमबद्धता की दृष्टि से दोनों का अनुशीलन करने पर यह प्रकट हो जाता है कि न केवल प्रतिज्ञा० का कथानक ही स्वप्न० से पहले का है अपितु निश्चित रूप से प्रतिज्ञा० की रचना स्वप्न० के पहिले हुई है। स्वप्न० भास की प्रौढ़ रचना है,

---

१. **ड्रामाज इन संस्कृत लिटरेचर, जागीरदार, पृ० ७६,**

प्रतिज्ञा० नहीं। इन दोनों नाटकों में और भी अनेक असमानताएँ हैं—एक ओर प्रतिज्ञा० जहाँ पुरुषप्रधान, पौरुषप्रधान एवं नीति तथा वीररस पूर्ण हैं, वहाँ स्वप्न० स्त्रीप्रधान, प्रेम-प्रधान तथा शृंगार प्रधान है। एक में युद्ध कूटनीति, षडयंत्र, घात-प्रतिघात प्रतिज्ञा, प्रतिशोध की प्रमुखता है, तो दूसरे में संवेदनशीलता, सौहार्द, सहानुभूति पश्चात्ताप, परहितैषिता, तथा प्रणय प्रधान है। एक में युगीण राजनीति का ही सफल चित्रण है, तो दूसरे में राजपरिवारों के अन्तःपुरीय वातावरण का। एक में यौगन्धरायण जैसे अमात्य (तथा राजपरिजन) के कर्तव्य और बलिदान का आदर्श तो दूसरे में वासवदत्ता जैसी प्रतिनिधि नारी की भावुकता और कर्तव्य का उदात्त आदर्श है। प्रतिज्ञा० में समस्त नाट्य-विधान पर कूटनीतिज्ञ यौगन्धरायण का एकाधिकार रहने से सदा सर्वदा उसी का ही स्वर सुनने तथा क्रियाकलाप देखने पर भी वत्सराज नायक है,[1] जबकि स्वप्न० में नायक उदयन सदा मंच पर दीख पड़ने पर भी निष्क्रिय सा ही प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त एक प्रकरण है तो दूसरा नाटक। इस प्रकार अन्य भी अनेक अन्तर हैं।

इन विभिन्न अन्तरों के होते हुए भी दोनों में कुछ मूलभूत समानताएँ भी हैं। यही क्यों, हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि दोनों नाटकों की असमानताओं में भी समानता निहित है। और सबसे प्रमुख समानता यह है कि भास ने प्रतिज्ञा० में मूलभूत रोमांटिक कथा की पृष्ठभूमि में राजनैतिक घटनाओं का प्रस्तार किया है, जबकि स्वप्न० में (आरूणि के आक्रमण की) राजनैतिक घटना की पृष्ठभूमि में रोमांटिक (प्रणयात्मक) घटनाओं का संभार किया है। यही इन नाटकों की विशेषता है तथा इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही नाटकों का राजनैतिक या ऐतिहासिक दृष्टि से समान महत्त्व है। इसके अतिरिक्त अन्य समानताएँ भी हैं। उनमें सर्वप्रमुख हैं—कथानक की समानता, जिसके आधार पर हम यह निश्चित करते हैं कि दोनों परस्पर पूरक हैं। इन दोनों नाटकों में कथावस्तु प्रकट रूप से उदयनकथा होने से आधारभूत समानता है। मुख्य पात्र भी समान हैं। नायक नायिका के सम्बन्ध में दोनों में ही एक भ्रम सा दीख पड़ता है, क्योंकि इनका संचालन यौगन्धरायण करता है। इसके अतिरिक्त दोनों में कुछ स्थल भी परस्पर संबंधित हैं, जिससे दोनों परस्पर पूरक प्रतीत होते हैं। जैसे—

(१) स्वप्न० के प्रारंभ में जब यौगन्धरायण वासवदत्ता को तापसी के यहाँ न्यास रूप में रख देता है, तब उसका यह कथन कि "पद्मावती राजा की रानी होगी, जिन्होंने पहले (राजा की) विपत्ति बतलायी थी, वह हम देख चुके हैं। इसी विश्वास

१- विन्टरनित्ज मुद्राराक्षस के चाणक्य के समान यौगन्धरायण को ही नायक मानते हैं देखो "सम प्राब्लम्स आफ इंडियन लिटरेचर, पृ० ११३

से हमने ऐसा (अर्थात् वासवदत्ता का पद्मावती के पास विन्यास) किया है.......[१] ।" इस उक्ति में "पहली विपत्ति" से स्पष्टतः प्रतिज्ञा० की घटनाओं का निर्देश है ।

(२) स्वप्न० के अन्त में उदयन के निकट धात्री तथा कांचुकीय जब महासेन का समाचार लेकर जाते हैं, तब राजा कहता है कि "उनकी कन्या का अपहरण मैंने किया, किन्तु उसकी रक्षा न कर सका । अतः वह क्या कहेंगे इसको विचार कर मेरा हृदय आशंकित हो रहा है[२] ।" इस कथन से प्रकट रूप से प्रतिज्ञा० में किये गये वासवदत्ता के अपहरण का संकेत है ।

(३) स्वप्न० के षष्ठ अंक के लगभग अन्त में धात्री की उक्ति है कि........ "इसी निमित्त से उज्जयनी लाए गए थे । बिना अग्नि के साक्षी के ही वीणा के व्यपदेश में तुम्हें (वासवदत्ता) दे दी गयी थी ।............और हमने तुम्हारी तथा वासवदत्ता की प्रतिकृति चित्रफलक पर चित्रित कर विवाह कार्य संपादन कर लिया था............ ।[३] इससे स्पष्टतः प्रतिज्ञा० की घटनाओं का ही अनुस्मरण कराया गया है ।

(४) स्वप्न० के बिल्कुल अन्त में ही सभी के सम्मिलन के पश्चात् राजा और भी प्रकट शब्दों में प्रतिज्ञा० में किए यौगन्धरायण के कार्यों का निर्देश करता हुआ प्रशंसा करता है—कि अरे "यौगन्धरायण" आप, वस्तुतः मिथ्योन्माद, युद्ध एवं शास्त्रनुकूल मंत्रणा आदि के आपके यत्नों ने हम डूबते हुओं का उद्धार कर लिया है[४] ।"

(५) यही क्यों, पंचम अंक में स्वयं राजा के मुख से "महान् खल्वार्य—यौगन्धरायणस्य प्रतिज्ञाभारो........"[५] कहलाकर प्रतिज्ञा० का अप्रत्यक्ष रूप के नाम्ना निर्देश किया गया है । इसी प्रकार और भी बहुत से उदाहरण खोजे जा सकते हैं । इनसे स्पष्ट है कि स्वप्न० की रचना करते हुए भास के मस्तिष्क में प्रतिज्ञा०, रहा है । इसी कारण स्थान-स्थान पर उसकी घटनाओं का संकेत देते हुए स्वप्न० का कथाविन्यास किया है । किन्तु, इन संकेतों से यह भी प्रकट है कि बिना प्रतिज्ञा० को आत्मसात् किए स्वप्न० को समझ पाना कठिन है । प्रतिज्ञा० के कथासूत्र को ही स्वप्न० में बढ़ाया गया है । इस प्रकार कथावस्तु समग्र रूप में एक में ही गुंथी हुई है तथा परस्पर सम्बद्ध है ।

---

१. स्वप्न० १।११,
२. वही, स्वप्न० ६।४,
३. स्वप्न० ६,११–१२,
४. वही, ६।१८,
५. वही, ६।६–७,

अन्त में, हम कह सकते हैं कि दोनों नाटकों के कथासूत्र का मुख्य सूत्रधार यौगन्धरायण ही है, जो दोनों नाटकों में समान रूप से अपनी बुद्धि द्वारा कथावितान तथा विन्यास करता है। इनमें एक ही कथा तथा समान पात्रों का विनियोग करके दोनों का कथापट एक ही तानबाने से बुना गया है। इसके अतिरिक्त दोनों एक ही कलाकार की कृति हैं। अतः इनका एक साथ ही अध्ययन करना सुविधाजनक तथा उचित होगा। इस समधिक औचित्य के कारण ही हम दोनों को संयुक्त करके अध्ययन करने का प्रयास कर रहे हैं।

नाटकों का कथानक

पूर्वकथानक—प्रद्योत उदयन का पड़ोसी राजा था। वह अपनी कन्या "वासवदत्ता" के अनुरूप वर की खोज में था। उसकी आँखें उदयन पर लगी थीं। किन्तु उदयन अपनी प्राचीन कुलीनता तथा शौर्य के कारण स्वाभिमानी होने से उसके प्रति उदासीन था। प्रद्योत को इसके स्वाभिमान से चिढ़ थी। इसी कारण वह इसे नीचा दिखाने के उचित अवसर की तलाश में रहता था। इसी बीच जब प्रद्योत को हाथियों के आखेट के लिये नागवन की ओर उदयन के प्रस्थान करने का समाचार मिला तब उसने उसे पकड़ने का षड़यंत्र रचा।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण—प्रतिज्ञा० में यौगन्धरायण और सालक के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि कौशाम्बी से बहुत सुदूर वेणुवन स्थित नागवन की ओर मृगया के लिये उदयन कल प्रस्थान करने वाला है। किन्तु, क्योंकि यौगन्धरायण को प्रद्योत के प्रयोग की सूचना प्राप्त हो चुकी है। अतः वह रक्षासूत्र तथा पत्र के साथ अनुचर सालक को सन्देश वाहक बनाकर भेजने ही जा रहा है कि वत्सराज का अंगरक्षक हंसक आकर उदयन के कल ही चले जाने तथा प्रद्योत के द्वारा बंदी बना लिये जाने की सूचना देता है। हंसक यहीं छलप्रयोग के सम्बन्ध में विस्तार से बतलाता है। यौगन्धरायण इस सुरक्षाप्रयोग की असफलता को अपनी बहुत बड़ी बौद्धिक तथा कूटनैतिक पराजय मानता है। हंसक बतलाता है कि युद्ध-स्थल में घायल उदयन को बंदी पाकर शत्रु-सैनिक प्रतिशोध स्वरूप वध करना ही चाहते थे, किन्तु मंत्री शालंकायन उदयन को मुक्त करके उज्जयनी ले गया और हंसक को सूचना देने के लिये कौशाम्बी भेज दिया है। उदयन ने भी हंसक को अश्रुपूर्ण नेत्रों से केवल यौगन्धरायण से मिलने का संदेश दिया है। हंसक द्वारा स्वामी के सन्देश को पाकर यौगन्धरायण उसका अर्थ समझ लेता है और किसी न किसी रूप में उदयन के निकट पहुँचने का निश्चय करता है। तभी राजमाता के सन्देश एवं प्रार्थना को सुनकर यौगन्धरायण उदयन की मुक्त कराने का प्रतिज्ञा भी करता है।

उज्जयनी में दूसरी ओर (दूसरे अंक में) कांचुकीय प्रद्योत तथा प्रद्योत का समस्त परिजन वासवदत्ता के लिये भेजे गये दूत तथा उपयुक्त वर से संबंधित विचार में व्यस्त है। प्रद्योत भी उदयन के दूत न आने से व्यग्र है। इसी बीच प्रद्योत को वत्सराज के बंदी होने का सन्देश प्राप्त होता है। किन्तु यौगन्धरायण को कौशाम्बी में जानकर उदयन के बंदी होने में भी उसे विश्वास नहीं होता। पर बाद में स्वयं शालंकायन द्वारा लाया जानकर प्रसन्न होता है। इसे वह अपनी बहुत बड़ी विजय समझता है और सच्चे अर्थ में अपने को आज महासेन अनुभव करता है तथा उदयन का 'कुमारविधि' से सत्कार का आदेश देता है। तभी उदयन की प्रिय घोषवती वीणा लायी जाती है। प्रद्योत उसे गन्धर्व-विद्यानुरागिनी वासवदत्ता के पास भेज देता है तथा उदयन को अत्यधिक घायल होने से एक सम्बन्धी के समान ही समुचित उपचार और सत्कार का आदेश देता है। तृतीत एवं चतुर्थ अंक में यौगन्धरायण नयच्छल के द्वारा प्रद्योत के छलप्रयोग का प्रतिकार करता है। यौगन्धरायण स्वयं उन्मत्तक का, रुमण्वान श्रमणक का तथा वसन्तक डिण्डिक का वेष बनाकर उज्जयनी में ही रहते हुए षडयंत्र का संचालन करते हैं। वहीं राजा को वासवदत्ता पर आसक्त जानकर स्वामिभक्ति के कारण वह घोषवती नलगिरी तथा वासवदत्ता के सहित उदयन को कौशाम्बी ले जाने की दूसरी प्रतिज्ञा करता है। योजनाबद्ध षडयंत्र के द्वारा वत्सराज नलगिरी के साथ भद्रावती पर वासवदत्ता को बिठाकर भाग निकलने में सफल होता है। किन्तु प्रद्योत की सेना यौगन्धरायण तथा उसके साथी गुप्तचरों को बंदी बना लेती है। भरतरोहक कारागार में पहुँचकर उसे अपमानित करता हुआ उसकी प्रीति की लालोचना करता है। प्रत्युत्तर में यौगन्धरायण भी भरतरोहक के छल की आलोचना करता हुआ कहता है कि भरतवंशी वत्सराज बिना स्त्री बनाये किसी को उपदेश नहीं दे सकता। इस वाग्युद्ध के बीच में भरतरोहक यह भी संकेत दे देता है बधाई वत्सराज का(जान बूझकर) किसी विशेष प्रयोजन से ही सत्कार किया गया है। तभी प्रद्योत द्वारा भेजा हुआ कान्चुकीय संबंध-सूचक शृंगार उपहार लाता है। अन्त में, चित्रफलक स्थित उदयन तथा वासवदत्ता के विवाह के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

अन्तर्कथा—इसके पश्चात् जबकि समस्त राज्यकार्य मंत्रियों पर छोड़कर उदयन वासवदत्ता के साथ प्रेमरंग में डूबा रहता है। आरूणि वत्स के बहुत से भाग को हथिया लेता है। यौगन्धरायण इसी अपहृत राज्य को बुद्धिबल से पुनः प्राप्त करने के लिए दर्शक की सहायता प्राप्त करने की योजना बनाता है।

स्वप्नवासवदत्ता—हमें प्रारंभ में ही यह ज्ञात होता है कि सिद्धों ने यह भविष्यवाणी की थी कि उदयन पर एक विपत्ति आवेगी और मगध-राज दर्शक की बहिन पद्मावती उदयन की राजमहिषी बनेगी। प्रथम विपत्ति रूपी भविष्यवाणी

सत्य हुई है, अतः यौगन्धरायण दूसरी भविष्यवाणी की सत्यता के प्रति आश्वस्त होकर पद्मावती के विवाह के द्वारा मगधराज की सहायता प्राप्त करना चाहता है। किन्तु उदयन वासवदत्ता पर इतना अनुरक्त है कि वह उसके रहते दूसरा विवाह नहीं कर सकता। अतः यौगन्धरायण वासवदत्ता की सहमति के अनुसार उदयन के मृगया के लिए चले जाने पर कौशाम्बी केनिकटस्थ लावाणक ग्राम का दाह करवाकर यह प्रवाद फैलवा देता है कि ग्रामदाह में वासवदत्ता तथा यौगन्धरायण जल गये हैं। और वह स्वयं परिव्राजक के वेश में वासवदत्ता को अवन्तिका-वेशधारिणी प्रोषित-पति का बहिन के रूप में साथ लेकर तपोवन में वहाँ पहुँचता है जहाँ कि पद्मावती राजमाता के पास आई हुई है। नाटक यहीं से प्रारम्भ होता है।

तपोवन में जब पद्मावती आश्रमवासियों को स्वेच्छितवस्तु प्रदान करने की घोषणा करवाती है, तभी अवसर का लाभ उठाकर यौगन्धरायण वासवदत्ता को कुछ दिनों के लिए पद्मावती के पास न्यासरूप में रख देता है। तभी लावाणक से एक ब्रह्मचारी आकर वासवदत्ता के अग्निदाह से दुःखी राजा के प्राण-त्याग आदि के प्रयास तथा मंत्रियों द्वारा उसकी सुरक्षा प्रयत्नों के सम्बन्ध में बतलाता है। यहीं ज्ञात होता है कि पद्मावती भी उदयन को ही चाहती है। प्रसंगवश जब उदयन राजगृह आता है तब पद्मावती का उसके साथ विवाह सम्पन्न होता है। उदयन वसन्तक के साथ राजगृह में ही रह कर पद्मावती के साथ कुछ दिन व्यतीत करता है। एक दिन पद्मावती की शिरोवेदना की सूचना मिलने पर उदयन स्वयं समुद्रगृह में जाता है। किन्तु तब तक पद्मावती के वहाँ न पहुँच पाने के कारण प्रतीक्षा करता हुआ वहीं निद्राभिभूत हो जाता है। तभी वासवदत्ता भी पद्मावती की शिरोवेदना का समाचार पाकर वहाँ जाती है, और पद्मावती को सोया हुआ समझ कर उसी शय्या पर लेट जाती है। बाद में स्वप्न में प्रलाप करते हुए स्वामी को पहिचान कर उठ खड़ी होती है और स्वामी के प्रश्नों का उत्तर भी देती है। तदनन्तर वह जब जाना चाहती है तब स्वामी के लटकते हुए हाथ को ज्यों ही ऊपर रखती है कि राजा जाग जाता है। किन्तु जैसे ही तन्द्राभिभूत उदयन उसे पकड़ या देख पाये कि वह उससे पूर्व ही ओझल हो जाती है। तथापि उदयन को उसके जीवित होने का विश्वास-सा हो जाता है। तभी कांचुकीय रूमण्वान द्वारा आरुणि पर चढ़ाई की सूचना देता है और राजा भी सन्नद्ध होकर चला जाता है।

अन्तिम अंक में ज्ञात होता है कि दर्शक की सहायता से उदयन ने अपने शत्रु आरुणि को पराजित कर वत्स को प्राप्त कर लिया है। उसी विजय-समाचार को पाकर महासेन तथा उनकी महिषी भी अपना सन्देश तथा वासवदत्ता और उदयन का चित्रफलक कांचुकीय तथा धात्री वसुन्धरा के द्वारा भेजते हैं। उदयन उस चित्र-

फलक को देख ही रहा है कि पद्मावती उसमें चित्रित वासवदत्ता को पहिचान कर कहती है कि इसी तरह की एक यहाँ भी रहती है, जिसे एक ब्राह्मण ने पोषित-प्रतिका बहिन के रूप में न्यास रखा है। वासवदत्ता को बुलाया जाता है, तभी यौगन्धरायण भी न्यास लेने पहुँचता है। राजा, मन्त्री, तथा रानी आदि सभी परस्पर पहिचान जाते हैं और यौगन्धरायण की कूटनीति की सफलता के फलस्वरूप सुखमय सम्मिलन के साथ नाटक समाप्त होता है।

उदयन-कथा की लोकप्रियता

उदयन-कथा प्राचीन काल से ही अत्यधिक लोकप्रिय रही है। कालिदास की सूक्ति "प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्" से प्रतीत होता है कि उदयन के लोकोत्तर रूप, गुण, शील तथा चरित्र ने न केवल अवन्ती को अमरता प्रदान की, अपितु आबालवृद्धों का कण्ठहार बन कर मर्त्य होते हुए भी वह अमर बन गया है। यही कारण है कि संभवतः भगवान राम तथा श्रीकृष्ण के बाद उदयन-कथा को छोड़कर अन्य कोई ऐसा चरित्र नहीं दीख पड़ता जिसने न केवल साधारण जनों को अपितु साहित्यकारों तथा कलाकारों को भी अभिभूत और आकर्षित किया हो। इस अत्यधिक लोकप्रियता का ही यह परिणाम है कि अनुश्रुतियों के रूप में प्रवाहित तरल कथा के समान इसमें अतिरंजनात्मकता बढ़ती गयी, दैवी तत्त्वों का आरोप होता गया, और अन्त में यह काल्पनिक रोमांटिक कथा मात्र बन कर रह गयी। अधिकांश साहित्यकारों ने भी अपनी कल्पना के उच्छृंखल प्रयोग द्वारा इसे भ्रष्ट करने में पूरा-पूरा योग दिया, जिससे इसकी रही-सही ऐतिहासिकता एवं प्रामाणिकता भी तिरोहित हो गयी और इस भ्रष्ट अतिरंजित कथा को ही प्रमाण माने जाना लगा। यदि इससे कोई बचा तो वह केवल भास था जो अधिकांश में अतिरंजना तथा दैवी तत्त्वों के प्रयोग से मुक्त रहा। उसने जैसा देखा सुना वैसा ही यथार्थ-चित्रण अपने नाटकों में किया है। यही कारण है कि भास उदयन-चरित्र की ऐतिहासिकता के अधिक निकट है।

आज हमें अनेक साहित्यिक नाटकों, कथाओं, काव्यों आदि के रूप में उदयन-कथा प्राप्त होती है। मनोरमावत्सराज, तापसवत्सराज, उदयन-चरित, रत्नावली, प्रियदर्शिका, वीणावासवदत्ता आदि नाट्य कृतियों के अतिरिक्त बाण तथा कालिदास आदि ने भी यथा-प्रसंग इसका उल्लेख किया है। यही नहीं, बल्कि अर्थ-शास्त्री कौटिल्य तक ने इसका उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि उदयन-कथा उदयन के समय से ही बहुजनप्रिय तथा प्रेमकथा के रूप में लोक का मनोविनोद करती रही होगी। बाद में सम्भवतः श्रोताओं की कुतूहलवृद्धि के अभिप्राय से तथा नवीनता लाने के लिये लोगों ने अपनी-अपनी कल्पना के अनुसार परिवर्तन, परिवर्धन किये हैं। यही

कारण है कि हमें उसकी एकरूपता नहीं मिलती और उसकी सत्यता एवं विश्वसनीयता के सम्बन्ध में अनेक भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। किन्तु उदयन-कथा को इतिहासकारों ने अनुश्रुतियों के आधार पर ऐतिहासिक माना है। यद्यपि यह निश्चित है कि उदयन से सम्बन्धित पुरातत्व सामग्री का नितान्त अभाव है, तथापि साहित्यिक साक्ष्य उदयन को एक स्वर से ऐतिहासिक प्रमाणित करता है। अतएव इतिहासकारों ने भी उदयन-कथा को मूलतः ऐतिहासिक स्वीकार किया है।

भास की उदयन-कथा का स्रोत तथा उपजीव्य

उदयन-कथा से संबन्धित काव्य नाटकों के अतिरिक्त और भी कुछ प्राचीन अर्वाचीन स्रोत-सामग्री भी है। मुख्यतः उसमें बौद्ध ग्रन्थ, जैन ग्रन्थ तथा ब्राह्मण ग्रन्थ आते हैं।[1] यद्यपि इन तीनों प्रकार की सामग्री के आधार पर उदयन-कथा की प्रमाणिकता का समीक्षण तथा मूल्यांकन किया जा सकता है किन्तु ये भास के उदयन नाटकों की उपजीव्यभूत रही होंगी—ऐसा मानना नितान्त अनुचित होगा।

(१) **बौद्ध ग्रन्थ**—बौद्ध सामग्री में यद्यपि कुछ बहुत प्राचीन अर्थात् ई० पू० चतुर्थ पंचम शतक तक के ग्रन्थ भी हैं जैसे दीर्घनिकाय, तथा जातक आदि। किन्तु ये भी भास के उपजीव्य नहीं रहे हैं। हम देख चुके हैं कि भास भी लगभग उसी समय के हैं जिस समय के ये थे। दूसरे, इन ग्रन्थों में उदयन-कथा का पारिवारिक क्रमबद्ध रूप प्राप्त नहीं है, धर्म-प्रसंगों में कहीं कुछ सम्बन्धित कथामात्र दे दी गयी है। तीसरे, इनमें धर्म-विशेष के ग्रन्थ होने के कारण उदयन-चरित्र के प्रति न्यायपूर्ण तटस्थ दृष्टिकोण न रख कर, धार्मिक पक्षपात-पूर्वक उदयन के चरित्र को प्रायः निम्नकोटि का ही प्रदर्शित किया है। अतः स्पष्ट है कि भास ने इन्हें उपजीव्य नहीं बनाया होगा। इतना अवश्य सम्भव है कि भास ने जिस समाज से प्रत्यक्षतः सँजोकर इसे यथातथ्य स्वाभाविक संजीव रूप दिया है, बौद्ध लेखकों ने भी वहीं से चुना हो। बाद के बौद्ध ग्रन्थों में उदयन-कथा का और भी स्वतन्त्रतापूर्वक चित्रण है। कुल मिलाकर यदि देखें तो बौद्ध-कथाओं तथा भास की कथा में पर्याप्त अन्तर दीख पड़ता है। उदाहरण के लिए, बौद्ध ग्रन्थों में उदयन को तापसकुमार का पुत्र बतलाना, उज्जयनी में स्त्रीवेश में आना, प्रद्योतपत्नी तारा से मिलना, अँगूठी चुराना, वासवदत्ता को पर्दे के पीछे से पढ़ाना, यौगन्धरायण द्वारा अपनी बहिन कांचनमाला के सहयोग से उदयन को मुक्त कराना, विवाहोपरान्त भी उदयन का प्रद्योत के शत्रु के रूप में चित्रण करना और यहाँ तक कि प्रद्योत के सम्मान के लिये वासवदत्ता द्वारा उदयन की हत्या, आदि

१. **स्रोतो आदि को विशेष देखें, प्रतिज्ञा० भूमिका, सं० वामनगोपाल ऊर्ध्वरेष, १–६,**

घटनाएँ भास की उदयन-कथा से लेश-मात्र भी मेल नहीं खाती है ।[1] यही नहीं, बल्कि बौद्ध कथाओं में उदयन की पत्नी वासवदत्ता आदि का चित्रण भी भास से पूर्णतः भिन्न है । उदयन का भी चरित्र उसमें भिन्न रूप से चित्रित है । अर्जुन के वंशज पुरुवंशी उदयन को धार्मिक भेद-भाव के कारण ही हीन-चरित्र का बतलाया गया है । इन सबसे स्पष्टतः यह प्रमाणित होता है कि बौद्ध कथाएँ भास की उपजीव्य नहीं रही होंगी ।

(२) **जैन ग्रन्थ**—जहाँ तक जैन ग्रन्थों का सम्बन्ध है, इन्हें भी भास का आधार नहीं माना जा सकता । जैन ग्रन्थों की उदयन-कथा तथा भास की उदयन-कथा का भी परस्पर कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है । इनमें भी पर्दे के पीछे बैठी हुई वासवदत्ता को उदयन द्वारा शिक्षा देना, परस्पर में कुबड़ी तथा कोढ़ी बताया जाना, वासवदत्ता के गलत पाठ पढ़ाने पर उसे कुबड़ी तथा मोटे ओठों वाली कहना, वासवदत्ता द्वारा उदयन को कोढ़ी कहना तथा सन्देह होने पर परस्पर देखना और प्रीति होना आदि अनेक अन्तर मिलते हैं । इसके अतिरिक्त जैन ग्रन्थ भास के समय के बाद की रचना हैं । अतः जैन ग्रन्थों को आधार नहीं माना जा सकता । वैसे भी भास धर्मनिष्ठ ब्राह्मण था । अतः जैन बौद्ध ग्रन्थों से कथा सँजोने का प्रसंग असम्भव है । अन्त में, जबकि उदयन-कथा की लोकप्रियता का आधार उसकी प्रेम कथा तथा उसका साहसवृत्त है, किन्तु विशेषकर जैन बौद्ध ग्रन्थों में उदयन-कथा का यह रूप कहीं नहीं झलकता; बल्कि इसके ठीक प्रतिकूल कहीं-कहीं उदयन का चरित्र बड़ा हेय-सा प्रतीत होता है । ऐसे ही अनेक कारणों से हम उन्हें भास का आधार नहीं मान सकते ।

(३) **ब्राह्मण ग्रन्थ**—ब्राह्मण ग्रन्थ के सम्बन्ध में भास की उपजीव्यता के दृष्टिकोण से विचार करने पर वे भी आधार नहीं माने जा सकते । पुराणों में उदयन का नाम्ना उल्लेख है, कथा नहीं दी गई है । सामान्यतया बृहत्कथा को भास का उपजीव्य माना जाता है,[2] किन्तु वास्तविकता यही है कि वह भी भास की उपजीव्य नहीं है ।

बृहत्कथा—भास गुणाढ्य से बहुत पूर्व हुए थे । सातवाहन के समकालीन गुणाढ्य ने बृहत्कथा की रचना पैशाची में प्रथम शतक में की थी, जबकि भास की रचना का समय इससे बहुत पूर्व का है । यद्यपि पैशाची में रचित बृहत्कथा मूलरूप

---

१. देखो प्रतिज्ञा ., परिशिष्ट : वही, पृ० १२–२५,

२. देखिये, स्वप्न० भूमिका : सं० देवधर, तथा भासनाटकचक्रम्: भूमिका पृ० १, सं० ड्रामा: कीथ, पृ० १०२–३, सं० क० दर्शन: व्यास, पृ० २३४ तथा सम प्राब्लम्स ऑफ इंडियन लिट्०, पृ० ११३ आदि ।

में उपलब्ध नहीं है, तब भी बृहत्कथा के प्राप्त सभी संस्करणों तथा वाचनाओं के पूर्वापर पर्यालोचन द्वारा भी बृहत्कथा को उपजीव्य मानने की धारणा निःसार सिद्ध होती है। बृहत्कथा के समस्त संस्करणों में कथा सरित्सागर ही मूलरूप के अधिक निकट माना जाता है, जैसा कि स्वयं सोमदेव ने लिखा है– "यथामूलं तथैवेतन्नमनागप्यतिक्रमः।[1]" अतः कथा० की उदयनकथा तथा भास की उदयन-कथा का तुलनात्मक दृष्टि से पर्यवेक्षण करें तो दोनों में अधांकित पर्याप्त अन्तर पाते हैं।

(१) कथा-सरित्सागर में चंडमहासेन वासवदत्ता के विवाह की इच्छा से उदयन को वीणा सिखाने आने के लिए स्नेहपूर्ण सन्देश भेजता है किन्तु उदयन वासवदत्ता को चाहते हुए भी अवहेलनात्मक प्रतिसन्देश देता है तथा वासवदत्ता को स्वीकार करने एवं प्रद्योत की मित्रता से संबंधित मन्त्रियों के परामर्श को भी नहीं मानता।[2] ऐसा प्रतिज्ञायौगन्धरायण में निर्देश नहीं है, बल्कि वहाँ तो भगवती यक्षिणी के दर्शन को जाती हुई वासवदत्ता के प्रति उदयन की नेत्रप्रीति प्रदर्शित की गयी है।

(२) कथा सरित्सागर में उदयन बंदी होने पर यौगन्धरायण के लिए कोई भी व्यक्तिगत सन्देश नहीं भेजता और न यहाँ यौगन्धरायण की प्रतिज्ञा का ही उल्लेख है। जैसा कि भास के प्रतिज्ञा० में है।

(३) कथा सरित्सागर में यौगन्धरायण पड़ोसी उग्र-कर्मा महासेन को विशेष महत्त्व देता है अतएव बारंबार उदयन से उसके साथ मैत्री करने का आग्रह करता है,[3] भास की रचना में ऐसा नहीं है।

(४) कथा सरित्सागर में यौगन्धरायण को एक जादूगर जैसा चित्रित किया है, जो सिद्धियों का प्रयोग करता है, अदृश्य हो जाता है[4] आदि। जबकि भास ने एक कूटनीतिज्ञ मंत्री के समान स्वाभाविक चित्रण किया है।

(५) कथा सरित्सागर में वासवदत्ता की सहमति से अपहरण की योजना बनती[5] तथा उसकी सखी कांचनमाला का भी उसके साथ अपहरण किया जाता है,[6] पर ऐसा कोई निर्देश भास ने नहीं दिया है।

---

१. कथा० १।१।१०,
२. कथा० २।३।७ १७-३०, ७८-८२, तथा २।४।२-५,
३. वही २।३।८१-८२,
४. वही २।४।४७-७७,
५. कथा० २।५।१३-१५,
६. कथा० २।५।२२,

(६) कथा सरित्सागर में वत्सराज की मुक्ति के पश्चात् यौगन्धरायण कौशाम्बी उसके साथ साथ जाता है,[१] जब कि भास के नाटक में वत्सराजको छुड़ाने जाता है, तथा स्वयं बंदी हो जाता है।

(७) कथा सरित्सागर के अनुसार यौगन्धरायण को ही यह चिन्ता होती है कि इस पांडववंशी वत्सेश ने कुलक्रमागत सारी पृथ्वी को अविजित ही छोड दिया है। और यह स्त्री, मद्य तथा मृगया में आसक्त रहता है। सारे राज्य का भार हम पर छोड़ दिया है। अतः हमें ही इसके लिए समस्त पृथ्वी के राज्य-प्राप्ति का यत्न करना चाहिए।[२] किन्तु, वह क्योंकि पड़ौसी मगधेश्वर प्रद्योत को राज्यवृद्धि में बाधक समझते हैं,[३] अतएव उससे कन्या रत्न की याचना करते हैं,[४] परन्तु वासवदत्ता में अधिकतर अनुरक्त रहने से प्रद्योत अपनी पुत्री पद्मावती को उदयन को देने से अनिच्छा व्यक्त कर चुका है,[५] अतः यौगन्धरायण वासवदत्ता को छिपाने के लिए लावाणक-दाह में जलने का षडयंत्र रचता है[६]। लावाणकदाह के इस कूटनीतिक प्रयोग के आयोजन का महत्त्व अत्यधिक है, क्योंकि इस षड़यत्र के फलस्वरूप उदयन-पद्मावती के विवाह होने पर इससे प्रद्योत के प्रतिरोध की बाधा भी मिट जाती है तथा उससे सहायता प्राप्त करने में भी सफल हो जाते हैं[७]। इसी प्रयोग के सम्बन्ध में वह गोपालक से परामर्श करता है, तत्पश्चात् ही उसे कार्यान्वित करता है,[८] किन्तु स्वप्न० नाटक में ऐसा नहीं है।

भास की उदयन कथा के अनुसार राज्यवृद्धि या अखिल पृथ्वी पर राज्य करने की इच्छा[९] से लावाणकदाह का षडयंत्र नहीं करते, अपितु आरुणि द्वारा अपहृत वत्सराजय को प्राप्त करने की दृष्टि से पद्मावती से सम्बन्ध स्थापित करके मगध से सहायता प्राप्त करते हैं। उसमें गोपाल-परामर्श का भी उल्लेख नहीं है। भास की कथा में उदयन का, विशेष रूप से पद्मावती को ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए

१. कथा० २।५।४१,
२. कथा० ३।२।४।६,
३. वही, ३।१।१६,
४. वही, ३।१।२०,
५. वही, ३।१।२२–२३,
६. वही, ३।१।२१–२४,
७. वही, ३।१।२४, २५, २६,
८. वही, ३ १।१०४–११७,
९. साधयामोऽखिलं भुवम्, समग्रपृथ्वीराज्यम्,"

तेना मगधराज के मन से दो पत्नियों की आशंका को दूर करने के लिए ही लावाणक-दाह का षडयंत्र किया जाता है।

(८) इसके अतिरिक्त कथा सरित्सागर में (ज्ञात) इतिहास के विरुद्ध प्रद्योत को मगधेश्वर कहकर पद्मावती को प्रद्योत-पुत्री बतलाया है, जबकि भास की कथा में इतिहास के अनुकूल मगधेश्वर दर्शक का उल्लेख कर उसकी बहिन पद्मावती को बतलाया गया है[1]।

(९) कथा सरित्सागर में लावाणकदाह की योजना को सफल करने के लिए वासवदत्ता को ब्राह्मण पुत्री, वसन्तक को काणबटुक एवं यौगन्धरायण को स्थावर ब्राह्मण के रूप में चित्रित किया गया है[2]। इसके अतिरिक्त कथा० के अनुसार वासवदत्ता तथा यौगन्धरायण मगध में वसन्तक के साथ साथ मगध में जाते हैं,[3] जबकि भास की कथा में वसन्तक नहीं जाता। कथा० में काणबटु को वासवदत्ता का भाई बतलाकर रखा जाता है।[4] जबकि स्वप्न० में वह राजा के पास ही रह जाता है। कथा० में वासवदत्ता को एक पुत्री के रूप में यौगन्धरायण मगध रखता है।[5] जबकि भास के स्वप्न० में यौगन्धरायण की बहिन के रूप में। कथा० में यौगन्धरायण वासवदत्ता को लेकर मगधराज के नगर में जाता है, तथा पद्मावती को उद्यान में देखता है,[6] जबकि स्वप्न० में तपोवन में।

(१०) कथा सरित्सागर में जब राजा आखेट से आकर वासवदत्ता के दाह के वृत्तान्त को सुनकर मूर्छित हो जाता है, पर जब पुनः लब्धसंज्ञ होता है तब उसे पूर्वोक्त नारद के वचन याद आते हैं कि तुम कामदेव के अंशभूत विद्याधराधिप चक्रवर्ती पुत्र को प्राप्त करोगे।[7] तथा कुछ समय तुम्हें दुःख भी भोगना होगा। इन वचनों को सत्य मानकर तथा यौगन्धरायण एवं गोपालक आदि को दु.खशोक रहित देखकर वह भी वासवदत्ता को जीवित ही समझता है।[8] तथा ग्रामदाह को केवल मंत्रियों का नीति-प्रयोग ही मानता है, जबकि भास के नाटक में ऐसा नहीं है।

---

१. कथा० ३।१।१९–२३, तथा हमारा ऐतिहासिक विवेचन, इसी प्रबन्ध में।
२. कथा० ३।२।१०–१२,
३. वही, ३।२।१६,
४. वही, ३।२।२३,
५. वही, ३।२।२१,
६. वही, ३।२।१४,
७. वही, ३।२।५०–५२,
८. वही, ३।२।५३–५५,

(११) कथा सरित्सागर में ग्रामदाह के प्रसंग में वसन्तक के साथ वासवदत्ता की मृत्यु का प्रवाद फैलाया गया है।[१] तथा यौगन्धरायण राजा के पास ही पहुँच जाता है, जबकि भास के नाटक में यौगन्धरायण के साथ ही देवी की मृत्यु का उल्लेख है।

(१२) कथा सरित्सागर में पद्मावती से विवाह हो जाने पर यौगन्धरायण मंत्रभेद के खुलने के भय से शीघ्र ही उदयन को विदा कराने का आग्रह मगधेश्वर से करता है।[२] तथा विदा कराने पर, साथ में सेना के पीछे-पीछे गुप्त रूप से वासवदत्ता तथा वसन्तक को भी ले आता है और उसे गोपालक के घर रखता है।[३] जबकि भास के कथानक में उदयन बहुत समय तक पद्मावती के साथ-साथ मगध में ही रहता है।

(१३) कथा सरित्सागर में वासवदत्ता तथा राजा के मिलन की कथा अन्य रूप में वर्णित है। राजा जब पद्मावती के मालातिलक को देखकर पूछता है कि ये किसने किये, तभी पद्मावती अवन्तिका के सम्बन्ध में बतलाती है। इसके पश्चात् राजा गोपालक के घर में वासवदत्ता, वसन्तक तथा दोनों मंत्रियों को देखता है; जबकि भास के नाटक में चित्र-दर्शन द्वारा बड़े ही मार्मिक ढंग से मिलन कराया गया है।

(१४) कथा सरित्सागर में यौगन्धरायण वासवदत्ता की शुद्धता प्रदर्शित करने के लिए अग्नि में प्रवेश करता है,[४] जबकि स्वप्न० में स्वयं पद्मावती ही इसका साक्ष्य बनती है।

(१५) कथा सरित्सागर में उदयन को शतानीक का नप्ता, 'सहस्रानीक-पुत्र' लिखा है।[५] जो कि भास के सर्वथा विपरीत है।

इसी प्रकार और भी अनेक अन्तर हैं किन्तु स्थानाभाव होने से यहाँ संक्षेप में कुछ ही स्थूल विभिन्नताओं की ओर संकेत किया है। इसके अतिरिक्त दोनों कथाओं के परिशीलन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अपेक्षाकृत भास की कथावस्तु ही अधिक यथार्थ, स्वाभाविक, तथ्यपूर्ण एवं मूलकथा के निकट भी है। अतः डा० भण्डारकर का कथन ठीक है कि उदयन सम्बन्धी सामग्री कथा सरित्सागर में प्रचुर है, पर

---

१. वही, ३।२।४८,
२. कथा०, ३।२।८७—८८,
३. वही, ३।२।९१—९४,
४. वही, ३।२।११२—१२०,
५. वही, २।१।११—२८,

अधिकांश अविश्वसनीय है[1] जहाँ तक भास की कथावस्तु के आधार का प्रश्न है, वह (बृहत्कथा०)कथा० को नहीं माना जा सकता। सामान्यतः बृहत्कथा को आधार मानने की मान्यता उनकी है जो भास को ई० की दूसरी सदी में मानते हैं। किन्तु जबकि हमारे अनुसार भास का समय ई०पू० के बहुत-पूर्व निश्चित हो चुका है, तो बाद की कृति बृहत्कथा को भास का आधार कैसे माना जा सकता है। वास्तव में भास का आधार बृहत्कथा आदि नहीं, अपितु तत्कालीन लोक कथा ही रही होगी, और वहीं से बृहत्कथाकार ने भी संभवतः कथासंग्रह किया है।

अन्त में उपर्युक्त समीक्षण तथा ऐतिहासिक परीक्षण के आधार पर निःसंदिग्ध रूप से कह सकते हैं कि भास उदयन-कथा के इतने निकट हैं कि मानो उन्होंने यह घटना अपनी आँखों से देखी हो या तत्कालीन अभिज्ञ द्रष्टाओं से तभी-तभी सुनी हो। भास ने उदयन के समय से प्रचलित लोकप्रियता के कारण ही इस प्रणयकथा को अपने नाटकों के लिए चुना। संभवतः इसी प्रकार बृहत्कथाकार ने भी चुना होगा। अतः बृहत्कथा जो कि ई० की प्रथम सदी में लिखी गयी, किसी भी प्रकार से भास की कथा का स्रोत नहीं हो सकती। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में सर्वप्रथम भास ने ही उदयन की ऐतिहासिक कथा को लोक-कथा से संग्रह करके तथा नाटकीयरूप देकर अपनी उर्वरकल्पना का परिचय दिया है, तथा सर्वाधिक रूप से सर्वाधिक सफल हुए हैं। अतः लोक से उदयन-कथा को चुनकर नाटक के रूप में प्रस्तुत करना भास का अपना व्यक्तिगत प्रयोग है।[2]

भास की उदयन-कथा की ऐतिहासिकता

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि भास ने उदयन-कथा को लोक-प्रचलित प्रख्यात वस्तु के रूप में चयन करके नाटकों में प्रयोग किया है। किन्तु क्योंकि भास एक

---

१. कालमाइल लेक्चर, पृ० ५८,

२. कुछ विद्वान यह कह सकते हैं कि बृ०क० या कथा० की वस्तु में अन्तर होना तो नाटककार की मौलिकता मात्र है। अतः अन्तर के आधार पर उसे स्रोत न मानना गलत है। किन्तु यह सम्भावना पूर्णतः भ्रामक है। यद्यपि नाटककार को कथा के परिवर्तन तथा परिवर्धन का अधिकार है पर तथ्यों को तोड़-मोड़ कर मनमाने रूप में प्रस्तुत करने का तथा इतिहास को भ्रष्ट करने का अधिकार नहीं है। यदि बृ०कथा भास का आधार होती तो स्पष्टतः भास में भी बृ०कथा के समान ही ऐतिहासिक त्रुटियाँ होनी चाहिएँ थी। तथा बृ०कथा को इतिहास के निकट होना चाहिए था। जबकि भास की कथा इतिहाससम्मत,यथार्थ तथा स्वाभाविक अधिक है। अतः निश्चित रूप से यह प्राचीन तथा मौलिक है।

नाटककार के रूप में अपनी कृति प्रस्तुत करने जा रहे थे। अतः स्वाभाविक है कि उन्होंने कथाविन्यास में कलाकारोचित कल्पना का भी समुचित प्रयोग किया होगा। भास ने अपने ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक कथावस्तु का किस रूप में प्रयोग किया है। ऐतिहासिकता का कहाँ तक निर्वाह किया है, तथा कल्पना द्वारा कहाँ-कहाँ किस रूप में नवीन उद्भावनाएँ की हैं, आदि प्रश्नों को लेकर अन्त: बाह्य साक्ष्य के आधार पर भास के ऐतिहासिक नाटकों की कथावस्तु का विवेचन ही हमें यहाँ अभीष्ट है।

(१) उदयन का ऐतिहासिक व्यक्तित्व

वत्सराज उदयन बौद्धकालीन इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक व्यक्ति था, जिसने अपने विवाह सम्बन्धों तथा साहसिक-विजयों द्वारा अत्यधिक लोकप्रियता अर्जित की थी। इस लोकप्रियता के कारण ही प्राचीनकाल से उदयन-कथा ने लोक-कथा का रूप ले लिया तथा इसमें कल्पना का भी स्वच्छन्द प्रयोग हुआ। यही कारण है कि उदयन के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं जिनसे उदयन का व्यक्तिगत परिचय तथा जीवन-चरित्र धूमिल तथा भ्रष्ट-सा प्रतीत होता है। यही नहीं, अपितु यहाँ तक कि उदयन को भी लोककथाओं का काल्पनिक पात्र तथा उसके चरित्र को कल्पित चरित्र-सा माना जाता रहा है। वास्तविकता यही है कि उदयन के सम्बन्ध में यद्यपि ऐतिहासिक तथा पुरातत्व-साक्ष्यों का अभाव अवश्य है, तथापि प्रचुर साहित्य सामग्री तथा साहित्यिक अनुश्रुतियों के आधार पर उदयन का व्यक्तित्व निःसन्देह ऐतिहासिक है।

किन्तु उदयन का व्यक्तित्व विशुद्ध ऐतिहासिक होने पर भी किंवदन्तियों का-सा प्रतीत होता है।[1] इसके वंश, पिता आदि के सम्बन्ध में भी विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं। भास ने उदयन को सहस्रानीक का नप्ता, शतानीक का पुत्र[2] तथा वैदेहिपुत्र[3] लिखा है। इतिहासकार भी यही मानते हैं कि उदयन का पितामह सहस्रानीक, पिता शतानीक तथा माता कोई वैदेही या विदेह-राज्य की रही होगी।[4] बौद्ध-ग्रन्थों में उदयन को "उदेन" लिखा है तथा उसका परंतप-पुत्र के रूप में उल्लेख किया है। कुछ इतिहासकारों ने बौद्ध-साक्ष्यों के आधार पर प्रायः उसे परंतप-पुत्र

---

१. पॉलिटीकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, पृ० २०३,

२. "उदयन—शतानीकपुत्रः—सहस्रानीकनप्ता," प्रतिज्ञा० २।८–९,

३. कांचुकीयः—सदृशमेतद् वैदेहिपुत्रस्य। स्वप्न वासवदत्ता, ६।६–७,

४. देखो, पॉलिटीकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, राय चौधरी, पृ०१३२,

माना है ।[1] किन्तु "परंतप" ही वास्तव में उदयन का पिता था, इसमें हमें सन्देह है । अनुमानतः परंतप नामकरण उसकी कुछ विशेषताओं के कारण हुआ होगा । अतः यह प्रसिद्धि के अनुसार "उपाधि" ही प्रतीत होती है ।[2] बौद्ध साहित्य में भी उदयन को परंतप का औरस-पुत्र नहीं कहा है, अपितु किसी ऋषिकुमार का पुत्र कहा है । अतः बौद्ध-साक्ष्य के अनुसार भास के उल्लेख को त्रुटिपूर्ण नहीं माना जा सकता ।

विष्णुपुराण के अनुसार "उदयन" अपर शतानीक का ही पुत्र था ।[3] मंजुश्री-मूलकल्प, प्रबन्धकोश तथा ललितविस्तर के अनुसार भी वह शतानीक-पुत्र ही प्रमाणित होता है ।[4] किन्तु कथासरित्सागर[5] तथा बृहत्कथा-मंजरी[6] में उदयन को सहस्रानीक-पुत्र तथा शतानीक-पौत्र कहा है । इन ग्रन्थों के अनुसार सहस्त्रानीक द्वारा अयोध्या के राजा कृतवर्मा की कन्या मृगावती से उदयन उत्पन्न हुआ । उपर्युक्त ग्रन्थों में परस्पर जो विपरीत उल्लेख हुआ है, उसका कारण लेखकों की भ्रान्ति रही है । उपर्युक्त ग्रन्थों के भ्रान्तिपूर्ण उल्लेख उन्हीं ग्रन्थों के अन्तः साक्ष्य से स्पष्ट हो जाते हैं । कथा० [7] से यह स्पष्ट है कि सहस्रानीक पत्नी सहित हिमगिरि को चला गया था तब उदयन की माता ही घर पर रह गयी थी । उदयन के बाल्यकाल में ही शतानीक की मृत्यु हो गयी थी । भास के उल्लेख से स्पष्ट है कि उदयन की माँ तो थी पर पिता न था ।[8] यह भी स्पष्ट है कि तब उदयन की किशोरावस्था थी ।[9] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि शतानीक की मृत्यु बहुत शीघ्र, सहस्रानीक के सामने ही हो गयी थी । अतः भ्रमवश सहस्त्रानीक को ही पिता तथा इसका सम्बन्ध नाम्ना साम्य होने के कारण प्रथम शतानीक से जोड़ कर उसे पितामह कह दिया गया है । इस भ्रमपूर्ण उल्लेख का पता इससे भी चलता है कि जबकि कथा० में शतानीक

---

१. हिन्दूसभ्यताः मुकर्जी, पृ०१८०, केम्ब्रिजहिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया वाल्यूम १, पृ०१९६ आदि ।
२. बुद्धिस्ट इंडिया : राइज डेविड्ज, पृ०३,
३. ततोऽपरश्शतानीकस्तस्माच्चोदयनः विष्णुपुराण, ४।२१।१४।१५,
४. देखिये, पं० भगवद्दत्त का भारतवर्ष का वृहद् इतिहास, पृ०२४८—४६,
५. कथा० २।१।६,७,११,२८,
६. वृह० क० मं० २।१।६—१८,
७. कथा० २। ।१७,
८. प्रतिज्ञा०१।१५—१६,
९. स्वप्न० २।१०—११,

को जनमेजय-पुत्र तथा तथा परीक्षित-पौत्र कहा है।[१] पर विष्णुपुराण में स्पष्टतः शतानीक को जनमेजय का पुत्र तो कहा है[२] किन्तु उदयन के पिता का पूर्वोक्त शतानीक के बीस उत्तराधिकारियों के अनन्तर "अपरशतानीक" के नाम से उल्लेख है जिससे वह पैदा हुआ।[3] अतः कथा सरित्सागर का उल्लेख भ्रामक है।

बौद्ध ग्रन्थों में परंतप-पुत्र का उल्लेख सम्भवतः उपाधि के रूप में हुआ है। हमारा अनुमान है कि महासेन के समान ही सहस्रानीक के आधार पर उदयन के पिता का शतानीक नामकरण किया गया है, तथा चण्डप्रद्योत के साहश्य के समान ही परंतप नामकरण हुआ है। किन्तु उदयन के पिता "शतानीक" का जैन, बौद्ध, ब्राह्मण आदि सभी में साक्ष्य उपलब्ध है। अतः प्रतीत होता है कि उदयन वस्तुतः शतानीक (परंतप) का पुत्र था। इतिहासकारों ने भी उदयन को जनमेजय की परम्परा में उत्पन्न शतानीक का पुत्र माना है।[४] इसलिए भास का उल्लेख इतिहास के निकट है।

किन्तु "शतानीक" नामक दो व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त है, और प्रथम शतानीक-पुत्र मानने से क्रम परम्परा में त्रुटि होती है। अतः हमने उदयन को अपर-शतानीक का पुत्र माना है। किन्तु अपर-शतानीक-पुत्र मानने पर भास के वैदेहीपुत्र के उल्लेख में सन्देह उत्पन्न होता है। कथा०[५] तथा बृहत्कथामंजरी[६] में शतानीक की पत्नी मृगावती का उल्लेख है। इनके अनुसार वह अयोध्या नरेश कृतवर्मा की पुत्री थी। प्रबन्धकोश के अनुसार शतानीक-पत्नी मृगावती चेटकराज की कन्या थी।[७] इससे इसे इतना स्पष्ट है कि शतानीक की पत्नी मृगावती थी और उदयन मृगावती का पुत्र था। किन्तु इससे वह वैदेही-पुत्र प्रमाणित नहीं होता है। इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि प्रबन्धकोश द्वारा निर्दिष्ट चेटकराज जैन-साक्ष्य के आधार पर वैशाली का राजा था,[८] और वैशाली विदेहों में परि-गणित होती है, अतएव उसे वैदेही-पुत्र कहा है। डा० राय चौधरी ने भी उदयन

---

१. कथा० २।१।६,
२. जनमेजयस्यापि शतानीको, ४।२१।३,
३. विष्णु० ४।२१।१४, १५,
४. दि वैदिक एज, वाल्यू १, पृ० ३२०—२१,
५. कथा० २।१।२७—२६, ४२, ६७,
६. बृहत्कथा मंजरी, २।१।२८,
७. प्रबन्धकोश, १६वां परिच्छेद, पृ०८६,
८. देखिये, ना० प्र० प० भाग ११, अंक १, पृ० ८६,

को सहस्रानीक-पौत्र तथा परंतप नाम से प्रसिद्ध शतानीक द्वितीय का वैदेहिपुत्र माना है।[१] अतः भास का उल्लेख इतिहास सम्मत प्रमाणित होता है।

कुछ इतिहासकार सहस्रानीक का सम्बन्ध पुराणों में उल्लिखित "वसुदान" से भी जोड़ते हैं[२] सम्भव है वसुदान ही हजारों सेनाओं के कारण सहस्रानीक कहलाया हो। किन्तु सहस्रानीक की अनुरूपता पर शतानीक नाम ही अधिक प्रामाणिक ज्ञात होता है। आधुनिक इतिहासकार अधिकांश में शतानीक तथा परंतप दोनों को ही एक मानने लगे हैं।[३] किन्तु भास के उल्लेख से यह निश्चित होता है कि सर्वप्रथम भास के समय में वह शतानीक के नाम से ही प्रख्यात रहा होगा, अतः इसे ही ऐतिहासिक नाम मानना अधिक संगत है।

भास ने उदयन को कई स्थानों पर "भारत" अर्थात् भरतवंशी कहा है।[४] भरत-वंश में पैदा होने से इसे कुलीनता का स्वाभिमान भी था। अतएव यह राजर्षि भी कहलाता था। किन्तु बौद्ध साहित्य के अनुसार परंतप का क्षेत्रज-पुत्र होने से इसकी कुलीनता ही प्रकट नहीं होती। अतः बौद्ध उल्लेख विश्वसनीय नहीं। पुराणों में इसे पौरव-राजवंशी तथा भरतवंशी दोनों कहा है। कथा० में पांडववंशी कहा है।[५] मत्स्यपुराण में लिखा है कि भरतवंश के अन्त में वत्सराज होगा।[६] पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार चन्द्रवंशी पुरु की परम्परा में भरत के होने के पश्चात् पौरववंश "भारतवंश" कहलाने लगा।[७] अतः स्पष्ट है कि उदयन पौरववंशी एवं भरतवंशी था। राय-चौधरी ने भी यही स्वीकार किया है। स्पष्टतः भास का यह उल्लेख भी इतिहास सम्मत है।

उदयन के काल-निर्णय तथा राज्य-काल पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है तथा सामान्यतः ईस्वी पूर्व षष्ठ शतक के उत्तरार्ध से ई० पू० पंचम के पूर्वार्द्ध के

---

१. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, राय चौधरी, पृ० १३२,
२. देखिये, वही, पृ० १३२ तथा भा०वृ०इति० भगवद्दत्त, पृ०२४६,
३. देखिये, वैदिक एज, पृ०३२० तथा पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया पृ०१३२,
४. स्वप्न० ६।१६, प्रतिज्ञा० १।१०–११, तथा ४।१७,
५. कथा० २।१।६,
६. "ततो भरतवंशान्ते भूत्वावत्सनृपात्मजः" मत्स्य० ४, १६
७. भा०प्रा०इति० सत्यकेतु, पृ०१०६,

बीच में ही इतिहासकारों ने पृथक्–पृथक् मान्यताएँ दी हैं।[1] किन्तु जबकि बौद्धों के अनुसार अजातशत्रु का सिंहासनारोहण बुद्ध के निर्वाण के आठवें वर्ष में हुआ और बुद्ध का निर्वाणकाल प्राय: चीन के कैन्टन नगर के बिन्दुचिह्नित अभिलेख को प्रामाणिक मानकर ४८६ ईस्वी पूर्व में माना जाता है, तो अजातशत्रु का समय ४९४ ईस्वी पूर्व में ठहरता है और दर्शक ४६९ ईस्वी पूर्व । उदयन इन दोनों के समय में थे, वह अजातशत्रु से छोटे तथा दर्शक से बड़े थे। अत: हम उनका समय ईस्वी पूर्व पंचम का मध्य मान सकते हैं। निष्कर्षत: उदयन के समय के सम्बन्ध में थोड़ा बहुत मतभेद भले ही हो, किन्तु उसके ऐतिहासिक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में किसी भी इतिहासकार को सन्देह नहीं है।

उदयन के विवाह से सम्बन्धित अनेक प्रणय और युद्ध की आश्चर्यपूर्ण अनुश्रुतियाँ भारतीय वाङ्मय में इतस्ततः फैली हुई हैं।[2] उदयन ने अनेक वैवाहिक सन्धियाँ की थीं। इन्हीं वैवाहिक सन्धियों के कारण ही वत्सराज्य का इतिहास में महत्त्व है।[3] उदयन की लोकप्रियता तथा उपजीव्यता भी इन्हीं वैवाहिक प्रणय-घटनाओं पर आधारित हैं। भास ने भी अपने नाटकों की रचना इन्हीं घटनाओं को आधार बनाकर की है। वैसे तो उदयन की अनेक पत्नियों का उल्लेख है।[4] जिनके सम्बन्ध में अभी निश्चित धारणा नहीं है कि वे समस्त उदयन की पत्नियाँ ही थी, तथापि इतना निश्चित है कि उदयन के कई पत्नियाँ थीं। भास ने प्रतिज्ञा० में वासवदत्ता एवं स्वप्न० में पद्मावती के विवाह का उल्लेख किया है। हर्ष ने प्रिय--दर्शिका में अंग-नरेश दृढ़-वर्मन् की पुत्री से, तथा रत्नावली में सागरिका से प्रेम-परिणय का उल्लेख किया है। जैन, बौद्ध साहित्य में वासुलदत्ता, सामवती (जिसे

---

१. सर्वप्रथम डा० प्रधान ने उदयन के कालपर ऐतिहासिक प्रकाश डालते हुए उनका राज्यकाल ५०० ई० पू० ४९० ई० पू० माना है, किन्तु डा० एन० एन० घोष ने प्रधान के काल निर्णय के प्रति असन्तोष व्यक्त करते हुए, विशेषतः पाली तथा बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर उदयन का जन्म ई० पू० ५६३, राज्यारोहण ई० पू० ५४४ स्वीकार किया है। देखिये–प्रोसीडिंग्स ऑफ दी एट्थ ओरियन्टल कान्फ्रेन्स, मैसूर, १९३५ पृ०४८७,

२. देखिए–प्रा०भा०इति० त्रिपाठी, पृ०६०–६१, भा०प्रा०इति० सत्यकेतु, पृ० २३२ तथा वामनगोपाल ऊर्ध्वरेखे द्वारा संपादित प्रतिज्ञायौगन्धरायण १९३८, परिशिष्ट ए. बी. सी. डी.,

३. एन्शन्ट इंडिया, मुकर्जी, पृ०९८,

४. देखो, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, राय चौधरी, पृ०२०३,

दिव्यावदान के माकन्दिकावदान में अनुपमा कहा है) और मागन्धिया नाम की तीन पत्नियों का उल्लेख किया है ।[1] वासवदत्ता को ही बौद्ध जैन ग्रन्थों में वासुलदत्ता कहा है । सम्भवतः भास की पद्मावती का जैन बौद्ध ग्रन्थों में सामवती के रूप में उल्लेख किया है । अनेक विद्वान् भी ऐसा ही मानते हैं । अतः भास की दोनों रानियाँ ऐतिहासिक पात्र हैं । इन दोनों रानियों के विवाह की घटना के आधार पर ही दोनों नाटकों की रचना की गई है ।

(२) पात्रों की ऐतिहासिकता

प्रतिज्ञा० तथा स्वप्न० वासवदत्ता तथा पद्मावती के विवाह-घटनाओं को लेकर रचित नाटक होने पर भी इनमें तत्कालीन कुछ प्रमुख ऐतिहासिक पात्रों का तथा घटनाओं का प्रयोग हुआ है । इन नाटकों में उस समय की राजनीति तथा शासन-व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत हुआ है । यहाँ महामात्य यौगन्धरायण, रूमण्वान् नामक दो प्रमुख पात्रों का प्रयोग है, दोनों ही ऐतिहासिक हैं । कथा० आदि में दोनों का प्रयोग हुआ है । यौगन्धरायण को "युगन्धर' का पुत्र बतलाया है[2] तथा रूमण्वान् को सुप्रतीक का पुत्र कहा है ।[3] किन्तु भास ने रूमण्वान् को एक मंत्री के रूप में चित्रित किया है जबकि कथा० में उसे सेनापति के रूप में निर्दिष्ट किया है ।[4] किन्तु भास के सन्दर्भ से भी अप्रत्यक्षतः रूमण्वान् सेनापति ही ज्ञात होता है । स्वप्न० में आरुणि पर आक्रमण के समय रूमण्वान् ही सेनापतित्व करता चित्रित किया है ।[5] इसी प्रकार एक अन्य पात्र हंसक को प्रतिज्ञा० में दूत या चर के रूप में प्रयोग किया है जबकि वीणा-वासवदत्ता में उसे उदयन का उपाध्याय बतलाया है ।[6] यद्यपि प्राचीन-काल में उपाध्याय भी दूत होते थे, परन्तु जिस रूप में हंसक दौत्य करता है उससे उसका उपाध्यायत्व स्पष्ट नहीं होता । निश्चित रूप रूप से इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता, तब भी यह नाम्ना ऐतिहासिक अवश्य प्रतीत होता है । इसी प्रकार अन्य साधारण पात्रों की भास ने कल्पना अवश्य की है, पर प्रमुख पात्र ऐतिहासिक ही है ।

---

१. मिलिन्द पह्नों में एक और कृषककुमारी का उल्लेख है—देखो रायचौधरी की पॉलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शन्ट इंडिया, पृ०२०३,

२. कथा० २।१।४३,

३. वही २।१।४४,

४. वही० ३।१।४,

५. स्वप्न०वा० ५।१२,

६. वीणावासवदत्ता, पृ० ४४,

(३) प्रतिज्ञा योगन्धरायण के कथानक की ऐतिहासिकता

वासवदत्ता की वैवाहिक घटना प्रतिज्ञा० की मुख्य कथा है। वत्सराज के पूर्व में मगध तथा पश्चिम में अवन्ति-राज्य थे। तीनों राज्यों की सीमाएँ आपस में मिली होने से परस्पर सन्धि-विग्रह होते रहते थे। मगध तथा अवन्ति-राज्य अपेक्षाकृत प्रबल थे, तथा वत्सराज पर अपनी कुदृष्टि लगाए रहते थे। नाटक के अनुसार उदयन, अपनी कुलीनता, कलाप्रियता तथा वीरता आदि के कारण बड़ा प्रसिद्ध तथा स्वाभिमानी था।[1] प्रद्योत उसके यश तथा प्रशंसा से ईर्ष्या करता था।[2] प्रद्योत नाटक में स्पष्ट कहता है कि तृण समूह में फैंकी हुई आग के समान सारी पृथ्वी को जलाता हुआ मेरा शासन इसके देश में नहीं चलता।[3] इतिहासकार भी यही मानते हैं कि उदयन तथा प्रद्योत दोनों परस्पर कट्टर प्रतिस्पर्धी थे।[4] प्रद्योत जितना महत्त्वाकांक्षी था उदयन उतना ही स्वाभिमानी। अनुमानतः अपनी कुलीनता आदि विशेषताओं के कारण अपनी ओर से उदयन ने पड़ोसी अवन्तिराज प्रद्योत से कोई सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास नहीं किया था।[5] सम्भवतः राज्य पर बैठते समय उदयन निरा युवक ही था।[6] अतएव उसने प्रद्योत के सम्बन्ध का उतना महत्त्व न समझा।

किन्तु प्रद्योत जिसका भास ने महासेन के रूप में उल्लेख किया है, बौद्ध तथा पौराणिक साहित्य में बड़े ही क्रूर तथा महत्त्वाकांक्षी रूप में चित्रित है। पाली ग्रन्थों में इसे "चण्डपज्जोति" कहा है।[7] विद्वानों के अनुसार इसने अपने प्रताप के कारण ही चंड उपाधि धारण की थी।[8] भास ने इसको प्रद्योत के अतिरिक्त प्रायः महासेन शब्द ही प्रयोग किया है। इन दोनों शब्दों से इसका प्रचंड पराक्रम तथा सेना की विशालता प्रकट होती है। अपने समय में यह इतना प्रबल पराक्रमी था कि मगध जैसा राज्य भी इससे डरता था। प्रद्योत की पत्नी शृंगारवती थी।[9] कथा०

---

१. प्रतिज्ञा० २।३,
२. वही, २।६–१३,
३. वही० २।११,
४. देखो–दि एज् ऑफ इम्पीरियल यूनिटी : वी.सी.ला. पृ० ६,
५. प्रतिज्ञा० २।११–१२,
६. वही०
७. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, : रायचौधरी, पृ० २०४,
८. एन्शन्ट इंडिया, मुकर्जी, पृ० ९८,
९. प्रतिज्ञा० ४ २३–२४,

में इसका उल्लेख है ।[1] इसकी पुत्री वासवदत्ता के अतिरिक्त गोपाल तथा पालक नाम के दो पुत्रों का भी भास ने उल्लेख किया है ।[2] नाटक के अनुसार प्रद्योत उदयन के गुणों पर मुग्ध था, अतः वह उसे वासवदत्ता के प्रार्थी के रूप में देखना चाहता था,[3] किन्तु उदयन अत्यधिक स्वाभिमानी तथा वीरमानी था । अतएव उसने शिक्षक बनने के प्रद्योत के सन्देश की अवहेलना करदी थी ।[4] कथा० के अनुसार भी इस तथ्य की पुष्टि होती है ।[5] प्रद्योत के ही शब्दों में उदयन उसे कुछ नहीं गिनता था ।[6] सम्भवतः उदयन के नीतिनिपुण मंत्रिमण्डल के सामने उसकी एक न चलती थी, इसीलिए उसने उसे बन्दी बनाने के लिए छल का आश्रय लिया । नाटक से जान पड़ता है कि छल प्रयोग में उसे मंत्रियों का पूर्ण सहयोग प्राप्त था,[7] किन्तु महासेन होते हुए भी सम्भवतः सेना के सहयोग से वंचित था,[8] अतएव उसने उदयन पर सीधा आक्रमण न करके छल का आश्रय लिया । उदेनवत्थु धम्मपद अट्टकथा आदि से भी इस छल प्रयोग का पता चलता है ।[9] कौमुदी महोत्सव,[10] वीणावासवदत्ता[11] तथा हर्षचरित[12] आदि से भी नागवन की यात्रा एवं उदयन के बन्दी होने की पुष्टि होती है । दशरूपक[13] आदि अलंकार ग्रन्थों में भी इस वृत्तान्त का उल्लेख हुआ है । यहाँ तक कि कौटिल्य ने भी उदयन की इस यात्रा का निर्देश किया है ।[14] अतः उदयन के बंदी बनाने की समस्त घटना ऐतिहासिक प्रतीत होती है । इस ऐतिहासिक घटना को भास ने जिस रूप में विन्यस्त किया है । यद्यपि उसमें कल्पना का भी पूरा-पूरा आश्रय लिया है, तथापि इससे उस समय में यौगन्धरायण की कूटनीतिक

---

१. कथा० २।३।७४–७५,
२. प्रतिज्ञा० २।१३, तथा स्वप्न० ६।११–१२,
३. वही, २।१–५, ६–११,
४. वही, ४।१७,
५. कथा० २।३।७, १७–३०,
६. प्रतिज्ञा० २।१०–११,
७. कथा० २।३।१५, तथा प्रतिज्ञा० २।१३–१४,
८. वही, १।४,
९. देखो, प्रा०भा० इति०: सत्यकेतु, पृ०७०
१०. कौ० म० १।११,
११. वीणा० २।५–७
१२. "निर्गताः महासेन-सैनिकाःवत्सपतिं न्यसंसिषुः" षष्ठ उच्छ्वास,
१३. दशरूपक, २।५०, की अवलोक देखो,
१४. दृष्ट्वा च ....' सुयात्रोदयनाभ्याम् ।

ऐतिहासिकता प्रकट होती है। निष्कर्षतः बंदी बनाने की घटना विशुद्ध ऐतिहासिक है। अतः इतिहासकारों ने भी इसे तद्रूप में स्वीकार किया है।[1]

नाटक की दूसरी घटना में बंदी उदयन का शत्रु सैनिक बध करना चाहते हैं, पर शालंकायन उसे बचा लेता है।[2] यह घटना निरीकाल्पनिक तथा कुछ असम्बद्ध प्रतीत होती है। क्योंकि प्रद्योत तो उसे बन्दी बनाकर पुत्री देना चाहता था, न कि केवल जीतना या बध करना। नाटक के अनेक स्थलों[3] तथा कथा० से भी इसकी पुष्टि हो जाती है।[4] परन्तु इस घटना की सम्भाव्यता इस तरह हो सकती है कि सम्भवतः प्रत्येक सैनिक को बंदी बनाने कारण ज्ञात नहीं था, केवल मंत्री जैसे उच्चाधिकारियों को ही ज्ञात था। अतएव शालंकायन ने उन्हें इस निकृष्ट कार्य से रोका।

इसी प्रकार हंसक द्वारा सन्देश की घटना का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। वीणावासवदत्ता में हंसक का उल्लेख अवश्य है[5] किन्तु वहाँ उसे उदयन का उपाध्याय कहा है, किन्तु प्रतिज्ञा० में वह दूत या अंगरक्षक आदि ही प्रतीत होता है। जो भी हो, हंसक का व्यक्तित्व ऐतिहासिक अवश्य प्रतीत होता है। भास ने हंसक द्वारा सन्देश की घटना को जिस प्रकार उपन्यस्त किया है, उसका प्रयोजन केवल यौगन्धरायण के महत्व को बढ़ाना मात्र है। तत्वतः स्वाभाविक रूप से चित्रित होने पर भी इसमें कोई विश्वसनीयता नहीं है। इसी प्रसंग में उदयन के बंदी होने पर उसकी माँ का सन्देश देना सारगर्भित है। संभव है कि उदयन के बंदी होने पर निराश्रित माँ ने योग्यमंत्री यौगन्धरायण को सन्देश अवश्य भेजा हो। एक ओर इसके द्वारा भास ने एक मातृ-हृदय की झलक दी है, तो दूसरी ओर उस समय की राज्य-व्यवस्था का भी निर्देश दिया है। डा० अलतेकर ने इसी से निष्कर्ष निकाला है, कि उस समय राजा के नाबालिग होने पर (या राजा के अभाव में) एक प्रशासक मंडल शासन करता था, जिसकी अध्यक्ष राजमाता होती थी।[6] उनका कथन है कि प्रतिज्ञा० की घटना से स्पष्ट है कि उदयन के बंदी होने पर उसकी माता ने शासन का संचालन किया था।[7] इसी की पुष्टि में उन्होंने जातक आदि का प्रमाण भी दिया है।

---

१. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनीटी: बी.सी.ला. पृ०९, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, रायचौधरी, पृ० २०४, प्रा० भा० इति० त्रिपाठी पृ० ७०, भा०प्रा० इति० सत्यकेतु, पृ०२३०

२. प्रतिज्ञा० १।६-१०,

३. वही०, २।३-६, ८-१०, ४।१७-२०,

४. कथा० २।६।२-३,

५. वीणावासवदत्ता, ३।५-१४

६. प्रा०भा० शा० पद्धति, डा० अलतेकर, पृ०७१,

७. वही फुटनोट,

यौगन्धरायण की प्रतिज्ञा की संयोजना बड़ी मार्मिक है। लोक-कथाओं में उपर्युक्त दोनों घटनाओं का उल्लेख नहीं है, यह भास की निजी उद्भावना होने पर भी बड़ी स्वाभाविक है।[1]

दूसरे अंक की घटनाओं का पूर्व भाग भी संम्भाव्यता के आधार पर ही विन्यस्त है। पुत्री वासवदत्ता के विवाह का परामर्श पत्नी तथा परिजन से करना स्वाभाविक है। यह भी संभव है कि तत्कालीन परम्पराओं के अनुसार तथा चण्ड प्रद्योत की प्रचण्डता एवं महासेन की सम्बन्ध-जन्य सहायता का लाभ उठाने को अन्य पड़ोसी राजाओं ने भी चेष्टा की हो। अत: अपने-अपने दूत भेजे हों, किन्तु नाटक से ज्ञात होता है कि महासेन उसकी पत्नी तथा मंत्री—सभी उदयन के सम्बन्ध को सचेष्ट थे। प्रतिज्ञा० के एक श्लोक से यह भी ध्वनित होता है कि सम्भवत: महासेन ने वासवदत्ता को वीणा सिखाने के लिए उदयन के पास सन्देश भेजा था,[2] किन्तु उदयन ने इसका प्रति-सन्देश देकर अवहेलना की। अत: निश्चित है कि छल-प्रयोग की सफलता से महासेन प्रसन्न हुआ होगा तथा उसने उससे एक सम्बन्धी जैसा व्यवहार किया होगा[3]। ये सभी घटनाएँ सम्भाव्यता के आधार पर सत्य प्रतीत होती हैं।

तृतीय एवं चतुर्थ अंक में यौगन्धरायण की कूटनीति अवन्ति पर छा जाती है। यह एक सम्भावित सत्य घटना है। यद्यपि कथा० आदि में यौगन्धरायण को एक जादूगर के रूप में चित्रित करके अप्राकृत सा बना दिया है[4]। पर भास द्वारा चित्रित यौगन्धरायण एवं उसके सभी प्रयोग व्यावहारिक प्रतीत होते हैं। न यहाँ यौगन्धरायण को अवास्तविक रूप में प्रदर्शित किया है और न वसन्तक का रूप बदला है। यहाँ उदयन के बंदी बनाए जाने पर यौगन्धरायण तथा भरतरोहक के गुप्तचरों के षड्यंत्र नयच्छल, भेदनीति तथा मन्त्रौषध का राजनीतिक षड़यंत्रों में प्रयोग आदि तत्कालीन राजनीति के अनुकूल किया गया है। कौटिल्य के प्रायौगिक-विधानों तथा कूटनीतिक-प्रयोगों से इसका अतिशय साम्य होने के कारण घटना न केवल सम्भाव्य, अपितु सत्य प्राय: प्रतीत होती है।

इन्हीं अंकों में भास द्वारा चित्रित वासवदत्ता पर वत्सराज की अनुरक्ति तथा आसक्ति की घटना रूपान्तर से अत्युक्तिपूर्ण वर्णित है। यह तो इतिहास भी मानता

---

१. कुछ विद्वान् दो प्रतिज्ञा मानते हैं कुछ तीन।

२. भारतानां कुले जातो वत्सानामूर्जितः पतिः, अकृत्वा दारनिर्देश मुपदेशं करिष्यति, प्रतिज्ञा० ४।१७,

३. प्रतिज्ञा० २।८–१०, १३–१४, ४।१६,

४. कथासरित्सागर २।३।४७–७७,

है कि उदयन वीणा-निपुण, अत्यन्त सुन्दर तथा हस्ति पकड़ने में कुशल था। किन्तु विवाह के उद्देश्य से उसे बन्दी बनाने तथा उसे वीणा-शिक्षक नियुक्त करने के सम्बन्ध में मतभेद है। कथा० के अनुसार उदयन स्वयं वासवदत्ता पर अनुरक्त था[१] तथा वह वासवदत्ता का गान्धर्व-विद्या का शिक्षक भी नियुक्त हुआ था[२]। इसी शिक्षण के बीच दोनों प्रेम सम्बन्ध में बँध गये,[३] तभी बाद में भाग निकले।

जैन तथा बौद्ध कथाओं में बन्दी उदयन को वासवदत्ता के संगीत-शिक्षक के रूप में नियुक्त किया जाता है, तथा पर्दे के पीछे बैठ कर पढ़ाने की व्यवस्था की जाती है। दोनों को परस्पर कोढ़ी और कुबड़ी बताया जाता है, जिससे कि प्रेम न हो जाय। किन्तु सहसा एक दिन परस्पर सन्देह होने पर आपस में देख बैठते हैं और प्रेम हो जाता है[४]। इस कथा से भी निष्कर्ष यही निकलता है कि उदयन को वासवदत्ता का शिक्षक नियुक्त किया गया तभी दोनों में परस्पर प्रेम हुआ[५]। कथा का अन्य अंश निःसार है। वस्तुतः देखा जाय तो स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० के कुछ स्थलों से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि राजा को उज्जयनी में लाने का उद्देश्य विवाह करना ही था। प्रतिज्ञा० में कांचुकीय द्वारा कहने पर कि महासेन को छोड़कर ये सब गुण-सम्पत्ति एक स्थान पर नहीं दीख पड़ती है[६]। प्रद्योत का यह कहना कि इसीलिए तो सोच रहे हैं कि पिता को कन्या के लिए वर-सम्पत्ति में ही प्रयत्न करना चाहिए,[७] तथा विवाह योग्य वासवदत्ता को आचार्य की कोई आवश्यकता नहीं है पति ही इसे सिखावेगा[८]। इसके अतिरिक्त उदयन के बंदी बनाकर लाने पर प्रद्योत का यह कहना कि आज से मेरे पास गुप्त रूप से दूत भेजने वाले राजा निःशंक हो जावेंगे[९] तथा उसका कुमार विधि से सत्कार करना, वत्सराज के बन्दी होने पर घोषवती वासवदत्ता को देना, आदि ऐसे ही अन्य अनेक स्थल हैं जिनसे लक्षित होता है कि हो न हो, प्रद्योत एवं

---

१. कथा० २।३।६–७,
२. वही० २।३।२७–२६,
३ वही० २।४–३०,
४. देखिये: प्रो० वामनगोपाल ऊर्ध्वरेखे द्वारा संपादित प्रतिज्ञायौगन्धरायण १६३८ परिशिष्ट सी०डी० पृ० १२–२२, एनाल्स २०–२१, वाल्यू २, जुलाई, पृ० ११–१५,
५. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी पृ०, ६–१०,
६. प्रतिज्ञा० २।३–४,
७. वही, २।५,
८. वही, २।६–७,
९. वही, २।९–१०,

अंगारवती ने उदयन तथा वासवदत्ता को परस्पर प्रेम-रज्जु में बाँधने के लिए तथा उसे विशेषतः वासवदत्ता की ओर आकृष्ट करने के लिए अवश्य शिक्षक के रूप में नियुक्त किया होगा। यही क्यों, बल्कि स्वप्न० में वासवदत्ता के उपरत होने पर उदयन "प्रियशिष्या" आदि कहकर सम्वेदना व्यक्त करता[1] है, और अंगारवती के सन्देश में धात्री स्पष्ट कहती है कि वीणा सिखाने के ब्याज से तुम्हें दे दी गयी थी,[2] इससे स्पष्ट है कि उदयन को वीणा-शिक्षक के रूप में विवाह के उद्देश्य से अवश्य रखा होगा। प्रतिज्ञा० से यह स्पष्ट है कि महासेन की पुत्री (शिष्या) वासवदत्ता को बिना अग्निसंस्कार के उदयन भगा लाया था, और अपनी चपलता से मंगलमय विवाह-संस्कार भी नहीं होने दिया था[3]। अतः यही ऐतिहासिक सत्य प्रतीत होता है कि उनका परस्पर प्रेम वीणा-शिक्षण के माध्यम से ही हुआ हो।

किन्तु भास ने इस नाटक में नेत्र-प्रीति द्वारा परस्पर प्रणय का संकेत किया है।[4] नाटक का यह प्रसंग काल्पनिक तथा अस्वाभाविक है। जबकि समस्त प्रतिज्ञा० से यह स्पष्ट है कि बन्दी होने के बाद उदयन को एक सम्बन्धी कुमार के समान प्रद्योत ने रखा, बन्धन-मुक्त कर दिया तथा सभी प्रकार के सुख-साधन जुटाए गए, तब फिर उदयन को कारागार में दिखाकर कारागृह के सामने से गुजरती हुई वासवदत्ता को कुछ क्षण देख कर अनुरक्ति का वर्णन अस्वाभाविक है। वास्तव में स्वप्न० में उदयन के इन शब्दों में पर्याप्त सत्य है कि उज्जयनी जाने पर और खूब देखने पर कामदेव ने पाँचों बाण मेरे ऊपर गिराये।[5] स्पष्ट है कि दोनों की परस्पर नेत्र प्रीति शिक्षण के माध्यम से ही हुई होगी। किन्तु जैन तथा बौद्ध कथाओं में मुक्ति की इच्छा से विनिमय के रूप में वीणा-शिक्षण आदि का उल्लेख अस्वाभाविक, अनुचित तथा अनैतिहासिक प्रतीत होता है।[6] इस दृष्टि से भास का वर्णन अधिक स्वाभाविक है। भास की विशेषता यह है कि उसने नाट्यकला को दृष्टि में रखकर इस घटना को प्रदर्शित न करके संकेत मात्र दिया है, किन्तु कारागृह के सामने से जाती हुई वासवदत्ता के प्रति नेत्र प्रीति की भास की योजना विशेष उचित नहीं प्रतीत होती।

---

१. स्वप्न० १।१२–१३, ६।११ आदि

२. वही, ६।११–१२,

३. प्रतिज्ञा० ४।१७–१६,

४. वही, ३।५–६,

५. कामेनोज्जयिनीं 'गते मयि तदा कामप्यवस्थां' गते
पंचेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः ।। स्वप्न० ४।१,

६. बौद्ध कथाओं में प्रद्योत पत्नी तारा का सम्बन्ध भी इसी घटना से जोड़ा गया है तथा उदयन द्वारा प्रद्योत की मृत्यु का भी इसमें उल्लेख है।

प्रतिज्ञा० में निर्दिष्ट यौगन्धरायण की दूसरी प्रतिज्ञा काल्पनिक है। किन्तु मेघदूत के अनुसार प्रद्योत-पुत्री का वत्सराज ने अपहरण किया था।[1] मृच्छकटिक के अनुसार उदयन के परिमोक्षण में यौगन्धरायण का सक्रिय हाथ था।[2] पादताडितक भाण के अनुसार उदयन ने वासवदत्ता का अपहरण एक हस्ति के द्वारा किया था।[3] अतः स्पष्ट है कि भास द्वारा चित्रित वासवदत्ता के अपहरण की घटना न केवल स्वाभाविक है, अपितु मूलतः इतिहास के निकट भी प्रतीत होती है।

इस अपहरण के पश्चात् यौगन्धरायण के बंदी होने तथा भरतरोहक के वाक्-युद्ध की घटना का हमें कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता। कथा० के अनुसार यौगन्धरायण उदयन की मुक्ति के पश्चात् उसके साथ-साथ कौशाम्बी जाता है,[4] परन्तु यह अस्वाभाविक है। भास की घटना इससे अधिक स्वाभाविक है। उदयन के भागने पर अवन्ति में विद्रोह होना, अपने स्वल्प साथियों के साथ प्रद्योत का मुकाबला न कर पाने के कारण यौगन्धरायण का पकड़ा जाना तथा यौगन्धरायण को भी शीघ्र ही मुक्त करके वासवदत्ता तथा उदयन के विवाह को स्वीकृति देना[5] आदि घटनाएं सम्भाव्यता के आधार पर अत्यन्त स्वाभाविक, अतः ऐतिहासिक प्रतीत होती हैं। किन्तु मंत्रियों के वाक्युद्ध की घटना जिस रूप में विन्यस्त है, वह काल्पनिक है। प्रद्योत द्वारा 'भृंगार' उपहार भेजना तथा चित्रफलक द्वारा विवाह की उद्घोषणा काल्पनिक होने पर भी स्वाभाविक है। कथा० में स्वयं गोपाल जाकर वैधानिक कार्य सम्पादन कराता है।[6] नाटक में ऐसा नहीं है। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि प्रद्योत ने अपहरण को अरुचिकर होने पर भी स्वीकार कर लिया था तथा सम्भव है कि चित्रफलक द्वारा विवाहविधि सम्पन्न कराके इसे क्षात्रधर्मसम्मत रूप दे दिया हो।[7] भास द्वारा निर्दिष्ट इस घटना के मूल में पर्याप्त सत्य है कि वासवदत्ता का हरण करने के बाद प्रद्योत तथा अंगारवती ने दबे दिल से विवाह को अवश्य स्वीकृति प्रदान कर दी होगी। मालती-माधव में निर्देश है कि प्रद्योत ने विजित राजा उदयन के लिए स्वयं वासवदत्ता को समर्पित कर दिया था।[8] कथा० से भी स्पष्ट है कि

---

१. प्रद्योतस्य प्रिय-दुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे०" मेघ० श्लोक ३५,
२. देखो 'उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय" मृच्छ० ४।२६,
३. कान्ताहरति करेण्वा वासवदत्तामिवोदयनः० पादताडितक १०७, पृ०४०,
४. कथा० २।५–४१
५. देखो भा० प्रा० इति० सत्यकेतु, पृ०२३२,
६. कथा० २।६-६,
७. प्रतिज्ञा० ४।२३–२४ तथा स्वप्न० ६।११–१२,
८. वासवदत्ता च पित्रा संजयाय राज्ञे दत्तमात्मानमुद यनाय: मालती-माधव, २।७,

प्रद्योत ने वासवदत्ता के अपहरण को भी धर्म-सम्मत रूप देकर स्वीकृति प्रदान करदी थी ।[१] लेकिन नाटक के अनुसार प्रद्योत ने यद्यपि इसे स्वीकार अवश्य कर लिया था, किन्तु स्त्री-जन इस कांड से सन्तुष्ट न था । यही कारण है कि भास को अंगारवती की आत्महत्या के प्रयास की उद्भावना करनी पड़ी[२] । निष्कर्षतः इतना स्पष्ट है कि वासवदत्ता तथा उदयन का विवाह ऐसी ही परिस्थितियों में हुआ था, तथा नाटक की घटनाओं से परिलक्षित यौगन्धरायण की नीति की सफलता भी इतिहास-सम्मत प्रतीत होती है ।

वासवदत्ता के परिणय के बाद स्वाभाविक है कि उदयन रागरंग में डूब गया हो तथा प्रेयसी की अनुरक्ति में राज्य-कार्य तथा कर्तव्यों को भुला बैठा हो । राज्य का संचालन यद्यपि यौगन्धरायण जैसा चाणाक्ष मंत्री कर रहा था तथा अवन्ति जैसे पराक्रमी राज्य से वत्स का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था, तथापि अवन्ति तथा वत्स का आन्तरिक मनोमालिन्य और राज्य की ओर से उदयन की उपेक्षा के कारण आरुणि ने आक्रमण करके वत्स का भाग हड़प लिया । तापस-वत्सराज नाटक के अनुसार विषयों में डूब जाने पर राज्य के प्रति अनवधानता के कारण ही पांचाल आरुणि ने वत्स का बहुत-सा भाग हस्तगत कर लिया था[३] । स्वप्न० में केवल आरुणि के नाम का उल्लेख है । सत्यकेतु विद्यालंकार इसे काशी का राजा मानते है[४] । उनकी मान्यता है कि काशी का राजा ब्रह्मदत था, सम्भवतः इसी को भास ने आरुणि और तिब्बती साहित्य में आदनेमि लिखा है ।[५] नाटक से इतना ही ज्ञात होता है कि आरुणि ने राज्य का अपहरण किया, अतः उसके प्रतिकार के लिए मगध की सहायता से रुमण्वान के सेनापतित्व में उदयन ने उस पर आक्रमण किया,[६] तथा उसे वापिस लौटा लिया था[७] । तापस-वत्सराज[८] तथा वीणा वासवदत्ता[९] के साक्ष्य द्वारा उसे पांचाल का राजा भी माना जा सकता है किन्तु वह पांचाल-राज था या काशी-राज इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहना कठिन है । तथापि नाटकों का उल्लेख सगत प्रतीत होता है ।

---

१. कथा० २।६।२--६,
२. प्रतिज्ञा० ४।२३-२४,
३. तापसवत्सराजः १।२,
४. सत्यकेतु० भा०प्रा० इति० पृ० २३३,
५. वही, पृ० २३४,
६. वही, ५।१२,
७. स्वप्न० ६।५-८,
८. तापसवत्सराज १।२,
९. वीणा० ३।१३-१४,

पांचाल आधुनिक रुहेलखंड को माना जाता है। इसके दो भाग थे उत्तर पांचाल और दक्षिण पांचाल। उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्र थी, दक्षिण की राजधानी कांपिल्य। क्योंकि पड़ोसी राजा प्रायः उस समय एक दूसरे को किसी प्रकार हड़पने की ताक में ही रहा करते थे। अतः अधिक सम्भव यही है कि वासवदत्ता के साथ उदयन का विवाह होने के पश्चात् राज्य संभालते ही वत्स के अधिक भाग के हाथ से निकल जाने से वह छोटा सा रह गया हो। बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह में इसी कारण "मनाग्जनपद" लिखा है।[१] इस मनाग्जनपद होने का कारण आरुणि का आक्रमण ही था। तापसवत्सराज में भी आरुणि को समीप में ही आक्रमण को सन्नद्ध लिखा है।[२] वीणावासवदत्ता के अनुसार यह आरुणि उदयन का समान-सम्बन्ध-वंशी था।[३] निश्चित रूप से यद्यपि आरुणि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता, तथापि उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर भास का यह उल्लेख ऐतिहासिक प्रतीत होता है।

स्वप्नवासवदत्ता के कथानक की ऐतिहासिकता :— स्वप्न० के अनुसार उदयन के सम्बन्ध में सिद्धों ने दो भविष्यवाणियाँ की थीं, उनमें से एक उदयन की विपत्ति वाली सत्य हो गयी। इसी की सत्यता से आश्वस्त होकर तथा दूसरी भविष्यवाणी के प्रति आशान्वित होकर यौगन्धरायण पद्मावती के साथ विवाह द्वारा दर्शक की सहायता से अपहृत राज्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। तत्कालीन इतिहास से यह तो स्पष्ट है कि उस समय जहाँ पड़ोसी राज्यों में परस्पर संघर्ष होते रहते थे, वहाँ परस्पर स्वार्थ-पूर्ति के लिए तथा राजनैतिक नींव को गहरा करने के लिए वैवाहिक गठबन्धन भी हुआ करते थे। किन्तु नाटक में निर्दिष्ट सिद्धों की भविष्य-वाणी का निर्देश कल्पित है। यद्यपि कथा० में नारद जैसे सिद्ध की भविष्यवाणी का उल्लेख अवश्य है, पर यह ऐतिहासिक नहीं है। यह निर्देश पौराणिकता तथा प्राचीन जन-विश्वासों से सम्बन्धित है। इसी से संयुक्त दूसरी घटना इतिहास के अनुकूल है। बहुत स्वाभाविक है कि महामात्य यौगन्धरायण ने रुमण्वान आदि मंत्रियों के परामर्श के अनुसार अपहृत राज्य को लौटाने के लिए दर्शक के साहाय्य को प्राप्त किया होगा।

किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है, जबकि उस समय उत्तरी भारत में मगध तथा अवन्ति दोनों प्रबल राज्य थे और वत्सराज का प्रद्योत (अवन्तिराज) से सम्बन्ध स्थापित हो चुका था, तो क्या कारण है कि प्रद्योत की उपेक्षा करके एक

१. बृ० क० श्लो० सं० ४।१५,
२. तापसवत्सराज ६।६–७,
३. वीणा वासवदत्ता० ३।१२–१३,

सुनियोजित षडयंत्र द्वारा मगध से सहायता ली गई। हम उपर्युक्त प्रसग में स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रद्योत तथा उसकी पत्नी अंगारवती उदयन के अपहरण रूप सम्बन्ध से पूर्णतः सन्तुष्ट न थे। उन्होंने केवल लोक-व्यवहार पालन के लिए ही क्षात्र-धर्म-सम्मत मान लिया था। उधर उदयन भी स्वाभिमानी था तथा उसने प्रद्योत-पुत्री का उनकी इच्छा के विरुद्ध अपहरण किया था, अतः वह कैसे सहायता की याचना कर सकता था। स्वप्न० से यह भी स्पष्ट है कि तब तक उनमें साधारण सम्बन्ध स्थापित नहीं हुए थे।[1] इतना अवश्य माना जा सकता है कि वत्स को अवन्ति से यदि सहायता की आशा न थी, तो कोई भय भी न था। किन्तु आरुणि को पराजित करने के लिए मगध से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक था, अतएव उन्हें मगध से सहायता प्राप्त करने का षडयंत्र करना पड़ा। अनुमानतः यौगन्धरायण ने दर्शक की बहिन पद्मावती से विवाह के लिए भी प्रस्ताव भेजा था, किन्तु दर्शक ने वासवदत्ता पर उदयन की अत्यधिक अनुरक्ति के कारण उसे अस्वीकार कर दिया। परन्तु मगध के सम्बन्ध के बिना वत्स का भविष्य अन्धकारमय था, अतएव उसने पद्मावती से विवाह के लिए ग्रामदाह का कूटनीतिक प्रयोग किया।

कथा० में इस घटना का अत्यन्त अप्राकृत ढंग से उल्लेख है। वहाँ उदयन को स्त्री, मद्य एवं मृगया में लिप्त तथा राज्य-कार्य से उदासीन बतलाया गया है। उसने क्योंकि समस्त राज्य-भार मंत्रियों पर छोड़ दिया है अतः मंत्री अपने उत्तर-दायित्व के अनुसार वत्सराज के परम्परागत गौरव को पुनः स्थापित करना चाहते थे। कथा० के अनुसार इनका उद्देश्य समस्त पृथ्वी पर राज्य प्राप्त करना था।[2] उसके अनुसार उसका राज्य अब केवल छोटे से वत्स प्रदेश मात्र में रह गया था।[3] अतः वे साम्राज्यवादी प्रवृत्ति के अनुसार राज्य बढ़ाने की योजना बनाते हैं। किन्तु संभाव्यता के आधार पर यह अस्वाभाविक है अतः ऐतिहासिक नहीं प्रतीत होता। भास का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है। भास के अनुसार "कौशाम्बी-मात्र परिपालन' ही यौगन्धरायण की कूटनीति का उद्देश्य है।[4] यही ऐतिहासिक भी प्रतीत होता है। सम्भवतः वत्सराज्य का अधिकांश भाग के हरण हो गया था अतः स्वाभाविक है कि राजधानी कौशाम्बी या उसके आसपास के प्रदेश को ही पुनः हस्तगत करने का प्रयत्न किया हो, अथवा इससे यह भी ध्वनित होता है कि केवल मात्र कौशाम्बी

---

१. देखिये स्वप्न० ६।४,५,८,११-१२ आदि

२. कथा० ३।१।४-६

३. कथा० ३।१।-७,

४. राजा—"देव्यपनये का कृता ते बुद्धिः।

यौगन्ध०—कौशाम्बी-मात्रं परिपालयामीति। स्वप्न० ६।१८-१९,

अर्थात् वत्सराज्य को हस्तगत करना ही उसका उद्देश्य रहा होगा। किन्तु क्योंकि प्रतिज्ञा० में उदयन को कौशाम्बीश शब्द प्रयुक्त है, अतः यहाँ भी कौशाम्बी से वत्स-राज्य का अर्थ लेना अधिक ठीक होगा। हमारा अनुमान है कि स्वप्न० में कौशाम्बी मात्र परिपालन की उक्ति से यही ध्वनित होता है कि यौगन्धरायण का अभिप्राय यही है कि हम दूसरे का राज्य नहीं लेना चाहते, अपितु अपना अपहृत राज्य ही पुनः प्राप्त करना हमारा उद्देश्य है। इसी कारण वह कौशाम्बी मात्र परिपालन की बात कहता है, इसका अभिप्राय यह नहीं है कि कौशाम्बी का भी अपहरण हो गया था, अन्यथा राजधानी के अपहरण होने पर तो समस्त राज्य ही चला जाना चाहिए था। स्पष्ट है कि भास का उल्लेख स्वाभाविक है।

कथा० का यह भी प्रकट गलत उल्लेख है कि पद्मावती मगधेश्वर दर्शक की पुत्री थी।[१] कथासरित्सागर के उपर्युक्त भ्रमपूर्ण उल्लेख के आधार पर कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने अनुमान किया है कि प्रद्योत चण्ड महासेन का पुत्र था। इस तरह उन्होंने भास के अवन्ति-नरेश से कथा० के चण्ड महासेन का सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है जो कि नितान्त अस्वाभाविक है। वास्तविकता यही है कि प्रद्योत अवन्ति-राज का वास्तविक नाम था। "चण्ड," "महासेन," राजकीय विरुद या प्रचलित विशेषण था। ये दोनों विरुद क्रमशः उग्र प्रताप तथा सेना की विशालता के कारण प्रचलित हुए थे।[२] वस्तुतः भास इतिहास के अधिक निकट है। भास के अनुसार मगधेश्वर दर्शक की बहन पद्मावती को प्राप्ति के लिए ही उसने वासवदत्ता को छिपाने को लावाणक-दाह का प्रयोग किया।[३] उसने यह निश्चित किया कि वासवदत्ता के देहान्त का प्रवाद यदि फैला दिया जाय तो दर्शक भी पद्मावती का विवाह करने को तैयार हो जायगा और उदयन भी पुर्नविवाह को तैयार हो जावेगा, इसीलिए उसने लावाणकदाह की घटना को प्रायोगिक रूप दिया। भास द्वारा वर्णित यह प्रयोग बहुत स्वाभाविक है। यौगन्धरायण ने इस प्रयोग का कार्यान्वियन बड़ी सफलता से किया। भास ने नाटक में गोपालक की सक्रियता को हटाकर लोककथाओं के दोष को दूर कर यथार्थता ला दी है। कथा० के अनुसार बसन्तक के साथ वासवदत्ता की मृत्यु का प्रवाद फैलाया जाता है तथा वहाँ यौगन्धरायण राजा के पास ही पहुँच जाता है[४] जबकि स्वप्न० में यौगन्धरायण के साथ देवी के मरण का

---

१. "ततश्च महासेन-प्रद्योतौ पितरौ द्वयोः—" कथा०

२. देखिये—क्रमशः एन्शन्ट इंडिया : आर० के० मुकर्जी० पृ० ६८, स्वप्न० अं० २, वासवदत्ता की उक्ति, पृ० १४,

३. स्वप्न० १।५-७, तथा १०-११,

४. कथा० ३।२।४८,

उल्लेख है।[1] संभाव्यता के आधार पर यही स्वाभाविक है कि वासवदत्ता के जलने के प्रवाद के बाद यौगन्धरायण राजा से दूर रहकर षड़यंत्र में संलग्न रहा होगा। अतएव भास ने ऐसी उद्भावना की है।

वासवदत्ता को तपोवन में पद्मावती के पास छोड़ने की घटना अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है, किन्तु इतिहास इस विषय में मौन है। यह तो निश्चित है कि मगध की राजमाता उस समय जीवित रही होंगी। क्योंकि उस समय दर्शक युवक था तथा तभी अजातशत्रु की मृत्यु हुई थी। अतः राजमाता की उपस्थिति असंभव नहीं है। भास के नाटक के अनुसार तपोवन में पद्मावती के पास वासवदत्ता को न्यास रूप में रखा,[2] जबकि कथा० के अनुसार मागध के उपवन में।[3] उपवन की अपेक्षा तपोवन की कल्पना अधिक उचित, अतः सम्भाव्य है; तथापि इस समस्त घटना में काल्पनिकता अधिक है।

लावाणक-दाह तथा वासवदत्ता का मृत्यु की घटना भी ऐतिहासिक है। कथा० में भी इसका निर्देश है।[4] इसकी व्यवहारिकता तथा सम्भाव्यता भी स्पष्ट है, क्योंकि बिना ऐसा प्रवाद फैलाये संभवतः दर्शक पद्मावती का विवाह न करता और न उदयन को ही अन्य पत्नी के प्रति ध्यान देने का अवसर मिलता। इस घटना की योजना द्वारा जहाँ एक ओर वासवदत्ता के प्रति उदयन की अनुरक्ति-रूप विप्रतिपत्ति के दूर होने पर उसे दर्शक अपनी बहन को देने को प्रस्तुत हो जाता है, वहाँ उदयन के सामने भी अन्य पत्नी की ओर ध्यान देने का प्रसंग आ उपस्थित होता है। अतः भास इस घटना के विन्यास में इतिहास के अधिक निकट प्रतीत होता है। जबकि कथा० में वर्णित घटना अप्राकृत सी प्रतीत होती है। भास ने इस घटना को स्वाभाविक रूप में प्रयुक्त कर उदयन के बहुपत्नीत्व को दोष के भी मिटा दिया है[5]।

कथा० के अनुसार यौगन्धरायण वासवदत्ता के पुत्री के रूप में तथा बसन्तक का "काणवटु" नामकरण करके वासवदत्ता के भाई के रूप में उसके साथ पद्मावती के यहाँ विन्यस्त करता है[6]। जबकि भास द्वारा निर्दिष्ट घटना में बसन्तक नहीं आता।

१. स्वप्न० १।१२-१३,
२. प्रतिज्ञा० १।३, ६-८,
३. देखिये-भास की उदयन कथा की उपजीव्यता तथा कथा० ३।२।१५-२३,
४. कथा० ३।२।१४-१५,
५. देखिये-इसी प्रबन्ध में सांस्कृतिक दशा में बहुपत्नीत्व पर,
६. कथा० ३।२।१०-१२, १६, २३,

भास के अनुसार यौगन्धरायण वासवदत्ता को बहिन बनाता है[1] जबकि कथा० में पुत्री[2]। यद्यपि इतिहास इस विषय में भी मौन है, तथापि भास की उपर्युक्त योजना बहुत ही स्वाभाविक है, अतश्च ऐतिहासिक भी प्रतीत होती है। एक मंत्री के द्वारा राजपत्नी को पुत्री की अपेक्षा बहिन के रूप में प्रयोग करना अधिक संगत प्रतीत होता है। पद्मावती के यहाँ ही वासवदत्ता का न्यास और भी महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि पद्मावती को ही उदयन के लिए पत्नीत्व रूप में पाना अभीष्ट है। अतः दोनों के पास रहने से परस्पर परिचय तथा वासवदत्ता के पातिव्रत की पवित्रता तथा सुरक्षा एवं प्रबल-साक्ष्य भी यहाँ सहज ही प्रस्तुत हो जाता है। भास ने वासवदत्ता के भाई के रूप में बसन्तक का वासवदत्ता के साथ न्यासीकरण न करके, जैसा कि कथा में है,[3] घटना के औचित्य को और भी बढ़ा दिया है। अन्यथा बसन्तक का भाई के रूप में न्यास करने पर षड्यंत्र खुलने की अधिक संभावना रहती। इसके अतिरिक्त वयस्क भाई के साथ बहिन को न्यास रूप में रखना उचित प्रतीत नहीं होता, चाहे वह प्रोषित-पति-का भी क्यों न हो। अतएव भास एकाकी प्रोषित-पतिका बहिन के रूप में वासवदत्ता का न्यास रखता है और इसी कारण भास ने यौगन्धरायण की परिव्राजक भाई के रूप में उद्भावना की है। निःसन्देह भास की कल्पना अधिक तर्कसंगत एवं स्वाभाविक है।

परिस्थितियों के मिलने पर उदयन का विवाह दर्शक की बहिन पद्मावती से होता है। उदयन, क्योंकि राजहीन, मंत्रिहीन तथा प्रियतमा-वियोग-परितप्त है, अतः अधिक संभव है कि वह विवाहोपरान्त कुछ समय मगध ही रहा हो। स्वप्न० में भास के द्वारा चित्रित स्वप्नदर्शन की महत्त्वपूर्ण घटना पूर्णतया काल्पनिक है, किन्तु इस नाटकीय घटना की स्वाभाविकता भी अनूठी है। पद्मावती के विवाहो-परान्त दर्शक से सहायता प्राप्त होने पर रुमण्वान आदि मंत्रियों से प्रोत्साहित होकर उदयन ने आरुणि पर चढ़ाई की। यह घटना ऐतिहासिक प्रतीत होती है। उदयन ने अन्त में राज्य भी प्राप्त कर लिया। नाटक के अन्त में चित्रदर्शन द्वारा सम्मिलन तथा प्रद्योत, और अगारवती द्वारा सन्देश एवं उपहार भेजने आदि की घटना कल्पित है। इन घटनाओं के द्वारा नाटककार का उद्देश्य सुखान्त रूप देने के साथ-साथ सभी का सम्मिलन कराना था। अतः इसे और भी अधिक मार्मिक बनाने के लिए इस घटना को गढ़ा है। यदि इसमें कुछ भी सत्यांश संभव है तो केवल इतना ही कि उन्होंने

---

१. स्वप्न १।६, ६।१४,
२. कथा० ३।२।२१,
३. कथा० ३।२।२१,

व्यवहारिक दृष्टि से उदयन की आरुणि पर विजय के उपलक्ष्य में विजय-सन्देश भेजा हो तथा उपहार भी। इसी प्रकार कथा० में वर्णित चरित्र-शुद्धि के लिए अग्नि-प्रवेश तथा आकाशवाणी आदि जैसी घटनाओं का नाटक में विनियोग न करके नाट्य-सौन्दर्य को और भी बढ़ा दिया है। कथा-सरित-सागर में अधिकांश चित्रण अत्युक्तिपूर्ण या अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। जबकि भास का वास्तविक स्वाभाविक तथा ऐतिहासिक। उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात् हम विश्वास के साथ कह सकते हैं कि भास ने लोक कथा के लोकतत्व को परित्याग करके अपनी उद्भावनाओं द्वारा घटनाओं को अधिक स्वाभाविक तथा यथार्थ रूप दिया है। भास की उदयन कथा स्वाभाविक होने से ऐतिहासिक प्रतीत होती है और नाटककार ने इसमें नाटकीयता का विनियोग करके और भी अधिक सजीव, मांसल तथा प्रभावपूर्ण बना दिया है।

दर्शक की ऐतिहासिकता—पद्मावती दर्शक की बहिन थी ऐसा हम अभी-अभी कह चुके हैं, किन्तु दर्शक की ऐतिहासिकता तथा पद्मावती के दर्शक की बहिन होने के सम्बन्ध में विवाद है। कथा० में पद्मावती को मगधेश्वर की पुत्री कहा है । किन्तु वहाँ मगधेश्वर प्रद्योत को बताया है। यही कथा० की महान् ऐतिहासिक त्रुटि है। हमारे विचार में पद्मावती अजात-पुत्र मगधेश्वर दर्शक की बहिन थी, किन्तु इतिहासकारों ने अजातशत्रु के उत्तराधिकारी के रूप में दर्शक का उल्लेख नहीं किया है, और न मगध की राजवंशावली में ही कहीं इसका स्थान है। इसी कारण दर्शक का अस्तित्व विवादस्पद रहा है।[२] भास ने अपने स्वप्न० में मगधेश्वर के रूप में दर्शक का उल्लेख किया है।[३] बौद्ध-ग्रन्थों के अनुसार मगध का कोई दर्शक नाम का राजा नहीं हुआ। बौद्ध ग्रन्थों में मगधेश्वर अजातशत्रु तथा उसके पुत्र उदायिभद्र (उदयाश्व) का ही उल्लेख है[४]। अधिकांश इतिहास-लेखक भी अजातशत्रु को उदयन तथा प्रद्योत का समकालीन तथा उदायिभद्र को अजातशत्रु का पुत्र मानते हैं।[५] पुराणों में इसका दर्शक, वर्षक दर्शक के रूप में उल्लेख अवश्य प्राप्त है। पुराणों में दर्शक को अजातशत्रु

---

१. कथा० ३।१।१६–२०
२. पौलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शन्ट इंडिया, राय चौधरी, पृ०२१५,
३. स्वप्न० १।५–६, ५।११–१२,
४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ एन्शन्ट इंडिया, वाल्यूम १, रैप्सनः पृ० १६४, पालिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शेन्ट इंडिया, पृ०२१६, दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ०२६, आदि
५. वही, तथा दि वैदिक एज वाल्यूम १, पृ०३२१, तथा दि मगधाज इन एन्शेन्ट इंडिया, पृ०१२,

का उत्तराधिकारी कहा है।[1] संभवतः कथा० में दर्शक का सिंह वर्मा के नाम से उल्लेख किया है।[2] क्योंकि वहाँ पद्मावती का भाई दर्शक न लिख कर सिंह वर्मा लिखा है किन्तु कथा० में वासवदत्ता तथा पद्मावती का क्रमशः पिता चंडमहासेन तथा मगधनरेश प्रद्योत को कहा है।[3] जबकि वस्तुतः प्रद्योत ही अवन्तिराज है। यह कथा० की महान् ऐतिहासिक भूल है। महावंश में एक नागदासक राजा का उल्लेख है।[4] कुछ इतिहासकार नागदासक से, जिसका समय ४६७-४७१ ई० पू० माना जाता है, पुराणों तथा भास के नाटकों में उल्लिखित दर्शक भी साम्य स्वीकार करते हैं।[5] किन्तु बौद्धों के साक्ष्य के आधार पर पुराणों के साक्ष्य की अवहेलना नहीं की जा सकती। बौद्ध साहित्य में भी अनेक विपर्यय हैं जो कि पुराणों में ठीक मिलते हैं। जैसे अशोक के पौत्र दशरथ का बौद्ध साहित्य में उल्लेख नहीं है। यद्यपि वायु० तथा मत्स्य पुराण से अशोक के पौत्र दशरथ का पता चलता था, तथापि प्रायः विद्वान् बौद्ध साक्ष्य के अभाव के कारण पुराणों के साक्ष्य की अवहेलना करते थे, किन्तु नागार्जुनी गुफा-लेख से दशरथ के अस्तित्व तथा ऐतिहासिकता की पुष्टि हुई है और विद्वान् अब दशरथ को ऐतिहासिक मानने लगे हैं। अतः केवल बौद्ध साहित्य के आधार पर पुराणों के साक्ष्य को तिरस्कृत तथा अस्वीकृत करना उचित प्रतीत नहीं होता है। और जब कि पुराणों के दर्शक की पुष्टि में भास का साक्ष्य उपलब्ध हो गया है, किन्तु नागदासक की पुष्टि का कोई अन्यत्र उल्लेख नहीं है, तब दर्शक की ऐतिहासिकता में संदेह करना सर्वथा अस्वाभाविक है।

भास के दर्शक के उल्लेख के आधार पर पौराणिक राजवंशावली का अनुसंधान करने के बाद आधुनिक इतिहासकारों का मत बदला है और स्वप्न० के साक्ष्य प्राप्त होने पर वह मानने लगे हैं कि दर्शक ऐतिहासिक व्यक्ति है।[6] इस प्रकार दर्शक

---

१. पुराण टैक्सट आफ दि डायनेस्टीज आफ कलि-एज० पार्जिटर पृ०६७–६,
२. कथा० ३।५।५८
३. ३।१।१९–२०, ६।५।६६
४. देखिए, प्रा०भा० इति०, त्रिपाटी पृ० ८४, भा०बृ० इति०, भगवद्दत्त पृ०२५३,
५. वही, तथा एन्शेन्ट इंडिया, मुकर्जी पृ०१०५, दि एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ०२९, तथा दि मगधाज इन एन्शेन्ट इंडिया, पृ० १२
६. यद्यपि प्रायः दर्शक की ऐतिहासिकता को माना जाने लगा है तथापि कुछ विद्वान दर्शक को अजात० का उत्तराधिकारी होने में सन्देह करते हैं। डा० सत्यकेतु विद्यालंकार बिम्बसार बड़ा लड़का दर्शक तथा छोटा अजातशत्रु मानते हैं। देखिये, भा० प्रा० इतिः सत्यकेतु पृ० २२१–१२३,

की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने वाला अन्यतम साक्ष्य भास का स्वप्न० नाटक है। इसी के आधार पर विद्वानों की शोध को बल मिला है तथा इसी आधार पर उसे ऐतिहासिक मान लिया गया है। प्रसिद्ध इतिहासकार रायचौधरी दर्शक को ऐतिहासिक अवश्य मानते हैं किन्तु उसे मांडलिक राजा मानते हैं।[1] डाक्टर भार्गव ने पौराणिक शोध के आधार पर प्राचीन भारत की वंशावलियों का संशोधन करते हुए दर्शक को अजात का उत्तराधिकारी स्वीकार किया है।[2] विसेन्टस्मिथ ने भी "गीगर" तथा "याकोबी" की दर्शक-विरोधी धारणाओं को भ्रान्त ठहराते हुए दर्शक को ही अजात का उत्तराधिकारी स्वीकार किया है।[3] वास्तव में भास के साक्ष्य ने दर्शक की ऐतिहासिकता तथा स्थान क्रम को प्रामाणिकता प्रदान कर इतिहास की अशुद्ध परम्परा का संशोधन किया है। भास के साक्ष्य के आधार पर ही स्मिथ ने पौराणिक उल्लेख प्राप्त दर्शक को अजातशत्रु का उत्तराधिकारी मानकर बौद्ध वंशावली को गलत सिद्ध किया है।[4]

किन्तु भास के साक्ष्य ने दर्शक की ऐतिहासिकता को ही प्रमाणित नहीं किया, अपितु अजात, प्रद्योत तथा उदयन की समकालीनता के सम्बन्ध में चली आ रही परम्परा में भी संशोधन किया है और अब भास के साक्ष्य के आधार पर प्रद्योत, उदयन तथा दर्शक की भी समकालीनता प्रमाणित हो गई है। सामान्यतः चीन के कैंटन नगर के बिन्दु चिन्हित आलेख को प्रामाणिक मानकर बौद्ध निर्वाण ४८६ ईस्वी पूर्व में माना जाता है।[5] बुद्ध निर्वाण अजात के राज्यारोहण के ८ वर्ष बाद हुआ। अतः अजात का समय ४९६–४६९ ईस्वी पूर्व हुआ।[6] पुराणों के अनुसार अजात ने

---

१. पॉलिटीकल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, रायचौधरी, पृ०२१६,
२. इंडिया इन दि वैदिक ऐज, डा० पी.एल. भार्गव, पृ०१२९,
३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया स्मिथ पृ०३८–३९,
४. वही,
५. विद्वानों में बौद्ध निर्वाण के सम्बन्ध में मतभेद है। फ्लीट तथा जादूगर ४८३ ई०पू० मानते हैं (भा० प्रा० इति० पृ०३१९) स्मिथ ५४३ ई०पू० मानते हैं। विशेष देखो प्रा० लि० माला, पृ०१६४, अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया पृ०४९–५० आदि,
६. इन तिथियों के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों में मतभेद है—स्मिथ बिम्बसार का समय ५८२ ई०पू०, अजात का ५५४ ई०पू० तथा दर्शक का ५२७ ई०पू० मानते हैं (अर्ली हि० इंडिया, पृ०४८,५१), त्रिपाठी बिम्बसार का ५४३ ई०पू०, अजात का ४९१ ई०पू० उल्लेख करते है (प्रा०भा० इति० पृ०७४) सत्यकेतु,४८८ ई०पू०-४५६ मानते हैं (भा०प्रा० इति० पृ० २२८)

२६ वर्ष राज्य किया, बाद में दर्शक राज्य पर बैठा और उसने २४ वर्ष राज्य किया। अतः इन इतिहासकारों के अनुसार दर्शक का समय ४६९ ईस्वी पूर्व– ४४५ ईस्वी पूर्व था।

अन्त में, भास के नाटकों के अनुशीलन से यह धारणा संगत प्रतीत होती है कि नाटककार ने अपनी नाट्यकला को जनप्रिय लोककथाओं से चुना है। उपर्युक्त ऐतिहासिक समीक्षण से यह भी प्रकट हो जाता है कि भास की उदयन-कथा निरी लोककथा (गल्पमात्र) ही नहीं है, अपितु उसकी लोककथा का ऐतिहासिक आधार है। भास ने अपने नाटकों में ऐतिहासिकता का पूरा-पूरा निर्वाह किया है। यत्रतत्र नाट्यकला की दृष्टि से कल्पना का विनियोग तथा नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं, किन्तु वे भी पूर्णतः स्वाभाविक तथा संम्भाव्यता के आधार पर विन्यस्त हैं। भास की उदयन कथा संबंधी कुछ मौलिक सूक्ष्म निर्देशों की ऐतिहासिकता से यह भी स्पष्ट होता है कि निश्चित रूप से भास उदयन-कथा का बहुज्ञ तथा उदयन के अति-निकट रहा होगा।

भास के ऐतिहासिक नाटकों की नाट्यकला :– भास निःसन्देह एक उत्कृष्ट नाटककार थे। उन्होंने नाट्य-सृजन करते हुए वस्तु-चयन तथा नाट्यशिल्प की विविधता तथा विदग्धता द्वारा मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। यद्यपि भास के सभी नाटक अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं, तथापि उनके समस्त नाटकों में आलोच्य ऐतिहासिक नाटकों प्रतिज्ञा० तथा स्वप्न० का अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व है। संस्कृत नाट्य-जगत में भास की समधिक प्रतिष्ठा के कारण मुख्यतः उनके स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० ही है। इन दोनों में भास ने जिस नाट्यकुशलता का परिचय दिया है वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। उदयन सम्बन्धी इन दोनों नाटकों में कथा-विन्यास, नाट्य-शिल्प, काव्य-सौन्दर्य तथा रसनिर्वाह आदि की दृष्टि से भास की प्रतिभा पूर्ण रूप में अभिव्यक्त हो उठी है। सरल तथा सीधी सादी लोक-कथा को यहाँ सजा सँवार कर मानव जीवन की युगीण सहज अनुभूतियों को सँजोकर, अत्यधिक सफलता के साथ नाट्यरूप में अभिव्यंजित किया है। यही कारण है कि प्राच्य पाश्चात्य सभी समा-लोचकों ने एक स्वर से दोनों प्रतिज्ञा० एवं स्वप्न० को भास की सफलतम तथा सर्वश्रेष्ठ रचना स्वीकार किया है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण की वस्तु-योजना तथा चरित्र-चित्रण :— प्रतिज्ञा० का कथानक उदयन-कथा के एक विशेष प्रकार के राजनैतिक पक्ष को लेकर अभिसृष्ट हुआ है। इसमें यौगन्धरायण के बुद्धि-कौशल से उदयन के द्वारा वासवदत्ता के अप-हरण की घटना वर्णित है। नाटक के नाम से जैसा कि स्पष्ट है, समस्त घटनाचक्र का संचालन यौगन्धरायण ही करता है। वही महासेन के बन्दीगृह से उदयन को

मुक्त कराने तथा साथ में वासवदत्ता के अपहरण की प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए प्रारम्भ से अन्त तक सर्वाधिक सक्रिय रहता है। नाटक के मुख्य पात्र उदयन तथा वासवदत्ता का नाटक में सर्वत्र केवल नाम ही सुनाई पड़ता है, मंच पर दर्शन तक नहीं होते। इसी कारण कुछ विद्वानों ने भास की आलोचना भी की है। आपाततः यह भास की त्रुटि अवश्य प्रतीत होती है, किन्तु गभीरता से यदि विचार करें तो यह दोष नहीं, अपितु भास की विशेष नाट्यकुशलता का ही सूचक है। वास्तव में भास ने इस प्रकार की वस्तुयोजना करके एक प्रकार से "नाट्यछल" का सफल प्रयोग किया है। क्योंकि भास ने उदयन तथा वासवदत्ता को मंच पर न प्रदर्शित करके भी अपनी नाट्यकुशलता द्वारा दर्शकों को कभी भी दोनों के अभाव का आभास नहीं होने दिया है, अपितु दर्शक अपने को सदैव उदयन तथा वासवदत्ता के निकट ही पाता है। यौगन्धरायण की सक्रियता नाटक पर इतनी छा गयी है कि दर्शकों को अन्य छोटी-छोटी त्रुटियों का ध्यान तक नहीं रहता।

नाटक की समस्त संयोजना तथा कार्यान्विति इस प्रकार की है कि प्रत्येक चरित्र अपने आप उभरते चले गए हैं। समस्त घटनाचक्र पर यौगन्धरायण का ही एकाधिकार है। उदयन तथा वासवदता का चरित्र अप्रत्यक्ष रूप में ही चित्रित है। भरतरोहक का चरित्र भी उसके सामने फीका है। महासेन का चरित्र अपेक्षाकृत कुछ निखरा हुआ है। महासेन के चरित्र में उदारता, गुणज्ञता, आदि के अतिरिक्त ईर्ष्या, प्रतिद्वेष, स्वार्थपरता आदि मानवसुलभ भावनाओं का भी सुन्दर चित्रण किया है। सामान्यतः भास पुरुष तथा स्त्री वर्ग के व्यष्टिगत मनोवेगों तथा चित्रवृत्ति के चित्रण में पटु है। स्त्री-पुरुष के चरित्र के सूक्ष्म पारखी भास ने प्रसंगतः मानवगत सभी गुण-दोषों का यथास्थान चित्रण किया है, तथापि प्रतिज्ञा० एक राजनैतिक एवं पुरुष प्रधान नाटक है, और उन सबमें यौगन्धरायण ही एक प्रमुख पात्र है। वह सभी चरित्रों का अतिक्रमण कर गया है। नाटक में यौगन्धरायण की नीति तथा बुद्धिकुशलता ही प्रत्येक कार्यकलाप में प्रकट होती है। वह अपनी चतुरता द्वारा उदयन को महासेन के बंदीगृह से मुक्त कराने तथा वासवदत्ता के परिणय कराने में सफल होता है। प्रतिज्ञा० में चित्रित यौगन्धरायण का चरित्र अत्यधिक प्रभावशाली तथा व्यक्तित्व आकर्षक है।[1] विशेषतः यौगन्धरायण की स्वामिभक्ति, साहस, कर्तव्यपरायण का चित्रण भास ने अत्यधिक सफलता से किया है। नाटक में चित्रित यौगन्धरायण अपनी चारित्रिक उत्कृष्टताओं के कारण आदर्श-मन्त्री के रूप में सामने आता है, जो कि अपने स्वामी के लिए सर्वस्व बलिदान करने तक को सदव उद्यत रहता है। यही नहीं, बल्कि यौगन्धरायण एक सेवक की दृष्टि से स्वामी के

---

१. संस्कृत ड्रामा, १०७,

लिए जीवन भर कष्ट सहना ही श्रेयस्कर मानता है।[1] यौगन्धरायण का चरित्र भास ने इतना ऊंचा उठा दिया है कि प्रतिपक्षी भरतरोहक को भी उसकी नीति की प्रशंसा करनी पड़ती है।[2] भरतरोहक के शब्दों में वह "राज्य व्यवहार का साक्षात्कर्ता" है।[3] न केवल नीति ही, बल्कि वीरता, साहसा, पुरुषार्थ आदि सभी गुण उसके चरित्र में पूर्णतः रमे हुए हैं। कर्तव्य के लिए वह जो कुछ संभव है, सभी कुछ करता है।। यही कारण है कि स्वामी को भी उसके प्रति कृतज्ञ होना पड़ा है।[4] जिस सेवक के प्रति स्वामी भी कृतज्ञ हो वह सेवक निःसन्देह महान् है।

प्रतिज्ञा० में मुद्राराक्षस के समान ही नायक की समस्या उठ सकती है। किन्तु, प्रतिज्ञा० में मुद्राराक्षस के चन्द्रगुप्त के समान उदयन का चरित्र अपना स्वतंत्र रूप तथा अस्तित्व लेकर नहीं जाता है। प्रतिज्ञा० में वास्तव में ऐसा कोई प्रबल कारण नहीं दीख पड़ता जिसके कारण उदयन को नायक माना जा सके। स्पष्टतः प्रतिज्ञा० का नायक यौगन्धरायण है। यही कारण है कि समस्त नाटक का अध्ययन इसी दृष्टि से करना पड़ता है।

भास ने प्रतिज्ञा० का नाट्यविधान मौलिक रूप से किया है। समस्त नाटकीय घटना का विकास मंत्रियों के बीच होता है। मुख्यतः इसमें दो मंत्रियों का नीति युद्ध ही मुख्य घटना है जिसको केन्द्र मानकर संश्लिष्ट रूप से अन्य घटनाओं का विन्यास हुआ है। इस दृष्टि से प्रतिज्ञा० एक राजनैतिक नाटक है। किन्तु यह राजनैतिक वातावरण से ओत-प्रोत होते हुए भी मुद्राराक्षस के समान विशुद्ध राजनैतिक नहीं है। डा० व्यास के शब्दों में यह प्रणय-कथा पर आधारित रनिवासों के रोमानी वातावरण में अभिसृष्ट ऐसा नाटक है, जिसका समस्त घटना-विन्यास रोमानी तथा राजनैतिक तानेबानों से हुआ है,[5] किन्तु हमारी मान्यता है कि यहाँ प्रणयकथा का विनियोग केवल सूत्र रूप में या रेखा-चित्र बनाने के लिए हुआ है। उस रेखा-चित्र में रंग भरने का काम तथा नाटक की सूत्रात्मक घटनाओं की मांसलता का आविर्भाव वास्तव में राजनैतिक कथा के द्वारा ही हुआ है। यहाँ प्रणय-कथा तो केवल पृष्ठभूमि के रूप में ही है, इससे अधिक अवसर उसे यहाँ नहीं है। यही कारण है कि नाटक में मुख्य रस वीर है, अतः शृंगार और हास्य के प्रक्षेप से वह किंचित्

---

१. प्रतिज्ञा० ३।७–८,
२ वही, ४।१४–१६,
३. वही ४।१८–१६,
४. स्वप्न० ६।१८,
५. सं० क० दर्शन, डा० व्यास, पृ० २४०,

धुंधला ही पड़ गया है। वैसे भी नाटक में गति है, नाट्यप्रभाव है तथा वीरता के सर्वत्र दर्शन होते हैं।[1] अधिकांश में अन्य रसों का प्रासंगिक विनियोग सुरुचिपूर्ण है। सुन्दर हास्य, व्यंग का पुट अपनी विशेषता रखता है। विशेष रूप से तृतीय तथा चतुर्थ अंकों में जहाँ उन्मत्तक, श्रमणक, गात्रसेवक आदि के माध्यम से सुन्दर हास्य की सृष्टि की है, कीथ ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[2]

विद्वान् समालोचक-कीथ ने चतुर्थ अंक के सुरागीत[3] को भी सराहा है।[4] इसी प्रकार प्रतिज्ञा० के अंत में अंगारवती के आत्महत्या के प्रयास का दृश्य मनोवैज्ञानिकता तथा यथार्थवादिता की दृष्टि से प्रशंसनीय है। ये दृश्य कीथ जैसे पाश्चात्यों को विशेष प्रिय हैं।[5]

प्रतिज्ञा० के प्रारम्भ में भास ने स्थापना की योजना करते हुए इसे प्रकरण कहा है "वयमपि प्रकरणमारभामहे"। प्रतिज्ञा० की समाप्ति पर नाटिका का उल्लेख है—"इति प्रतिज्ञा नाटिकावसिता"। इन दोनों उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि भास ने प्रतिज्ञा० का सृजन नाटक के रूप में नहीं किया है। किन्तु, इन दो भिन्न-भिन्न उल्लेखों के कारण यह भी निश्चय करना आवश्यक है कि वास्तव में यह नाटिका है या प्रकरण ?

दश-रूपक के अनुसार नाटिका के लिए सामान्यतः कथावस्तु प्रकरण के समान कविकल्पित तथा लोकसंश्रित होती है। नायक नाटक के समान प्रख्यातवंशी, पर धीरललित, अंगीरस-शृंगार, स्त्री पात्रों की प्रधानता तथा अंक चार होते हैं।[6] प्रतिज्ञा० में ४ अंकों के अतिरिक्त नाटिका का एक भी लक्षण घटित नहीं होता है, न स्त्री पात्रों की प्रधानता है, न अंगीरस शृंगार है, न नायक प्रख्यात-वंशी धीर-ललित है, बल्कि यह पुरुष-प्रधान, वीरस का नायक है जिसका नाटक यौगन्धरायण है। अतः इसे नाटिका कथमपि नहीं कहा जा सकता है।

वस्तुतः भास ने प्रतिज्ञा० की रचना प्रकरण मानकर की है न कि नाटिका के रूप में। दशरूपक के अनुसार प्रकरण के लिए यह आवश्यक है कि उसका इति-वृत्त उत्पाद्य तथा लोक-संश्रय हो। नायक ब्राह्मण या वैश्य, जो कि धीर-प्रशान्त,

१. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० १०७,
२. संस्कृत ड्रामा, पृ० १०८,
३. प्रतिज्ञा० ४।१,
४. संस्कृत ड्रामा, पृ० १०८,
५. वही, पृ० १११,
६. दशरूपक, ३।४३–४७,

विघ्नसंकुल, धर्मार्थ-काम में तत्पर हो। अन्य विधान नाटक के ही अनुसार होता है[1]। प्रतिज्ञा० का नायक यौगन्धरायण है जो कि प्रकरण के लक्षण के अनुसार धीर-प्रशान्त, विघ्नसंकुल तथा स्वधर्म में तत्पर है। अतः यह निश्चित रूप से प्रकरण ही ज्ञात होता है। चार अंक होने के कारण कुछ लोग अवश्य नाटिका के पक्ष का समर्थन करने की चेष्टा कर सकते हैं, किन्तु अंकादि का विधान बाह्य-वस्तु है, अतः उसका इतना महत्व नहीं जितना नायक का। नायक की दृष्टि से ही मुख्यतः रूपकों का विश्लेषण किया जाता है। भास के प्रतिज्ञा० में नायक प्रकरण लक्षण-सम्मत है। अतः इसे प्रकरण मानने में विचिकित्सा नहीं होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त स्थापना नाटक के कलेवर का ही अंश होता है। भास ने स्थापना में प्रतिज्ञा० को प्रकरण कहा है, जबकि प्रतिज्ञा० के अंत में समाप्ति पर नाटिका लिख दिया है। अतः प्रतिज्ञा० के अन्त का उल्लेख भास का न होकर संभवतः किसी लिपिकार आदि का है, जबकि स्थापना का उल्लेख स्वयं भास का। इससे भी स्पष्ट है कि भास की मान्यता के अनुसार भी प्रतिज्ञायौगन्धरायण प्रकरण है।

श्री बनर्जी शास्त्री ने प्रतिज्ञा० को ईहामृग स्वीकार किया है।[2] दशरूपक के अनुसार ईहामृग में मिश्रित कथावस्तु, तीन संधियों से युक्त ४ अंक, नर नायक तथा देवता प्रतिनायक होता है। ये दोनों क्रमशः इतिहास प्रसिद्ध तथा धीरोदात्त होते हैं। प्रतिनायक दिव्य-स्त्री की इच्छा के विरुद्ध अपहरण करने वाला होता है। शृंगार रस का चित्रण होता है। नायक-प्रतिनायक में युद्ध की परिस्थिति पैदा करके भी किसी व्याज से निवारण किया जाता है। वध की परिस्थिति होने पर भी वध नहीं कराया जाता।[3] यदि दशरूपकोक्त इन लक्षणों को प्रतिज्ञा० में घटित करें तो चार अंक का अस्तित्व ही ईहामृग के पक्ष में आता है अन्य कोई भी लक्षण प्रतिज्ञा० में घटित नहीं होता है। अतः हम प्रतिज्ञा० को ईहामृग नहीं मान सकते।

वास्तविकता यही है कि भास ने ब्राह्मण मंत्री यौगन्धरायण के नायक के रूप में अवतारणा करके प्रकरण के रूप में अभिसृष्ट किया है, और उसी अपने नाट्य-विधान के समारम्भ की योजना के अनुरूप प्रारम्भ में प्रकरण के रूप में संकेत भी दिया है। अतः प्रतिज्ञा० को प्रकरण ही मानना उचित है नकि नाटिका या ईहामृग आदि।

---

१. दशरूपक, ३।३९–४२,

२. देखो : दि प्लेज एस्क्राइब्ड टु भास०, पृ० ४८, तथा जे. पी. ओ. आर. एस. मार्च १९२३, पृ० ४४–११३,

३. दशरूपक ३।७२–७५,

प्रतिज्ञा० का रूप-विधान मौलिक होने पर भी नाट्यकला की दृष्टि से पूर्ण सफल है। भास के प्रतिज्ञा० की सर्वाधिक विशेषता उसकी नाटकीयता, प्रभावात्मकता तथा अन्तर्द्वन्द्व का सम्यक्–निर्वाह है जो कि अन्य नाटकों में नहीं मिलता। प्रतिज्ञा० ही भास की एक मात्र ऐसी नाट्यकृति है, जिसमें कार्यान्विति की अपूर्व सफलता के कारण वस्तु संयोजना में किंचिदपि शिथिलता नहीं आ पाई है। इसकी दूसरी प्रमुख विशेषता है—तत्कालीन राजकीय समाज के यथार्थ चित्रण की चेष्टा। यह नाटक केवल-मात्र आदर्शों की भावना पर आधारित न होकर पूर्णतः यथार्थवादी है। समाज की कमजोरियों का भी इसमें यथास्थान चित्रण है। वास्तविकता तो यह है कि राजनैतिक तथा वीर रस की दृष्टि से एक ओर यह मुद्राराक्षस जैसे नाटकों का प्रेरक रहा है तो दूसरी ओर समाज के यथार्थ चित्रण की दृष्टि से मृच्छकटिक को भी इससे अवश्य प्रेरणा मिली है। समग्र-रूप में प्रतिज्ञा० में मुद्राराक्षस तथा मृच्छकटिक दोनों की विशेषताएं एकत्र उपलब्ध होती हैं। इन सबके साथ न तो यह मुद्राराक्षस के समान जटिल है, न मृच्छकटिक के समान विस्तृत ही। रंगमंचीयता इसका प्रधान गुण है। न तो इसमें कहीं वस्तु की जटिलता ही है और न विस्तार (फैलाव) ही। वर्णन तथा काव्यात्मकता का भी प्राचुर्य नहीं है। छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा कथानक को गतिशील बनाया गया है। भाषा चुस्त तथा संवाद मार्मिक हैं। पात्रों के अनुसार ही भाषा प्रयोग किया है। तृतीय चतुर्थ अंक इसी बात के साक्षी हैं कि भास में विविधता के निर्वाह की विदग्धता है। निष्कर्षतः अभिनय-कला की दृष्टि से प्रतिज्ञा० पूर्णतः सफल नाट्यकृति है।

यद्यपि यह स्पष्ट है कि प्रतिज्ञा० में वस्तु-योजना, चरित्र-चित्रण तथा नाट्यकला की दृष्टि से अनेक विशेषताएँ हैं, तथापि त्रुटियों का पूर्णतः अभाव हो तथा यह निर्दोष कृति हो—ऐसी बात नहीं है। भामह ने प्रतिज्ञा० में कृत्रिम हाथी के छल से वत्सराज के निग्रह की योजना को दोषपूर्ण माना है।[1] वत्सराज जबकि हस्तिविद्या में कुशल था, तो कृत्रिम हाथी के छल से बन्दी बनाने की कल्पना को स्वाभाविक नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार बंदी हो जाने पर पहले तो महासेन द्वारा आदराभिव्यक्ति, (आदर की भावना), किन्तु बाद में निष्कारण ही शृंखलाबद्ध दिखलाना भी दोषपूर्ण माना गया है।[2] किन्तु वास्तविकता यही है कि ये दोष भी आपाततः एव दोष प्रतीत होते हैं। उदयन हस्तविद्या में निपुण अवश्य था किन्तु उसे तो कृत्रिम हस्ति में संस्थापित सैनिकों द्वारा पकड़ा गया था। अतः नाटक की इस घटना पर दोषारोपण सर्वथा निराधार है। वास्तविकता तो यह है कि भास का

---

१. भामहालंकार, ४।३५-४१,

२. सं० क० दर्शन, पृ० २४०,

कृत्रिम-हस्ति का दृश्य नाटक में अपनी उत्कृष्टता रखता है। इसी कारण विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। किन्तु नाटक में उदयन का कुमार-विधि से सत्कार का आदेश[1] व्रण-प्रतिकर्मसंपादन[2] तथा शिक्षक के रूप में नियुक्ति आदि से स्पष्ट है कि उसे समादरपूर्वक मुक्त कर दिया था; तथापि बाद में अकारण ही बन्धनस्थ दिखलाना[3] कुछ अस्वाभाविक प्रतीत होता है। यद्यपि नाटक में अन्त तक उदयन को शत्रु रूप में ही चित्रित किया है,[4] अतः बहुत सम्भव है कि उसे नजरबंदी के रूप में ही मुक्त किया हो। अतएव नाटक में बन्धनस्थ रूप में तो निर्देश है किन्तु शब्दतः शृंखलाबद्ध कहीं नहीं लिखा है।[5] इसके अतिरिक्त लोककथाओं में ऐसा प्रचलित होगा, अतः इसे दोष-पक्ष में नहीं मानना चाहिए।[6]

स्वप्नवासवदत्ता की वस्तुयोजना तथा चरित्र-चित्रण—स्वप्न० प्रतिज्ञा० से भी अधिक उत्कृष्ट तथा सफल नाटक है। यह विशुद्ध रूप से प्रेमकथा पर आधारित है, इसमें लोकप्रिय ख्यात कथानक को मौलिक आधार पर प्रदर्शित किया गया है। इसमें वासवदत्ता की मृत्यु का प्रवाद फैलाकर पद्मावती के विवाह द्वारा मगध की सहायता से अपहृत-राज्य की प्राप्ति का कथानक है। स्वप्न० का समग्र वस्तुविधान बहुत ही स्वाभाविक है तथापि इसकी सर्वप्रमुख विशेषता चरित्र-चित्रण की है। भास ने इसमें नाटकीयता, कार्यों की प्रभावात्मकता, घटनाओं की कार्यान्विति तथा व्यापार-न्विति का सफल निर्वाह किया है। समस्त नाटक एक प्रकार की भावावेशता से परिपूर्ण है। स्वप्न० में भास की अभिव्यंजना शक्ति सर्वाधिक मुखर हो उठी है।

उदयन तथा वासवदत्ता का चरित्र अत्यधिक भावनापूर्ण है। उदयन यहाँ अन्य उदयन नाटकों के समान ललित ही नहीं हैं, अपितु दक्षिण तथा धीरोदत्त नायक है। यह रोमान्टिक प्रेमी है पर शूर भी है। प्रद्योत के दो शब्दों में वह वीर-मानी है।[7] स्वप्न० का उदयन एक ऐसा आदर्श पति है जो मृत वासवदत्ता को भी भुला नहीं पाता। ब्रह्मचारी की उक्ति से तथा घोषवती के प्रति प्रेमाभिव्यक्ति से

---

१. प्रतिज्ञा० २।९–१०,
२. वही, २।१३–१४,
३. वही, ३।५–६,
४. वही, २।९–१०, में दो बार शत्रु कहा है।
५. वही, ३।६ में निगडस्वन शब्द अवश्य है, पर प्रत्यक्षतः बन्धनस्थ कहीं नहीं लिखा है।
६. सं० क० दर्शन, पृ० २४०,
७. प्रतिज्ञा० २।१३–१४,

स्पष्ट है कि उदयन एक सहृदय गुणज्ञ-पति है। वासवदत्ता के अभाव में वह पद्मावती को स्वीकार अवश्य करता है किन्तु वासवदत्ता के प्रेम से उसका हृदय अभिभूत है, तथापि पद्मावती को भी अपना सहज स्नेह देता है। वह समानधर्मा है। पद्मावती को कभी भी मनोव्यथा का अनुभव नहीं होने देता। यहाँ तक कि विदूषक के पूछने पर भी व्यक्त नहीं करता। पद्मावती को भी उसके गुणों पर अनुरक्ति है। वासवदत्ता के प्रति उदयन के प्रेम की वह स्वयं प्रशंसा करती है।[1] उदयन के चरित्र से तथा व्यवहार से दोनों ही पद्मावती तथा वासवदत्ता संतुष्ट है। यही उसके चरित्र की विशेषता है। वासवदत्ता आदर्श में उदयन से भी आगे बढ़ गयी है। पति के लिए वह स्वयं जलने के बहाने दूर हो जाती है और यहाँ तक कि दूसरे विवाह की स्वीकृति दे देती है। यही नहीं, अपितु वह पद्मावती के साथ कभी कभी ईर्ष्यालुता-पूर्ण सपत्नी का व्यवहार नहीं करती। भास ने वासवदत्ता की महती उदारता, अपूर्वत्याग, अनन्य-पति-परायणता, तथा कर्तव्यपरायणता का जैसा आदर्श रूप चित्रित किया है, समस्त संस्कृत साहित्य में अपनी प्रकार का वह केवल एक ही है। वासवदत्ता के चरित्र से नाटक अत्यधिक भावना प्रधान, बन गया है। वास्तविकता यह है कि नाटक के आदि से अन्त तक उदयन ही केवल वासवदत्ता को नहीं भुला पाता, अपितु पाठक तथा दर्शक भी एक बार वासवदत्ता के सम्पर्क में आने पर उसे भुलाने में समर्थ नहीं होते।

पद्मावती का चरित्र भी अपने प्रकार का एक है। विदूषक के शब्दों में पद्मावती तरुणी, दर्शनीया, अकोपना, अनहंकारा, मधुरवाक्, सदाक्षिण्या तथा परिजनश्लाघ्या हैं।[2] वह इतनी विनम्र भी है कि अन्त में वासवदत्ता से क्षमा तक माँगती है।[3] निःसन्देह पद्मावती तथा वासवदत्ता दोनों का चरित्र अपने-अपने क्षेत्र में इतना आदर्श तथा उत्कृष्ट है कि यह निर्णय करना कठिन है कि दोनों मे कौन उत्कृष्टतर है। एक ओर उदयन पद्मावती के रूप, सौन्दर्य तथा गुणवत्ता का वर्णन करता नहीं अघाता[4] और उसके रूप, शील, माधुर्य को मान भी देता है, तथापि उसका मन वासवदत्ता में ही बंधा हुआ है।[5] वह दोनों को मान देता है पर एक के प्रति भी उदासीन नहीं होता है।[6] इसी तरह विदूषक भी दोनों में से एक को

१. स्वप्न० ४।४–५,
२. वही, ४।४–५,
३. वही, ६।१८–१९,
४. वही, पंचम का प्रवेशक
५. वही, ४।४,
६. वही, ४।४–५,

उत्कृष्ट बताने में सर्वथा असमर्थ है। दोनों का चरित्र अपने-अपने प्रकार का अद्भुत चरित्र है। विदूषक का चरित्र भी अन्य नाटकों से सर्वथा भिन्न तथा रूढ़ि से उठकर, सहृदय बुद्धिमान पात्र के रूप में चित्रित किया है।

स्वप्न वासवदत्ता घटना-विन्यास तथा नाट्यशिल्प की दृष्टि से भी उत्कृष्ट रचना है। विशेष रूप से कीथ ने ब्रह्मचारी के प्रयोग को सराहा है।[१] भास ने इस योजना द्वारा उदयन के वियोग की मार्मिक अभिव्यंजना की है। वासवदत्ता द्वारा माला गूंथने के प्रसंग में जिस घटना का विन्यास किया गया है वह भी कला की दृष्टि से उत्कृष्ट उदाहरण है।[२] इस योजना द्वारा भावनाओं का सहज प्रतिबिम्बन किया गया है। स्वप्न० का स्वप्न-दृश्य भी अत्यधिक प्रशंसनीय है। ऐसी कोई भी घटना नहीं जो अस्वाभाविक प्रतीत होती हो। सभी का अपना अपना महत्त्व है।

कला की दृष्टि से भास के समग्र नाटकों में स्वप्न० सर्वश्रेष्ठ रचना है। कीथ के शब्दों में कालिदास को छोड़कर वह किसी भी अन्य नाटककार से सफल है।[३] कवित्व नाटकीयता का सहायक बनकर ही आया है।[४] भाषा-शैली प्रांजल तथा प्रसादगुण सम्पन्न है। नाटक रसानुभूति में सर्वथा सफल है। शृंगार की प्रधानता में हास्य, वीर आदि का प्रक्षेप अनूठा बन पड़ा है। भिन्न-भिन्न रसों की सफल अभिव्यंजना है। दृश्य-विधान भी भास का अपना है। डा० व्यास ने स्वप्न० के नाटकीय संविधान को शिथिल माना है।[५] यह सत्य है कि प्रतिज्ञा० में जैसी गत्यात्मकता है उसका स्वप्न० में अभाव है। जान पड़ता है भास स्वप्न० को आदर्श-भूत कलात्मक रूप देने के प्रयत्न में गत्यात्मकता को भुला बैठे हैं। इसी कारण स्वप्न० में नाटकीय संविधान कुछ शिथिल तथा प्रभावात्मकता का अभाव प्रतीत होता है। किन्तु, गम्भीरता से देखा जाय तो यह भी आपाततः एवं दोष प्रतीत होता है। वास्तविकता यह है कि स्वप्न० की कथावस्तु बहुत ही आदर्श रूप में शालीनता से अग्रसर होती है। इस शालीनता को दोष मानना उचित नहीं है। भास ने नाटक में वासवदत्ता के न मरने का संकेत प्रारम्भ में ही दे दिया है। यह भी नाटकीय उत्सुकता तथा जिज्ञासा में बाधक अवश्य होता है। डा० व्यास ने इसे नाटकीय अपेक्षा माना[६] है।

---

१. संस्कृत ड्रामा, पृ० ११३,
२. वही, पृ० ११६,
३. सं०सा० इतिः हिन्दी प्राक्कथन, पृ० १११,
४. सं०क० दर्शन, पृ० २४२,
५. वही, पृ० २४१,
६. सं० क० दर्शन, व्यास पृ० २४१,

भास के उपर्युक्त दोनों ही ऐतिहासिक नाटक अपने-अपने प्रकार के श्रेष्ठ निदर्शन हैं। इन दोनों भावना-प्रधान नाट्य-कृतियों में नाट्यकला की दृष्टि से प्रभावात्मकता, कौतूहल वृत्ति तथा व्यापारान्विति आदि का समुचित निर्वाह हुआ है। इन दोनों ही नाट्यकृतियों में भास की सफलता का कारण उसकी संवादात्मकता है जिसमें भावात्मकता तथा नाटकीय गत्यात्मकता अक्षुण्ण रही है। वाक्य छोटे-छोटे तथा सार्थक हैं। कथावस्तु का कहीं भी न अनुचित फैलाव है न पात्रों की ही भरमार घटनाओं की अन्विति से कथा में प्रवाह है। कार्यान्विति तथा व्यापारान्विति का भी स्वाभाविक निर्वाह हुआ है। घटना-विन्यास सन्तुलित है। व्यर्थ की घटनाओं का अम्बार नहीं है। नाटकों में पात्र संख्या १६—१६ होने पर भी सन्तुलन नहीं बिगड़ा है। सभी पात्र सजीव तथा व्यक्तित्व प्रधान है। उदयन, वासवदत्ता, पद्मावती तथा यौगन्धरायण का चरित्र बहुत ही प्रभावपूर्ण है।

नाटक में उदयन को बहुपत्नीवान् के रूप में दिखलाने के कारण कुछ विद्वान् भास तथा भासकालीन सभ्यता पर कीचड़ उछालते हैं। किन्तु वास्तव में प्राचीन भारत मेंबहुपत्नीत्व में कोई दोष नहीं माना जाता था। विशेषत: उच्च वर्ग तथा राजाओं के यहाँ अनेक पत्नियाँ रहती थीं।[1] प्राचीन इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं जिनमें एकाधिक पत्नियों का उल्लेख है। किन्तु यदि इसे दोष भी मानें तो भी भास के नायक में यह दोष नहीं है। भास के उदयन ने मंत्रियों के लावाणकदाह के षडयंत्र के फलस्वरूप अनिच्छा से अनजाने में दूसरा विवाह किया है इसके अतिरिक्त दो पत्नियों के होने पर भी उदयन के चरित्र में दाक्षिण्य तथा समान-पति-धर्मी का रूप इतना उत्कृष्ट है कि कहीं बहुपत्नीत्व की बू तक नहीं आती। भास का उदयन समाज का जीता जागता पात्र है। उसका चरित्र निर्दोष है, पर मानव-सुलभ दुर्बलताएँ भी हैं। भास का उदयन सभी को प्यार करता है तथा प्यार किया भी जाता है। वह कला-प्रिय तथा प्रणयी होने पर भी स्त्रैण नहीं है, अपितु योद्धा है, वीर पुरुषार्थी है जो अन्तःपुर की चहारदीवारी में ही नहीं रहता, युद्ध स्थल में भी जाता है। वह लोक-कथाओं के नायक से सर्वथा भिन्न है। वह सदैव कर्तव्यपालन के प्रति उद्यत रहता है। दोष की दृष्टि से वह अधीर, कलाबिलासी आदि भी है। इन दोनों का नाट्य-शिल्प-विधान 'दृश्य' तत्त्व को सम्मुख रखकर किया गया है। वस्तु का प्रवाह है। शैली सरल है। कथनोपकथन संक्षिप्त, भावना-प्रधान तथा व्यक्तित्व के अनुरूप है। वासवदत्ता तथा यौगन्धरायण के चरित्रों में सजीवता तथा स्थान-स्थान पर मनोवैज्ञानिकता का मंजुल प्रयोग है।

---

१. **कालिदास के दुष्यन्त के बहुपत्नियाँ थी, किन्तु कण्व ने उसकी आलोचना नहीं की। भास ने महासेन को भी षोडषान्तःपुर शब्द लिखा है। स्वप्न० ६।६,**

भास वास्तव में मनोदशा के चित्रण में चतुर है। भारतीय-नाट्य-कला के अनुसार भास के ये दोनों नाटक रसानुभूति कराने में सफल हैं। स्वप्न० का शृंगार अश्लीलता से अछूता एवं विशुद्ध प्रेम का प्रतीक है। वह प्रेम, बलिदान, तपस्या तथा कर्तव्य पर टिका हुआ है। इसके साथ ही अन्तः बाह्य उभयत्र अन्तर्द्वन्द्व का भी अभाव नहीं है।

वैसे तो भास के सभी नाटक अभिनेय हैं तथा अपने-अपने रूप में सफल हैं, तथापि स्वप्न० में भास की कला सर्वाधिक रूप से प्रौढ़-रूप में आविर्भूत हुई है। अभिनेयता इनका प्रमुख गुण है। रंगमंच की दृष्टि से कुछ दृश्यों में भले ही परिवर्तन करना पड़े, तथापि इनकी अभिनेयता असंदिग्ध है। भास ने अपने नाटकों में तत्कालीन समाज विशेषत राज-परिवार का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। संभव है १९—२०वीं सदी की यथार्थवादिता के सिद्धान्त पर ये खरे न उतरें, तथापि इनमें प्राचीन सभ्यता संस्कृति का यथार्थ चित्रण है। प्राचीन काल से ही राजशेखर, वामन, अभिनव गुप्त आदि ने स्वप्न० को अपनी कसौटी पर कसा है और इसे भास की उत्कृष्टतम रचना स्वीकार किया है। अर्वाचीन समालोचक भी स्वप्न० को भास की उत्कृष्ट तथा महनीय प्रभावशाली रचना स्वीकार करते हैं।[1] कीथ के अनुसार भी यह भास की सर्वश्रेष्ठ रचना है।[2] राजशेखर के शब्दों में स्वप्न० ही भास की एक ऐसी अन्यतम रचना है जो कि आलोचना की अग्नि पर विशुद्ध कांचन सिद्ध हुई है।[3] भास की नाट्य-कला की सफलता के मुख्य कारण हैं—दृश्य योजना (कृत्रिम हाथी का एवं स्वप्न का दृश्य आदि) संवादात्मकता, चरित्र-चित्रण में कुशलता, तथा मानव भावों का सहज चित्रण आदि। वास्तव में भास अपनी नाट्य-कला की दृष्टि से सार्वभौम विशेषताओं के कारण महान् हैं।[4] संस्कृत साहित्य पर विशेषतः संस्कृत नाट्य-साहित्य पर इसका ऋण अक्षुण्ण है। भास ने अनेक प्रकार का दाय दिया है तथा उनका अनेक ने अनुकरण किया है।[5]

---

१. दि प्लेज एस्क्राइब्ड टु भास० देवधर, पृ० ६४, **समप्राब्लम्स ऑफ इंडियन** लिट० विंटरनिट्ज पृ० ११३, भास;

२. संस्कृत ड्रामा, पृ० १०३,

३. भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते-परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न-पावकः ॥

४. भासः अय्यरः पृ० ३४४,

५. वही, पृ० ३४७,

सांस्कृतिक चित्रण

राजनैतिक तथा भौगोलिक :

वत्सः—भास के ऐतिहासिक नाटक प्रतिज्ञा० तथा स्वप्न० का कथानक प्राचीन भारत के तीन प्रमुख राज्य वत्स, मगध, अवन्ति से सम्बन्धित हैं। भास के नाटकों से हमें "वत्स", राज्य का अच्छा ज्ञान होता है।[१] दोनों ही नाटकों का मुख्य घटनाचक्र "वत्स", तथा उसके राजा उदयन से सम्बन्धित है। बौद्ध-कालीन सुप्रसिद्ध १६ राज्यों में "वत्स", भी प्रमुख राज्य था।[२] अंगुत्तर निकाय तथा महावस्तु में उल्लिखित षोडश महाजनपदों में वत्स का उल्लेख हुआ है।[३] पाली के बौद्ध-ग्रन्थों में इसको "वंस" शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा कहीं-कहीं वंग पाठ भी देखा जाता है।[४] कथा० में भी "वत्स" देश का उल्लेख है।[५] भास ने वत्स का ही उल्लेख किया है। यही शुद्ध प्रतीत होता है। वंग तथा वंस इसके तद्भव रूप हैं।

कौशाम्बीः—वत्स की स्थिति कौशल के दक्षिण तथा काशी के पश्चिम में मानी जाती हैं। मगध तथा अवन्ति इसी के पड़ौसी थे। नाटक में कौशाम्बी का वत्स की राजधानी के रूप में उल्लेख हुआ है।[६] कथा० में कौशाम्बी को वत्स के मध्य में स्थित समृद्ध नगरी तथा भूमि की कर्णिका कहा है।[७] कौशाम्बी प्राचीन भारत की १९ मुख्यतम नगरियों में से एक मानी जाती है।[८] रायचौधरी के अनुसार वत्स गंगा के दक्षिण में स्थित था। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी, जो कि यमुना किनारे इलाहाबाद के निकट (उत्तर में ३५ मील दूर) "कौसम" नाम से आज भी प्रसिद्ध है।[९] पुराणों के अनुसार इसे जनमेजय के नप्ता निचक्षु ने बसाया था। कौशाम्बी के नामकरण के सम्बन्ध में बौद्ध ग्रन्थों में बतलाया हैं कि ऋषि कुसुम्ब कुसुम्भ के आश्रम में या उसके पास बसाने के कारण इसे कौशाम्बी कहा जाता था। इसके अलावा यह भी कहा जाता है कि विशालकाय कौसम के वृक्ष इस नगर के

---

१. स्वप्न० ६।८ तथा ५।१२,
२. बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २३,
३. हिन्दू सभ्यता : मुकर्जी, पृ० १७६,
४. वही, फुटनोट,
५. कथा० २।१।४,
६. स्वप्न० ६।१८–१९, आदि
७. कथा० २।१।५,
८. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया : पृ० १३१,
९. वही,

चारों ओर अधिक मात्रा में थे, इसलिए इसे कौशाम्बी कहा जाता रहा था।[1] पार्जिटर के अनुसार मगध के राजा बृहद्रथ के भाई कुशाम्ब के द्वारा बसायी जाने के कारण इसका नाम कौशाम्बी पड़ा। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि यह भारत की प्राचीन नगरी थी।

कौशाम्बी का सांस्कृतिक महत्त्व भी बहुत अधिक है। मुकर्जी के अनुसार वर्तमान भिलसा के मुख्य मार्ग द्वारा यह उज्जयनी से जुड़ी हुई थी।[2] रैप्सन में लिखा है कि कौशाम्बी उज्जैनी की सड़क से ४०० मील दूर बनारस से २५० मील दूर ऊपर प्रमुख मार्गों की केन्द्र थी। उज्जैनी से कौशाम्बी तक लम्बा मार्ग था। जल थल दोनों मार्गों से सम्बन्धित थी।[3] विनयपिटक के अनुसार भी कौशाम्बी दक्षिण और पश्चिम से आने वाले कौशल और मगध के यात्रियों का विश्राम स्थल थी। भास के सुप्रसिद्ध नाटक स्वप्न० तथा प्रतिज्ञा० के मुख्य-मुख्य दृश्य यहीं से सम्बन्धित हैं। नाटक में सहस्रानीक के नप्ता, शतानीकपुत्र उदयन को राजा कहा है। यही ऐतिहासिक भी है।[4] नाटक में उदयन को वत्सराज के अतिरिक्त कौशाम्बीश भी कहा है।[5]

लावाणकः— वत्स राज्य में ही लावाणक नामक ग्राम था। नाटक से ज्ञात होता है कि उदयन समय-समय पर इसी गांव में रहता था।[6] अतः सम्भव है कि इस गाँव में प्राकृतिक सौन्दर्य आदि की कुछ विशेषताएँ रही होंगीं। नाटक के अनुसार यह संभवतः मगध के निकट जमुना के दक्षिण में था। ब्रह्मचारी के संभाषण से यह स्पष्ट है कि लावाणक एक प्रख्यात शिक्षा केन्द्र भी था, जहाँ दूर-दूर से छात्र अध्ययनार्थ आते थे। ब्रह्मचारी भी राजगृह से वेद-अध्ययन के लिए लावाणक आया था।[7]

मगध : नाटक से तत्कालीन दूसरे प्रमुख राज्य मगध का भी ज्ञान होता है। यह भी १६ महाजन-पदों में प्रमुख था।[8] भास के अनुसार उदयन के समय

---

१. प्र० ऐ० ना० : जोशी, पृ० २४७,
२. हिन्दू सभ्यता पृ० १८०,
३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, पृ० १६६—६७,
४. इसी प्रबन्ध में इसी अध्याय का ऐतिहासिक विवेचन देखें,
५. प्रतिज्ञा० २।८—९,
६. स्वप्न० १।१२—१३,
७. वही,
८. हिन्दू सभ्यता : मुकर्जी, पृ० १७६,

यहाँ दर्शक राज्य करता था।[1] जिसकी बहिन पद्मावती[2] के साथ उदयन ने विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था। उदयन के समय मगध अधिक शक्तिशाली था। अतएव वत्स के कुछ भाग के अपहरण होने पर उसकी सहायता प्राप्त की थी। अतएव नाटक में इसे महान् राजकुल कहा है जिससे स्पष्ट है कि यह अवन्ति के समान[3] ही महान् था। राइज डेविड के अनुसार मगध में बुद्ध के समय ८० हजार के लगभग गाँव थे।[4] इससे इसकी विशालता स्पष्ट हो जाती है। राय चौधरी गया पटना आदि बिहार के जिलों को भी मगध में ही मानते हैं।[5] स्पष्टतः उस समय मगध अत्यधिक विशाल तथा एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य था।

राजगृहः—स्वप्न० में राजगृह का दो बार उल्लेख हुआ है।[6] नाटक में स्पष्टतः तपोवन में धर्माचरण के पश्चात् मदमावती तथा महाराजमाता का वहाँ जाने का उल्लेख है।[7] अतः प्रतीत होता है कि राजगृह उदयन के समय मगध की राजधानी थी तथा समस्त राजपरिजन वहीं रहता था। इतिहासकारों के अनुसार पहिले तो मगध की राजधानी गिरिव्रज थी, किन्तु बाद में राजगृह हो गयी थी।[8] बुद्ध के समय में हर्यककुल के प्रसिद्ध राजा बिम्बसार ने प्रारम्भ में गिरिव्रज में राजधानी रखी, किन्तु बाद में अपने नए राजप्रसाद के चतुर्दिक राजधानी बसाकर उसका नाम "राजगृह" रख दिया।[9] यही "राजगृह" गिरिव्रज के बहिर्भाग में स्थित थी। आज भी आधुनिक राजगिरि में उसकी विशाल प्राचीरें प्राचीन भग्नावशेष के रूप में उपलब्ध हैं।[10] राजगृह बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था। राइज-डेविड्स के अनुसार बौद्ध धर्म यहीं जन्मा। गिरिव्रज तथा राजगृह के लिए प्राचीन साहित्य में बृहद्रथपुर, वसुमती, कुशाग्रपुर, बिम्बसारपुरी, मगधपुर आदि नाम भी मिलते हैं।[11]

---

१. स्वप्न० १।५--६,
२. वही,
३. वही, १।७—८,
४. बुद्धिस्ट इंडिया : राइज डेविड्ज पृ० १७ तथा देखो २६ भी,
५. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया : पृ० १११,
६. स्वप्न० १।५-६, १२-१३,
७. स्वप्न० १।५-६,
८ हिन्दू सभ्यता, पृ० १८२,
९. प्रा० भा० इति : त्रिपाठी, पृ ७३,
१०. वही, फुटनोट,
११. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, पृ० १११,

अवन्ति-उज्जयनी—बौद्ध-साहित्य में जिन प्रसिद्ध नगरों का उल्लेख है उनमें पूर्वोक्त कौशाम्बी, राजगृह आदि के अलावा उज्जयनी भी अन्यतम नगर (अथव निगम) था। बौद्ध ग्रन्थों में इसे उज्जैनी कहा है।[1] स्वप्न० में उज्जयनी का एक राज्य के रूप में उल्लेख हुआ है।[2] यह उज्जयनी बौद्धकालीन सुप्रसिद्ध जनपद अवन्ति की राजधानी थी।[3] बौद्ध ग्रन्थों में (माहिस्मति) माहिस्मति का भी अवन्ति की राजधानी के रूप में उल्लेख हुआ।[4] किन्तु यह भी उज्जयनी का ही दूसरा नाम है। प्रसिद्धि के अनुसार यह शिप्रा के तट पर मालव प्रदेश की एक नगरी थी। नाटक में अवन्ति देश के राजा प्रद्योत को उज्जयनी का राजा लिखा है।[5]

उज्जयनी को भारत के इतिहास में सर्वाधिक सांस्कृतिक महत्त्व प्राप्त है। वैसे तो उज्जयनी अवन्ति देश की राजधानी थी तथापि उज्जयनी तथा अवन्ति का समान रूप से देश या राज्य के लिए प्रयोग हुआ है। भास को अवन्ति का परिचय तो था क्योंकि उसने वासवदत्ता का "अवन्तिका" नामकरण किया है, तथा उसे अवन्ति-राजपुत्री भी कहा।[6] तब भी प्रदेश के रूप में उज्जयनी प्रयोग किया है अवन्ति नहीं।

उज्जयनी का राजनैतिक तथा आर्थिक महत्त्व बहुत था। यह व्यापार का केन्द्र भी। यह कई बड़े मार्गों को जोड़ती थी। अतः व्यापार एवं यातायात की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया था। यहाँ उदक-स्थान भी बहुत थे[7]। धार्मिक महत्त्व भी कम न था। यहाँ के सुप्रसिद्ध "महाकाल" के मंदिर के कारण इसे शिवपुरी भी कहते हैं। भारत की प्रसिद्ध सप्तपुरियों में इसकी परिगणना है। स्कन्द पुराण के आवन्त्यखण्ड में इसकी महिमा का विशेष वर्णन किया गया है। अवन्ति को प्राचीन साहित्य में अवन्तिका, पद्मावती, कुशस्थली, भोगवती, हिरण्यवती, आकरवती, विशाला आदि नामों के रूप में अनेकशः उल्लेख हुआ है, जिनसे इसका वैभव प्रकट

---

१. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० ८२,
२. स्वप्न० १।७–८, ३।४–५,
३. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० ७१,
४. हिन्दू सभ्यता, पृ० १७७,
५. स्वप्न० १।७–८,
६. स्वप्न० १।१२–१३, ६।१२–१३,
७. वही, ३।४–५,

होता है। इसके सभी नामकरण सकारण हुए है[1]। अन्य पुराणों के अनुसार हैहय वंश की अवन्ति शाखा के नाम पर इस प्रदेश का नाम पड़ा।

उज्जयनी एक प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्र भी थी। प्रसिद्धि के अनुसार कृष्ण सुदामा और बलराम ने यहीं सांदीपन से शिक्षा ग्रहण की थी। जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म की यह केन्द्र रही है। जैनों के अनुसार महावीर ने यहीं कहीं समाधि ली थी। बौद्धों का तो यह प्रसिद्ध केन्द्र था। डाक्टर राइज डेविड्ज का कथन है कि वैसे बौद्ध धर्म मगध में जन्मा किन्तु वास्तविक रूप से उसने अवन्ति में ही वसन धारण किए अर्थात् यहीं के प्राकृत में ग्रन्थ रचे गए[2]। ब्राह्मण-धर्म का यह न केवल प्राचीन भारत में अपितु आज भी सुप्रसिद्ध तीर्थ माना जाता है।

कांपिल्य :—नाटक में कांपिल्य नाम के नगर का भी उल्लेख हुआ है। नाटक में इसके राजा का नाम ब्रह्मदत्त लिखा है।[3] नामोल्लेख के अतिरिक्त इसके सम्बन्ध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं होता। रामायण के बाल काण्ड के सर्ग ३३ के अनुसार भी यहाँ ब्रह्मदत्त राज्य करता था।[4] अनेक प्राचीन ग्रन्थों में बनारस के राजा के रूप में ब्रह्मदत्त का उल्लेख अवश्य है। वायुपुरायण में पांचाल के ब्रह्मदत्त का भी उल्लेख है।[5] अतः भास का यह उल्लेख ऐतिहासिक है। इतिहासकारों के अनुसार यह नगर अतिप्राचीन था तथा यह पाँचाल का एक ही भाग था। रायचौधरी के अनुसार पांचाल राज्य, रूहेलखण्ड तथा दोआब से बनता है। यह वत्स से पश्चिमोत्तर में था। महाभारत, जातक, दिव्यावदान आदि प्राचीन साहित्य में इसके दो भागों का निर्देश है। भागीरथी दोनों की विभाजन रेखा बनाती थी।[6] बतलाया गया है कि उत्तरी पांचाल की राजधानी छत्रवती या अहिच्छत्र थी, दक्षिण की कांपिल्य।[7] "कांपिल्य" भी अति प्राचीन नगर था इसका उल्लेख यजुर्वेद में भी प्राप्त होता है।

---

१. स्कन्द पुराण में अवन्ति के नामकरण के सम्बन्ध में बतलाया है कि यह नगरी प्रतिकल्प में देवतीर्थ औषधि आदि का अवन अर्थात् रक्षण करती थी अतः अवन्ति नाम पड़ा। इसी प्रकार उज्जैनी के सम्बन्ध में लिखा है कि शिवजी द्वारा त्रिपुरासुर के उज्जित करने पर इसका नाम उज्जयिनी पड़ा।

२. देखो प्रा० भा० इति० त्रिपाठी पृ०, ७२,

३. स्वप्न० ३।६–७,

४. रामायण बालकांड ३३।१६,

५. वायुपुराण ६६।१८०,

६. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, पृ० १३४–५,

७. वही,

इसका वैदिक रूप "कांपील", पाली रूप "कांपिल्ल" था तथा शुद्ध साहित्यिक रूप कांपिल्य है।[१] इसे कनिंघम गंगा के निकट फररुखाबाद के समीप मानते हैं।[२] रायचौधरी ने इसे गंगा तथा चम्बल के बीच माना है।[३] पांचाल भी प्राचीन काल के १६ जनपदों में से एक था।[४] इसके अन्य प्रसिद्ध नगर कान्यकुब्ज आदि थे। उत्तर प्रदेश के बरेली, बदायूँ तथा फररुखाबाद आदि इसकी सीमा में आते थे।

नाटक में आरूणि नाम के राजा का उल्लेख है, जिसने उदयन के राज्य का अपहरण किया था।[५] नाटक के सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि आरूणि का राज्य त्रिपथगा के समीप था।[६] विशेष इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त राज्यों तथा नगरों के अतिरिक्त नाटक में काशीराज, बंग के राजा, सौराष्ट्र, मिथिला तथा शूरसेन के राजाओं का भी उल्लेख हुआ है।[७] किन्तु नाटक से इनके सम्बन्ध में अधिक कुछ ज्ञात नहीं होता।

भास के नाटकों से कुछ नदी तथा पहाड़ों के नाम आदि का भी ज्ञान होता है। त्रिपथगा[८] जिसका कि पहले उल्लेख हो चुका है, गंगा के लिए प्रयुक्त हुआ है। नर्मदा[९] का भी नाटक में उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि नर्मदा भी वत्स की सीमा बनाती थी तथा वह अवन्ति और वत्स के मध्य थी। नाटक में मदगंधीर[१०] का "मन्दर",[११] हिमवत्[१२] तथा विन्ध्य[१३] का भी उल्लेख है। इसी प्रकार इनमें कुछ विशेष वनों के सम्बन्ध में भी ज्ञात होता है। प्रतिज्ञा० के अनुसार कोशाम्बी से निकलकर नर्मदा को पारकर वेणुवन पड़ता था।[१४] संभवतः यह नाम बांसों के आधिक्य के

---

१. देखो बी० सी० ला० वाल्यूम० भाग० २, पृ० २३९–४२,
२. वही,
३. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया पृ० १३४–५,
४. बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० ७,
५. देखिये इसी प्रबन्ध का ऐति० विवेचन,
६. स्वप्न० ५।११–१३,
७. प्रतिज्ञा० २।८,
८. स्वप्न० ५।१२,
९. प्रतिज्ञा० १।६–७,
१०. वही, १।६–७,
११. वही, २।९,
१२. स्वप्न० ६।१९,
१३. प्रतिज्ञा० ३।५,
१४. प्रतिज्ञा० १।६–७,

कारण पड़ा है जो कौशाम्बी के चारों ओर घिरा था। बिम्बसार ने बौद्धसंघ को राजगृह का प्रसिद्ध वेणुवन दिया था।[1] दोनों में कितना साम्य है, कहा नहीं जा सकता। नाटक में नागवन का कई बार उल्लेख हुआ है।[2] नाटक से ज्ञात होता है कि यह वेणुवन के ही कुछ दूर या उसकी सीमा में था। इसके अलावा शरवण तथा राज प्रासादों में कृत्रिम रूप में निर्मित दारू-पर्वत, सप्तच्छदवन आदि का भी प्रयोग हुआ है।

(१) **सामाजिक-वर्णाश्रम व्यवस्थाः**—भास के प्रतिज्ञा० तथा स्वप्न० से न केवल प्राचीन भारत की राजनैतिक तथा भौगोलिक स्थिति पर ही प्रकाश पड़ता है, अपितु प्राचीन भारत के समाज, संस्कृति तथा सभ्यता का भी ज्ञान होता है। नाटकों के अनुसार भास के समय में भारत में वर्णाश्रम व्यवस्था थी। वर्णव्यवस्था के रूप में जातिप्रथा का अस्तित्व था, ब्राह्मण आदि जातियाँ भी थीं।[3] विद्वानों के अनुसार उस समय समाज में ब्राह्मणों का सम्मान होता था। प्राचीन काल से ही वर्ण-व्यवस्था का ऊंचा स्थान था।[4] ब्राह्मण धार्मिक-कार्य तथा शान्ति-निमित्त भोजन भी करते थे।[5] किन्तु भास के समय में बौद्ध अपने उत्कर्ष पर थे, वे ब्राह्मणों को सम्भवतः कुछ हेय मानते थे।[6]

भास के समय में आश्रम व्यवस्था थी। आश्रमों के लिए पृथक्-पृथक् स्थान होते थे। तपोवन में वानप्रस्थी तथा सन्यासी रहते थे ब्रह्मचारी गुरु के साथ रहकर आश्रम में वेदाध्ययन करते थे। आश्रम से अध्ययन पूर्ण करके ही ब्रह्मचारी लौटता था[7]। अध्ययन की समाप्ति में गुरु-दक्षिणा भी दी जाती थी[8]। गृहस्थ भी अपने-अपने धर्म के अनुकूल आचरण करते थे। तपोवन में तापसी भी रहती थीं। बाहर की वयोवृद्ध स्त्रियाँ भी धर्म सेवन को आ सकती थी किन्तु युवतियों को आश्रम में रहना नियम-विरुद्ध था[9]। आश्रमवासी सन्तुष्ट रहते थे।[10] सभवतः कुछ लोग वृत्ति

१. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० ७४,
२. वही,
३. प्रतिज्ञा० १।१६—१७, २।१३ १४,
४. प्रा० भा० शा० पद्धति, पृ० ६३,
५. प्रतिज्ञा० १।१६—१७,
६. प्रतिज्ञा० ३।१—२,
७. स्वप्न० १।१२—१३,
८. वही, १।८,
९. वही, १।१२—१३,
१०. वही, १।८—९,

के उद्देश्य से भी सन्यासी बन जाते थे[1]। तपोवन में रहने के लिए अलग-अलग व्यवस्था थी। परिव्राजकों की निश्चित वेश-भूषा होती[2] थी। गृहस्थी तथा राज-परिवार तपोवनों में आकर दान-पुण्य करते थे तथा तपस्वियों द्वारा दान स्वीकार करने पर अपने को कृतार्थ समझते थे[3]। तपोवन बहुत ही शान्त, ग्राम्य वातावरण से दूर तथा नगर परिभव से उन्मुक्त होते थे[4]। नाटक में तपोवन का सुन्दर दृश्य अत्यन्त प्रांजल रूप में वर्णित है।[5] नाटक में इसे धीर तथा निस्पृहों का आश्रम कहा है। तपोवन में प्रायः धर्माचरण होता था। भास ने तपोवन को पीड़ा पहुँचाने वालों को अधर्मी तथा धर्मद्रोही कहा है।[6] राजाओं का धर्म तपोवन की रक्षा करना होता था। वे धर्म पीड़ा से बचते थे।[7] नाटक से जान पड़ता है कि कोई भी यहाँ तक कि राजा भी तपस्वियों के प्रति परुष व्यवहार नहीं करता था। पशु पक्षी स्वच्छन्द थे, दया का राज्य था। ऋषि यज्ञ करते थे। तपोवनों में अतिथि सत्कार होता था। तपोवनों को अतिथियों का स्वगेह[8] तथा सर्वजन साधारण कहा है।[9] तपोवनों में वानप्रस्थी भी रहते थे तथा सन्यासी एवं परिव्राजक भी। यहाँ रहने वाले याचना नहीं करते थे—सन्तुष्ट रहते थे। बाहर का अतिथि ही माँगता था।[10] उसकी भी अर्थ, भोग वस्त्र आदि की इच्छा नहीं, अपितु केवल धर्मपालन तथा चरित्र-रक्षा के लिए ही प्रार्थना करता है।[11] स्पष्ट है कि उस समय नैतिकता तथा आदर्श का अधिक महत्त्व था। आश्रम व्यवस्था धर्म का प्रमुख अंग थी। भास भी इसके पक्षपाती थे।

धर्म—समाज में धर्म की प्रबलता थी। देवता के रूप में यक्षिणी की पूजा होती थी। नाटक में उसे भगवती शब्द प्रयुक्त है तथा यक्षिणी पूजा को देव कार्य

---

१. स्वप्न० १।६,

२. प्राचीन काल में दो प्रकार के साधु होते थे, सन्यासी तथा परिव्राजक। सन्यासी स्थायी निवास भी करते थे, पर परिव्राजक (परित्यज्य सर्वं, परितो वा व्रजतीति) घूमते फिरते रहते थे। यौगन्धरायण परिव्राजक था।

३. स्वप्न० १।७–८,

४. वही, १।३–५, आदि,

५. वही, १।१–७,

६. स्वप्न० १।३–४,

७. वही, १।५,

८. वही, १।७–८,

९. वही, १।१२–१३,

१०. वही, १।८–६,

११. वही, १।६,

कहा है। विशेषत: कालाष्टमी को कुमारी लड़कियां यक्षिणी की पूजा करती थी।[1] अवन्ति की अवन्ति सुन्दरी यक्षिणी का उल्लेख है।[2] साधारणत: किसी भी कठिन काम से पूर्व देवताओं के स्मरण तथा प्रणमन करने की परम्परा थी। नाटक में राजा भी शिकार जाने से पूर्व देवताओं को प्रणाम करता है। देवताओं के मंदिर भी होते थे। इन्हें देवकुल-पीठिका कहते[3] थे। देवताओं में यक्षिणी के अलावा कार्तिकेय,[4] लोहितकात्यायनी शिव आदि प्रमुख थे।[5] राजा भी देव पूजा करते थे।[6] ज्ञात होता है कि विशेष विधि-विधान से विशेष पर्वों पर पूजा होती थी।[7] नाटक से तिथि पूजा के सम्बन्ध में भी ज्ञात होता है। भास ने राजा द्वारा चतुर्दशी पूजा का उल्लेख किया हैं।[8] नाटक में एक स्थान पर चतुष्पथ विधि में कुत्तों की बलि देने का भी उल्लेख[9] है। नाटक से यज्ञीय क्रिया-कलाप का भी पता चलता है। इनमें पशु-बलि भी दी जाती थी। नाटक में पशु को यज्ञार्थ कहा है।[10] इन उल्लेखों से भास के व्यक्तित्व तथा विचारों का भी ज्ञान होता है। संक्षेप में उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भास ब्राह्मण धर्म में अनन्य निष्ठा रखता था तथा तंत्र शास्त्र, कर्मकाण्ड एवं हिन्दूधर्म-दर्शन का उन्हें सूक्ष्म ज्ञान था।

ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त नाटक से उस समय जैन, बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में ज्ञान होता है। श्रमणों का नाटक में उल्लेख है। नाटक से उस समय में परिवृद्ध बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म की कटुता पर भी प्रकाश पड़ता है। श्रमणों को उपासक भी कहा गया है। इनकी दृष्टि में ब्राह्मण होना पाप माना जाता था[11]। भास ने प्रसंगत: श्रमणक की चन्द्र से उपमा दी है[12]। किन्तु, कुछ श्रमणक अशिष्ट भी होते थे।

---

१. प्रतिज्ञा० ३।५–६, पृ० ९२–९४,
२. वही, पृ० ९२–९४, तृ० अंक,
३. प्रतिज्ञा० तृतीय अंक,
४. वही, २।२,
५. वही, देखो तृ० अंक का प्रारंभ
६. वही, ३।३-४,
७. देखिये वही, ३।३-६,
८. वही, तंत्र-साहित्य में विस्तार से तिथि पूजा का विधान प्राप्त है।
९. वही, तृतीय का अन्त,
१०. वही, २।१०,
११. वही, तृ० अंक का अन्त तथा ३।१–२,
१२. वही,

प्रतिज्ञा० से उनके आचार-विचार का भी पता चलता है[1]। संभवतः कुछ श्रमणक सुरा भी पीते थे[2]। ये अभिमानी तथा आत्म-प्रशंसक के रूप में चित्रित हैं। एक स्थान पर श्रमणक शाप देता है तथा अपने जादुई प्रभाव दिखाने की सामर्थ्य का बखान करता है[3]। नाटक में उन्हें "भगवन्" शब्द प्रयुक्त हुआ है। अतः ज्ञात होता है कि इस समय बौद्ध धर्म का सम्मान होता था।

विवाह संस्था—नाटक से विवाह-संस्था के सम्बन्ध में नवीन जानकारी होती है। ज्ञात होता है कि विवाह-कार्य धार्मिक प्रक्रिया के साथ सम्पन्न होता था। लड़कियों के विवाह के लिए उनके पिता आदि "दूत-संपात" करते थे[4]। कन्या-पक्ष ही वर की तलाश करता था। वर तलाश करने में कुल पर विशेष ध्यान दिया जाता था[5]। वर की विज्ञान-रूपता आवश्यक होती थी। लड़की भी मुख्यतः वर की सुन्दरता तथा अन्य गुणों को महत्त्व देती थी। कभी-कभी वर भी स्वयं वधू का वरण कर लेता था[6]। कन्यादान की परम्परा थी[7]। राजाओं में कन्या की सुन्दरता तथा श्रेष्ठता आदि के ज्ञान होने पर कन्या की याचना के लिए भी दूत भेजे जाते थे[8]। कन्या-प्रदान के सम्बन्ध में गोत्र की अनुकूलता का ध्यान रखा जाता था[9]। वर के चुनाव में वर के गुण, कुल, चरित्र, रूप आदि की जाँच की जाती थी।[10] कभी-कभी अनुकूल कन्या देखने पर वर भी चरित्र गुण आदि से कन्या-पक्ष को लुभाते थे।[11] भास ने वर को संपत्ति लिखा है। कन्या के लिए सुन्दर वर-संपत्ति खोजने को पिता आदि सभी संभव प्रयत्न करते थे।[12] पुत्री के विवाह के विषय में पत्नी से विशेष रूप से परामर्श भी किया जाता था।[13] सामान्यतः सभी परिजन को विवाह

१. वही,
२. वही,
३. वही,
४. स्वप्न० १।७–८
५. वही,
६. देखिये स्वप्न० का द्वि० अंक।
७. वही,
८. प्रतिज्ञा० २।१ से पूर्व
९. वही,
१०. प्रतिज्ञा० २।३–४,
११. वही, २।७–८,
१२. वही, २।५–६
१३. वही,

के सम्बन्ध में राय देने का अधिकार था। नाटक में इसे सर्वसाधारण विधि कहा है[1]। बहु-विवाह की प्रथा अवश्य थी। वैसे ऋग्वेद काल से ही बहुविवाह प्रचलित था, पर बडे लोगों में ही। इसी प्रकार भास के समय भी बड़े लोगों में यह प्रथा थी। भास ने भी महासेन के षोडषान्तःपुर का उल्लेख किया है[2]। किन्तु उस समय में बहु विवाह के प्रति घृणा पैदा हो रही थी तथा इसे अस्वाभाविक भी समझा जाता था। उस समय के राजनैतिक वातावरण से स्पष्ट है कि राजनैतिक उद्देश्य के लिए प्रायः वैवाहिक संधियाँ हुआ करती थीं तथापि भास इसे बुरा मानते हैं। इसी कारण उदयन का दूसरा विवाह कराने के लिए ग्रामदाह का छल-प्रयोग किया गया है। नाटक में उदयन भी स्थान-स्थान पर दूसरे विवाह के प्रति अनिच्छा तथा घृणा व्यक्त करता है। अतः उदयन को अनजाने में मंत्रियों के छल से दूसरा विवाह करना पड़ा।

उस समय बाल-विवाह नहीं होते थे। नाटक से स्पष्ट है कि पद्मावती का तरुणी होने पर ही विवाह हुआ था[3]। संभवतः १६ वर्ष के पश्चात् ही कन्या का विवाहकाल माना जाता था। वह तभी श्वसुर-परिचरण में समर्थ होती थी और उसका विवाह कर दिया जाता था[4]। भास के समय में राक्षस-विवाह भी होते थे किन्तु परिस्थिति-वश इसे भी क्षात्र-धर्म-सम्मत मान लिया जाता था[5]। तथापि समाज में अदत्तापनयन बुरा माना जाता था। नाटक में इसे तस्कर-वृत्ति कहा[6] है। विवाह में अग्नि-साक्षी का महत्त्व था। राक्षस-विवाह के उपरान्त भी उसे वैध रूप देने के लिए कुछ प्रतीकात्मक संस्कार करने होते थे, जैसे नाटक में चित्रपट तथा वीणा-व्यपदेश का उल्लेख[7] है। विवाह के समय कुछ धार्मिक क्रिया भी की जाती थीं। नाटक में उल्लिखित "कौतुक मंगल" भी एक ऐसी ही क्रिया थी[8]। विवाह में नक्षत्रादि का ध्यान रखा जाता था। अच्छे नक्षत्र में ही विवाह किया जाता था।

---

१. वही, २।३-४,
२. स्वप्न० ६।६,
३. वही, ४।४-५,
४. प्रतिज्ञा० २।६-७,
५. वही, ४।२३-२४,
६. वही, ४।१६-१७,
७. स्वप्न० ६।११-१२, प्रतिज्ञा० ४।२३-२४,
८. देखो स्वप्न० का द्वि० अंक, कौतुक-विवाह-सूत्र को कहते थे, उसके बांधने का मंगल कृत्य 'कौतुक मंगल' कहलाता था।,

विवाह एक मंगल-कार्य माना जाता था।[१] इसी वैवाहिक मंगल कृत्य में कौतुक-मंगल नामक कृत्य के सम्पादन करने के लिए एक माला बनायी जाती थी, जिसे कौतुकमाला कहते थे[२]। कालिदास ने भी इसका रघुवंश और कुमार-संभव में कई जगह उल्लेख किया है। आजकल भी इसका प्रचलन किसी न किसी रूप में होता है। इस माला में अनेक प्रकार की सौभाग्य-प्रद औषधि गूंथी जाती थी।[३] (अविधवा करने वाली तथा सपत्नी मर्दन करने वाली)। विधवा होना तथा सपत्नी होना बुरा माना जाता था[४]। विवाह संस्कार के प्रारंभ में वर को स्नान कराया जाता था[५]। सुवासिनी (अविधवा) ही जामाता को चतु:शाला में ले जाती थीं तथा उन्हीं के द्वारा कौतुक मंगल संस्कार होता था[६]। विवाह के पश्चात् वर का मित्रों से परिचय कराया जाता था जिसे नाटक में "सुहृज्जन दर्शन" कहा है[७]। विवाह के अन्त में राजा उपहार भी देते थे। भृंगार एक ऐसा ही उपहार था[८]।

स्त्री–दशा:—समाज में स्त्रियों का सम्मान था। वे समान रूप से कार्यों में राय भी देती थीं तथा समान आसन पर बैठती थीं।[९] उन्हें शिक्षा का अधिकार था। पढ़ने लिखने के अलावा गाने बजाने में तथा चित्रकला में, माला गूंथने आदि ललित कलाओं में निपुण होती थीं। उदक-क्रीड़ा में भी रुचि होती थी।[१०]कला सिखाने को शिक्षक रखे जाते थे, कन्या सीखने भी जाती थी।[११] विवाहितों को उनके पति सिखाते[१३] थे विवाहित स्त्रियाँ पर्दा करती थी[१२] तथा

---

१. स्वप्न० ६।११-१२,
२. स्वप्न० तृतीय का प्रारम्भ,
३. वही, तृतीय अंक,
४. वही,
५. वही,
६. वही,
७. स्वप्न० ४।८-९,
८. प्रतिज्ञा० ४।२१,
९. स्वप्न० ६।३-४,
१०. देखो स्वप्न० का चतुर्थ अंक,
११. प्रतिज्ञा० २।६-७,
१२. स्वप्न० ६।१६-१७, विन्टरनित्ज ने भास के यवनिका शब्द का अर्थ कारपैट माना है, पर्दा नहीं, सम० प्रा० इ० लि० पृ०११८, किन्तु वास्तविकता यही है कि यह शब्द अवगुण्ठन के लिए ही यहाँ प्रयुक्त है। इसके अतिरिक्त पर्दा को कंचुक शब्द भी प्रयुक्त है। देखो स्वप्न० ३।५–६,

अन्य पुरुषों के सम्मुख नहीं जाती थीं। कन्या पर्दा नहीं करती थी। स्त्रियों की चरित्र-रक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था।[१] पति की अनुपस्थिति में स्त्रियों की चरित्र-रक्षा के लिए उनके संरक्षक सावधान रहते थे। स्वयं स्त्रियाँ भी पर पुरुष संकीर्तन तथा दर्शन को दोष मानती थीं।[२] पति भी स्त्री के चरित्र-रक्षा को उत्तरदायी था। वे स्वयं भी चरित्र रक्षा को सचेष्ट रहती थीं। चरित्र-रक्षा के लिए विश्वासपात्रों के पास "न्यास" भी किया गया है।[३] पुरुष भी विवाहित स्त्री-दर्शन में दोष मानते थे। पर कन्या-दर्शन दोष-युक्त न था।[४]

व्यवसाय में भी स्त्रियाँ भाग लेती थी। नाटक में शौण्डिणी के शराब बेचने का उल्लेख है। स्त्रियों को घूमने को प्रमदवन अलग से होता था। स्त्रियों का सर्वविध दायित्व पुरुष पर था। पुरुष स्त्रियों के दायित्व को भार भी मानता था।[५] कोई अरुचिकर घटना होने पर स्त्रियाँ आत्म-हत्या भी कर बैठती थीं। नाटक में अंगारवती के आत्महत्या के प्रयास का संकेत हैं।[६]

लोक विश्वास—भास के नाटकों से उस समय में प्रचलित कुछ लोकविश्वास तथा मान्यताओं का भी ज्ञान होता है। नाटकों से ज्ञात होता है कि समाज भाग्यवादी अधिक था। कर्म करते हुए भी उसका परिणाम तथा फल अदृष्ट के आधीन माना जाता था। यौगन्धरायण के शब्दों में कालक्रम के अनुसार चक्रार-पंक्ति के समान (संसार की) भाग्य पंक्ति भी बदलती रहती है।[७] भाग्य को ही दुःख-सुख एवं हर्ष-विषाद का कारण माना जाता था।[८] यह भी एक धारणा थी कि भाग्य के अनुसार ही सब बनता बिगडता है।[९] उस समय कर्म के आगे भी अदृष्ट शक्ति मानी जाती थी, जिसमें किसी का हस्तक्षेप संभव न था। अतएव विधि अनतिक्रमणीय माना गया है।[१०] संसार की समस्त घटनाएँ अंतिम रूप से दैव या भाग्य के द्वारा ही सम्पन्न मानी जाती थी। कांचुकीय कन्या-प्रदान में अ तिम रूप से भाग्य को ही

---

१. स्वप्न० १।६,
२. वही १।१२–१३,
३. वही १।६–१०,
४. प्रतिज्ञा० ३।५–६,
५. स्वप्न० ५।१,
६. प्रतिज्ञा० ४।२३–२४,
७. स्वप्न० १।४,
८. वही ६।५,
९. प्रतिज्ञा० १।३,
१०. स्वप्न० ४।५–६

निर्णायक मानना है।[1] किन्तु भास ने स्वयं भाग्यवादी होने पर भी उत्साह को पर्याप्त महत्त्व दिया है।[2] तथापि अंतिम स्वायत्तता भाग्य की ही मानी गई है।[3]

भासकालीन समाज में भविष्यवाणियों पर भी अधिक विश्वास किया जाता था। भविष्यवाणियाँ प्रायः सिद्ध लोग किया करते थे। भविष्यवाणियों की पूर्व परीक्षा करने पर ही इनके सत्य होने में विश्वास किया जाता था। यह भी मान्यता थी कि भाग्य भी सिद्ध-वाक्यों का उल्लंघन नहीं कर सकता।[4] सम्भवतः भविष्य-वक्ता पेशेवर भी होते थे। नाटक में ऐसे लोगों को "आदेशिक" शब्द प्रयुक्त है।[5] भास ने पुष्पक भद्र आदि सिद्धों का उल्लेख भी किया है।[6] लोगों में आजकल की भाँति कुछ विश्वास भी घर कर गए थे। प्रायः नक्षत्रों के शुभाशुभ पर ध्यान रखा जाता था। मन्त्रोषधि में अटूट विश्वास था। नाटक में अनेक स्थानों पर इनका उल्लेख है। विवाह आदि शुभ कार्यों में सुवासिनी (अविधवा) को ही शुभ मानते थे।[7] शांति आदि के उद्देश्य से ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।[8] उन्हें दान भी दिया जाता था। ऐसी भी धारणा थी कि उदक स्नान से स्वप्न दीखते हैं।[9] स्वप्नों के शुभाशुभ फल में विश्वास किया जाता था।[10] अशुभ कार्य के निवारण तथा शान्ति एवं सुरक्षा के निमित्त रक्षा-सूत्र का प्रयोग भी करते थे। नाटक में इसे "प्रतिसरा" कहा है।[11] 'प्रतिसरा', वधूजन अर्थात् सौभाग्यनी स्त्रियों द्वारा ही बनाया जाता था।

क्रीड़ा-विनोद—स्त्री-पुरुष विनोद-प्रिय होने के साथ-साथ अनेक प्रकार के खेल भी खेलते थे। स्त्रियाँ कुमारी अवस्था तक ही स्वच्छन्द रूप से खेल सकती थीं। कन्दुक-क्रीड़ा उनका प्रिय खेल था।[12] वे विवाहोपरांत श्वसुर-घर में नहीं खेल सकती

---

१ प्रतिज्ञा० २ १.
२. वही १।१८,
३. वही, २।५,
४. स्वप्न० १।११,
५. वही १।५–७,
६. वही,
७. स्वप्न० अंक ३,
८. प्रतिज्ञा० १।१६–१७,
९. स्वप्न० ५।८–९
१०. प्रतिज्ञा० १।१–२
११. प्रतिज्ञा० १।३–५,
१२. स्वप्न० अंक २,

थी ।[१] वे वीणा बजाना भी सीखती थी ।[२] पुरुष भी वीणा-वाद्य में पटु होते थे । गान्धर्व-वेद भी एक वेद माना जाता था ।[3] शीर्ष-वेदना के लिए विनोद किया जाता था ।[४] परस्पर मनोरंजन के लिए भी हास-परिहास होते ।[५] दृष्टिविलोभन के लिए सजावट करते,[६] तथा कथा कहते थे ।[७] पुरुष मृगया के शौकिन होते थे । हस्तिविद्या में विशेष रुचि होती थी । हस्ति पकड़ना भी एक विद्या थी ।[८] कुंजर-ज्ञान प्रायः हर एक को नहीं होता था, यही कारण है कि उस समय यह ज्ञान एक विशेष अभिमान का कारण था ।[९] हस्ति को शिक्षा भी दी जाती थी ।[१०] नील-हस्ति आदि इनकी विशेष श्रेणियाँ भी थीं ।

शिक्षा—शिक्षा अनेकांगी थी । आश्रमों में वेदाध्ययन होता था ।[११] अन्त में गुरु-दक्षिणा भी दी जाती ।[१२] गान्धर्व विद्या भी वेद के रूप में उल्लिखित है ।[१३] हस्तिविद्या भी जानते थे । केवल वीणा द्वारा हाथी वश में करना,[१४] मंत्रौषधि के प्रयोग द्वारा हस्ति पर नियंत्रण पाना,[१५] आदि इसी के अंग थे । इस समय इसके विशेषज्ञ भी होते थे । लोग गान-वाद्य भी सीखते थे । वीणा लोकप्रिय वाद्य था । वीणा-शिक्षणालय भी होते थे । नाटक में इसे "नारदीया" कहा है ।[१६] नाटक से अर्थशास्त्र, व्यायाम,[१७] मंत्र विद्या,[१८] नक्षत्रविद्या तथा ग्रहण आदि का भी ज्ञान

---

१. प्रतिज्ञा० २।१३–१४,
२. स्वप्न० ४।१ के पूर्व,
३. प्रतिज्ञा० २।१०–११,
४. स्वप्न० अंक ५ का प्रवेशक,
५. स्वप्न० ४।३–५,
६. वही ५।४,
७. प्रतिज्ञा० १।६–७,
८. वही, २।३, तथा १०–११,
९. वही ४।१०,
१०. स्वप्न० १।१२–१३,
११. वही १।८,
१२. प्रतिज्ञा० २।१०–११,
१३. वही २।१२,
१४. वही ३।४–५,
१५. प्रतिज्ञा० २।६–७,
१६. वही २।१३,
१७. वही २।१२,
१८. प्रतिज्ञा० १।१६,

होता है। लोग चिकित्सा-शास्त्र में अभिज्ञ होते थे। वातशोणित[1] क्षय[2] आदि रोगों का उल्लेख है। शीर्षाभिघात में प्रलेपौषधि प्रयोग होती।[3] लोग रोगियों की परिचर्या में कुशल होते। व्रण-प्रतिकर्म के उल्लेख से शल्यचिकित्सा से अभिज्ञता का ज्ञान होता है।[4] स्वप्न-विज्ञान भी लोगों को अपरिचित न था।[5]

खान-पानः—नाटक से खान-पान आदि के सम्बन्ध में भी ज्ञान होता है। किन्तु सांकेतिक रूप से ही। शाकाहार में मोदक अतिप्रिय था। मांस तथा मदिरा का भी प्रयोग होता था।[6] स्त्रियां सुरा बेचती थीं तथा अपने घरों में पिलाती थीं।[7] सुरा पीने के स्थान को पानागार कहते थे।[8] सुरापान प्रायः निम्नलोग ही करते थे तथा वह इसे अच्छा भी समझते थे।[9] सुरापान को मोदक के समान मधुर बताया गया है।[10]श्रमणक भी सुरा पीते थे।[11] पर अपवाद के रूप में। नाटक से यह भी प्रतीत होता है कि कोई-कोई स्त्रियां भी सुरापान करती थीं। नाटक में "स्नुषा रज्यति पीता यदि" कहा है।[12] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सुरापान चारित्रिक हीनता का कारण भी था। घी, मिर्च, नमक द्वारा मांस पकाया जाता था, तथा मदिरा के साथ खाया जाता था।[13]

वाहनः—वाहन के रूप में स्त्रियां शिविका का प्रयोग करती थीं।[14] शिविका पुरुष ढोते थे। हाथी भी लोकप्रिय तथा उपयुक्त वाहन था। सम्भवतः रथ तथा अश्व का भी प्रचलन था।

---

१. स्वप्न० अंक ४ का प्रवेशक,
२. प्रतिज्ञा० ३।१–२,
३. स्वप्न० ३।१–४,
४. प्रतिज्ञा० २।१३–१४,
५. स्वप्न० ५।१०, तथा प्रतिज्ञा० १।१–२,
६. वही ३।१–३, तथा ४।१–२,
७. वही, चतुर्थ का प्रारम्भ,
८. वही,
९. वही,
१०. वही ३।१–२,
११. वही,
१२. चतुर्थ का प्रारम्भ
१३. वही,
१४. प्रतिज्ञा० ३।५–६,

न्यास तथा बन्धक आदि—भासकालीन समाज में न्यास-प्रथा भी थी। चारित्रिक सुरक्षा आदि के निमित्त स्त्रियों को भी न्यास रूप में रखा जाता था।[१] न्यास की सुरक्षा कठिन मानी जाती थी, अतएव न्यास रखने से लोग घबड़ाते थे। भास के शब्दों में अन्य सभी काम करना सुकर है किन्तु न्यास की रक्षा करना दुःखावह होता है।[२] नियत समय के बाद न्यास लौटा लेते थे किन्तु साक्षी प्रस्तुत कर केही न्यास लौटाया जाता था।[३] इसे "अधिकरण" भी कहते थे। नाटक में बन्धक-प्रथा का भी संकेत मिलता है। ग्राम-सेवक ने भद्रावती हस्तिनी की माला आदि बन्धक रख दी थी।[४]

नाटक में मुद्रा के लिए "माषक" शब्द का प्रयोग हुआ है। माषक एक प्रकार की स्वर्ण मुद्रा थी।[५] नाटक से अन्य सामाजिक परंपराओं के सम्बन्ध में भी ज्ञान होता है। शिष्टाचार पालन का महत्त्व था। स्त्रियाँ गुरुजनों का अभिवादन करती थीं।[६] स्त्रियाँ परस्पर समुदाचार पालन का भी ध्यान रखती थीं।[७] लोक-व्यवहार में समुदाचार पालन आवश्यक-सा था। सभी इसका ध्यान रखते। स्त्रियां पर-पुरुष-संकीर्तन करना अशिष्टता समझती थीं।[८] कुशलता जानने को लेख का भी प्रयोग होता था।[९]

वास्तु:— भास के ऐतिहासिक नाटकों में वास्तु सम्बन्धी कुछ विशेष शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे उस समय की शिल्पकला के सम्बन्ध में ज्ञान होता है। भास के समय (राजाओं की) स्त्रियाँ अन्तःपुरों में रहती थी। अन्तःपुर कलात्मक रूप से बने होते थे। स्त्रियों के विशेष बाग होते जिन्हें प्रभदवन कहते। इनमें लता-मण्डप होते थे, बैठने को शिलापट्ट होते थे। इनके पर्वत-तिलक आदि नाम होते थे।[१०] कृत्रिम रूप से भी पर्वत आदि का भी निर्माण होता था। भास ने एक "दारुपर्वत"

---

१. स्वप्न० १।८–११,
२. वही १।१०,
३. वही ६।१६–१७,
४. प्रतिज्ञा० ४।१–२,
५. वही ३।१–२
६. स्वप्न०, ६।१२–१३,
७. वही ६।१८–१९,
८. स्वप्न अंक ४ का प्रारम्भ,
९. प्रतिज्ञा० १।१–३,
१०. स्वप्न० ४।१–२,

का उल्लेख किया है।[1] स्नान करने के लिए अन्तःपुरों में दीर्घिका (तालाब या बावड़ी) होती थी।[2] राजाओं को रहने को प्रासाद होते थे। नाटक में कई प्रकार के भवनों का उल्लेख है। संभवतः जल-महल को वहाँ समुद्रगृह[3] कहा गया है। कुछ मकानों की रचना विशेष प्रकार की होती थी। नाटक में मयूरयष्टि मुख-प्रासाद[4] तथा सूर्यामुख प्रासाद[5] का भी उल्लेख किया है। मकान कई मंजिल के होते थे। भास ने बीच की मंजिल वाले मकान को "मध्यम गृह" शब्द लिखा है। प्रासादों का निर्माण कलात्मक होता था। कुछ में मणियाँ भी बिछी होती थीं—ऐसे स्थानों को "मणिभूमिका" शब्द प्रयुक्त है। नाटक में शान्तिगृह[6] तथा अग्निगृह[7] आदि का ज्ञान होता है। शान्तिगृह संभवतः आजकल के विश्रान्ति गृह के समान रहा होगा। अग्निगृह के चार द्वार भी होते थे।[8] नगर में राजमार्ग होते, वहाँ नाली होती थी। भास ने इसको 'प्रणाली' शब्द लिखा है।[9] नगर की गलियों में चतुष्पथ भी होते थे।[10] नगरों में प्राकार तथा तोरण भी होते थे।[11] कौशाम्बी में प्राकार एवं तोरण थे। राज-प्रासाद में प्रमुख द्वार होता था उसे "भद्र-द्वार" कहा है।

१. स्वप्न० ४।१–२,
२. वही अंक ४ का प्रवेशक,
३. वही, पंचम अंक का प्रवेशक,
४. प्रतिज्ञा० २।१३–१४, यह या तो मयूर के समान बना होता था या इसमें मयूरों के बैठने के स्थान होते थे।
५. स्वप्न०, षष्ठ अंक का विष्कम्भक, कुछ इसका पाठान्तर सूर्यामुख प्रासाद अर्थ करते हैं। गणपति शास्त्री के अनुसार इस प्रासाद के सामने मंगल सूचक "सूर्य" नामक विवाह देवता की प्रतिमा होती थी, कुछ इसका अर्थ सूर्याभिमुख महल करते हैं तो कुछ सूर्या-नवोढ़ा का महल श्री देवधर मुयाभुनप्रासाद ठीक मानते थे, अर्थ है यमुना के सामने का महल। अन्य शय्या-मुख-प्रासाद भी मानते हैं।
६. प्रतिज्ञा० २।१३–१४,
७. वही, १।१७–१८,
८. वही, ३।१–३,
९. प्रतिज्ञा० ३।९–१०,
१०. वही, ३।५–६,
११. वही, ३।९ के बाद,
१२. वही, ४।४–५,

मकानों में प्रायः तोरण आदि होते थे, इन पर माला आदि भी लटकाते थे ।[1] कहीं-कहीं तोरण स्वर्ण की चित्रकारी से युक्त भी होते थे जिन्हें कांचन तोरण कहते थे ।[2]

शासन व्यवस्था

भास के ऐतिहासिक नाटकों से तत्कालीन शासन-प्रबन्ध तथा रणनीति आदि के सम्बन्ध में ज्ञान होता है । भास के समय में गणतन्त्रों के समानान्तर राजतंत्र भी अपनी नींव गहरी कर चुके थे । साम्राज्यवादी प्रवृत्ति भी बढ़ती जा रही थी । भास के ऐतिहासिक नाटकों से उस समय में प्रयोग आने वाले राजनैतिक शब्दों का ज्ञान होता है । भास ने राजा को सामान्यतः "महाराज" तथा "राजा" शब्द प्रयुक्त किया है । इस समय उत्तरी भारत में शासक प्रायः आनुवंशिक होते थे, तथा राजा पदवी का व्यवहार करते थे । राज्य के संचालन के लिए सचिव-मंडल होता था ।[3] नाटक में सचिव, मंत्री, तथा अमात्य शब्द सामान्यतः पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं । नाटक में तत्तत् स्थल पर प्रयुक्त उन ३ शब्दों से ज्ञात होता है कि मंत्री शब्द तो संभवतः सामान्य शब्द था जबकि सचिव तथा अमात्य शब्द विशेष अधिकार वाले व्यक्तियों को ही प्रयुक्त होता था । सचिव तथा अमात्य शब्द ही मुख्यतः यौगन्धरायण तथा रुमण्वान को प्रयुक्त हुए हैं मंत्री शब्द बहुत कम । नाटक में प्रधान-मंत्री शब्द का प्रयोग नहीं हैं । जातकों में भी अमात्य शब्द प्रधान-मंत्री को प्रयुक्त है । कौटिल्य ने भी अमात्य शब्द का उल्लेख किया है । कालिदास ने भी अमात्य, मंत्री तथा सचिव शब्द का प्रयोग समान अर्थों में किया है । प्राचीन-काल की राज्य-व्यवस्था में मंत्रि-मण्डल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था ।[4] महाभारत, अर्थशास्त्र, मनुस्मृति तथा शुक्रनीति आदि ग्रन्थों में भी मंत्रि-मण्डल की आवश्यकता बतलायी गयी है ।[5] ऐतिहासिक काल में मंत्रियों के लिए मंत्री, अमात्य तथा सचिव शब्द प्रयुक्त होता था ।[6] इनमें प्रधानमंत्री सबसे महत्त्वपूर्ण होता था तथा सर्वदर्शी होता था । सारी शासन-व्यवस्था इसी के अधिकृत होती थी[7] नाटक में यौगन्धरायण के चरित्र से स्पष्ट है कि वह

---

१. स्वप्न० ३।२–३,

२. वही, षष्ठ का विष्कम्भक,

३. प्रतिज्ञा० १।१३–१४,

४. प्रा० भा० शा० पद्धति पृ० १३२,

५. वही,

६. वही, पृ० १३५,

७. वही, पृ० १४१,

निश्चित रूप से प्रधानमंत्री था। रूमण्वान स्वप्न० से सेनापति प्रतीत होता है।[1] वैसे भी नाटक से स्पष्ट है कि समस्त सचिव-मण्डल में प्रधान ही सर्वप्रमुख होता था। इसी कारण बंदी उदयन सचिव-मंडल का अतिक्रमण करके यौगन्धरायण को देखने की अभिलाषा व्यक्त करता है[2] प्रधानमंत्री के बाद में युद्ध मन्त्री का स्थान होता था। शुक्र ने उसे सचिव नाम दिया हैं।[3] नाटक में भी सचिव शब्द रुमण्वान को प्रयुक्त है किन्तु यह सामान्य मंत्री का पर्याय है। नाटक में उदयन के इन दो मन्त्रियों का ही उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार महासेन के भरतरोहक प्रधान-मंत्री तथा शालंकायन सेनापति प्रतीत होते हैं।

नाटक से यह भी स्पष्ट है कि राजा मंत्रियों, विशेषतः प्रधान अमात्य का अत्यधिक आदर करता था। नाटक में यौगन्धरायण को वयस्य तथा आर्य भी कहा है। राजा व्यक्तिगत कार्यों में उससे परामर्श भी लेता था। समस्त राजकार्य मन्त्री ही संचालित करते थे। राजा भी राजकार्य को अमात्यों पर छोड़ देते थे। मंत्रियों की नीति ही सर्वेसर्वा होती है। यौगन्धरायण के कार्य-कलाप से स्पष्ट है कि राज्य के प्रति मंत्री ही उत्तरदायी होता था। मंत्री भी अपनी सामर्थ्य के अनुसार सभी कुछ करते थे। स्वामी के लिए कष्ट सहना प्रशंस्य माना जाता था[4]। प्राणों को स्वामी के लिए संकट में भी डाल देते थे[5]। प्रधान-मंत्री युद्धादि में सक्रिय भाग लेता था तथा शास्त्र-विद्या के साथ शस्त्र-विद्या में भी निपुण होता था[6]। राजा को अपने आधीन कर लेना मंत्रियों की सफलता मानी जाती थी[7]। यौगन्धरायण के शब्दों में राजभक्ति के कारण विपत्ति में पड़ जाना भी अमात्य पद के लिए गौरव की बात होती थी[8]। वह कहता है कि हमें संसार से क्या प्रयोजन, हमें तो स्वामी को प्रसन्न करना है[9]। सामान्यतः उदयन का शासन सचिवायत्त था। नाटक से स्पष्ट है कि प्रधान मंत्री कोई भी काम करने को स्वतन्त्र होता था। राजकार्य में ही नहीं अपितु राजा के वैयक्तिक जीवन से सम्बन्धित कार्यों में भी हस्तक्षेप कर देता था।

---

१. स्वप्न० ५।११–१३,
२. प्रतिज्ञा० १।१३–१४,
३. प्रा० भा० शा० पद्धति० पृ० १४२,
४. प्रतिज्ञा० ३।७-८,
५. वही, १ १३-१४,
६. वही, ४।५-६,
७. स्वप्न० १।१५,
८. प्रतिज्ञा० ४।७,
९. वही, ३।७-८,

यौगन्धरायण ने राजनैतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वासवदत्ता को छिपा दिया था। यद्यपि उस समय राज्य सचिवायत्त था, तथापि मंत्री मनमाना कार्य नहीं कर सकते थे। उन्हें सदैव राजा से भय तथा राज्य की रुष्टता की शंका रहती थी[1]। राजा न्यायप्रिय तथा धर्मप्रिय भी होता था। नाटक में राजा को धर्मोपदेष्टा कहा[2] है। राजा का भी बहुत सम्मान होता था। छोटे कर्मचारी उसकी ईश्वर की भांति प्रदक्षिणा करना भी शिष्टाचार समझते थे[3]। उस समय राज्यों के उदय-अस्त होते रहते थे[4]। अनुत्साही, अशक्त, कामी राजाओं का अस्तित्व असंभव था। उत्साहशील राजा ही राज्यलक्ष्मी को भोगने में सफल होते थे[5]। न्याय कठोर था। राज्य में विद्रोह तथा बगावत करने वाले को मृत्यु-दंड दिया जाता था।

सन्देश—विशेष-विशेष प्रयोजनों से सन्देश—हर सन्देश ले जाते थे। स्त्रियों को स्त्रियाँ, पुरुष को पुरुष ही सन्देश सुनाते थे। राजा भी शिष्टाचार के साथ खड़े होकर सन्देश सुनता था। जाति-कुल से सम्बन्धित सन्देश पत्नी के साथ बैठकर सुनता था। राजनैतिक सन्देश एकाकी ही सुना जाता था।

दौत्य—नाटक से दूत-प्रणाली के सम्बन्ध में भी ज्ञान होता है। दूत दो प्रकार के होते थे।—एक, कुशल समाचार जानने को, जाति-कुल के पारस्परिक समाचार सुनाने को तथा विवाह के उद्देश्य से भी दूत-संपात होता था। दूसरे, राजनैतिक उद्देश्य के लिए भी दूत भेजे जाते थे। सामाजिक कार्यों में दौत्य कांचुकी, उपाध्याय तथा धात्री आदि परिजन के व्यक्ति ही करते थे। राजनैतिक उद्देश्य को विशेष व्यक्ति ही भेजा जाता था। दूतों को प्रतिहार पर ही रोक लिया जाता था। दूतों का सत्कार होता था। उनसे शिष्टता का व्यवहार किया जाता था।

गुप्तचर - "चर" शब्द का भी नाटक में उल्लेख है। वेष-परिवर्तन करके दूसरे राज्यों में फैल जाना, षडयंत्रों का पता लगाना आदि उनके कार्य होते थे। इस दृष्टि से भास का राजनैतिक वातावरण कौटिल्य से मिलता जुलता है। गुप्तचर, षडयंत्र, मंत्रौषधि-प्रयोग सभी उसी प्रकार होते थे। जेल भी राजनैतिक उद्देश्य के लिए भेजे जाते थे।

---

१. स्वप्न ६।१५,
२. वही, ६।१६,
३. प्रतिज्ञा० १।१३-१४,
४. स्वप्न० ६।६,
५. वही, ६।७,

सैन्य योजना—नाटकों से रणनीति, तथा सैन्य-व्यवस्था के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उस समय राजा बड़ी-बड़ी सेनायें रखते थे। नाटक में सेना के लिए सैन्य, बल आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। बल शब्द छोटी सैनिक टुकड़ियों के लिए प्रयुक्त प्रतीत होता है। ज्ञात होता है कि कभी-कभी सेना राजाओं में अनुरक्त तथा राजा के प्रति वफादार नहीं होती थी। भास ने अनुरागहीन सेना को कलत्र (स्त्री) के समान बतलाया[१] है। नाटक में कलत्र शब्द सैनिकों की सुरक्षा टुकड़ी को भी प्रयुक्त हुआ[२] है। राज्य में सेना का महत्त्व था। योधबल को "एक परिवार" बताया है।[३] सेना स्नेह करने वाली, राजा के प्रेम से वशीकृत, मेहनती तथा अस्त्र-शस्त्र आदि के सचालन में चतुर होती थी तब भी कभी-कभी शत्रु धनादि के प्रलोभन द्वारा उसे वश में कर लेते थे। विजय का प्रमुख अंग सेना ही होती थी। मुख्यतः सेना का युद्ध में प्रयोग किया जाता था। बल (टुकड़ियों) के रूप में, जिसमें पदाति घुड़सवार आदि भी होते थे, आत्मसुरक्षा तथा शिकार के लिए भी प्रयोग होता था[४]।

नाटक में अक्षौहिणी सेना का भी उल्लेख है[५]। अक्षौहिणी वह सेना होती थी जिसमें २१,८७० हाथी तथा रथ, ६५६१० घोड़े तथा १०९,३५० पैदल होते थे। जान पड़ता है कि अक्षौहिणी शब्द नाटक में मात्र परम्परागत रूप से सेना की विशालता को बताने को ही प्रयुक्त हुआ है। वैसे, सेना में हस्ति, अश्व, रथ, पदाति आदि सभी होते थे। सेना में घुड़सवारों का ज्यादा महत्त्व था। युद्ध में जाने से पूर्व घोड़ों का नीराजन भी किया जाता था[६]। हस्तिसेना भी थी। भास ने गजाध्यक्ष को महामात्रोत्तरायुधीय लिखा है[७]। हाथियों की साज-सज्जा भी होती थी। नाटक में हाथी की माला का भी उल्लेख है[८]।

---

१. प्रतिज्ञा० १।४,

२. वही, १।६-७,

३. वही,

४. वही,

५. वही, १।३-४,

६. वही, १।१२, युद्ध में जाने से पूर्व अश्वों की विशेष पूजा को नीराजन कहते हैं। कालिदास ने रघुवंश में इसे "वाजिनीराजन विधि" कहा है भास ने नीराजन कौतुक मंगल का उल्लेख किया है।

७. वही, १।६-७,

८. वही, ४।१-२,

सेना की योजना शास्त्रोक्त प्रकार से व्यूह बद्ध होती थी। नाटक में पार्ष्णी शब्द का भी उल्लेख है[1]। पार्ष्णी सेना के पृष्ठभाग को कहते हैं। सेना नदी पार करने में समर्थ होती थी।

आयुधागार—भास ने शब्दतः आयुधागार का उल्लेख किया है।[2] स्पष्ट है कि विशेष रूप से आयुधों के भंडार भी होते थे। आयुधों में धनुष, बाण, तलवार, कुन्त आदि शस्त्र प्रमुख थे। सेना कवच से युक्त होती थी। भास ने कवच को सन्नाह शब्द प्रयुक्त किया है।[3]

रणनीति

युद्ध में छोटे से बड़े तक सभी भाग लेते थे। राजा तथा प्रधानमंत्री भी सक्रिय रूप से युद्ध में भाग लेता था। नाटक से सैनिकों की वेशभूषा का भी ज्ञान होता है।[4] ये दस्ते आदि पहनते थे। युद्ध में हाथी से हाथी तथा घोड़े से घोड़े लडते थे।[5] निरस्त्र होने पर भी न तो समपर्ण करते थे, न पीछे ही भागते थे।[6] उस समय मान्यता थी कि "जो स्वामी के अन्न के लिए युद्ध नहीं करते वह नरक-गामी होते हैं।"[7]

युद्ध में छल-बल सभी प्रयोग लाए जाते थे। नाटक में छल प्रयोग का कई स्थानो पर उल्लेख है। कूटनीतिक युद्ध में "नयच्छल" प्रमुख होता था।[8] नीति का प्रतिकार नीति से तथा छल का छल से किया जाता था। साम, दाम, दण्ड के अतिरिक्त भेद नीति का अधिक प्रयोग होता। भेद द्वारा ही शत्रु-सेना में फूट डाली जाती थी।[9] युद्धों में औषध तथा मंत्रों का भी प्रयोग होता था।[10] हारे हुए शत्रु को

---

१. स्वप्न० ५।१२, **पुरश्चपश्चाच्च यदासमर्थस्तदातियायान्महते फलाय। पुरः प्रसर्पन्नविशुद्धपृष्ठः प्राप्नोति तीव्रं खलु पार्ष्णिभेदम्॥ कामन्दक**

२. **प्रतिज्ञा०** ४।१०–११,

३. **वही** २।६–१०,

४. **वही** ४।३,

५. **वही** ४।४,

६. **वही,**

७ **देखो वही** ४।२,

८. **वही** ४।१२–१४,

९. **देखो स्वप्न० ५।१२ तथा देखो प्रतिज्ञा० का तृ० अंक।**

१०. **प्रतिज्ञा०** ३।४–६,

मृत्यु-दंड दिया जाता था ।[1] अन्त में नाटक (स्वप्न०) के भरत वाक्य से भारत के विशाल भव्य रूप की झाँकी भी मिलती है । भास ने सागरपर्यन्त, हिमालय तथा विन्ध्य से सुशोभित भारतभूमि के एकछत्र शासन का संकेत दिया है ।

"इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।
महीमेकातपत्रांकां राजसिंहः प्रशास्तु नः ।"

डा० अलतेकर ने बतलाया है कि आसेतु हिमाचल एकच्छत्र साम्राज्य के रूप में समग्र भारतीय राज्य की आदर्श कल्पना ई० पू० १००० से ही वर्तमान रही है ।[2] संभव है भास के समय में भारत का यह आदर्श रूप न था तथापि यह आदर्श भारत की मूल भूत भौगोलिक एकता, धार्मिक और सांस्कृतिक एकता के अनुभव का ही परिणाम था ।[3] वास्तव में भारत में समग्र भारत भूमि पर एकच्छत्र शासन, ज्ञात इतिहास के अनुसार किसी का भी नहीं रहा है, तथापि यह आदर्श राज्य की कल्पना अवश्य रही है । डा० अलतेकर ने इसी सन्दर्भ में लिखा है कि प्राचीन भारत के आदर्श राज्य के रूप में ऐसे शक्तिशाली राज्य की कल्पना की गयी थी, जो समस्त देश को एक सूत्र में ग्रथित करके एक केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत सब राज्यों और सूबों के सहयोग से बाहरी शत्रुओं के आक्रमण से देश की रक्षा की व्यवस्था करे और साथ ही स्थानीय राज्यों या शासनों को अपनी रीति-रिवाज और परंपरा का पालन करने की तथा अपनी संस्कृति और अपने आदर्शों के विकास की स्वतन्त्रता दे । यह आदर्श हमारे वर्तमान अखण्ड और सुदृढ़ भारत और पूर्णस्वायत्त प्रान्त के आदर्श से पूर्णतया मिलता है ।[4] यही आदर्श-भावना भारत के पराक्रमी राजाओं की रही है तथा वर्तमान में भी यही आदर्श-भावना मंगलकारी है । विशेषकर लोकतंत्र में सांस्कृतिक एकता तथा भावनात्मक एकता का महत्त्व अत्यधिक है । देश की स्वाधीनता की सुरक्षा तथा प्रगति के लिए एवं लोक-कल्याण के लिए प्राचीन ऐतिहासिक प्रशासन-व्यवस्था के उपयोगी सूत्रों को ग्रहण करके वर्तमान एवं भविष्य को सुरक्षित बनाया जा सकता है ।

---

१. प्रतिज्ञा० ४।२२,
२ प्रा० भा० शा० पद्धति, डा० अलतेकर, पृ० ३४९,
३. वही, पृ० ३४९ ३५०,
४. वही, पृ० ३५०,

६

मालविकाग्निमित्र

महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार हैं। कालिदास ने संस्कृत साहित्य को, अनेक अमूल्य ग्रंथ-रत्नों के सृजन द्वारा समृद्ध किया है। नाटक महाकाव्य तथा खंडकाव्य के रूप में कालिदास ने सर्वप्रथम सस्कृत साहित्य में एकाधिक साहित्य विधाओं की सृजन-परम्परा का प्रवर्तन किया है। हमें उनके तीन नाटक उपलब्ध हैं—

मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तल। इन तीनों नाटकों में मालविकाग्निग्निमित्र ही एकमात्र ऐतिहासिक नाटक है। अतः यहाँ कालिदास के नाटककार को मालविकाग्निमित्र के परिपार्श्व में निरखने परखने का प्रयत्न किया जायगा।

कालिदास का समय :

संस्कृत साहित्य में कालिदास का स्थान जितना अधिक गौरवमय है उनका समय उतना ही विवादास्पद है। कालिदास के काव्यों की उत्कृष्टता, महनीयता, तथा सर्वविध सफलता के विषय में समस्त समालोचक प्रायः एक मत है, किन्तु उनके जीवनवृत्त तथा काल के संबंध में विद्वानों के अनेक मत हैं। बहुत समय से प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने कालिदास के समय के संबंध में अन्तः बाह्य साक्ष्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने के अनेक अनेक प्रयत्न किए हैं, लेकिन अद्यावधि कोई सर्वसम्मत समय निश्चित नहीं हो सका है। फलतः आज भी विद्वानों में वैमत्य है।

कालिदास के समय के संबंध में दो स्पष्ट संकेत उपलब्ध हैं (१) मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र का ऐतिहासिक चरित्र तथा (२) बाणभट्ट के हर्षचरित एवं एहोड के शिलालेख में कालिदास का उल्लेख। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नामक ऐतिहासिक नाटक का नायक शुंग वंशी राजा अग्निमित्र है। अग्निमित्र का समय ईसा पूर्व द्वितीय शतक का उत्तरार्द्ध निश्चित है। अतः यह निश्चित है कि कालिदास अग्निमित्र अर्थात् ईस्वी पूर्व द्वितीय शतक के पश्चात् ही हुए थे। दूसरी ओर, बाणभट्ट (६०६-६४४) के हर्षचरित की प्रस्तावना के श्लोकों में तथा दक्षिण भारत

से प्राप्त ऐहोड के अभिलेख (६३४ ई०) में कालिदास का उल्लेख हुआ है[१]। अतः यह भी निश्चित है कि कालिदास सप्तम शतक के पूर्व उत्पन्न हुए थे। अनेक प्राच्य पाश्चात् विद्वानों ने भी ईस्वी पूर्व द्वितीय तथा सप्तम शतक के मध्य में कालिदास का समय मानकर अपने-अपने मत उपन्यस्त किये हैं—(१) ईसवी पूर्व द्वितीय शतक (२) ईस्वी पूर्व प्रथम शतक (३) गुप्तकाल तथा (४) षष्ठ शतक। इनमें ईस्वी पूर्व द्वितीय शतक में कालिदास का समय मानने वाले विद्वानों के तर्कों का डाक्टर कुन्हनराजा जैसे विद्वानों द्वारा खंडन कर देने के कारण यह मत पूर्णतः निराकृत हो चुका है[२]। इसी प्रकार षष्ठ शतक में भी फर्ग्युसन, डाक्टर हार्नेली तथा म० म० हरप्रसाद शास्त्री आदि कुछ विद्वान् मानते थे, किन्तु अब यह मत भी पूर्णतया खंडित हो चुका है। आजकल मुख्यतः दो ही मत प्रचलित हैं—(१) गुप्तकाल तथा (२) ई० पू० प्रथम शतक

(१) गुप्तकाल—गुप्तकाल में कालिदास का स्थितिकाल मानने वाले विद्वानों में भी अनेक मत हैं। (१) प्रोफेसर के. बी. पाठक ने स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के समय में कालिदास को माना है[३]। (२) विजयचन्द्र मजूमदार ने कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के समय में माना है[४]। (३) किन्तु कीथ[५], भंडारकर आदि अन्य अधिकांश विद्वान् चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में कालिदास का समय मानते हैं। गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानने वालों में मुख्यतया यही मत अधिक मान्य है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानने वाले विद्वान् कालिदास के ग्रन्थों के अन्तः साक्ष्य तथा प्रचलित परम्पराओं के आधार पर यह तो अवश्य मानते हैं कि कालिदास विक्रमादित्य विरुदधारी किसी राजा के आश्रित थे, किन्तु उनकी मान्यता है कि ज्ञात इतिहास में केवल चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ही ऐसा राजा है जिसके समय में उनकी स्थिति मानी जा सकती है। क्योंकि इसके पूर्ववर्ती किसी अन्य विक्रमादित्य राजा के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। इस मत के समर्थकों ने अपने समर्थन में मुख्यतः निम्न तर्क उपन्यस्त किए हैं :

---

१. स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रित-कालिदासभारविकीर्तिः,
देखो सं० कविदर्शनः पृ ८०,

२. कालिदासः मिराशी, पृ० ४,

३. सं० कविदर्शन, पृ० ७८, सं० सा इतिहास; बलदेव उपाध्याय
पृ० १४०-४१.

४. संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृ० १४३–४४, तथा सं० सा० इतिहास कीथ,
पृ० ९८-९९, इत्यादि।

५. सं० सा० इतिहास, बलदेव उपाध्याय, पृ० १४२

६. वही, जे. आर. ए. एस. १९०९ पृ० ७३१

७. संस्कृत ड्रामा, पृ० १४६ तथा सं० सा० इतिहास (हिन्दी), पृ० १००,

(१) कालिदास के नाटक "विक्रमोर्वशीय" में विक्रम शब्द से यह लक्षित होता है कि संभवतः इसकी रचना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय में की गयी है। इसके अतिरिक्त इसी नाटक में "अनुत्सेकः खलु विक्रमालंकारः[१]" में भी विक्रम शब्द प्रयुक्त है। इससे स्पष्ट होता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के समकालीन थे। इसी ने शकों को बाहर निकाल कर विक्रमादित्य विरुद धारण किया था।

(२) कालिदास के रघुवंश में वर्णित रघुदिग्विजय में समुद्रगुप्त की दिग्विजय की छाया ज्ञात होती है।

(३) मालविकाग्निमित्र में निर्दिष्ट अश्वमेध यज्ञ भी समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ की ओर संकेत करता है।[२]

(४) कालिदास पर अश्वघोष (प्राम शतक) का पर्याप्त प्रभाव है तथा अन्य अनेक अन्तरंग प्रभावों से सिद्ध है कि कालिदास अश्वघोष के परवर्ती थे[३]।

(५) कालिदास के "कुमार-संभव" में जामित्र शब्द का प्रयोग है, जो भारतीय ज्योतिष को यवनों की देन है[४]।

(६) अनुमानतः कुमारसम्भव की रचना कुमारगुप्त के जन्म पर की गई थी।

(७) कालिदास के ग्रन्थों में गुप् धातु के प्रयोग की बहुलता से भी गुप्तों की ओर संकेत प्रतीत होता है।

(८) कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में भास का उल्लेख किया है। भास का समय उनकी प्राकृत के आधार पर तथा अन्य प्रमाणों के आधार पर ईसवी की द्वितीय सदी है[५]। अतः कालिदास इसके बाद हुए।

(९) रघुवंश में वर्णित शान्ति, समृद्धि, आदर्श एवं उन्नत समाज तथा राजनैतिक दशा के चित्रण से यही प्रकट होता है कि वह गुप्तकालीन 'स्वर्णकाल' में हुए होंगे।

उपर्युक्त समस्त तर्कों में केवल दो ही मुख्य तर्क हैं—(१) इतिहास में चन्द्रगुप्त द्वितीय का विक्रमादित्य के रूप में उल्लेख (२) तथा अश्वघोष से

---

१. विक्रमोर्वशीयम् पृ० ३२ ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः, रघु० ६।२२, से भी चन्द्र नाम ध्वनित होता है।

२. संस्कृत ड्रामाः पृ० १४६, सं० क० दर्शन पृ० ७६,

३. कालिदासः मिराशी. पृ० ११–१७,

४. तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्। कुमार० ७।१, सं० क० दर्शन पृ० ७६, तथा संस्कृत ड्रामा, पृ० १४६

५. संस्कृत ड्रामा पृ० १४६, हम इस मत का खण्डन कर चुके हैं। द्रष्टव्यः इसी प्रबन्ध का पंचम अध्याय।

परवर्तिता। इन्हीं तर्कों पर इन विद्वानों ने विशेष बल दिया है; अन्य तर्क इन्हीं की पुष्टि को जुटाए गए हैं। किन्तु ये तर्क भी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। अतः हम यह मानते हैं कि कालिदास विक्रमादित्य के समय में हुए थे, किन्तु वह चन्द्रगुप्त द्वितीय न होकर संवत् प्रवर्तक, उज्जैनी का विक्रमादित्य था। अतश्च रघुवंश तथा मालविकाग्निमित्र के दिग्विजय-वर्णन में समुद्रगुप्त की दिग्विजय का प्रभाव मानना असंगत है। रघुवंश में यह वर्णन कवित्वपूर्ण है। पुराण आदि ग्रन्थों में ऐसे अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं, तथा मालविकाग्निमित्र का दिग्विजय वर्णन शुंगों द्वारा कुछ पूर्व में किए गए अश्वमेध यज्ञ की समकालीन ऐतिहासिक घटना के रूप में किया है। इसी प्रकार हम अश्वघोष की पूर्ववर्तिता के पक्ष में भी नहीं हैं। 'गुप्' धातु तथा अन्य किसी शब्द विशेष के आधार पर कोई मत निर्णायक नहीं माना जा सकता। भास का समय भी द्वितीय सदी न मानकर हम सुदूर ईसवी पूर्व में मानते हैं। शान्ति तथा उन्नत-समाज आदि के वर्णन का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह गुप्तों के समय में अवश्य था। किन्तु क्या शुंगों के समय में या उससे पूर्व मौर्यकाल में उन्नत तथा शान्ति का युग नहीं था? कालिदास के काव्यों का सम्यक् अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें वर्णित राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक वर्णन गुप्तकाल में नहीं, अपितु शुंगों के अनन्तर ईसवी पूर्व में ही था। वस्तुतः चन्द्रगुप्त (द्वितीय) के समय में मानने वालों के तर्क ईसा की प्रथम सदी में मानने वालों के तर्कों से स्वतः ध्वस्त हो जाते हैं।

ईसा पूर्व प्रथम शतक—दूसरा प्रमुख मत यह है कि कालिदास ई० पूर्व प्रथम शतक में विक्रमादित्य राजा के आश्रित थे। प्रो० के० सी० चट्टोपाध्याय, सी० वी० वैद्य, आप्टे, शारदारंजन राय आदि अनेक प्राच्य-पाश्चात्य विद्वान् इसी मत के समर्थक हैं। हमारी भी यही मान्यता है कि ईस्वी पूर्व प्रथम शतक में ही कालिदास हुए। इस मत को मानने वालों ने निम्न तर्क उपस्थित किए हैं:—

(१) भारतीय प्राचीन परम्परा के अनुसार कालिदास विक्रमादित्य की राजसभा में प्रमुख तथा नवरत्नों में अन्यतम थे। रघुवंश के षष्ठ सर्ग में अवन्तिनाथ का वर्णन करते समय उन्हीं के नाम "विक्रमादित्य" का संकेत किया है[1]। मुख्यतः इस वर्णन से तथा मेघदूत आदि के अनेक उल्लेखों से कालिदास का अनन्य अवन्ति-प्रेम प्रकट होता है। इससे स्पष्ट होता है कि वह निश्चित रूप से उज्जयनी के विक्रमादित्य राजा के ही आश्रित थे, जिसने विक्रम संवत् का प्रवर्तन किया।

---

१. **अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुः\.\.\.\.\.\.\.यन्त्रोल्लिखितो विभाति। रघु० ६।३२,**

यद्यपि विपक्षी विद्वान भी कालिदास को विक्रमादित्य विरुदधारी राजा के आश्रित मानते हैं, किन्तु उनकी मान्यता है कि इतिहास से ईसा पूर्व प्रथम शतक में किसी विक्रमादित्य के अस्तित्व का ज्ञान नहीं होता[१]। अतएव ये विद्वान ईस्वी पूर्व में विक्रम-संवत्-प्रवर्त्तन में भी सन्देह करते हैं। किन्तु यह सन्देहवाद विक्रमादित्य तथा उनके संवत् की समस्या से सम्बद्ध प्रत्यक्ष अन्वेषण कार्य पर आधारित उतना नहीं है, जितना कि १९वीं सदी के यूरोपीय प्राच्य-विशारदों द्वारा उठाये गए अनुमानों के आधार पर[२]। डा० राजवली पाण्डेय ने अपनी शोधपूर्ण पुस्तक विक्रमादित्य में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित की है। उनकी मान्यता है कि विक्रमादित्य के विषय में प्रकाश डालने वाला स्पष्ट तथा ज्वलन्त प्रमाण उन्हीं के द्वारा प्रवर्तित विक्रम संवत् ही है[३]। डाक्टर पाण्डेय ने विक्रम संवत् से सम्बन्धित अनेक संभावित शंकाओं का समाधान करते हुए अनेक साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि विक्रम सवत् के संस्थापक विक्रमादित्य प्रथम सदी ईसवी पूर्व में अवश्य हुए हैं[४]। अतः विक्रम की ऐतिहासिकता में सन्देह करना निरर्थक है।

प्राचीन वाङ्मय के अनेक आनुश्रुतिक साक्ष्यों के आधार पर भी विक्रम की ऐतिहासिकता सुव्यक्त है। डा० पाण्डेय ने लोक-कथाओं, संस्कृत साहित्य की परंपराओं, पुराणों के प्रमाणों, जैनों की साहित्यिक अनुश्रुतियों तथा भारतीय पुरातत्व से सम्बन्धित साक्ष्यों का सूक्ष्म अध्ययन करके विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को प्रमाणित किया है। ये विक्रम निश्चित रूप से ईसवी पूर्व में हुए तथा इन्होंने ही संवत् प्रवर्तन किया था।[५] विक्रम की ऐतिहासिकता प्रमाणित हो जाने पर गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानने वालों का मत स्वतः ध्वस्त हो जाता है एवं उनकी चन्द्रगुप्त द्वितीय के साथ विक्रम तथा मालव संवत् के प्रवर्तन को जोड़ने की कल्पना अत्यन्त उपहासास्पद प्रतीत होती है। यह किसी भी तरह स्वाभाविक नहीं कि चन्द्रगुप्त (द्वितीय) जैसा राजा पूर्व प्रचलित अपने पूर्वजों के गुप्त संवत् की अवहेलना करके पूर्व प्रचलित मालव संवत् को अपने नाम से प्रवर्तित करता। अर्वाचीन शोध के परिणामस्वरूप अधिकांश विद्वानों का मत बदलता जा रहा है। फ्लीट, स्मिथ, मि० फ्रेंकलिन, एजर्टन तथा डा० अल्टेकर आदि अनेक विद्वानों ने संवत् प्रवर्तक विक्रम

---

१. कालिदासः मिराशी पृ० ५–८, कालिदास का भारतः डा० भगवत शरण उपाध्याय, पृ० २०२,

२. विक्रमादित्यः डा० राजवली पांडेय, पृ० ३,

३. वही, पृ० ३,

४. वही पृ० ४–९,

५. विक्रमादित्यः डा० पाण्डेय, पृ० १–१०३,

को ऐतिहासिक स्वीकार किया है।[१] अतः यही मानना उपयुक्त है कि उसके आश्रय में ही कालिदास रहे थे।

(२) इस मत के समर्थकों की यह भी मान्यता है कि कालिदास अश्वघोष के पूर्ववर्ती थे, और अश्वघोष का समय जबकि ईसवी प्रथम सदी निश्चित है तो स्पष्ट है कि कालिदास ईस्वी पूर्व प्रथम शतक में ही हुए होंगे।[२]

विपक्षी विद्वान इस मत से भी असहमत हैं।[३] दोनों में प्रसंग, शब्दार्थ, तथा शब्द, शब्दच्छाया आदि के आधार पर ये विद्वान यही मानते हैं कि कालिदास अश्वघोष के परवर्ती थे, किन्तु अन्य विद्वानों ने इसी प्रकार कालिदास के कथाविधान, वर्णन, शैली, अलंकार-विन्यास, छंदचयन, भाव तथा अर्थसाम्य आदि का प्रभाव अश्वघोष पर भी खोजा है, जिनसे विपक्षियों के मत स्वतः ध्वस्त हो जाते हैं तथापि इस साम्य के आधार पर कोई निर्णय लेना उचित नहीं प्रतीत होता।

यह प्रसिद्ध है कि अश्वघोष सुप्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक थे। उन्होंने केवल धर्म प्रचार के साधन के रूप में काव्य सृजन किया था, अन्यथा उनमें कवित्व की अपेक्षा दार्शनिक प्रतिभा का उत्कर्ष ही अधिक था। यही कारण है कि अश्वघोष के काव्यों में उतनी चारुता नहीं आ सकी जितनी कालिदास में है[४]। कालिदास के भाव-सौन्दर्य को अपने काव्य में उतारने में वह सर्वथा असमर्थ रहे हैं। उन्होंने कालिदास के भाव आदि को लेकर सामान्य कवि के समान ही विन्यस्त किया है। काव्य की दृष्टि से उसमें मौलिकता तथा स्वाभाविकता का अभाव है। दोनों कवियों की सूक्ष्म तुलना करने पर उनसे कालिदास की प्राचीनता निश्चित रूप से प्रकट हो जाती है[५]।

---

१. विक्रमादित्यः डा० पाण्डेय, पृ० २६–३४,

२. विशेष देखो, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज वाल्यूम २, पृ० ७९–१७०, तथा कुप्पुस्वामी काम० वाल्यू० पृ० १७-२४, में के० चट्टोपाध्याय का लेख।

३. कालिदासः मिराशी, पृ० ११–१७, कालिदास का भारतः उपाध्याय, पृ० २१०,

४. सं० सा० इति० बलदेव उपाध्याय, पृ० १४४-४५,

५. डा० सत्यकेतु ने (भा० प्रा० इति० पृ० ३१५) बतलाया है कि ज्योतिर्विदाभरण के सम्बन्ध में कालिदास ने लिखा है कि यह मैंने ३०६८ कलि सम्वत् में समाप्त किया' अतः यह ३०६८ कलि सम्वत् ३४ ई० पू० के बराबर बैठता है।"

(३) रघुवंश के षष्ठ सर्ग में पाण्ड्य देश के राजा के वर्णन से भी यही माना जाता है कि कालिदास, ईस्वी पूर्व प्रथम सदी में रहे थे[१]।

(४) गुप्तवंशी राजा भागवत वैष्णव थे, किन्तु कालिदास की रचनाओं से प्रकट है कि वे परमशैव थे। इस कारण से भी कालिदास को मालवा के शैव राजा विक्रम के आश्रित मानना संगत है।

(५) विद्वानों ने इस मत के समर्थन में पुरातत्व के साक्ष्य के रूप में शुंग-कालीन भीटा के पदक को भी प्रस्तुत किया है। इस पदक पर दौड़ते हुए रथ तथा हरिण आदि का चित्र अंकित है। विद्वान इसका शाकुन्तल के सुप्रसिद्ध मृगया-दृश्य से साम्य मानते हैं। इसी आधार पर शारदारंजनराय आदि की मान्यता है कि कालिदास ई० पू० में ही रहे थे। विन्टर्निट्ज आदि विपक्षी विद्वान भी इस तर्क को महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

(६) शाकुन्तल[२] में वर्णित सामाजिक तथा सांस्कृतिक दशा से यह प्रकट होता है कि कालिदास बौद्ध-प्रभावित युग में हुए जब कि समाज में एक ओर बौद्ध धर्म के प्रति घृणा बढ़ती जा रही थी तथा दूसरी ओर वैदिक ब्राह्मण-धर्म का अभ्युदय हो रहा था। इससे भी यही प्रकट होता है कालिदास निश्चित रूप से ईसवी पूर्व में ही हुए, गुप्तकाल में नहीं।

(७) उपर्युक्त तर्कों के अतिरिक्त कालिदास के ऐतिहासिक नाटक माल-विकाग्निमित्र के आधार पर भी हम यह कह सकते हैं कि कालिदास ईस्वी पूर्व प्रथम शतक में ही हुए थे :

१. मालविकाग्निमित्र में शुंगवंशीय ऐतिहासिक घटनाओं का प्रथम तथा पंचम अंक में वर्णन किया गया है। इनमें से एक–यवन पराजय तथा अश्वमेघ यज्ञ का महाभाष्य में पतंजलि ने भी उल्लेख किया है। भाष्य का उल्लेख कालिदास की अपेक्षा अतिसंक्षिप्त सूचना के रूप में है, जबकि कालिदास में विस्तार से। इससे प्रकट होता है कि पुष्यमित्र के समकालीन पतंजलि को जिन समसामयिक घटनाओं का ज्ञान था कालिदास को भी उनका सम्यक् ज्ञान था। इससे प्रकट होता है कि कालिदास पतंजलि के कुछ बाद में, लगभग ई० पू० प्रथम शतक में ही हुए होंगे।

---

१. पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहार—इवाद्रिराजः। "रघु० ६।६०, सं० क० दर्शन पृ० ७६,

२. सं० सा० इति० बलदेव उपाध्याय, पृ० १४५-४६,

३. वही,

२. कालिदास ने मालविकाग्निमित्र के प्रथम तथा पंचम अंक में ही विदर्भ-संघर्ष की घटना का वर्णन किया है, किन्तु इस घटना का नाटक के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उल्लेख नहीं है। इससे भी प्रमाणित होता है कि कालिदास शुंग इतिहास के सुविज्ञ थे। अतः अनुमान है कि वह शुंगराज अग्निमित्र के कुछ पश्चात् अर्थात् ईस्वी पूर्व प्रथम शतक में ही हुए होंगे।

३. कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में स्वयं को "वर्तमान कवि, तथा मालविकाग्निमित्र को नव्य कथा पर आश्रित नवीन काव्य बतलाया है[२]। इससे प्रकट होता है कि अग्निमित्र की प्रणयकथा जिस समय विशेष प्राचीन नहीं हुई थी, किन्तु लोकप्रिय ही थी, उस समय कालिदास ने उसे नवीन कृति के लिए नवीन कथानक के रूप में चुना था। प्रस्तावना में स्वयं को "वर्तमान कवि" लिखकर उसने यह और भी स्पष्ट कर दिया है कि निश्चित रूप से वर्तमान से कुछ पूर्व के ही वृत्त को सँजोया गया था। स्पष्ट है कि वह अग्निमित्र के कुछ पश्चात् अर्थात् ईसवी पूर्व प्रथम शतक में ही वर्तमान रहे होंगे।

४. नाटक के पंचम अंक के प्रारंभ में वैतालिकों द्वारा दो श्लोकों का पाठ कराया गया है[३]। इनमें विदर्भ-विजय की घटना वर्णित है। इन दोनों श्लोकों से यह ध्वनित होता है कि ये घटनाएँ मानो कुछ पूर्व ही घटित हुई हों।

५. मालविकाग्निमित्र में संकेतित राजा के अन्तपाल तथा धारिणी के भाई वीरसेन को "वर्णावर" लिखा है[४]। इसी प्रकार पंचम अंक में पुष्यमित्र ने अग्निमित्र को "विगतरोष" होकर यज्ञ में सम्मिलित होने का आग्रह किया है[५]। किन्तु रोष का कारण नहीं बतलाया गया है। विद्वानों का मत[६] है कि इन प्रयोगों से यह प्रमाणित होता है कि कालिदास को शुंगकालीन परिस्थितियों का सूक्ष्मतम ज्ञान था। अतः इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कालिदास अग्निमित्र के आसपास अर्थात् ईसवी पूर्व प्रथम में ही हुए होंगे।

---

१. प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः। मालविका०, प्रथम अंक, प्रस्तावना तथा १।२,

२. वही,

३. मालविका० ५।१, २,

४. अस्तिदेव्याः वर्णावरो भ्राता, वही, १।५-६,

५. वही, ५।१४।१५

६. देखो, कालिदास० मिराशी पृ० ६-१०, में साहित्य संग्रहः शिवराम पंत, भाग १, पृ० ८८,

६. नाटक में कौशिकी नामक पात्र की परिव्राजिका के रूप में अवतारणा की है। विधवा होने पर उसने यतिवेषधारण कर लिया था[1]। नाटक में उसके प्रति सम्मान व्यक्त करते हुए उसके यतिवेषधारण को उचित तथा सज्जनों का मार्ग कहा है—"युक्तः सज्जनैष पन्थाः।" किन्तु भारतीय धर्मशास्त्र में स्त्रियों को यतिवेषधारण करने का विधान नहीं है। पुरुषों को ही चतुर्थ आश्रम प्रवेश का अधिकार है। स्त्रियों को तो वैधव्य में भी पतिव्रत धर्म पालन का आदेश दिया गया है[2]। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि कालिदास के समय बौद्ध-धर्म का पतन हो गया था तथा वैदिक धर्म का पुनः संस्थापन हो चुका था, तथापि वह युग बौद्ध सिद्धान्तों से प्रभावित था। बौद्ध-धर्म में स्त्रियों को प्रव्रज्या ग्रहण करने का अधिकार था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी विधवा आदि स्त्रियों को परिव्राजिका होने की व्यवस्था है।[3] नाटक के उल्लेख से भी स्पष्ट है कि कौशिकी ने वैधव्य दुःख के कारण ही काषाय धारण किया है।[4] इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कालिदास उस समय हुए जब कि बौद्ध परम्पराएँ भी चल रही थीं। ब्राह्मण-धर्म की स्थापना होने पर भी उनका प्रभाव अभी पूर्णतः निरस्त नहीं हुआ था। यह समय शुंग-युग के बाद का ही संभव है। अतः अनुमान है कि कालिदास शुंगों के पश्चात् अर्थात् ईस्वी पूर्व प्रथम शतक में ही हुए होंगे।

७. अन्त में हम यह भी मानते हैं कि कालिदास यदि गुप्तकाल में हुए होते तो वे पराक्रमी गुप्त तथा उनसे सबंधित अश्वमेघ आदि की घटनाओं को अवश्य रूपायित करते। किन्तु उन्होंने ऐसा न करके गुप्तों की अपेक्षा स्वल्प प्रसिद्ध शुंगों को उपजीव्य बनाया है, इससे भी स्पष्ट होता है कि वे निश्चित रूप से शुंगकाल के अन्त में ही हुए थे।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम सुनिश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि कालिदास ई० पू० प्रथम शतक में ही हुए थे, बाद में नहीं।

कालिदास के ऐतिहासिक नाटक का महत्त्व

कविता-कामिनी-विलास कालिदास ने संस्कृत साहित्य में केवल कविता-कामिनी की कौतुकमयी कमनीयता का ही सर्वोत्कृष्ट प्रदर्शन नहीं किया है, अपितु कालिदास के कलाकार ने एक उत्कृष्ट नाट्य-शिल्पी के रूप में भी सर्वाधिक सफल

---

१. "पुनर्नवीकृतवैधव्य-दुःखया मया त्वदीयंदेशमवतीर्य इमे काषाये गृहीते।
राजा— युक्तः सज्जनैष पन्थाः।" मालविका० ५।११-१२,

२. मनुस्मृति० ५।१४७-६१,

३. कालिदासः रामस्वामी शास्त्री, पृ० ७०, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, १।१२,

४. मालविका० ५।११-१२,

कृतियों का सृजन किया है। कालिदास ने अपने जीवन में केवल तीन नाटकों का सृजन किया जिनमें हमारा विवेच्य "मालविकाग्निमित्र" उनका सर्वप्रथम नाटक है। इस प्रस्तुत रचना में अन्य नाट्यकृतियों के समान न कोई विशेष सौष्ठव है, और न कोई अन्य मौलिक विशेषता ही। अतएव बहुत पहिले से समालोचक–जगत में प्रस्तुत नाटक के सम्बन्ध में कालिदास के कर्तृत्व को लेकर पर्याप्त विवाद रहा है। किन्तु आज सर्वमान्य रूप से यह कालिदास की प्रथम नाट्यकृति स्वीकृत हो चुका है। परन्तु, प्रथम कृति होने से मालविकाग्निमित्र का महत्त्व कम नहीं होता है, अपितु नाट्यकला की दृष्टि से कालिदास की नवोदित प्रतिभा का प्रारम्भिक निदर्शन होने के कारण इस कृति का महत्त्व पर्याप्त बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त, इसकी ऐतिहासिक कथा-वस्तु भी इसके महत्त्व का दूसरा प्रमुख कारण है।

मालविकाग्निमित्र के पर्यवेक्षण से ज्ञात होता है कि इसका समस्त कथानक विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं है, किन्तु इसका संपूर्ण वातावरण राजकीय पारिवारिक घटनाओं से तथा राज्य-कार्य से सम्बन्धित होने के कारण यह निःसन्देह बहुमूल्य इतिहासोपयोगी सामग्री देता है, तथा विशेष-रूप से प्रथम तथा पंचम अंक की घटनाओं से शुंग–इतिहास पर ठोस प्रकाश पड़ता है। रैप्सन ने इसके यथार्थतापूर्ण चरित्र तथा विदिशा की ऐतिहासिक घटनाओं के तथ्य पूर्ण चित्रण के कारण ही मालविकाग्निमित्र के ऐतिहासिक महत्त्व को स्वीकार किया है।[1] पतंजलि के महाकाव्य के अतिरिक्त धूमिल शुंगकालीन इतिहास पर प्रकाश डालने वाला यह दूसरा प्रामाणिक ग्रन्थ है। इससे प्राप्त ठोस तथ्यों के आधार पर शुंगकालीन इतिहास का ताना बाना बुनने में पर्याप्त सहायता मिलती है। मुख्यतः क्योंकि नाटक का सृजन शुंगकालीन घटना के लगभग एक डेढ़ शतक उपरान्त ही हुआ था, अतः इसमें वर्णित वृत्तान्तों तथा तथ्यों की विश्वसनीयता तथा प्रामाणिकता भी असंदिग्ध है। श्री मिराशी के शब्दों में कालिदास का इतिहास-ज्ञान अचूक[2] था। उसने इस नाटक में सत्येतिहास की ही अवतारणा की है। अतएव विसेन्ट स्मिथ जैसे इतिहासकार ने भी नाटक की प्रामाणिकता तथा ऐतिहासिक परम्पराओं की

१. Its main interest is anything but historical; but some of its characters represent real personeges and certain references to the history of the adjacent kingdom of Vidica are appropriately introduced in the 1st Act. It would be unreasonable to suppose that these had no foundation in fact

Cambridge History of India, Vol. I p 468,

२. कालिदास: मिराशी, पृ० ८७,

अनुरूपता की स्वीकृति दी है।[1] स्पष्ट है कि नाटक का कथानक मूलतः ऐतिहासिक तथा विश्वस्त है। इसमें एकाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का विस्तृत विवरण है। अतएव इस नाटक का संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में सर्वाधिक महत्त्व है।

मालविकाग्निमित्र के सृजन की पृष्ठभूमि

"मालविकाग्निमित्र" पर अन्य किसी महत्त्वपूर्ण परिवेश में निविष्ट करके समालोचना करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इसके सृजन की पृष्ठ-भूमि पर किंचित् दृष्टिपात कर लिया जाय। कालिदास के अन्य दोनों नाटक अभिज्ञान शाकुन्तल तथा विक्रमोर्वशीय पुराकथा को उपजीव्य बनाकर उद्भावित हुए हैं, किन्तु, कालिदास की सर्वप्रथम रचना के रूप में मालविकाग्निमित्र में "ऐतिहासिक कथानक" का प्रयोग किया जाना किंचित् विचारणीय है, साथ ही मनोरंजक भी।

कालिदास से पूर्व संस्कृत के नाट्य-साहित्य में एक सुसमृद्ध नाट्य-परम्परा का प्रवर्तन हो चुका था। "मालविकाग्निमित्र" की प्रस्तावना से स्पष्ट है कि भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि प्राचीन नाटककारों की सामान्य परम्परा पहिले से चली आ रही थी[2] तथा यह भी ज्ञात होता है कि उन्हें अपने नाट्य-शिल्प से प्रचुर ख्याति एवं प्रतिष्ठा भी मिल चुकी थी। यही कारण है कि कालिदास जैसा प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार भी अपने नैसर्गिक नाट्य-सृजन के लोभ का संवरण न कर सका और उसने अपने को उसी प्रगतिशील परम्परा में जोड़ दिया। अनुमानतः कालिदास के हृदय में उन परम्परागत प्रतिभाओं से प्रज्योतित आकाश में सर्वाधिक प्रभासित भास के स्वप्न वासवदत्ता के द्वारा अर्जित सार्वाधिक लोकप्रियता से उत्साहित होकर, उसी के अनुरूप अभिनव नाट्य-रचना का सहज संकल्प उदित हुआ। हम समझते हैं, कि कालिदास ने "उदयन-कथा-कोविदग्रामवृद्धान्", की अत्यधिक अभिराम उदयन-कथा का पल्लवन करने वाले भास के स्वप्न० के सदृश ही ललित लोककथा के रूप में अपने समय में बहुचर्चित अत्यन्त लोकप्रिय एवं नवीन प्रायः अग्निमित्र की प्रणय-कथा का चयन किया। इस ऐतिहासिक प्रणयकथा को कालिदास ने इसके घटित होने के लगभग एक शतक पश्चात् उस समय उपजीव्य बनाया, जबकि यह नवीन होने के साथ-साथ प्रख्यात भी हो चुकी थी। निश्चित् रूप से यह इतिवृत्त उस समय

---

१. दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, वि० स्मिथ, पृ० २१२,

२. मालविकाग्नि की प्रस्तावना में संस्कृत के ३ प्राचीन नाटककारों के उल्लेख-क्रम से संस्कृत नाटककारों की प्राचीन परंपरा पर प्रकाश पड़ता है। हमारा विश्वास है कि कालिदास से क्रमशः भास, सौमिल्ल तथा कविपुत्र पूर्ववर्ती थे।

जन-साधारण की स्मृति पर छाया हुआ था।[1] कालिदास ने भी इसे लोकमानस से सँजोया। सम्भवतः शुंगों द्वारा मौर्यों के राज्य को हस्तगत कर लेने से पुष्यमित्र तथा अग्निमित्र का प्रबल प्रताप कालिदास के समय में भी परिव्याप्त रहा होगा। अतएव उस समय कालिदास के समय भी शुंगों द्वारा मौर्यों के राज्य को हस्तगत कर लेने से पुष्यमित्र तथा अग्निमित्र का प्रबल प्रताप परिव्याप्त था। अतः लोकमानस में शुंगों के प्रति समधिक श्रद्धा रही होगी। दूसरे, अग्निमित्र तथा मालविका से सम्बन्धित प्रणय-कथा भी उदयनकथा के समान लोकप्रिय रही होगी। कालिदास ने उसी-लोकजीवन से इस तत्कालीन प्रणय-कथा को सँजोकर प्रथित यशस्वी भास के प्रसिद्ध नाटक स्वप्न वासवदत्ता के अनुरूप ही रूपायित किया। यही कारण है कि लेखक ने सर्वप्रथम ही साग्रह घोषणा की है, कि प्राचीन ही सभी वस्तुएं श्रेष्ठ नहीं हुआ करती और न सभी नवीन निन्दनीय ही हुआ करती हैं।[2] इस प्रकार कालिदास ने अपनी अभिनव नाट्यकृति के प्रयोग-परीक्षण पूर्वक पर्यवेक्षण का आग्रह किया है।

मालविकाग्निमित्र पर स्वप्न० का पूरा-पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है।[3] कालिदास स्वप्न वासवदत्ता के अनुकरण में बह जाने के कारण उस के सदृश ही ही लोकप्रियता अर्जित करने के लोभ में असंतुलित होकर एक नाटक लिखते हुए भी ललित नाटिका जैसी कृति का सृजन कर गए हैं। न केवल यहाँ प्रणयकथा मात्र ही है अपितु नायक धीरोदात्त होने पर भी धीरललित जैसा प्रतीत होता है। सभी प्रकार से देखने पर यह एक नाटिका के ढंग पर रचित कृति सी प्रतीत होती है। इसमें कवि को कल्पना-प्रयोग को पर्याप्त अवसर मिला है। किन्तु प्रथम तथा अन्त में विन्यस्त ऐतिहासिक घटनाओं के परिवेश में ही प्रणय-कथा का प्रयोग करने से शुंगकालीन ऐतिहासिक सामग्री भी उपलब्ध होती है। स्पष्टतः हम इसे विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं कह सकते, क्योंकि इसकी मूलभूत अन्तःपुरीय कथा से स्वल्पमात्र भी ऐतिहासिकता का आभास नहीं होता है। किन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं 'मूल कथावस्तु" का नाटकीकरण तब किया गया जबकि ये घटनाएँ अत्यन्त आसन्नकालिक एवं नवीन प्रायः होने के साथ-साथ जन-साधारण की स्मृति पर जगी हुई थी अतः इसकी घटनाओं में पर्याप्त सत्यता होने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्त्व असंदिग्ध

१. मालविकाग्निमित्रः प्राक्कथनः सं० एस० पी० पंडित पृ० २७,

२. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।"
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः। वही, १।२,

३. इस सम्बन्ध में विशेष इसी अध्याय में आगे कालिदास तथा भास देखिये।

है और इसी कारण इस नाटक का तत्कालीन इतिहास को कलेवर देने में बहुत बड़ा उपयोग सभव है।

नाटक का कथानक

नाटक का कथानक मिश्रविष्कम्भक से प्रारम्भ होता है। मालविका के नृत्योपदेश के सम्बन्ध में जानने के लिए संगीतशाला को जाती हुई दासी वकुलावलिका दूसरी दासी कौमुदिका से वार्तालाप के द्वारा यह सूचना देती है कि महादेवी धारिणी मालविका को राजा की दृष्टि से छिपाये रखना चाहती है। पर एक दिन चित्रशाला में चित्र देखती हुई महादेवी के निकट उपस्थित होकर राजा मालविका का चित्र देख लेता है, और उसके बारे में पूछने पर वसुलक्ष्मी बालभाव से कह देती है कि यह मालविका है।[1] यहीं तीसरा पात्र गणदास प्रविष्ट होता है। यहीं बकुलावलिका द्वारा पुनः ज्ञात होता है कि स्वामी ने देवी के वर्णावर भाई वीरसेन को नर्मदा के तट पर सीमावर्ती दुर्ग-रक्षक के रूप में नियुक्त किया है और उसी ने कला-योग्य इस मालविका को अपनी बहिन महादेवी धारिणी को उपहार के रूप में भेजा[2] है। इसी को देवी अपने विश्वासपात्र नाट्याचार्य गणदास के पास संगीत-नृत्य की शिक्षा के लिए रख छोड़ती है और मालूम होता है कि वह बड़ी कुशलता से नृत्य की प्रायोगिक शिक्षा ग्रहण कर रही।

इस मिश्रविष्कम्भक के बाद राजा पत्र-लेख लिए हुए मन्त्री के साथ दीख पड़ता है। उनके संभाषणों से ज्ञात होता है कि पहिले राजा ने विदर्भ-शासक को पत्र दिया था। उसके प्रत्युत्तर में ही यह लेख आया है। अमात्य वाहतक बतलाता है कि वैदर्भ अपना विनाश चाहता है। पत्र से ज्ञात होता है कि अग्निमित्र से माधवसेन की मित्रता है तथा वह प्रतिश्रुत-सम्बन्धी है। माधवसेन अपनी कुमारी बहिन को देने का वचन दे चुका है। इसी अपने पितृव्य-पुत्र भाई माधवसेन को अग्निमित्र के पास विदिशा जाते हुए रास्ते में ही यज्ञसेन के अन्तपाल ने बहिन तथा स्त्री-सहित पकड़ लिया। उसी की मुक्ति के लिए अग्निमित्र के विदर्भ-शासक को सन्देश देने पर वह प्रत्युत्तर में अभिसन्धि के रूप में अपने साले मौर्य-सचिव को छोड़ने को लिखता है।[3] अग्निमित्र कार्य-विनिमय की इस अभिसंधि से रुष्ट होकर विदर्भ के समूलोन्मूलन के लिए आज्ञा देता है।[4] अमात्य भी राजा के वक्तव्य का शास्त्र

---

१. **मालविका०** १।३–४,
२. **वही**, १।५–६,
३. **मालविका०** १।७,
४. **वही**, १।७–८,

द्वारा समर्थन करता है ।[1] फलतः सेनापति को विदर्भ पर आक्रमण का आदेश दे दिया जाता है ।

दूसरी ओर अमात्य के निष्क्रमण के बाद कार्यान्तर (नर्म) सचिव विदूषक, जिसकी कि प्रतीक्षा राजा बड़ी उत्सुकता से कर रहा है, प्रवेश करता है । उसके द्वारा ज्ञात होता है कि राजा ने उसे चित्र में देखी मालविका के प्रत्यक्ष-दर्शन के उपाय को भेजा है और अब उसका उपाय भी कर दिया गया है । तभी गणदास तथा हरिदत्त दोनों तू-तू मैं-मैं करते हुए प्रवेश करते हैं । यहीं विदूषक की कूटनीति-प्रयोग विस्तार पाता है । दोनों नाट्याचार्य एक दूसरे को विद्या आदि में हेय समझते हैं, परस्पर निन्दा करते हैं और राजा से ही प्राश्निक के रूप में इसका निर्णय चाहते हैं कि दोनों में शास्त्र तथा प्रयोग-ज्ञान में कौन श्रेष्ठ है । पर इस विवाद के विषय में रानी के संभावित पक्षपात के सन्देह से आशंकित होकर राजा भगवती कौशिकी तथा रानी के समक्ष ही विवाद के निर्णय को न्याय्य समझ दोनों को बुला भेजते हैं । यहीं ज्ञात होता है कि महाराज का पक्षपात हरिदत्त की ओर है तो महारानी का गणदास की ओर । अतः तटस्थ कौशिकी को ही सर्व-सम्मत रूप से मध्यस्थ बनाया जाता है । क्योंकि नाट्यनिर्णय प्रयोग द्वारा ही संभव है अतः महारानी की अनिच्छा होने पर भी आचार्यों के शिष्यों को नाट्य-प्रदर्शन की आज्ञा दे दी जाती है ।

द्वितीय अंक में राजा, महारानी परिव्राजिका एवं विदूषक रंगशाला में मालविका का नृत्य देखते हैं । मालविका के उत्कृष्ट नृत्य के कारण प्राश्निक परिव्राजिका गणदास के पक्ष में निर्णय देती है । प्रदर्शन के बाद धारिणी मालविका को राजा के सामने से शीघ्र दूर करने को आतुर दीख पड़ती है । यहीं मालविका के प्रति राजा का पूर्वानुराग अभिव्यक्त होता है । हरिदत्त का प्रयोग समयाभाव के कारण स्थगित कर दिया जाता है ।

तृतीय अंक के आरम्भ में (प्रवेशक में) मधुकरिका और समाहितिका यह संकेत देती है कि यद्यपि मालविका बहुत प्रशंसित हो चुकी है तब भी आजकल परिम्लान सी दीख पड़ती है तथा स्वामी भी उसके प्रति साभिलाष है, केवल धारिणी ही उसकी रक्षा कर रही है । तभी विदूषक के साथ राजा आता है, और मालविका में मन रमा होने पर भी छोटी रानी इरावती के सन्देशानुसार प्रमदवन में उपस्थित होता है । वहाँ रानी की प्रतीक्षा कर ही रहा है कि मालविका आती है । यहीं विदूषक द्वारा ज्ञात होता है कि यद्यपि संपत्ति पर सांप के समान ही रानी मालविका पर

---

१. मालविका० १।८,

निगाह रखती है तब भी बकुलावलिका आदि उसे राजा से मिलाने को प्रयत्नशील है और आज रानी के पैर में चोट आने से अशोक के दोहद पूरण करने के लिए मालविका को भेजा गया है । राजा को मालविका से मिलने का अवसर मिलता है, पर तभी इरावती की चेटी निपुणिका के साथ प्रवेश कर दोनों मिल ही पाते हैं कि इरावती विघ्न डाल देती है और कटुशब्द सुनाती हुई रुष्ट होकर चली जाती है ।

चतुर्थ अंक में विदूषक राजा को बतलाता है कि धारिणी ने मालविका तथा बकुलावलिका को कैद में डाल दिया है । पर राजा के अनुरोध पर विदूषक पुनः उसे मुक्त कराने तथा राजा से मिलाने को सक्रिय है, और महारानी के लिए फूल चुनते समय सांप के काटे जाने का बहाना बनाकर महारानी की सर्पमुद्रांकित अंगुलीयक को विष-विकार शान्त करने के उद्देश्य से प्राप्त कर तहखाने से दोनों को मुक्त करवाने में सफल हो जाता है । इस प्रकार वह राजा का मालविका से सम्मिलन भी करा देता है, किन्तु वहाँ पुनः इरावती विघ्नस्वरूप उपस्थित होकर प्रणय-क्रीड़ा में विघ्न डाल देती है ।

पंचम अंक के प्रवेशक में सारसिका तथा उद्यानपालिका के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि सेनापति पुष्यमित्र ने कुमार वसुमित्र को यज्ञ के अश्व की रक्षा में नियुक्त किया[1] है तथा महारानी के भाई, वीरसेन ने विदर्भ विजय तथा माधवसेन की मुक्ति-विषयक पत्र भी भेजा है[2] तथा उपहारों के साथ सेविका भी भेजी है। प्रवेशक के बाद पुनः वैतालिकों द्वारा ज्ञात होता है कि वरदा तक विदर्भ पर विजय प्राप्त करली गयी है ।[3] उधर धारिणी परिव्राजिका के साथ विवोहाचित शृंगार से अलंकृत मालविका के साथ अशोक पुष्पशोभा के सहदर्शन के लिए आमन्त्रित राजा पहुंचता है । तभी विदर्भ से भेजी दो शिल्पकन्यायें आती हैं । वे मालविका तथा परिव्राजिका को पहिचान[4] जाती हैं । सारे रहस्य के खुलने पर ज्ञात होता है कि वास्तव में मालविका माधवसेन की छोटी बहिन तथा परिव्राजिका माधवसेन के मंत्री सुमति की छोटी बहिन कौशिकी है ।[5] यहीं ज्ञात होता है कि जब माधवसेन पकड़ा गया तब अग्निमित्र के साथ (पूर्व-प्रतिश्रुत) सम्बन्ध के सम्पादन की इच्छा से मंत्री सुमति कौशिकी के साथ मालविका को लेकर विदिशा यात्री-दल के साथ

---

१. वही, ५।१,
२. वही,
३. वही, ५।१–२,
४. वही, ५।९–१०,
५. वही,

चल दिए, किन्तु सार्थवाह वन के मध्य में थक कर ठहर गया, वहाँ डाकुओं से मुठभेड़ हुई। इस संघर्ष में जब सार्थवाह के योद्धा अस्त्रादि से सज्जित तस्करों से पराजित हो गए तो अन्त में सुमति आपद्ग्रस्ता मालविका का परित्राण करते हुए अपने प्राणों को देकर स्वामी के प्रति उऋण हो गया। कौशिकी मूर्छित हो गयी और मालविका का अपहरण कर लिया गया। कौशिकी भाई का अग्नि-संस्कार करके पुनः वैधव्य दुख नवीन होने से दुखित होकर काषाय वस्त्र धारण कर अग्निमित्र के देश में आ गयी, और मालविका लुटेरों से वीरसेन को और वीरसेन से महारानी को प्राप्त हुई।[1] कौशिकी यह भी बताती है कि क्योंकि सिद्धों ने मालविका के लिए एक वर्ष सेविका रहने की भविष्यवाणी की थी अतः यह रहस्य प्रकट नहीं किया।[2]

इसी प्रसन्नता के वातावरण में तथा विदर्भ-विजय के उपलक्ष में राजा विदर्भ को वरदा को मध्य रेखा निश्चित करके यज्ञसेन तथा माधवसेन दोनों में विभक्त करने का आदेश दे देता[3] है। पुनः कांचुकी सेनापति पुष्यमित्र का पत्रलेख लाता है, जिससे ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र अश्वमेधयज्ञ में दीक्षित हो चुके हैं और अश्व की रक्षा पर नियुक्त वसुमित्र ने सिन्धु के दक्षिणतट पर यवनों पर विजय प्राप्त कर ली है। अतः रोष-रहित होकर यज्ञ में सपरिवार सम्मिलित होने को अग्निमित्र को बुलाया[4] है। इस प्रसन्नता के समाचार को सुनकर राजा मौर्य-सचिव सहित सभी बंदियों की मुक्ति का आदेश देता है तथा सभी के परामर्श से मालविका तथा अग्निमित्र का परिणय हो जाता है।

ऐतिहासिक परीक्षण के साक्ष्यः—नाटक के इतिवृत्त के तथ्य-विश्लेषण का आधार पुराण, बाण का हर्षचरित, महाभाष्य, मेरुतुंग की थेरावली, अयोध्या का अभिलेख, दिव्यावदान, कथा-सरित्सागर तथा आधुनिक इतिहासकारों के इतिहास आदि हैं, जिनके आधार पर हम कुछ निष्कर्ष निकालने की चेष्टा करेंगे। यद्यपि नाटक का उपजीव्य कोई ग्रन्थ विशेष नहीं है। लेखक ने जन-जन के कण्ठ तथा स्मृति से ही घटना आदि को संजोकर नाट्य-रूप में विन्यस्त किया है। अतएव स्वयं मालविकाग्निमित्र शुंग इतिहास का प्रमुख स्रोत है, तथापि अन्य साक्ष्यों के आधार पर ही इससे प्राप्त तथ्यों को ग्राह्य ठहराने का प्रयास किया जाना उचित है।

---

१. **मालविका०** ५।९—१२,
२. **वही**, ५।१२—१३,
३. **वही**, ५।१३,
४. **वही**, ५।१४—१६,

पात्रों की ऐतिहासिकता—नाटक के प्रधान पुरुष-पात्र पुष्यमित्र, अग्निमित्र, वसुमित्र, वीरसेन, यज्ञसेन, माधवसेन ऐतिहासिक हैं । इनमें प्रथम तीन की ऐतिहासिकता सुनिश्चित है । अन्य पात्र भी ऐतिहासिक प्रतीत होते हैं । वाहतक की ऐतिहासिकता संदिग्ध है । सुमति का उल्लेख नाम्ना कथा-सारित्सागर में हुआ है । उसके अनुसार इसके पिता भी मंत्री थे । संभवतः यह कोई ऐतिहासिक पात्र था । स्त्री-पात्रों में धारिणी, वसुलक्ष्मी तथा इरावती की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । कौशिकी काल्पनिक प्रतीत होती है । किन्तु नाटककार ने इन सभी प्रमुख पात्रों को जिस विश्वास के साथ ऐतिहासिक वातावरण में ढालकर चित्रित किया है उससे अधिकांश प्रमुख पात्रों की ऐतिहासिकता पर विश्वास होता है । निःसन्देह कालिदास ने अपने से तीन सदी पूर्व की विश्वस्त तथा प्रख्यात घटनाओं की ओर, कम से कम प्रमुख राज-परिवार के वास्तविक पात्रों को ही नाटक में स्थान दिया होगा तथापि मालविका जैसे नाटक के प्रमुख पात्र की ऐतिहासिकता का प्रश्न अवश्य विचारणीय है ।

मालविका की ऐतिहासिकता

नाटक के कथानक के अनुसार मालविका विदर्भ-शासक यज्ञसेन के चचेरे भाई माधवसेन की छोटी बहिन थी । पात्र की सत्ता बहुत कुछ सम्भावित है, किन्तु नामकरण के सम्बन्ध में कुछ विचिकित्सा है । संभवतः या तो यह काल्पनिक है या भास के स्वप्नवासवदत्त में प्रयुक्त वासवदत्ता के अवन्तिका के सदृश मालव देश के सम्बन्ध के आधार पर यह नामकरण किया है । किन्तु, क्योंकि इतिहासकारों की मान्यता है कि ईसवी पूर्व में कोई भी प्रदेश "मालव" नाम से विख्यात नहीं था । अवन्ति को भी "अवन्ति" कहते थे, न कि "मालवा" । यहाँ तक कि कालिदास के ग्रन्थों में कहीं भी "मालव" शब्द प्रदेश या स्थान के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है, अपितु स्वयं उसने वर्तमान मालवा अर्थात् अवन्ति के लिये अवन्ति ही प्रयुक्त किया है । अतः मालव देश के आधार पर मालविका के नामकरण की संभावना नहीं की जा सकती । किन्तु यह प्रकट तथ्य है कि कालिदास से पूर्व प्राचीन भारत में मालव जाति अवश्य थी । अतः हमारा अनुमान है कि यह नामकरण मालवगण या मालवजाति से सम्बन्धित होने के कारण हुआ है । प्राचीन भारत आयुधजीवी-मालवों से अपरिचित नहीं है । विशेषकर कालिदास के समय में मालवों का विशेष उत्कर्ष हुआ । अतः बहुत संभव है कि उसका मालवों से न केवल लगाव ही रहा होगा, अपितु उसे मालवों के विषय में सम्यक् ज्ञान भी होगा ।

नामकरण की आनुमानिक युक्तियुक्तता

नामकरण की आवश्यकता तथा युक्तियुक्तता इसलिए भी मानी जा सकती

है कि संभवत: अग्निमित्र के अन्त:पुर में घटित, मालवगण के ही एक शासक, संभवत: माधवसेन की बहिन से सम्बन्धित प्रणयकथा लेखक ने सुनी होगी, किन्तु या तो इस प्रणयकथा की नायिका (पात्र) स्त्री-विशेष का नाम प्रसिद्धि में न आया, या फिर समय के प्रवाह में बह गया, अतएव लेखक ने मालवों से सम्बन्धित होने के कारण नायिका का "मालविका" नामकरण किया है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि इस "मालविका" नाम में पूर्णत: स्वारस्य तथा सार्थकता है, और इसका स्पष्ट संकेत मालवों की ओर है। किन्तु यदि हम इसे कल्पित नामकरण न मानें, तब भी अधिक सहज एवं ग्राह्य प्रकार से मालविका के अस्तित्व की सत्यता तथा औचित्य के विषय में यह भी कह सकते हैं कि माधवसेन मालववंशी या मालव जाति का था। अत: कालिदास ने जाति के आधार पर "मालविका" का जन्म नाम के रूप में प्रयोग किया है। इस प्रकार इस नाम को कल्पित न मानकर यथार्थ भी माना जा सकता है, निरा कल्पित तथा अनैतिहासिक नहीं।[1]

मालविका के इस नामकरण के औचित्य से दो तथ्य भी निकाले जा सकते हैं। प्रथम, यह कि लेखक में ऐतिहासिक वातावरण उत्पन्न करने की पूर्ण क्षमता है। दूसरा, यह कि ईसवी पूर्व द्वितीय शतक पूर्व से अर्थात् चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से ही मालव लोग गणों के रूप में केवल आयुधजीवी ही न रह गये थे, अपितु बड़े-बड़े राजाओं के सहायक के रूप में छोटी-मोटी जागीरों के अधिपति एवं शासक जैसे भी होने लगे थे। वे सम्राटों के सहायक के रूप में हाथ बंटाते थे तथा दायें हाथ का काम दिया करते थे।

मालविकाग्निमित्र के कथानक का ऐतिहासिक विश्लेषण

कथानक के दो प्रमुख घटनाचक्र:—नाटक का घटनाचक्र क्योंकि दो विभिन्न भागों, स्थानों तथा रूपों में घटित होता है अत: कथावस्तु के ऐतिहासिक विवेचन की दृष्टि से दो विभाग किये जा सकते हैं। प्रथम, राजकीय अन्त:पुर का घटनाचक्र। द्वितीय अन्य राजनैतिक घटनाचक्र। प्रथम घटनाचक्र सीधा-सादा सरल तथा संस्कृत साहित्य में चिरपरिचित रूढ़ घटनाचक्र जैसा है। प्रमुखत: यह प्रथम अंक के उत्तरार्द्ध से लेकर चतुर्थ अंक तक की समस्त घटनाओं को समेटे है। इसमें अन्त:पुर के प्राचीर के भीतर के शृंगारिक (रोमानी) वातावरण में ही समस्त घटना घटित होती है। जबकि दूसरा घटनाचक्र विशुद्ध राजनैतिक है। इसमें प्रथम अंक तथा पंचम अंक की ऐतिहासिक घटनाएं समाहित है। प्रकट रूप से यह तो ज्ञात नहीं होता कि नाटक का कथानक

---

१. मालव जाति की माता के आधार पर नामकरण माना जा सकता है।

२. कालिदास: मिराशी पृ० १४७,

लेखक ने कहाँ से संजोया है। पर, पुष्यमित्र, अग्निमित्र तथा वसुमित्र आदि पात्र निःसंदिग्ध रूप से ऐतिहासिक हैं, तथा अश्वमेधयज्ञ, यवनविजय, विदर्भ-विजय, विदर्भ राज्य का द्वैराज्य के रूप में विभाजन तथा मालविका के प्रेम आदि की घटनाएँ निश्चित रूप से ऐतिहासिक हैं ? द्वितीय घटनाचक्र से केवल कुछ ऐतिहासिक घटनाओं का ही ज्ञान नहीं होता, अपितु अनेक ऐतिहासिक रहस्य भी खुलने में सहायता मिलती है। यही अंश ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि प्रथम घटनाचक्र पूर्णतः काल्पनिक है। तथापि यह अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रथम घटनाचक्र से इतिहास पर सीधे-सीधे कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। उससे मुख्यतः केवल तत्कालीन अन्तःपुरीय प्रणय-व्यापार का ही ज्ञान तथा सांस्कृतिक सामग्री की उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से भी इसका अपना महत्त्व है।

प्रथम घटनाचक्र के ऐतिहासिक साक्ष्य

प्रथम घटनाचक्र के समीक्षण के लिये हमारे पास कोई भी साक्ष्य या विश्वस्त आधार नहीं है। केवल नाटक की घटनाओं के पारस्परिक समन्वय के आधार पर ही विवेचन किया जा सकता है, किन्तु बृहत्कथा के एक घटनाचक्र से इसका बहुत कुछ साम्य परिलक्षित होता है। यद्यपि आज बृहत्कथा मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, पर कथासरित्सागर तथा बृहत्-कथा मंजरी आदि के रूप में उसके संस्करण प्राप्त हैं। कथा० में ठीक मालविका तथा अग्निमित्र की प्रणयकथा के समान ही उदयन बन्धुमती की प्रणयकथा प्राप्त होती[1] है। संक्षेप में कथा०[2] के अनुसार उज्जयनी के राजा महासेन ने वासवदत्ता नामक अपनी कन्या का विवाह वत्सदेश के राजा उदयन के साथ किया था। वासवदत्ता के भाई पालक ने स्वयं जीतकर लाई हुई एक बन्धुमती नाम की राजकुमारी को अपनी बहिन के पास भेंट-रूप में भेजा। उसको वासवदत्ता ने मंजुलिका के नाम से गुप्त रूप से रखा था। एक दिन उद्यान-गृहलता में वसन्तक को साथ लेकर घूमते हुए उदयन ने उसे देखा और उससे गान्धर्व-विवाह किया। यह क्रिया छिपी हुई वासवदत्ता ने देखी और इससे उसको क्रोध आया। वह इस क्रिया के समायोजक वसन्तक को बाँधकर ले गयी। तब राजा उसकी माँ के घर से आयी सांस्कृत्यायनी नाम की परिव्राजिका की शरण में गया और उसकी सहायता से वह वसन्तक को मुक्त कराकर लाया। अन्त में रानी ने परिव्राजिका के कथनानुसार राजा के लिए बन्धुमती को अर्पित कर दिया। स्पष्ट है

---

१. कथा० २।६।६।४-६६ में विरचिता नाम की एक दासी से गुप्त प्रेम का निर्देश है।

२. कथा० २।६।६६-७२, देखिये कालिदास : मिराशी पृ० १५६

कि दोनों कथाओं में बहुत अधिक साम्य है। एक ओर वासवदत्ता तथा बन्धुमती का एकत्र होना है, तो दूसरी में धारिणी तथा मालविका का। एक में उदयन के प्रिया-मिलन में विदूषक का सहायक होना है, तो दूसरी में अग्निमित्र के साथ मालविका के मिलन में विदूषक का सहायक होना। एक में विदूषक का बंदी होना है, तो दूसरी में वकुलावलि का। एक में सांस्कृत्यायनी परिव्राजिका द्वारा मुक्ति तथा विवाह में सहायता देना है तो दूसरी में कौशिकी परिव्राजिका द्वारा। और अन्त में दोनों में ही प्रणय-परिणय एवं सम्मिलन है। किन्तु इन सभी समान सी घटनाओं के कारण भी बृहत्कथा को नाटक का आधार या उपजीव्य नहीं माना जा सकता। अधिक संभव यही है कि दोनों की अभिसृष्टि की प्रेरक कोई परम्परागत सम्बन्धित प्रसिद्ध लोकप्रिय प्रणय-गाथा रही हो।

यह विश्वास करना भी उचित है कि कालिदास भास की प्रणय-कथात्मक रचना स्वप्नवासवदत्ता से सुपरिचित थे। "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्............ "तथा भास-सौमिल्ल-कविपुत्रादीनां............" इत्यादि से एक ओर यह ज्ञात होता है कि वह भास के प्रति समधिक श्रद्धा रखते थे, तो दूसरी ओर उनकी प्रतियोगी-भावना भी व्यक्त होती है। समग्र रूप में इससे यही स्पष्ट होता है कि हो न हो कालिदास ने इस नाटक की रचना के लिए भास से भी प्रेरणा अवश्य ग्रहण की होगी। स्वप्नवासवदत्ता में पद्मावती के पास वासवदत्ता को छद्म नाम से छिपाकर रखना, तथा अन्त में प्रणय-मिलन आदि घटनाओं का दोनों में पर्याप्त साम्य है। प्रस्तुत नाटक को सर्वांश में कल्पित किसी भी तरह नहीं मान सकते। नाटक में कल्पना के साथ यथार्थ अवश्य है, क्योंकि कुछ ही समय पूर्व के प्रतापी शुंगों से सम्बन्धित थोथी प्रणय-गाथा की कल्पना करना अनुचित ही न होता, अपितु दु साहस भी होता। मुख्यतः ऐसी कोई रचना जिसका मूल कथानक स्वर्णिम राष्ट्रीय इतिहास का हो तथा जिसके प्रति जन-जन की समधिक श्रद्धा हो, उससे सम्बद्ध ऐसी प्रणय-कथा की कल्पना करके लोकप्रिय हो पाना संभव नहीं था। और कम से कम कालिदास जैसे कलाकार से ऐसी आशा नहीं की जा सकती। निश्चित रूप से कालिदास ने 'नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्" के अनुसार उदयन-कथा के समान ही लोकप्रिय परोक्षभूत के ऐतिहासिक (प्रख्यातं इतिहासादेः) कथानक को लोक से संग्रह करके नाट्य-रूप में विन्यस्त किया है, न कि नितान्त कल्पित रूप में। नाटक के आदि तथा अन्त में विन्यस्त विशुद्ध ऐतिहासिक घटनाओं के समायोग से यह विश्वास और भी दृढ़ होता है कि लेखक ने न केवल अतिरंजनात्मक प्रणय-कथा या लोक-कथा से ही, अपितु उसने किसी विश्वस्त जनश्रुति से ही आधार के रूप में कथानक सँजोकर नाट्य-शिल्प का विधान किया होगा, और क्योंकि जनश्रुति निर्मूल या निरी काल्पनिक नहीं होती है, अतः इसके मूल में सत्यांश अवश्य है।

प्रथम घटनाचक्र का ऐतिहासिक विश्लेषण

प्रथम घटनाचक्र के कथानक का नाटक की अन्य घटनाओं की गवाही द्वारा जब हम समीक्षण करते हैं तो प्रथम अंक के उत्तरार्द्ध से चतुर्थ अंक तक की समस्त अन्त:पुर की घटनाओं को दृष्टि में रखना होगा कि "अग्निमित्र के दो रानियाँ हैं : धारिणी और इरावती। परन्तु सेविका, के रूप में अन्त:पुर में समागता मालविका पर राजा आसक्त हो जाता है। दोनों रानियों के पर्याप्त विरोध तथा सुरक्षा के बावजूद वह अपने नर्म-सचिव की सहायता से मिलने का प्रयत्न करता रहता है, मिलता भी है, और अन्त में उसको भी राज-परिवार की तथा उसके भाई एवं मंत्री द्वारा राजा को ही विवाह के लिए संकल्पित जानकर दोनों रानियों की सहमति से मालविका तथा अग्निमित्र का परिणय हो जाता है। इस प्रकार इसमें राजा रानियों तथा नर्म-सचिव एवं अन्त पुर के अन्य पात्रों के क्रियाकलाप का ही चित्रण है।

संभाव्यता के आधार पर अग्निमित्र के राज-परिवार में उपायनी-भूत सेविका मालविका के प्रति न तो राजा की अनुरक्ति ही अस्वाभाविक है और न महादेवी धारिणी तथा छोटी रानी इरावती के हृदय में इस प्रेम के प्रति ईर्ष्या तथा क्षोभ का अंकुरण ही। इसी प्रकार उन्होंने राजा को यथा-सम्भव उसके प्रणयपाश से दूर रखने की चेष्टा की होगी, तो राजा भी नर्म-सचिव की सहायता से उससे मिलने को सक्रिय रहा होगा और अन्त में प्रणय-संधि में सफलता भी मिली होगी। राजाओं के अन्त:पुर में ऐसी घटना की संभावना को अस्वीकार नहीं किया सकता।

ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि माधवसेन अग्निमित्र का "प्रतिश्रुत सम्बन्धी" था। यद्यपि विभिन्न टीकाकारों ने इसको "कन्या-प्रदान" रूप सम्बंध माना है। किन्तु क्योंकि अविवाहित स्त्री "कन्या" ही कही जाती है, अत: यह बहुत संभव है कि माधवसेन ने अपनी कुमारी "बहिन" को अग्निमित्र को देने का वचन दिया हो। इसके अतिरिक्त दोनों पड़ोसी तथा राजपरिवार से सम्बन्धित थे। माधवसेन की यज्ञसेन से अनबन रहती थी, तथा अग्निमित्र का प्रभुत्व अभ्युदयोन्मुख था, अत: उनमें परस्पर वैवाहिक गठबन्धन की भी पर्याप्त संभावना है। इसकी पुष्टि पंचम अंक से भी होती है जहाँ कि माधवसेन का मंत्री सुमति को इस प्रतिश्रुत-सम्बन्ध की पूरी जानकारी थी। इसलिए जब माधवसेन पकड़ा गया और मालविका भाईविहीन हो गयी, तब सुमति शीघ्र से शीघ्र कौशिकी के साथ इस प्रतिश्रुत सम्बन्ध की इच्छा से, विशेषत: इस प्रयोजन से कि कहीं मालविका पर कोई अन्य आपत्ति न आ जाय, सार्थवाह के साथ उसे विदिशा को ले चला।[1] इसके

---

१. मालविका० ५ ९-१०,

अतिरिक्त नाटक में "स त्वया मदपेक्षया सकलत्रमोदय मोक्तव्यः" इस वाक्य का भी महत्त्व है। यहीं सौंदर्यासहित सकलत्र माधवसेन की मुक्ति से सम्बन्धित अग्निमित्र के लेख से यह स्पष्ट होता[1] है कि सौदर्या के प्रति वह आकृष्ट था या इसके साथ ही प्रतिश्रुत सम्बन्ध था। नाटक से यह भी स्पष्ट है कि अन्त में सुमति भी अग्निमित्र के साथ सम्बन्ध की इच्छा से विदिशा आ रहा था।[2] इस प्रकार यह घटना पर्याप्त सत्य प्रतीत होती है। इस घटना से हम एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अनुमान भी कर सकते है कि—

"संभवतः मौर्यों के समय से ही अपनी प्रख्यात शूरवीरता के कारण मालव जाति के कुछ अगुआ लोगों को छोटे-छोटे प्रान्तपति बनाकर या उन्हें जागीर आदि देकर बड़े-बड़े सम्राट या राजा अपने पृष्ठ-पोषक के रूप में रखते थे। साम्राज्य की सुरक्षा के लिए ऐसा करना कुछ अस्वाभाविक भी नहीं है। अनुमानतः यज्ञसेन तथा माधवसेन को या इनके पूर्वजों को भी इसी प्रकार कुछ जागीर मौर्यों से प्राप्त हुई थी और अब ये मौर्य द्वारा नियुक्त विदर्भ के शासक थे। यह भी बहुत संभव है कि यह आसपास के किसी अन्य राजा के जागीरदार रहे हों।

रैप्सन का अनुमान है कि यज्ञसेन संभवतः आन्ध्र या आन्ध्रों का करद जागीरदार था।[3] रैप्सन के अनुसार दक्षिण भारत की प्राचीन राज-वंशावली के निर्देशों से भारत में भी आन्ध्रों का विस्तार ज्ञात होता है।[4] इन्हीं विस्तार पाते हुए आन्ध्रों या आन्ध्रों के करद यज्ञसेन से, जो कि विदर्भ का शासक था, संघर्ष हुआ।[5] किन्तु यह मत ठीक नहीं है, एक तो, वर्तमान नवीनतम शोध के आधार पर आन्ध्रों का शासन काल इतना प्राचीन सिद्ध नहीं होता[6] है। दूसरे, यज्ञसेन आन्ध्रों का करद या आन्ध्र ही था इससे अधिक सुसंगत हमारा पूर्वोक्त अनुमान प्रतीत होता है, जिससे न केवल मालविका के नामकरण या उसकी ऐतिहासिकता की पुष्टि होती है, अपितु समस्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी सुसंगत बैठ जाती है। अतः हमारा अनुमान है कि यज्ञसेन मालवों से संबन्धित था तथा, या तो वह मौर्यों का जागीरदार था और किसी अन्य पड़ोसी राजा का।

---

१. मालविका० १।६–७,
२. वही, ५।६–१०,
३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया पृ० ४६८,
४. वही, पृ० ४७८,
५. वही, पृ० ५४३,
६. देखो इसी अध्याय में हमारा विवेचन,

नाटक में यज्ञसेन को स्पष्टतः विदर्भ का शासक कहा गया है। यज्ञसेन तथा माधवसेन दोनों चचेरे भाईयों में परस्पर झगड़ा था। नाटक में यज्ञसेन ही राजा कहा गया है और माधवसेन को "कुमार" कहा गया[1] है। अतः यह भी संभव है कि माधवसेन कहीं का राजा न हो[2] और सुमति केवल साधारण परामर्शदाता के रूप में ही उसका सचिव रहा हो। अनुमानतः माधवसेन का राज्य के वंचित होने के कारण ही यज्ञसेन से झगड़ा था। प्राचीन काल में अपने-अपने उत्कर्ष के लिए, सुरक्षा के लिए, शक्ति-सन्तुलन के लिए या फिर सहायता-प्राप्ति के उद्देश्य से प्रायः राजा लोग परस्पर विवाह-सम्बन्ध स्थापित किया करते थे। नाटक से स्पष्ट है कि यज्ञसेन ने भी मौर्य सचिव से वैवाहिक संबंध स्थापित किया था। नाटक के अनुसार यज्ञसेन का मौर्य-सचिव साला था। अतः अनुमान है कि यज्ञसेन ने इसी सम्बन्ध के आधार पर मौर्य-सचिव की सहायता से सुविस्तृत विदर्भ का राज्य हथिया लिया था और चचेरे भाई कुमार माधव-सेन को जो कि उम्र में छोटा भी था, राज्य के अधिकार से वञ्चित कर दिया था। दोनों के पारस्परिक झगड़े का भी प्रमुख कारण यही प्रतीत होता है। नाटक में विदर्भ को द्वैराज्य के रूप में विभक्त कर देने के प्रसंग से भी यही ज्ञात होता है कि द्वैराज्य द्वारा अग्निमित्र ने माधवसेन को न्याय्य राज्य दिलाने का ही कार्य किया था। अतएव उसे कल्याणी बुद्धि वाला भी कहा गया है। भंडारकर भी उनमें राज्य के उत्तराधिकार के कारण झगड़ा मानते हैं। यही ऐतिहासिक सत्य भी है।

उपर्युक्त राजनैतिक परिस्थितियों से स्पष्ट है कि राजनैतिक उद्देश्य से ही माधव-सेन अग्निमित्र का प्रतिश्रुत-सम्बन्धी हो चुका था। इस संबंध के कारण यज्ञसेन माधवसेन पर और भी रुष्ट हुआ और माधवसेन पर कठोर नियन्त्रण किया। इस पृष्ठ-भूमि से कुछ तथ्य भी सामने आते हैं—सर्व प्रथम यह कि अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ की निर्बलता से राज्य में मौर्य-सचिव तथा मौर्य सेनापति के दो प्रमुख गुट बन गये थे। यह घटना उस समय की है, जब कि संभवतः पुष्यमित्र ने राज्य को हस्तगत नहीं किया था, किन्तु दोनों गुट अपने-अपने पक्ष की अभिवृद्धि में संलग्न थे। किन्तु ज्योंही क्रान्ति हुई, पुष्यमित्र ने बृहद्रथ की हत्या करके राज्य को हस्तगत कर लिया, तथा अग्निमित्र ने मौर्य-सचिव को बन्दी बना लिया, तभी यज्ञसेन ने भी अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। नाटक में इसे अनात्मज्ञः, प्रकृत्यमित्रः, अचिराधिष्ठितराज्यः आदि कहा है[3] अतः स्पष्ट है कि यह अभी-अभी स्वतन्त्र हुआ

---

१. मालविका० १।६–७, ५।६–१०,

२. **माधवसेन के लिए कुमार शब्द-प्रयोग के कारण वह यज्ञसेन से छोटा तथा किशोर प्रतीत होता है।**

३. मालविका० १।७–८०,

था परन्तु उसे लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई थी। जब यज्ञसेन ने देखा कि माधवसेन भी अग्निमित्र का प्रतिश्रुत संबंधी होने के कारण उससे जा मिलेगा तो उसको बलपूर्वक दबाना चाहा, किन्तु पुष्यमित्र के सम्राट होने पर यज्ञसेन के चंगुल से निकलने के लिए सुनियोजित योजना के अनुसार अपनी बहिन आदि मुख्य परिजन के साथ माधवसेन विदिशा जाने की चेष्टा कर ही रहा था कि यज्ञसेन के सीमारक्षक ने उसे पकड़ कर बन्दी बना लिया, किन्तु, किसी प्रकार मालविका तथा सुमति बन्दी न बनाये जा सके। यज्ञसेन के प्रत्युत्तर (सन्देश) से स्पष्ट है कि माधवसेन के बन्दी बनाने के समय एक विप्लव भी हुआ था और उसमें वह खो गयी।[1] विप्लव शब्द यहाँ बहुत सार्थक है। अनुमानतः बहुत सी प्रजा ने माधवसेन के पक्ष में 'विप्लव" में भाग भी लिया था। हमारा विश्वास है कि उस समय सुमति भी अवश्य उसके साथ था। माधवसेन के बन्दी हो जाने पर सुमति ने ही मालविका की सुरक्षा की तथा आने वाले किसी भी अनिष्ट की आशंका से उसे कहीं छिपा दिया था। नाटक में माधवसेन के सकलत्र सोदर्या विदिशा जाने का उल्लेख[2] है, और बाद में सोदर्या के विनष्ट होने तथा अन्वेषण प्रयत्नों का भी उल्लेख[3] है। किन्तु पंचम अंक में उल्लिखित "तथागतभ्रातृका" शब्द से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि माधवसेन के बंदी होने की घटना सुमति के सम्मुख ही घटी थी। माधवसेन के बंदी होने पर मालविका सुमति के पास ही सुरक्षित रही। सुमति भी माधवसेन की पूर्व इच्छानुसार ही अग्निमित्र से सम्बन्ध की अपेक्षा से विदिशा जाने वाले पथिकसार्थ के साथ छिपकर ही अपनी बहिन कौशिकी तथा मालविका के साथ जा रहा था, किन्तु मार्ग में तस्कर आटविकों से मुठभेड़ होने पर जब सार्थवाह के रक्षक योद्धा परास्त हो गए तब सुमति ने मालविका की सुरक्षा करते-करते अपने प्राण दे दिये और मालविका डाकुओं के द्वारा अपहृत करली[4] गयी।

मालविका आटविकों के हाथ से वीरसेन को कैसे प्राप्त हुई, इसका नाटक में उल्लेख नहीं है। नाटक से यह तो स्पष्ट है कि वीरसेन ने ही उसे उपहार के रूप में भेजा[5] था और यह भी स्पष्ट उल्लेख है कि आटविकों से वीरसेन को प्राप्त हुई, उससे देवी को। नाटक से हम यह भी जानते हैं कि देवी धारिणी का निम्न-वर्ण

---

१. मालविका० ११६–७.
२. वही, ११६–७, ५।६–१०,
३. वही तथा ५।११-१२,
४. वही, ५।६--१२,
५. वही, १।५–६,

का भाई वीरसेन नर्मदा-तीर पर सीमा दुर्ग पर रक्षक नियुक्त था।[1] जबकि यह निश्चित है कि विदर्भ तथा विदिशा के शासक यज्ञसेन तथा अग्निमित्र की सीमाएँ परस्पर सम्बद्ध थी तो बहुत सम्भव है या तो अग्निमित्र के सीमारक्षक वीरसेन को आटविकों ने मालविका को समर्पित किया था, या उसने आटविकों से अपने पराक्रम द्वारा संघर्ष के बाद छीन लिया था। हमारा अनुमान है कि वीरसेन ने आटविकों से भेंट रूप में ही प्राप्त मालविका को बहिन को भेजा था। यदि जन-सुरक्षा आदि की दृष्टि से संघर्ष के बाद प्राप्त किया होता तो उसे साधारण जन के समान ही सुरक्षा प्रदान कर मुक्त कर देना चाहिए था। किन्तु संभवतः वीरसेन से आटविक मिले जुले थे। वीरसेन से प्रोत्साहित होकर शत्रु-सीमा में आंतक पैदा किया करते थे, तथा वीरसेन के यहाँ शरण प्राप्त कर लेते थे। और लूट की बहुमूल्य सम्पत्ति वीरसेन को भी प्रदान कर देते थे। इस अनुमान के आधार पर स्पष्ट होता है कि सीमा-रक्षक वीरसेन ने जन साधारण की सुख शान्ति और सुरक्षा के लिए डाकुओं से संघर्ष नहीं किया था, अपितु उसका एक मात्र उद्देश्य राज्य-सीमा की रक्षा करना तथा शत्रु को आतंकित करना मात्र था। अतः यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि वीरसेन ने अपने मिले-जुले लुटेरों से प्राप्त सुन्दरी मालविका को अग्निमित्र के अन्तःपुर में बहिन को पहुँचाया हो।

इसी अनुमान की पुष्टि नाटक से भी होती है। नाटक से स्पष्ट है कि लूट-पाट से प्राप्त सम्पत्ति तथा स्त्री-रत्नों को राजा के पास भेंट किया जाता था जैसा कि विदर्भ विजय के बाद वीरसेन ने किया था। अतः हमारा विश्वास है कि डाकुओं से भेंट रूप में प्राप्त सुन्दरी मालविका को ही वीरसेन ने बहिन को भेजा।

सारांशतः इससे यह तो स्पष्ट है कि भाई माधवसेन के बंदी होने पर असुरक्षित मालविका किसी प्रकार अग्निमित्र के अन्तःपुर में पहुँच गई थी। सेविका के रूप में मालविका के अन्तःपुर में प्रवेश पाने पर राजा के प्रेम, दोनों रानियों के सुरक्षा-प्रयत्नों तथा अन्य अन्तःपुर के क्रियाकलापों का कोई विशेष ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। ये सभी प्रसिद्धि-प्राप्त संभाव्य घटनाएँ हैं। संभव है मालविका से राजा का प्रणय-व्यापार भी चला हो किन्तु इन घटनाओं का विशेष महत्त्व नहीं है। अन्त में, जब मालविका का वास्तविक परिचय प्राप्त हुआ तो निश्चित है कि राजा ने उसको पूर्व सम्बन्ध के अनुसार पत्नी रूप में स्वीकार कर लिया होगा। इसी प्रकार इस घटनाचक्र की अनेक घटनाएँ कविकल्पित हैं तो कुछ कवि-प्रसिद्ध। श्री मिराशी अशोक-दोहद की घटना को भास के पंचरात्र नाटक से सँजोने की

---

१. मालविका०, १।५–६,

संभावना करते हैं,[1] किन्तु वास्तव में वसन्तोत्सव वर्णन तथा अशोक-दोहद कवि प्रसिद्ध हैं। तथापि यह संभव है कि कालिदास को इन्हें नाट्य-प्रयोग में विनिविष्ट करने की प्रेरणा भास से मिली हो। उक्त नाटक में नाट्याचार्यों के विवाद, मालविका के नाट्य-प्रयोग तथा मालविका की मुक्ति एवं प्रिय-मिलन की घटनाएँ कवि-कल्पित हैं।[2] निःसन्देह प्रथम घटनाचक्र में प्रणय-चित्रण होने के कारण कल्पना का समधिक प्रयोग हुआ है।

द्वितीय घटनाचक्र का ऐतिहासिक विश्लेषण

द्वितीय, विशुद्ध ऐतिहासिक घटनाचक्र के विश्लेषण करने पर उससे बहुत से तथ्य हाथ लगते हैं। मुख्यतः नाटक के इसी घटनाचक्र के परिवेश में प्रणय-प्रधान कथानक को नाट्यबद्ध करने के कारण इसका ऐतिहासिक महत्त्व है।

कालिदास पर कुछ आक्षेप

कुछ विद्वानों ने बिना समुचित समीक्षण किये, कालिदास पर अनुचित आरोप लगाने का दुःसाहस किया है। डा० श्री व्यं० केतकर ने लिखा है कि "कालिदास के मालविकाग्निमित्र में पुष्यमित्र को सेनापति के पद पर नियुक्त बताया गया है, और यह नहीं कहा गया है कि उसने अपने स्वामी का वध करके राजगद्दी छीन ली थी। लेकिन साथ ही उसके अश्वमेघ यज्ञ करने का भी वर्णन किया है। इससे मालूम होता है कि कालिदास को राज्य-तंत्र का कुछ भी अनुभव नहीं था, या पुष्यमित्र को इतना उत्कृष्ट दिखाने की इच्छा से उसने अपनी विवेक-बुद्धि को तिलाञ्जली दे दी थी। इसके अतिरिक्त पुष्यमित्र ने जो यज्ञ किया था वह अश्वमेघ ही था इसके संबंध में भी कोई प्रमाण नहीं[3]। इतना ही नहीं, बल्कि कालिदास पर समाज तथा राजनीति की अनभिज्ञता का दोषारोपण करते हुए वह आगे कहते हैं कि "मालविकाग्निमित्र में तत्कालीन समाज पर टीका टिप्पणी करके तालियाँ पिटवाने का कालिदास का उद्देश्य छिपा नहीं रहता। किसी रानी को मदिरा पिलाकर खुल्लमखुल्ला रंगमंच पर लाना और उनके भाई को हीनजातीय दिखाना इत्यादि घटनाओं को नाटक में प्रदर्शित करने के लिए बहुत बड़ा साहस होना चाहिए। कवि का अपने नाटक में प्राचीनकाल का दृश्य दिखलाने का ढोंग रचना बड़े मौके की बात है। ग्रामीण लोगों के बीच में रानी की हँसी उड़वाना और मदिरा पिलाने का ऐतिहासिक आधार मौजूद

---

१. कालिदास मिराशी, पृ० १५६,

२. वही,

३. कालिदासः श्री मिराशी, पृ० ८७,

है ऐसी धारणा उत्पन्न करके वाहवाही लूटना कवि के लिए कठिन नहीं[1] है।"

डा० केतकर के उपर्युक्त विचार निराधार हैं। उन्होंने कालिदास की कृतियों का बिना समुचित अध्ययन किये ही मनमाने आरोप लगा दिये हैं। किन्तु इतिवृत्त का यदि विश्लेषण करें, तो ज्ञात होता है कि नाटक का इतिवृत्त पूर्णतः इतिहास सम्मत तथा सुसम्बद्ध है। इतिहास के प्रसिद्ध विद्वान् श्री मिराशी ने डा० केतकर के मत में अश्रद्धा प्रकट करते हुए उसे अस्वीकार कर दिया[2] है। वास्तव में कवि के समय का निर्धारण करते हुए लेखक की कृति पर कीचड़ उछालना तथा निराधार आरोप लगाना उचित नहीं कहा जा सकता। विद्वान् समालोचक श्री मिराशी[3] तथा पाश्चात्य इतिहासकार स्मिथ[4] और रैप्सन आदि ने नाटक में उल्लिखित घटनाओं को ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुरूप, अर्थात् प्रामाणिक माना है। रैप्सन के अनुसार नाटक के तथ्यों में अविश्वास करना सर्वथा निराधार है। इसके अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने मुख्यतः नाटक की घटनाओं को दृष्टि में रखकर ही शुंग इतिहास की रूपरेखा दी है। इसके अतिरिक्त केतकर का यह आरोप कि कालिदास को राज्य-तत्र का अनुभव न था और न शुंग इतिहास का ज्ञान, नाटक के हमारे ऐतिहासिक विवेचन से सर्वथा निराधार ठहरता है।

शुंग साम्राज्य की स्थापना तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि

जब मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गयी, मगध के विशाल साम्राज्य पर बाह्य आक्रमणों के बादल मँडराने लगे, सुदृढ़ मगध साम्राज्य की जड़ें हिलने लगीं, देश की एकता संकटापन्न हो गयी, तब मौर्य शासन भी षड्यंत्रों का घर बन गया। उसके अन्दर ही अन्दर क्रान्ति की आग बढ़ने लगी। जो मौर्य साम्राज्य सम्राट् अशोक के समय तक यथावत् अपनी शान एवं प्रतिष्ठा को बनाए रहा, अब उसका पतन प्रारम्भ हो गया। सुदूरवर्ती जन-प्रदेश स्वाधीन होने लगे, दक्षिणापथ में सातवाहनों का स्वतन्त्र राज्य स्थापित हुआ। अशोक ने जिस कलिंग को रक्त की नदी बहाकर विजित किया था वह अब सर उठाने लगा। पंजाब से लेकर काबुल कन्धार आदि को समेटे पश्चिमोत्तर प्रान्त भी हाथ से निकल चुके थे। यवन, शक, पह्लव तथा कुशान आदि विदेशी जातियाँ एक के बाद एक पश्चिमोत्तर सीमा को रौंदकर

---

१. कालिदासः मिराशी, पृ० ६–१०,
२. वही, पृ० ५०,
३. वही, पृ० ८७,
४. अर्ली हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडियाः स्मिथ पृ० २१२, फुटनोट
५. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, पृ० ४६८,

भारत में आगे बढ़ने लगी। इस समय डेमेट्रियस की आँखें पाटलिपुत्र पर ही लगी थी। अन्तिम मौर्य-साम्राट् अवशिष्ट मौर्य साम्राज्य की सीमाओं को भी सुरक्षित रख सकने में पूर्णतः असमर्थ हो चुका था। वह चापलूस सचिवों के इशारे की कठ-पुतली मात्र रह गया था। इसी कारण संभवतः साम्राज्य में दो प्रमुख गुट हो गए थे। एक का नेतृत्व मौर्य सम्राट् बृहद्रथ के मुँह लगा सचिव कर रहा था तो दूसरे का स्वतंत्रताप्रिय सेनापति। यही तथ्य प्रथम घटना-चक्र के विवेचन से भी स्पष्ट हो चुका है।

अब जब इस प्रकार मौर्य साम्राज्य के भव्य, किन्तु खंडहर प्रासाद की नींव खोखली हो गई थी, क्रमशः उसकी ईंटें खिसक रही थीं और वह धराशायी होने की स्थिति में था, तो सेनापति पुष्यमित्र को अपनी तलवार अपने स्वामी के विरुद्ध ही उठानी पड़ी। बृहद्रथ को तलवार के घाट उतार कर पुष्यमित्र ने शुंगराज्य की स्थापना की। मौर्य वंश के अवसान के पश्चात् विरोधी तत्वों ने विशेषतः मौर्य पक्ष-पातियों ने सिर उठाया। उसी का परिणाम था—विदर्भ-संघर्ष। डा० राय-चौधरी ने नाटक की इसी घटना को इस तरह लिखा है कि "बृहद्रथ मौर्य के शासनकाल में मगध साम्राज्य के अन्तर्गत दो विरोधी तत्व सक्रिय थे। एक का नेतृत्व राजा का अमात्य कर रहा था, दूसरे का नेतृत्व सेनापति। पुरस्कार स्वरूप राजसचिव के सहयोगी को विदर्भ राज्य मिला। सेनापति का पुत्र अग्निमित्र विदिशा का शासक नियुक्त हुआ। सेनापति ने राज्य-विद्रोह तथा सम्राट् बृहद्रथ का वध करके जब समूची शक्ति हस्तगत करली और मंत्री को बंदी बना लिया; तब मंत्री के सहयोगी यज्ञसेन ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित करके शुंग सम्राट् की प्रभुसत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। स्पष्ट है कि पुष्यमित्र के सामने इस समय स्वतन्त्र राज्यों की समस्या उत्पन्न हो गई थी। विदर्भ भी एक ऐसा ही विद्रोही स्वतन्त्र राज्य था"। नाटक में इसी विदर्भ संघर्ष का उल्लेख है।

सेनापति सम्राट् पुष्यमित्रः—मौर्य साम्राज्य के अंतिम शासक बृहद्रथ का उन्मूलन करके सेनापति पुष्यमित्र मगध का सम्राट् बना तथा शुंगराज्य का प्रवर्तन किया। शुंग-राज्य-काल के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। वायु०, ब्रह्माण्ड० तथा विष्णु-पुराण के अनुसार शुंगराज्य-काल की अवधि ११२ वर्ष मानी जाती है, जबकि मत्स्य-पुराण के आधार पर ३०० वर्ष मानते हैं[1]। पार्जिटर ने पौराणिक उल्लेख का संशोधन करते हुए ११२ वर्ष ही शुंगराज्य-काल माना है। विंसेन्टस्मिथ, राय-चौधरी तथा रैप्सन आदि विद्वान् प्रायः शुंगों के १० राजाओं का ११२ वर्ष ही राज्यकाल

---

१. **देखो, भारतवर्ष का वृहत् इतिहास : पं. भगवद्दत्त, पृ० २७६-७७,**

मानते है[1]। किन्तु विद्वानों में पुष्यमित्र के राज्यारोहण तथा राज्यकाल में मतभेद है। पुराणों के अशुद्ध उल्लेख के अनुसार कुछ विद्वान पुष्यमित्र का राज्यकाल ६० वर्ष मानते हैं जबकि जैन ग्रन्थों के अनुसार ३० वर्ष ठहरता है[2]। राय-चौधरी के अनुसार ई० पू० १८७ के लगभग पुष्यमित्र ने मगध पर अधिकार प्राप्त किया था, तथा १५१ ई० पू० में पुष्यमित्र की मृत्यु हो गयी। अतः पुष्यमित्र ने कुल ३६ वर्ष राज्य किया[3]। किन्तु स्मिथ पुष्यमित्र का राज्यकाल १७६-१४० ई० पू० मानते हैं[4], तथा डा० त्रिपाठी १८४-१४८ ई० पू०[5] और डा० सत्यकेतु १८५-१४९ ई० पू० मानते हैं[6]। अतः सभी में थोड़ा मतभेद है, किन्तु सामान्यतः सभी पुष्यमित्र का राज्यकाल ३६ वर्ष मानते हैं। तिथि में थोड़ा बहुत मतभेद होने पर भी इतना निश्चित है कि पुष्यमित्र ने ई० पू० के द्वितीय शतक में मगध साम्राज्य को अधिकृत किया था। मालविकाग्निमित्र में उल्लिखित घटनाएँ भी इसी काल की हैं।

नाटक में सर्वत्र पुष्यमित्र का सेनापति के रूप में उल्लेख किया है और अग्निमित्र का एक राजा के रूप में। अतः यह संभावना स्वाभाविक है कि भले ही पुष्यमित्र ने बृहद्रथ का उन्मूलन करके राज्य अधिकृत किया हो परन्तु बाद में वह सेनापति ही रहा, और संभवतः अग्निमित्र को सम्राट् बना दिया गया, किन्तु वास्तव में यह विचार उचित नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि समस्त शुंग-कालीन इतिहास के साक्ष्यों में पुष्यमित्र का सेनापति के शब्द के साथ ही उल्लेख है। नाटक में भी उसने स्वयं को तथा अन्य पात्रों ने भी उसका सेनापति के रूप में उल्लेख किया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह अग्निमित्र का सेनापति था। वास्तविकता यही है कि क्योंकि सत्ता को स्वायत्त करने से पूर्व (लगभग २४ वर्ष) वह सेनापति ही था, अतः बाद में भी उसने अपने साथ सेनापति शब्द को एक विरुद के रूप में चालू रखा। जिस तरह कि मध्यकालीन इतिहास में पेशवा शब्द प्रचलित रहा। यद्यपि हम जानते हैं कि राज्याधिकार के समय पुष्यमित्र वृद्ध रहा होगा, तब भी

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, स्मिथ, पृ० २०८, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया : राय चौधरी पृ० ३९९, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० ४६७,
२. भा० बृ० इति०: भगवद्दत्त, पृ० २७८,
३. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, पृ० ३९१,
४. अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० २०८,
५. प्रा० भा० इति०, त्रिपाठी, पृ० १४०-१४३,
६. भा० प्रा० इतिहास, डा० सत्यकेतु, पृ० ४२८, ४३१,

उसने अन्तिम समय तक शासन किया। इतिहासकारों का यह अनुमान है कि यह संभव नहीं कि केवल अग्निमित्र के निमित्त ही उसने बृहद्रथ का वध किया हो। उसका तो राज्य को स्वायत्त करने का उद्देश्य था—सिर उठाते हुए राजाओं को दबाना, मगध को फूट तथा विद्रोह से मुक्त करना और आगे बढ़ते यवनों को रोककर देश की स्वतन्त्रता की सुरक्षा करना। इस प्रकार स्पष्ट है कि उसने अपने शासनकाल में दो बार यवनों को पराजित किया, तथा दो बार अश्वमेध किया। यदि वह सम्राट् न होता तो उसके अश्वमेध करने का कोई प्रयोजन ही नहीं निकलता है। दूसरे, हमारे नाटक में ही "अथं देवस्य सेनापतेः पुष्यमित्रस्य" में पूर्व पद के रूप में "देवस्य" शब्द का उल्लेख यह प्रकट करता है कि वह अवश्य सम्राट् एवं मगध का शासक था। स्मिथ ने यह भी स्वीकार किया है कि सेनापति पुष्यमित्र की राजधानी पाटलिपुत्र थी[1]। राजधानी सेनापति की नहीं शासक की होती है। इतिहास के अनुसार मगध की परम्परागत राजधानी पाटलिपुत्र में ही पुष्यमित्र की राजधानी थी। अतः सेनापति पुष्यमित्र के सम्राट् होने में कोई भी विचिकित्सा नहीं होनी चाहिए।

वास्तव में पुष्यमित्र की यह महानता, ऋजुता, कर्तव्यपरायणता तथा नीतिज्ञता का भी प्रमाण है कि उसने मगध राज्य को हस्तगत करने पर भी सेनापति प्रयोग ही चालू रखा, सम्राट् नहीं। उसने कर्तव्य के लिए ही राज्य की बागडोर थामी थी, न कि राजा महाराजा के अभिमान-प्रदर्शन के लिये। दो बार यवनों के निरस्तकर्ता तथा दो बार अश्वमेध-यज्ञ-कर्ता पुष्यमित्र ने अपने जीवन भर सेनापति शब्द का ही प्रयोग किया, यह उसकी विनम्रता का द्योतक है। यह भी हो सकता है कि वह इतना महान् कूटनीतिज्ञ था कि राज्य स्वायत्त करने के बाद भी तथा दो बार यवनों को पराजित और अश्वमेध करने के बाद भी उसने सेना तथा जनता के हृदय पर अपनी निरभिमानता, निस्पृहता, कर्तव्यपरायणता आदि के द्वारा स्थायी प्रभुत्व जमाने के उद्देश्य से सम्राट् या राजा का प्रयोग न करके सेनापति का ही प्रयोग किया हो। जो भी हो, किन्तु इस प्रकार उसने प्रजा को बतला दिया था कि वह अब भी सेनापति ही है। राज्य का हड़पना उसका उद्देश्य नहीं, अपितु देश-रक्षा ही है। सेनापति के प्रयोग से जहाँ उसने प्रजा के सामने अपनी विनम्रता, निस्वार्थपरता प्रदर्शित कर प्रजा की मान्यताओं पर आधिपत्य पाया, वहाँ समस्त सहयोगिनी सेना को भी यह विश्वास दिलाया कि वह अब भी एक साधारण सेनापति ही है। जयचन्द्र विद्यालंकार के शब्दों में—इससे यह भी स्पष्ट होता है कि देश की राज्य-संस्थाओं की कुछ प्रथाओं या नियमों के पालन में वह बहुत सावधान

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० २०६,

था और पुनः वही अनुमान होता है कि उस क्रान्ति में सेना की तरह प्रजा भी निश्चित रूपेण उसके पक्ष में[1] थी।

अग्निमित्र का नाटक में शासक या राजा के रूप में उल्लेख करने का कारण यह है कि उस समय केन्द्र के आधिपत्य में प्रान्तों पर राजपुत्र या राजा से सम्बन्धित विश्वस्त व्यक्ति शासन करते थे। यह उस समय की राज्य-संस्थाओं तथा राज्यतंत्र की अपनी प्रथा थी। अग्निमित्र भी ऐसा ही शासक था। वह अपने पिता के द्वारा ही विदिशा का शासक न था बल्कि बृहद्रथ के समय में भी विदर्भ के शासक यज्ञसेन के समान ही विदिशा का शासक था। अग्निमित्र के उल्लेखों से जो साम्राज्य अधिकारी होने की गंध आती है उसका कारण तत्कालीन राज्य-व्यवस्था तथा अग्निमित्र का वैयक्तिक पौरुष था। इसके अतिरिक्त वह नाटक का नायक है तथा पुष्यमित्र का निकट भविष्य में उत्तराधिकारी भी। अतः ऐसा होना स्वाभाविक है, अनुचित नहीं। जो भी हो, इतना निश्चित है कि नाटक का घटनाचक्र पुष्यमित्र के राज्यकाल में घटित हुआ था। उस समय विदिशा का शासक अग्निमित्र था।

विदिशेश्वर अग्निमित्र की विदर्भ-विजय

विदर्भ-विजय मालविकाग्निमित्र में वर्णित शुंगकाल की महत्त्वपूर्ण घटना है। नाटक का नायक अग्निमित्र विदिशा का शासक था।[2] नाटक से स्पष्ट है कि शुंगकाल में विदर्भ का शासक यज्ञसेन था। यह मौर्य सचिव का सम्बन्धी भी था।[3] विदर्भ तथा विदिशा पड़ौसी राज्य थे। रैप्सन के अनुसार विदर्भ तथा विदिशा की सीमायें लगी थीं। उन्होंने लिखा है कि वर्तमान ऐतिहासिक स्थिति से स्पष्ट होता है कि शुंगो का इस प्रदेश पर आक्रमण करना कितना स्वाभाविक था।[4] वे आन्ध्र-राजा-शातकर्णी और पुष्यमित्र को समकालीन मानते हैं।[5] इसी आधार पर उन्होंने विदर्भ-संघर्ष की रूपरेखा दी है।[6] परन्तु हम पहले ही इस मत का अनौचित्य

---

१. भारतीय इतिहास की रूपरेखा : जयचन्द्र विद्यालंकार, भाग २, १९३३, पृ० ७१३,

२. कुछ विद्वान् शुंगो की दो राजधानी मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। वास्तविकता यही है कि मुख्य राजधानी पाटलिपुत्र ही थी, विदिशा तो उसी के अधिकृत एक प्रदेश भर थी,

३. मालविका० १।७,

४. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, पृ० ४६८

५. वही, पृ० ४७७,

६. वही, पृ० ४७८, ५४३, ४६८ आदि,

ठहरा चुके हैं। इसके अतिरिक्त आधुनिक शोध के आधार पर शुंगों तथा आन्ध्रों की समकालीनता किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं होती है। अब विद्वानों की मान्यता है कि आन्ध्र वंश की स्थापना शिमुक ने कण्वों के पश्चात् लगभग ई० पू० २७ या २४ में की थी।[१] अतः रैप्सन का मत सर्वथा अग्राह्य है। हमारी तो मान्यता है कि हो न हो, यज्ञसेन अधिकांशतः मौर्यों का या किसी अन्य निकटवर्ती राजा का जागीरदार "मालव" था। अतः आन्ध्र-शुंग संघर्ष मानना इतिहास सम्मत नहीं है।

विदर्भ-संघर्ष नाटक की प्रथम ऐतिहासिक घटना है। हम उल्लेख कर चुके हैं कि सेनापति पुष्यमित्र ने प्रज्ञादुर्बल मौर्य सम्राट् बृहद्रथ की, सेना के निरीक्षण करते समय हत्या करके, शुंग राज्य की स्थापना की थी। यह सैनिक क्रान्ति पूर्व नियोजित षड्यंत्र का ही परिणाम थी। पुष्यमित्र ने इस सैनिक क्रान्ति द्वारा मगध साम्राज्य पर अधिकार अवश्य कर लिया था किन्तु इसी बीच मगध के अनेक राज्य स्वतन्त्र हो गये थे तथा मौर्य पक्षपाती सर उठाने लगे थे। इन्हीं में यज्ञसेन भी था। संभवतः इस समय मौर्य पक्षपाती मौर्य सचिव ने भी अवश्य बगावत की होगी। अतः अग्निमित्र ने उसी समय मौर्य पक्षपाती मौर्य सचिव को बंदी बना लिया था। किन्तु शुंगों का कार्य यहीं खत्म नहीं हुआ था। मौर्य साम्राज्य की गुटबंदी से निर्बल मगध को उन्हें पुनः सम्मान दिलाना था। नाटक के पूर्व संकलित यह आक्रमण भी सेनापति[२] की उसी पूर्व नियोजित योजना का अंग था। सैनिक क्रान्ति के साथ-साथ मौर्य-सचिव को बंदी बना लेने के समय देश में क्रान्ति तथा अराजकता हुई थी।[३] पुष्यमित्र ने इसे यद्यपि शान्त कर दिया था तथापि अपने उद्देश्य को पूर्ण करने में अभी बहुत कुछ शेष था। स्वतन्त्र अभी भी स्वतन्त्र थे। अतः अब पुष्यमित्र ने इस ओर ध्यान दिया तभी विदर्भ संघर्ष हुआ।

अनुमानतः सर्वप्रथम संभवतः पुष्यमित्र ने सैनिक संघर्ष की आशंका से विदर्भ पर आक्रमण नहीं किया था, किन्तु आन्तरिक शान्ति स्थापित करने के बाद पुष्यमित्र की दृष्टि विदर्भ पर पड़ी। डा० त्रिपाठी के अनुसार पहिले तो पुष्यमित्र ने यज्ञसेन से आत्मसमर्पण को कहा,[४] परन्तु संभवतः उसने वैसा नहीं किया। डा० साहिब इस संघर्ष का क्रम अस्पष्ट मानते हैं, किन्तु नाटक की घटनाओं से इसका क्रम-ज्ञान

---

१. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, दिसम्बर १९५० में पी० एल० भार्गव का लेख, तथा अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, चतुर्थ संस्करण, पृ० २२७,

२. मालविका० १।७–८,

३. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० १४१,

४. वही,

सभव है। नाटक की देशकाल की संयोजना तथा घटनाचक्र के आधार पर अनुमान कर सकते हैं कि पुष्यमित्र ने मगध को हस्तगत करने पर तथा राज्य की आन्तरिक अराजकता को दबा देने के कुछ ही बाद विदर्भ को आत्मसमर्पण तथा माधवसेन की मुक्ति के लिए कहा होगा। वैदर्भ के सम्बन्ध में राजा के द्वारा पूछने पर अमात्य बतलाता है कि वह आत्मविनाश चाहता है, तथा इसके भी आगे वैदर्भ के प्रति-सन्देश से ज्ञात होता है कि माधवसेन की मुक्ति के लिए सन्देश अग्निमित्र ने भेजा था। इसी सन्दर्भ में यज्ञसेन स्वयं को अग्निमित्र का तुल्याभिजन बतलाता है तथा मौर्य-सचिव को मुक्त करने की अभिसंधि प्रस्तुत करता है।[1] इससे प्रकट होता है कि यज्ञसेन की उस समय स्वतंत्र स्थिति थी और वह स्वयं को एक स्वतन्त्र शासक समझता था। नाटक के इसी उल्लेख के आधार पर डा० रायचौधरी ने इस क्रान्ति की घटनाओं को ऐतिहासिक कलेवर प्रदान किया है।[2] उपर्युक्त समस्त घटना अनुमानतः एक ही क्रम में घटी होगी। संभवतः इसके कुछ पश्चात् ही विदर्भ-संघर्ष हुआ।

अग्निमित्र यज्ञसेन को प्रकृत्यमित्र तथा "प्रतिकूलकारी" आदि शब्दों का प्रयोग करता है।[3] इनसे यह ज्ञात होता है कि यज्ञसेन ने प्रारम्भ से ही बृहद्रथ के शासनकाल में अपने साले मौर्य सचिव के सहयोग से सेनापति पुष्यमित्र विशेषतः पड़ोसी प्रान्त विदिशा के शासक अग्निमित्र के विरुद्ध कार्य किये होंगे। यहीं राजा रोषपूर्वक कहता है "कथं कार्यविनिमयेन मयि व्यवहरत्यनात्मज्ञः"।[4] इससे भी ध्वनित होता है कि यज्ञसेन की स्थिति अग्निमित्र से किसी भी प्रकार सुदृढ़ न थी। यहीं अमात्य भी उसके प्रति कहता है "जिसकी जड़ें भूमि में दूर तक नहीं फैली है ऐसे नवरोपित वृक्ष के समान प्रजा में लोकप्रियता प्राप्त न कर पाने के कारण अभी-अभी अभिष्ठित शत्रु का समूलोन्मूलन सुकर होता है।[5] यहाँ 'अचिराधिष्ठितराज्यः', "प्रकृतिष्वरुढमूलः" तथा "नवसंरोपणशिथिलतरुः" से उसका साम्य बतलाना सार्थक है। इन शब्दों से स्पष्ट है कि यज्ञसेन को स्वतन्त्र हुए अभी ज्यादा समय नहीं हुआ था। और न वह लोकप्रिय ही था न उसकी स्थिति सुदृढ़ थी। दूसरी ओर, अग्निमित्र की स्थिति सुदृढ़ थी। संभवतः विदिशा में वह लोकप्रिय था। पुष्यमित्र

---

१. मालविका० १।७,
२. देखो-पॉलटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया : रायचौधरी पृ० ३७२,
३. याहतक—प्रकृत्यमित्रः प्रतिकूलकारी च मे वैदर्भः, मालविकाग्नि० १।७–८,
४. वही,
५. अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरुढमूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम्।। १।८,

के सम्राट् बनने के कारण राज्य-शक्ति भी उसी के हाथ में थी। यही कारण है कि कालिदास ने यज्ञसेन के प्रति-सन्देश में अग्निमित्र के लिये "पूज्य" शब्द प्रयुक्त कराया है।[1] इससे यह भी ध्वनित होता है कि विदर्भ संघर्ष की घटना निश्चित रूप से राज्य-क्रान्ति के कुछ बाद की ही थी। उस समय दोनों में शक्ति सन्तुलन नहीं रहा था। डा० त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है कि पुष्यमित्र ने (गृहस्थिति से) ज्यों ही छुट्टी पायी कि यज्ञसेन को आत्मसमर्पण को कहा था।[2] यह क्रम बिल्कुल ठीक है।

नाटक से इसके आगे का क्रम भी स्पष्ट हो जाता है। कालिदास ने इसी सन्दर्भ में कुछ कूटनीतिक चालों का निर्देश किया है। विश्वास होता है कि संभवतः आत्मसमर्पण न करने पर दोनों ओर से कूटनीतिक चालें चलीं गयी थीं। अग्निमित्र ने यज्ञसेन के चचेरे भाई युवक माधवसेन को अपनी ओर मिला लिया, और नाटक के अनुसार उनमें वैवाहिक संधि भी हुई। यज्ञसेन ने जब आपसी फूट का लाभ उठाते हुए अग्निमित्र को देखा तो विदिशा जाते हुए माधवसेन को बंदी बना लिया। इसके पश्चात् जब अग्निमित्र ने यज्ञसेन के पास माधवसेन की मुक्ति का सन्देश भेजा, तो उसके प्रत्युत्तर में उसने एक अभिसन्धि का प्रस्ताव किया कि मौर्य सचिव को छोड़ देने पर माधवसेन मुक्त किया जा सकता है। इस अभिसन्देश से रुष्ट होकर अग्निमित्र ने सेनापति को आक्रमण का आदेश दिया तथा विदर्भ पर आधिपत्य करके उसे बन्दी बना लिया। इन घटनाओं के क्रम से तथा कालिदास के वर्णन प्रकार से प्रकट होता है कि यह सब तब हुआ जबकि शुंग क्रमशः दिनों-दिन शक्ति सम्पन्न हो रहे थे। डा० सत्यकेतु के अनुसार पुष्यमित्र के आधिपत्य में जब मगध बलवान हुआ तभी उसने स्वतन्त्र प्रदेशों को अधीन करना प्रारंभ किया। इसी समय अग्निमित्र ने विदर्भ पर आक्रमण किया। अनुमानतः अग्निमित्र की यह महत्त्वपूर्ण विजय थी। इसके साथ-साथ ही संभवतः मौर्य पक्षपातियों को सदा के लिए दबा दिया गया।

नाटक से इस घटना के उपसंहार का भी पता चलता है। शुंग सम्राट् ने विदर्भ-विजय के पश्चात् जब पूर्ण रूप से घरेलू तथा पड़ौस के विद्रोहों को शान्त कर दिया और समस्त मगध को एक सुदृढ़ सूत्र में बाँध दिया, तब शुंग राज्य की स्थापना का उद्देश्य पूर्ण हो गया था।

---

१. मालविका० १।६–७ तथा यही २–३ वार और,
२. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० १४१,

नाटक से ज्ञात होता है कि मालविका से विवाह सम्बन्ध के उपरान्त तथा विदर्भ विजय कर लेने पर माधवसेन तथा यज्ञसेन को (आधिपत्य स्वीकार करने पर) मुक्त कर दिया और विदर्भ प्रान्त को उन दोनों में वरदा नदी को मध्य सीमा निश्चित करके द्वैराज्य के प्रशासन-विधान के अनुसार विभक्त कर[1] दिया गया। इस प्रकार अग्निमित्र ने यज्ञसेन को मुक्त करके तथा विदर्भ को द्वैराज्य प्रशासन का रूप देकर एक ओर यज्ञसेन को उपकृत किया तो दूसरी ओर माधवसेन को भी उसका न्याय्य अधिकार दिलाया। इस प्रकार उसने अपनी प्रशासन-पटुता, उदारता तथा नीति-कुशलता का परिचय दिया। संघर्ष का यह अन्त वस्तुतः प्रशंसनीय है। विदर्भ-विजय से मगध राज्य की आन्तरिक विघटनकारी प्रवृत्तियों का दमन हुआ। आन्तरिक एकता के संस्थापन में उसे सहायता हुई। भारत सुदृढ़ हुआ तथा बाह्य आक्रमणों को निरस्त करने की सामर्थ्य का आविर्भाव हुआ और इस प्रकार शुंगों का "एकतापूर्ण भारत" का लक्ष्य भी पूर्ण हुआ।[2] इस दृष्टि से मालविकाग्निमित्र में वर्णित इस विदर्भ-संघर्ष की घटना का भारतीय इतिहास में अधिक महत्त्व है।

किन्तु इस ऐतिहासिक घटना का नाटक के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उल्लेख प्राप्त नहीं है। मालविकाग्निमित्र ही एक मात्र ऐसा स्रोत है जिसके आधार पर इतिहासकारों ने इतिहास ग्रन्थों में इस घटना का विवरण दिया है। यही कारण है कि भारतीय इतिहास के स्रोत-ग्रन्थ के रूप में मालविकाग्निमित्र का महत्त्व स्वीकृत है। इसके साथ ही नाटक में इस घटना की प्रामाणिकता स्वीकृत होने के कारण कालिदास का ऐतिहासिक ज्ञान भी प्रमाणित हो जाता है तथा संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में मालविकाग्निमित्र का महत्त्व बढ़ जाता है।

पुष्यमित्र द्वारा यवन पराजय तथा अश्वमेध का समायोजन

नाटक में द्वितीय घटनाचक्र की अन्य प्रमुख ऐतिहासिक घटना के रूप में "पुष्यमित्र द्वारा सिन्धु पर यवनों की पराजय तथा अश्वमेध के समायोजन" का वर्णन है। यद्यपि ये भी पृथक्-पृथक् दो घटनाएँ हैं तथापि दोनों को परस्पर संबंधित तथा समानान्तर घटित होने के कारण एक ही घटना के रूप में ही मानना उचित है। नाटक के अन्त में अश्वमेध के आयोजनकर्ता राजयज्ञदीक्षित पुष्यमित्र के द्वारा यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये अग्निमित्र को भेजे गये एक लेख का उल्लेख है। वह लेख इस प्रकार है—

---

१. मालविका० १।१३–१४,

२. विशाल भारत, जून, १९६३, पृ० ३८७,

"स्वस्ति, यज्ञागर से मैं सेनापति पुष्यमित्र विदिशा में स्थित (या विदिशा में रहने वाले) अग्निमित्र को आलिंगन पूर्वक सूचित करता हूँ। विदित हो कि राजसूय यज्ञ में दीक्षित मैंने सौ राजपुत्रों से युक्त वसुमित्र की संरक्षकता में एक वर्ष के लिए अश्व छोड़ा था। उस यज्ञाश्व को सिन्धु के किनारे किसी अश्वसेना से युक्त यवन ने पकड़ लिया। फलतः दोनों की सेनाएँ भिड़ गईं। इसके पश्चात् शत्रुओं को परास्त करके धनुर्धर वसुमित्र ने हमारे अपहृत अश्वराज को लौटा लिया। अतः सगरपुत्र अंशुमान् के द्वारा अश्व लौटाने पर किये यज्ञ की तरह मैं भी यज्ञ करूँगा। अतः (तुम्हें) यथा-समय शान्तमन (रोषः रहित होकर) परिवार सहित यज्ञ में सम्मिलित होना चाहिए।"[1]

उपर्युक्त लेख से स्पष्ट है कि पुष्यमित्र द्वारा यवनों की पराजय के पश्चात् ही अश्वमेध सम्पन्न हुआ। अतः ये दोनों घटनाएँ समानान्तर हैं। पुष्यमित्र ने पहले यज्ञ आरम्भ कर दिया था। वसुमित्र का संघर्ष बाद में दिग्विजय के समय सिन्धु तट पर हुआ। मालविकाग्निमित्र के अतिरिक्त महाभाष्य तथा गार्गी संहिता के युगपुराण में भी इस घटना का उल्लेख है। उन दोनों ग्रन्थों से तथा अन्यान्य साक्ष्यों के आधार पर नाटक में वर्णित घटना की ऐतिहासिकता का अनुसन्धान किया जा सकता है।

द्विरश्वमेधयाजी पुष्यमित्र

भारतीय इतिहास में पुष्यमित्र का अश्वमेध यज्ञ के पुनः संस्थापनकर्ता के रूप में उल्लेख है। हरिवंश पुराण के अनुसार जनमेजय के बाद पुष्यमित्र ने ही अश्वमेध का पुनरुद्धार किया।[2] महाभाष्य से इस तथ्य की पुष्टि होती है। पतंजलि ने महाभाष्य में स्वयं को पुष्यमित्र के पुरोहित के रूप में उल्लेख किया है।[3] अतः पुष्यमित्र के द्वारा यज्ञ करने की घटना ऐतिहासिक है। किन्तु, अयोध्या के मंदिर से प्राप्त अभिलेख में लिखा है[4]—"कौशलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्यः........।" इससे ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र ने अपने जीवन-काल में एक नहीं, दो अश्वमेध किये थे। नाटक में कालिदास ने एक ही अश्वमेध का उल्लेख किया है। अतः नाटक में निर्दिष्ट यज्ञ कौनसा यज्ञ है तथा तब किस यवन से संघर्ष हुआ? इसका पता लगाना आवश्यक है।

---

१. मालविका० ५।१४–१६,
२. हरिवंश० ३, १९२, ७०–७१ तथा भा० प्रा० इति०, सत्यकेतु, पृ० ४३०,
३. इह पुष्यमित्रं याजयामः० भाष्य० ३।२।१२३,
४. ऐपि० इंडिया भाग २०, अप्रैल १९२०, पृ० ५४–५८, नागरी प्रचारणी पत्रिका, ५ वैशाख, १९८१,

प्रथम यवन-आक्रमण

अंतिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ के समय से ही यवन भारत भूमि पर आगे बढ़ रहे थे तथा भारतीय जन-जीवन को आक्रान्त कर रहे थे। बृहद्रथ की हत्या तथा शुंग-राज्य संस्थापन में यही एक महत्त्वपूर्ण कारण था। इतिहास के अनुसार भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर यवनों का उस समय एकाधिपत्य था। पुष्यमित्र के समकालीन पंतजलि ने महाभाष्य में एक स्थान पर लिखा है "अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्।"[1] इस उल्लेख से प्रकट है कि यवन साकेत तथा माध्यमिका तक भारत भूमि को रौंद चुके थे। डा० भंडारकर तथा रायचौधरी यह मानते हैं कि उपर्युक्त घटना महाभाष्य की रचना से पूर्व ही घटित हुई थी। अतएव महाभाष्य में अनद्यतन भूत का प्रयोग किया गया है। किन्तु इससे यह निश्चित है कि इस घटना की स्मृति लोक में बनी हुई थी।[2] गार्गी संहिता में भविष्यवाणी के रूप में लिखा है कि "दुष्ट विक्रान्त यवन साकेत, मथुरा तथा पांचाल पर आक्रमण कर के (अधिकृत करके) पाटलिपुत्र को भी प्राप्त कर लेंगे,"[3] इस उल्लेख से भी स्पष्ट है कि यवन बहुत आगे मध्य देश में बढ़ चुके थे, किन्तु पाटलिपुत्र पर आधिपत्य नहीं कर पाये थे।

उपर्युक्त दोनों उल्लेखों में निर्दिष्ट यवन आक्रमण नाटक में उल्लिखित घटना से भिन्न है। इन उल्लेखों में साकेत, माध्यमिका, मथुरा, पांचाल तथा पाटलिपुत्र के निकट तक जा पहुँचने का निर्देश है, जबकि नाटक में उल्लिखित यवन-संघर्ष सिन्धु के दक्षिण तट पर हुआ। इन दोनों घटनाओं में लेशमात्र भी साम्य नहीं है। निश्चित रूप से ये दो भिन्न-भिन्न यवन आक्रमणों के उल्लेख हैं।

द्वितीय यवन आक्रमण

महाभाष्य में एक अन्य उल्लेख और प्राप्त है। इस उल्लेख से इन दोनों घटनाओं की भिन्नता प्रकट हो जाती है। महाभाष्य में लिखा है—"अभ्यवहरति सैन्धवान्[4]" अर्थात् सैन्धवों को नष्ट करता है। इस प्रयोग में वर्तमान कालिक क्रिया प्रयुक्त है, जबकि पूर्वोक्त प्रयोग में अनद्यतन भूत है। इससे स्पष्ट है कि दोनों घटनाएँ कुछ अन्तराय से घटित हुई थीं। इसके अतिरिक्त इससे यह भी स्पष्ट होता

---

१. भाष्य० ३।२।१११,
२. पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया : रायचौधरी, पृ० ३७६,
३. ततः साकेतमाक्रम्य पांचालान् मथुरांस्तथा, यवनो दुष्टविक्रान्ताः प्राप्यंति कुसुमध्वजम् ॥
४. भाष्य १।१।४४, देखो भा० वृ० इति० भगवदत्तः पृ० २७८,

है कि भाष्य के रचते समय, पहिले प्रयोग में निर्दिष्ट आक्रमण के बाद, पुनः पुष्यमित्र को संघर्ष का सामना करना पड़ा था। इसमें उल्लिखित "सैन्धवान्" शब्द से सिन्धु पर स्थित यवनों से ही अभिप्राय प्रतीत होता है। अतः इसी घटना से हमारे नाटक में उल्लिखित यवन संघर्ष की घटना का साम्य बैठता है। दोनों ही घटना सिन्धु से सम्बन्धित है। दोनों में ही यवन पराजय का संकेत है। अतः यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि नाटक में उल्लिखित यह "यवन संघर्ष" की घटना पहली से बाद की है। स्मिथ महोदय की यह मान्यता थी कि पुष्यमित्र के समय प्रथम संघर्ष कलिंगराज खारवेल से हुआ, बाद में दूसरा आक्रमण मेनेन्द्र ने किया।[1] इतिहास की शोध ने पुष्यमित्र तथा खारवेल की समकालीनता को अस्वीकार कर दिया है।[2] वास्तविकता यही है कि पुष्यमित्र को दो यवनों का सामना करना पड़ा था। प्रथम आक्रमण शुंग काल के प्रारम्भ में हुआ। इसी आक्रमण की परिस्थितियों में शुंग राज्य की स्थापना हुई। दूसरा आक्रमण बाद में हुआ, नाटक में इसी का विस्तार से उल्लेख है।

अब यह भी निर्णय करना आवश्यक एवं प्रासंगिक है कि नाटक में उल्लिखित घटना से किस यवन के आक्रमण का सम्बन्ध है। नाटक में केवल "यवन" शब्द का प्रयोग है।[3] नाम्ना संकेत नहीं है। तथापि, अन्य साक्ष्यों के आधार पर उस यवन का पता लगाया जा सकता है। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि प्रथम यवन आक्रान्ता का भी निश्चय किया जाय। इतिहासकारों ने पुष्यमित्र के समय में मुख्यतः दो यवन आक्रान्ताओं की चर्चा की है—डेमेट्रियस तथा मेनेन्द्र। देखना यह है कि प्रथम आक्रमण किस यवन ने किया। इसमें सभी सहमत है कि यह आक्रान्ता कोई बैक्ट्रियन ग्रीक था।[4] किन्तु कुछ विद्वान् डेमेट्रियस को मानते हैं तो कुछ मेनेन्द्र को। इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ मत दिये जा रहे हैं—

(१) रैप्सन मेनेन्द्र को ही आक्रामक मानते हैं। उनकी मान्यता है कि मेनेन्द्र की मुद्रा भारत में बहुत अन्दर तक प्राप्त होती है। अतः इसके नेतृत्व में ही मध्य प्रदेश पर आक्रमण हुआ था।[5]

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० २०१,

२. भा० प्रा० इति० सत्यकेतु, पृ० ४३४; प्रा० भा० इति० डा० त्रिपाठी, पृ० १४२;

३. मालविका० ५।१४–१५,

४. पॉलटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इंडिया, पृ० ३७१,

५. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ४६७,

(२) स्मिथ भी मेनेन्द्र को आक्रमणकर्ता मानते हैं। इनके अनुसार मेनेन्द्र काबुल तथा पंजाब आदि का राजा था। इसी ने साकेत, अवध तथा पाटलिपुत्र तक हमला किया था।[1]

(३) अन्य भी कुछ पाश्चात्य विद्वान् मेनेन्द्र को ही आक्रामक मानते हैं।[2]

(४) डा० भंडारकर डेमेट्रियस को आक्रामक मानते हैं।[3]

(५) डा० रायचौधरी ने भी अनेक प्रबल साक्ष्यों के आधार पर डेमेट्रियस को ही आक्रामक माना है। डाक्टर चौधरी का कथन है कि लगभग २०६ ई० पू० में डेमेट्रियस जवान तथा राजा था। उसने द्वितीय सदी ईस्वी पूर्व में भारत पर भी शासन किया था। वही पुष्यमित्र का समकालीन था, जबकि मेनेन्द्र ने इन्डोग्रीक राज्य पर बहुत बाद में शासन किया था।[4]

(६) जयचन्द्र विद्यालंकार की भी यही मान्यता है कि डेमेट्रियस (दिमेत्र) ने ही मध्य देश पर आक्रमण किया।[5]

(७) डा० पुरी[6] भी मध्य देश तक घुस आने वाले यवन आक्रामकों का नेता डेमेट्रियस को मानते हैं।

(८) डा० सत्यकेतु विद्यालंकार भी डेमेट्रियस के नेतृत्व को मानते हैं।[7]

(९) डा० त्रिपाठी भी प्रथम यवन आक्रान्ता डेमेट्रियस को मानते हैं। उनकी मान्यता है कि पुष्यमित्र के राज्यकाल के समय वह प्रौढ़, शायद ४० साल का रहा होगा।[8]

उपर्युक्त मतों को देखने से ज्ञात होता है कि पाश्चात्य विद्वान् मेनेन्द्र के समर्थक है तो भारतीय डेमेट्रियस के। पाश्चात्य विद्वान् मेनेन्द्र तथा डेमेट्रियस को समकालीन तथा उनमें कौटिम्बिक सम्बन्ध मानते हैं।[9] टार्न यह भी मानते हैं कि मेनेन्द्र संभवतः डेमेट्रियस का एक सेनापति और संभवतः उसका दामाद था।[10]

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, : पृ० २१०,
२. पॉलिटिकिल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इण्डिया, पृ० ३८३,
३. वही,
४. वही, पृ० ३८४,
५ भा० इति० रूपरेखा : जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ० ७१९–२१,
६. इंडिया इन दि टाइम ऑफ पंतजलि, पृ० २८,
७. भा० प्रा० इति० सत्यकेतु पृ० ४२९,
८. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० १४१,
९. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट ई०, पृ० ४९०,
१०. ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया पृ० १४०, २२५, २२६,

यह भी सच है कि मेनेन्द्र ने सिकन्दर से भी ज्यादा राज्य जीते थे।[1] स्ट्राबो के अनुसार ग्रीक साम्राज्य सुदूर पूर्व तक भारत में फैल गया था। इनमें से कुछ मेनेन्द्र ने जीते तो कुछ डेमेट्रियस ने।[2] अतः स्पष्ट है कि उस समय किसी एक ने ही आक्रमण नहीं किया था। इस सम्बन्ध में डा० भगवत शरण उपाध्याय ने सुलझा हुआ समन्वयात्मक मत देने की चेष्टा की है।

डा० भगवत शरण उपाध्याय ने डेमेट्रियस को ही आक्रान्ता स्वीकार किया है।[3] उन्होंने टार्न के मत के आधार पर लिखा है कि मगध साम्राज्य पर आक्रमण करते समय मेनेन्द्र भी डेमेट्रियस के साथ होगा। यह पहला आक्रमण डेमेट्रियस के नेतृत्व में हुआ तथा ऐपोलोडोटस्, डेमेट्रियस तथा मेनेन्द्र तीनों ने मिलकर किया था। पूर्व में मेनेन्द्र नेतृत्व कर रहा था, जबकि पश्चिम में डेमेट्रियस तथा एपोलोडोटस कर रहे थे। यही वह आक्रमण था जिसका गार्गी संहिता तथा भाष्य में भूतकालिक क्रिया से उल्लेख किया गया है। यह आक्रमण एक तूफान जैसा था जो कि ज्यादा टिक न सका। उनके देश में तभी परस्पर गृह युद्ध की आग भड़क उठने के कारण वह उन्हीं पाँवों लौट गया (जिस समय वह गृह युद्ध की आग को शान्त करने को लौटने को विवश हुआ, उस समय उसने पूर्वी अधिकृत राज्यों को मेनेन्द्र के अधीन छोड़ दिया। अतएव मेनेन्द्र शाकल का राजा बन[4] बैठा। किन्तु पुष्यमित्र ने उसकी समस्त दुरभिसंधियों को निराकृत करके पीछे धकेल दिया तथा मथुरा पांचाल, साकेत तथा शाकल तक के समस्त प्रदेश को अधिकृत कर लिया।[5]

मालविकाग्निमित्र नाटक में उपर्युक्त संघर्ष का उल्लेख नहीं है। नाटक में किसी दूसरे ही संघर्ष का उल्लेख है। नाटक के अनुसार यह संघर्ष भी किसी यवन से ही हुआ था। नाटक से यह भी स्पष्ट है कि यह संघर्ष द्वितीय अश्वमेध के आयोजन काल में हुआ था। विद्वानों में अश्वमेधों के सम्बन्ध में मतभेद है। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसने किन-किन विजयों के उपलक्ष्य में दो अश्वमेध किए[6]। डा० त्रिपाठी ने लिखा है कि प्रथम अश्वमेध राज्यक्रान्ति के ठीक बाद, संभवतः यवन आक्रमण की घटना के बाद ही बौद्ध-तन्त्र के अन्त के रूप में तथा

१. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इण्डिया, पृ० ३८०-८१,
२. वही, तथा प्रा० भा० इति० : त्रिपाठी पृ० १४२,
३. कालिदास का भारत : डा० भगवत शरण उपाध्याय, पृ० २१८,
४. कालिदास का भारत : डा० भगवत शरण उपाध्याय, पृ० २२०-२२१,
५. वही, पृ० २२३,
६. भा० प्रा० इति० सत्यकेतु, पृ० ४३०,

ब्राह्मण धर्म की संस्थापना के रूप में हुआ[1]। आर० के० मुकर्जी के अनुसार विदर्भ विजय के उपरान्त अपनी शक्ति को दृढ़ करने के उद्देश्य से अश्वमेध यज्ञ किया[2]। हमारा विश्वास है कि शुंग वंश की स्थापना प्रथम यवन आक्रमण के परिणाम स्वरूप या आक्रमण की आशंका से हुई थी। अतः प्रथम अश्वमेध उग्रकर्मा पुष्यमित्र के मौर्य साम्राज्य की उपलब्धि, सैनिक क्रान्ति की सफलता तथा मध्य देश से यवनों को निरस्त करने के उपलक्ष्य में और ब्राह्मण-धर्म की संस्थापना के रूप में अपनी युवावस्था में किया था। स्वाभाविक है कि द्वितीय अश्वमेध प्रथम अश्वमेध से कुछ समय पश्चात् किया होगा।

द्वितीय अश्वमेध

पुष्यमित्र ने द्वितीय अश्वमेध किस उपलक्ष्य में किया था, विद्वानों में इस सम्बन्ध में भी मतभेद हैं। कुछ विद्वान् इसका सम्बन्ध विदर्भ विजय से जोड़ते हैं तो कुछ यवनों से मध्य देश की मुक्ति के उपलक्ष्य में बतलाते हैं :

(१) स्मिथ के अनुसार यह अश्वमेध-यज्ञ यवनों तथा अन्य सभी प्रतिद्वन्द्वियों की पराज्य के उपलक्ष्य में किया गया।[3]

(२) जायसवाल का अनुमान है कि पुष्यमित्र ने दूसरा अश्वमेध कलिंग के राजा खारवेल से पराजित होने के बाद किया। किन्तु दोनों की समकालीनता का विचार निरस्त हो चुका है।[4]

(३) डाक्टर पुरी के अनुसार यह अश्वमेध यवनों के लौट जाने पर एवं भारत के गौरव की प्राप्ति के उपलक्ष में किया।[5]

(४) आर० के० मुकर्जी के मत में पुष्यमित्र ने द्वितीय अश्वमेध यूनानी आक्रमण को पीछे धकेलने तथा अपनी विजय के उपलक्ष में किया।[6]

(५) रैप्सन के अनुसार मगध में जब शुंग शक्तिशाली हुए तभी यह यवन संघर्ष हुआ।[7]

(६) कुछ विद्वान् विदर्भ विजय को ही द्वितीय अश्वमेध का कारण बतलाते हैं। उनकी मान्यता है कि विदर्भ विजय से समूची आन्तरिक विघटनकारी प्रवृत्तियों

---

१. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० १४३,
२. एन्शन्ट इन्डिया : मुकर्जी, पृ० ७०,
३. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, स्मिथ, पृ० २१२,
४. प्रा० भा० इति०, त्रिपाठी, पृ० १४२,
५. इंडिया इन दि टाइम ऑफ पतंजलि, डा० पुरी, पृ० २८,
६. एन्शन्ट इण्डिया, पृ० ७१,
७. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ४६१,

का दमन हुआ तथा देश में चिरबाधित एकता की स्थापना हुई—इसके अभिनन्दन में पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया।[1]

(७) डाक्टर सत्यकेतु मौर्य वंश के अन्त करके सम्राट पद प्राप्त करने, यवनों को परास्त करने तथा विदर्भ विजय के उपलक्ष्य में करने की संभावना करते हैं।[2]

(८) डाक्टर भगवत शरण उपाध्याय के मत में यवन आक्रान्ताओं की समस्त दुरभिसंधियों को निराकृत कर देने पर शाकल, तक्षशिला तथा सिन्धु प्रदेश को अधिकृत करने की अभिलाषा के परिणाम स्वरूप द्वितीय अश्वमेध यज्ञ किया।[3]

उपर्युक्त सभी मतों में कुछ न कुछ स्वारस्य है, किन्तु सभी एकांगी हैं। हमारी मान्यता है कि प्रथम यवन आक्रान्ताओं को खदेड़ देने के पश्चात् विदर्भ विजय के द्वारा भारत की सुदृढ़ता, शान्ति तथा एकता के उद्देश्य की पूर्ति होने पर अपनी वृद्धावस्था में शुंग साम्राज्य की जड़ों को अंतिम रूप से और भी गहरी करने की दृष्टि से पुष्यमित्र ने पुनः एक बार अश्वमेध यज्ञ किया। हमारा अनुमान है कि इस समय तक देश के आन्तरिक भाग में व्याप्त अराजकता को पूर्णतः शान्त कर दिया गया था। भारत से यवनों का नाम-निशान मिटा दिया था। प्रमुख मौर्य पक्षपाती विदर्भ को उसके पुत्र अग्निमित्र ने अधिकृत कर लिया था। मथुरा, पांचाल, एवं अवध से लेकर समस्त आर्यावर्त्त को अपने प्रभुत्व में सुदृढ़ कर लिया गया था तथा बौद्धों के अनाचार के प्रतिरोध में ब्राह्मण धर्म की स्थापना के उद्देश्य को पूर्ण कर लिया था। अतः अपनी वृद्धावस्था में शुंग राज्य की नीवों को गहरी करने की दृष्टि से अन्त में शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए ही पुष्यमित्र ने यह यज्ञ किया था। इसका कोई उद्देश्य विशेष नहीं था। यह यज्ञ सार्वभौम रूप से अपने समस्त उद्देश्यों की उपलब्धि तथा उपसंहार के रूप में ही किया गया था। इस समय पुष्यमित्र अपनी शक्ति की पराकाष्ठा पर था। उसका पौत्र उस समय शुंगों के पौरुष की यशोध्वजा उड़ाता हुआ समस्त आर्यावर्त्त में विचरण कर रहा था। नाटक में इसी घटना का प्रांजल वर्णन है।

नाटक से ज्ञात होता है कि एक वर्ष पर्यन्त निर्रगल घूमते हुए अश्व के रक्षक के रूप में एक शत राजकुमारों के साथ वसुमित्र घूमता रहा। संभवतः वर्ष के अन्त में जबकि अश्व दिग्विजय कर लौट रहा था, मगध से सुदूर प्रदेश सिन्धु की तराई में अश्वसेना के साथ सन्नद्ध यवन ने उसे चुनौती दी। फलतः दोनों सेनाओं में महान्

---

१. विशाल भारत : जून, १९६३, पृ० ३८७,

२. भा० प्रा० इति०, सत्यकेतु, पृ० ४३०,

३. कालिदास का भारत : डा० उपाध्याय, पृ० २२३,

संघर्ष हुआ। अन्त में कुशल धन्वी वसुमित्र ने शत्रुओं को परास्त करके अपहृत अश्व को लौटा लिया।[1] हम समझते हैं कि पतंजलि ने महाभाष्य में "इह पुष्यमित्रं याजयामः" वाक्य से इसी अश्वमेध यज्ञ की ओर संकेत किया है। "याजयामः" इस वर्तमानकालिक क्रिया के प्रयोग से डाक्टर भंडारकर ने यही अभिप्राय निकाला है कि वह यज्ञ प्रारंभ तो हो गया था किन्तु उसका समापन नहीं हुआ था।[2] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम यज्ञ निश्चित रूप से भाष्य रचना से पूर्व तथा सैनिक क्रान्ति की सफलता के ठीक बाद ही हुआ। द्वितीय अश्वमेध अब चल रहा था। इस घटना से कुछ निष्कर्ष भी निकालते हैं:—

(१) नाटक में निर्दिष्ट यज्ञ द्वितीय यज्ञ था। इसी यज्ञ के समय द्वितीय यवन संघर्ष हुआ। उसी का नाटक में उल्लेख है।

(२) यह संघर्ष मेनेन्द्र के नेतृत्व में यवन सेना से हुआ था। मध्यदेश से यवनों को खदेड़ा जा चुका था, किन्तु सिन्धु के बाहर मेनेन्द्र के नेतृत्व में यवनों ने पैर जमा लिए थे। अतएव वसुमित्र को यहाँ मेनेन्द्र के नेतृत्व में विशाल यवन सेना से सामना करना पड़ा।[3]

(३) इस समय पुष्यमित्र ने युवक पौत्र वसुमित्र को अश्वरक्षक नियुक्त किया। उसने ही दिग्विजय की। स्पष्ट है कि पुष्यमित्र वृद्ध हो गया था। अतः द्वितीय अश्वमेध पुष्यमित्र ने अपने शासन काल के अन्त में किया। इस समय संभवतः अग्निमित्र ही शासन का आधार था।

(४) नाटक में जब राजा लेख को पढ़ते हुए भयंकर युद्ध के समाचार को पढ़ता है तो सहसा उसके मुँह से आश्चर्यजनक शब्द निकल पड़ते हैं—"कथमीदृशं संवृत्तम्।" ये शब्द भी सार्थक हैं। इससे स्पष्ट होता है कि उस समय शुंग-शक्ति चरम सीमा पर थी। अतएव अग्निमित्र को विश्वास ही नहीं हुआ कि किसी से

---

१. योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्रं गोप्तारमादिश्य वत्सरोपात्तनियमो निरर्गलस्तुरंगो विसृष्टः स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत उभयोर्महानासीत्संमर्दः॥
मालविकाग्नि० ५।१४–१५,

२. इण्डियन एण्टिक्वरी, १७८२, पृ. ३५०,

३. इस निष्कर्ष से विसेन्ट स्मिथ का यह मत निराधार सिद्ध हो जाता है कि पुष्यमित्र के जीवन काल में एक ही यवन नेता मेनेन्द्र के साथ संघर्ष हुआ था। नाटक के "महानासीत्संमर्दः" शब्द से स्मिथ की यह मान्यता कि यवनों की टुकड़ी से यहाँ संघर्ष हुआ था, निराधार सिद्ध हो जाती है।

"संमर्द" भी होना संभव होगा। इसके अतिरिक्त यह ध्वनित होता है कि उस समय उनका इतस्ततः कोई भी प्रतिरोधी न था।

(५) पुष्यमित्र के समय ही शुंग राज्य की सीमाएँ सिन्धु तक फैल गयी थी तथा शुंग राज्य पुष्यमित्र के समय अत्यन्त दृढ़ हो चुका था। उसके समय ही प्रतिरोधियों को कुचल डाला गया था। निष्कर्षतः पुष्यमित्र के समय मगध ने अपना पुराना गौरव प्राप्त कर लिया था और भारत में इस यज्ञ के द्वारा अंतिम रूप से पुष्यमित्र का ऐकाधिपत्य घोषित कर दिया था।

नाटक में निर्दिष्ट यवन-संघर्ष के स्थान के सम्बन्ध में कालिदास ने स्पष्टतः सिन्धु के दक्षिण तट का उल्लेख किया है। किन्तु विद्वानों में इस सिन्धु के सम्बन्ध में भी मतभेद है। इस सम्बन्ध में दो प्रकार के प्रमुख मत हैं: —

(१) कुछ विद्वान् सिन्धु से तात्पर्य बुन्देलखण्ड तथा राजपूताने के बीच बहने वाली तथा मध्य सीमा निर्धारित करने वाली सिन्धु को बतलाते हैं। इस मत के प्रमुख संस्थापक विसेन्ट स्मिथ हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में सिन्ध की अस्वीकृति दी है।[1] रैप्सन मतभेद को स्वीकार करते हैं और अपना निश्चित मत नहीं देते। तथापि वह काली सिन्ध के पक्ष में हैं। उनका मत है कि काली सिन्धु चम्बल की एक सहायक नदी थी, यह चित्तौड़ के पास माध्यमिका से लगभग १०० मील दूर थी। वहीं यवनों के साथ संघर्ष हुआ।[2]

(२) अन्य कुछ विद्वान् नाटक में उल्लिखित सिन्धु को पंजाब में बहने वाली सिन्ध नदी बतलाते हैं।[3] डा० आर० डी० मजूमदार ने सिन्धु को पंजाब की सिन्ध ही (इन्डस) माना है। इसके साथ ही नाटक में उल्लिखित "दक्षिणरोधसि" शब्द का भी अर्थ उन्होंने दक्षिण किनारा किया है।[4] जयचन्द्र विद्यालंकार,[5] डा० सत्यकेतु[6] एवं डा० उपाध्याय[7] भी यही मानते हैं। अधिकांश में यही मत मान्य है।

डा० उपाध्याय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "कालिदास का भारत" में मुख्यतः नाटक को आधार मानकर इसी मत का समर्थन करते हुए लिखा है कि नाटक में

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० २११ तथा इसी का फुटनोट
२. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ४६९,
३. इं० हि० क्वा०, १९२५, पृ० २१४,
४. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी पृ० ९६-९७,
५. भा० इति० रूपरेखा : जयचन्द्र विद्यालंकार, भाग २, पृ० ७१६ टिप्पणी
६. भा० प्रा० इति० : सत्यकेतु पृ० ७३०-३१,
७. कालिदास का भारत : डा० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० २२९-३१,

उल्लिखित सिन्धु पंजाब में प्रवहमान सिन्धु ही है, काली सिन्ध नहीं, जैसा कि स्मिथ मानते हैं। उनका कथन है कि जब अशोकावदान के अनुसार शाकल तथा मालविकाग्निमित्र नाटक के अनुसार मालवा तथा विदर्भ पुष्यमित्र के साम्राज्य के अन्दर थे तब अग्निमित्र की राजधानी विदिशा में कुछ दूर बहने वाली काली सिन्ध को पुष्यमित्र के साम्राज्य के बाहर नहीं माना जा सकता है। नाटक में उल्लिखित सिन्धु पुष्यमित्र के राज्य के बाहर थी। अतः निश्चित रूप में काली सिन्ध से भिन्न है। इसके अतिरिक्त डा० उपाध्याय के शब्दों में अश्वमेध यज्ञ स्पष्टतया उन प्रदेशों पर विजय का संकेत करता है जो यज्ञ कर्ता के राज्य के बाहर हैं। इसलिए भी यही मानना ठीक होगा कि वसुमित्र की सेना का ग्रीक सेना के साथ पंजाब की सिन्धु पर ही संघर्ष हुआ। नाटक में यवन विजय की सूचना पत्र द्वारा अग्निमित्र के यहाँ आती है। यदि विदिशा के समीपस्थ काली सिन्ध पर यवन संघर्ष होता तो क्या अग्निमित्र को तत्-सम्बन्धित जानकारी न होती। स्पष्ट है कि पुष्यमित्र ने सुदूर में घटित यवन विजय की सूचना को ही पत्र द्वारा सूचित किया था। अत. काली सिन्ध से नाटक की सिन्धु का साम्य मानना असगत होगा। वास्तव में वसुमित्र का संघर्ष पंजाब की प्रमुख नदी सिन्धु के तट पर ही हुआ था।

विदर्भ-विजय, अश्वमेध-यज्ञ तथा यवन-पराजय का ऐतिहासिक महत्त्व :

मालविकाग्निमित्र नाटक की प्रथम घटना है—विदर्भ विजय तथा दूसरी है यवन पराजय। यवन पराजय की घटना अश्वमेध यज्ञ के साथ प्रासंगिक रूप से घटित होती है। अतः हम इसे समग्र रूप में एक ही मान चुके हैं। इन दोनों ही घटनाओं का भारतीय इतिहास में अपना अपना महत्त्व है। संभवतः सैनिक क्रान्ति के बाद शुंग काल की ये ही सर्वप्रमुख घटनाएँ थीं।

विदर्भ-विजय

विदर्भ-विजय के पश्चात् मौर्य पक्षपातियों का दमन कर देने पर मगध साम्राज्य में पूर्ण शान्ति स्थापित हुई। समस्त उत्तरी भारत एक छत्र के नीचे आकर संगठित हुआ और भारत में हमेशा के लिए यवनों के आक्रमण का भय जाता रहा। इस दृष्टि से विदर्भ-विजय की घटना का राष्ट्रीय महत्त्व है। विदर्भ विजय के पश्चात् समस्त आन्तरिक विघटनकारी प्रवृत्तियों का दमन हुआ। देश में चिरवांछित राष्ट्रीय एकता स्थापित हुई एवं सुदृढ़ राष्ट्र ने पुनः लुप्त गौरव का अनुभव किया।[1]

---

१. विशाल भारत, जून १९६३, पृ० ३८६,

द्वितीय अश्वमेघ

विदर्भ विजय के पश्चात् सैनिक क्रान्ति का पुष्यमित्र का उद्देश्य पूर्ण हो गया था। अतः संभवतः अंतिम रूप से देश में राष्ट्रीयता की भावना भरने, राष्ट्रीय एकता में बाँधने तथा अपने उद्देश्यों की सम्प्राप्ति के उपलक्ष्य में,[१] शुंग साम्राज्य की जड़ों को अंतिम रूप से अधिकाधिक गहरा करने के उद्देश्य से अपनी वृद्धावस्था में दूसरा अश्वमेघ किया।

यवन पराजय

द्वितीय अश्वमेघ के समय शुंग साम्राज्य अत्यधिक शक्तिशाली था। इस समय यद्यपि पुष्यमित्र के जीवन के अंतिम क्षणों में यवनों से शुंगों को लोहा अवश्य लेना पड़ा। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी सिद्ध हुआ। (१) भारत भूमि की ओर बुरी दृष्टि से देखने वाले यवनों के दु साहस को सदा के लिए निरस्त कर दिया गया। (२) भारत के सीमान्त प्रदेश में जिन यवनों ने पैर जमा रखे थे तथा जो बौद्ध धर्म की आड़ में अनेक दुरभिसंधियों में संलग्न थे, उन्हें कुचल डाला गया। (३) अश्वमेघ के रूप में सांस्कृतिक समायोजन के द्वारा आसीमान्त भारत राष्ट्र को सुदृढ़ कर दिया गया और उसने उत्तरी भारत में अपने साम्राज्य को सर्वाधिक सुदृढ शक्तिशाली प्रमाणित किया।

उपर्युक्त दोनों ही घटनाओं से भारत के लिए दूर के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक परिणाम निकले। विदर्भ विजय से जहाँ उत्तरी भारत एकता के सूत्र में सुदृढ हुआ, वहाँ अश्वमेघ तथा यवन पराजय के द्वारा अपनी सुदृढ शक्ति को इतनी अधिकता तक पहुँचा दिया कि सैकड़ों वर्षों तक किसी भी यवन को भारत भूमि पर पैर रखने का साहस नहीं हुआ। इसे दूसरे तथा अंतिम प्रयत्नों से यवनों को मुँह की खाने के बाद (भूमि के रास्ते) भारत में घुसने के प्रयास भी नष्ट हो गए। विंसेन्ट स्मिथ ने लिखा है कि ईस्वी पूर्व द्वितीय सदी में मेनेन्द्र की पराजय के बाद १५०२ ईस्वी तक कोई भी विदेशी को भारत में भूमि के रास्ते नहीं घुस सका। समुद्र के रास्ते भले ही घुसा हो।[२] इन महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सफलताओं के कारण ही दोनों ही घटनाओं का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसके साथ ही इन दोनों ऐतिहासिक घटनाओं को सँजो रखने के कारण मालविकाग्निमित्र का भारतीय इतिहास के स्रोत के रूप में तथा संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक के रूप में समधिक महत्त्व है।

मालविकाग्निमित्र नाटक में प्रमुखतः उपर्युक्त दो ही ऐतिहासिक घटनाओं का निर्देश है। इसके अतिरिक्त नाटक में आनुषंगिक रूप से कुछ शब्दों का प्रयोग

---

१. विशाल भारत, जून १९६३, पृ० ३८६,

२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, स्मिथ, पृ० २०९–१२,

हुआ है, उनसे भी शुंगों के परिवार तथा तत्सम्बन्धित ऐतिहासिक घटना पर अप्रत्यक्ष प्रकाश पड़ता है। अतः उनका भी यहाँ उल्लेख करना उचित होगा।

अन्य ऐतिहासिक संकेत :

(1) बैम्बिक अग्निमित्र—शुंग साम्राज्य के संस्थापक पुष्यमित्र को सामान्यतः ब्राह्मण राजा माना जाता है। किन्तु मालविकाग्निमित्र में कालिदास ने पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र के लिए "बैम्बिक" शब्द का भी उल्लेख किया है।[1] इस अग्निमित्र के द्वारा प्रयुक्त शब्द से उसके कुल, वंश या प्राचीन निवास स्थान का सम्बन्ध व्यक्त होता है। विद्वानों में इस शब्द के वास्तविक अभिप्राय के सम्बन्ध में मतभेद है।

सेनापति पुष्यमित्र और उसका पुत्र अग्निमित्र शुंग था। पुराणों में पुष्यमित्र को शुंग लिखा है। पाणिनि ने शुंगों को भारद्वाज गोत्र का बतलाया है,[2] जबकि हरिवंश पुराण में काश्यप गोत्र का बतलाया है।[3] कुछ विद्वान् शुंगों को सामवेदी ब्राह्मण भी मानते हैं।[4] यद्यपि यह निश्चय करना कठिन है कि शुंग किस गोत्र या शाखा आदि के ब्राह्मण थे। तथापि पाणिनि की अष्टाध्यायी महाभाष्य, बृहदारण्यक उपनिषद्, अश्वलायन श्रौत सूत्र तथा वंशब्राह्मण आदि अनेक ग्रन्थों के आधार पर इतिहासकारों ने यह स्वीकार किया शुंग निश्चित रूप में ब्राह्मण थे।[5] अतः दिव्यावदान के उल्लेख के आधार पर पुष्यमित्र को मौर्यों से सम्बन्धित मानने की धारणा[6] तथा मित्रान्त होने के कारण सूर्यपूजक पारसी होने की कल्पना[7] निःस्सार सिद्ध हो जाती है। किन्तु नाटक में प्रयुक्त बैम्बिक शब्द के अनुसन्धान से शुंगों के सम्बन्ध में नवीन प्रकाश पड़ता है। पुराणों से हमें शुंग राजाओं के अतिरिक्त शुंग

---

१. दाक्षिण्यंनाम बिम्बोष्ठि बैम्बिकानां कुलव्रतम्। माल० ४।१४,
२. देखो, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शेन्ट इण्डिया, षष्ठ सं०, पृ० ३७०, तथा कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ४६७,
३. वही, हरिवंश भविष्य, २।४०, ४१, ४२,
४. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, २०८
५. देखो पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इण्डिया, षष्ठ सं० पृ० ३६८–७०, कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ४६७, प्रा० भा० इति० पृ. १४०, फुटनोट भी, भा० प्रा० इति० : सत्यकेतु, पृ० ४२८–२९,
६. प्रा० भा० इति०: त्रिपाठी, पृ० १४०, फुटनोट,
७. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, स्मिथ पृ० २०८, फुटनोट भी तथा पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इण्डिया, षष्ठ सं०, पृ० ३७०, फुटनोट भी।

जनपद का भी ज्ञान होता है।[1] नाटक में प्रयुक्त बैम्बिक शब्द से उस जनपद की स्थिति का कुछ अनुमान लगाया ज सकता है। यहाँ शुंग तथा बैम्बिक के सम्बन्ध में कुछ मत देना उपयुक्त समझते हैं:—

(१) नाटक में प्रयुक्त बैम्बिक शब्द का सम्बन्ध, एच० ए० शाह ने शब्द-साहश के आधार पर बिम्बसार के परिवार से माना है।[2] किन्तु यह केवल उनका अनुमान मात्र है।

(२) डा० राय चौधरी ने यह संकेत दिया है कि बिम्बिकी नाम का कोई राजा भी हुआ है।[3] किन्तु शुंगों से सम्बन्धित ऐसे किसी राजा का हमें पता नहीं चलता।

(३) पंडित भगवद्दत ने लिखा है कि पातंजल महाभाष्य में बैम्बिकि शब्द प्रयुक्त है। कात्यायन ने भी इसको स्पष्ट किया है। किन्तु उस बैम्बिकि तथा नाटक के बैम्बिक शब्द में कोई भी समानता नहीं है।[4]

(४) कुछ विद्वानों के अनुसार संभवतः बिम्बा अग्निमित्र की माता थी।[5] किन्तु बिम्बा मा मानने पर नाटक में यह कालिदास का प्रयोग ही व्याकरण दृष्टि से त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। अतः बिना साक्ष्य के अनुमान लगाना निरर्थक है।

(५) डा० दिनेश चन्द्र[6] सरकार के अनुसार "बैम्बिकानाम्-कुलव्रतम्" शब्द में कुलव्रत से वंश की ओर ही निर्देश है। उन्होंने बतलाया है कि शाकुन्तल में पौरव-वंश के निर्देश के लिए पौरव-कुलव्रत, तथा रघुवंश[7] में इक्ष्वाकुओं के वंश के लिए कुलव्रत शब्द का स्वयं कालिदास ने ही प्रयोग किया है। इसी आधार पर उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है कि नाटक में अग्निमित्र ने भी इस शब्द के द्वारा अपने वंश या परिवार की ओर निर्देश किया है। और, क्योंकि पुष्यमित्र कोई राज-

---

१. मागधाश्च माहाग्रामा मुंडा: शुंगास्तथैव च। मत्स्य० १६३।६६,६७ देखो, भा० बृ० इति० भगवद्दत, पृ० २७७,
२. प्रोसीडिंग्स ऑफ इण्डियन ओरियन्टल कान्फ्रेन्स मद्रास, पृ० ३७९, देखो पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इण्डिया, षष्ठ सं०, पृ० ३६९,
३. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इण्डिया, षष्ठ सं० पृ० ३६९, फुटनोट
४. भा० बृ० इति० पृ० २७७,
५. प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, सत्र कलकत्ता, १९३९, पृ० ४७५–४७६,
६. अस्त्येतत् पौरवाणामन्यं कुलव्रतम्
भवनेषु रेसाधिकेषु—गृहीभवन्ति तेषाम्। अभिज्ञान० ८।२०,
७. गलित—वयसामिक्ष्वाकूणामिदंहि कुलव्रतम्। रघु० ३।७०,

परिवार से सम्बन्धित न था अतः इस शब्द से सुदूर के पूर्वपुरुषों की ओर निर्देश नहीं माना जा सकता। अतः उनका अनुमान है कि बिम्बिक या तो पुष्यमित्र का पिता था या पितामह।

(६) विद्वानों ने यह भी बतलाया है कि बिम्बिका नामका एक पादप होता है।[1] हरिवंश में ब्राह्मण सेनानी को औद्भिज तथा काश्यप कहा है।[2] इसका सम्बन्ध शुंगों से भी बैठता है। क्योंकि शुंग का अर्थ मुकुलित पल्लव होता है।[3] लताग्र के पल्लव के उपरि भाग को भी शुंग कहा गया है।[4] इसके अलावा शुंग का कलिका अर्थ भी प्रसिद्ध है। इन प्रयोगों के आधार पर शुंगों को औद्भिज मान सकते हैं। यही नहीं बल्कि अमर कोष में लता विशेष के लिए भी बिम्बिका शब्द प्रयुक्त है।[5] बौद्धायन श्रौत सूत्र में बैम्बक का काश्यप के रूप में उल्लेख किया है।[6] इस सबसे यह तो अवश्य प्रकट होता है कि बैम्बिक कुल का तथा शुंगों का अवश्य कोई प्राचीन सम्बन्ध है तथा शुंग अग्निमित्र बैम्बिक कुल का ही सम्राट् था। इसके अतिरिक्त भरहुत शिलालेख में बिम्बिका शब्द एक नदी के लिए प्रयुक्त है।[7] यद्यपि आज इस नदी का कुछ भी पता नहीं है, तथापि इसकी प्राचीन सत्ता के आधार पर इसके तट पर रहने वालों को बैम्बिक माना जा सकता है। हमारा अनुमान है कि मत्स्य पुराण में उल्लिखित शुंग जनपद भी बिम्बिका नदी पर रहा होगा। इसके अतिरिक्त, जब कि आधुनिक इतिहासकार विदिशा से शुंगों का प्राचीन सम्बन्ध मानते हैं तथा उन्हें मूलतः विदिशा का निवासी मानते हैं, तो यह भी अनुमान किया जा सकता है कि हो न हो, बिम्बिका विदिशा के पास ही कोई नदी रही होगी और शुंग जनपद भी उसी के कहीं आसपास रहा होगा।

उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम यही कह सकते हैं कि—

(१) शुंग राजा निश्चित रूप से ब्राह्मण थे।

(२) सम्भवतः शुंग राजा पुष्यमित्र का बिम्बिक नाम का कोई पिता या पितामह भी रहा हो,

---

१. देखिये, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इण्डिया, षष्ठ सं०, पृ० १९६, फुटनोट

२. हरिवंश पुराण (भविष्य), २।४०,

३. शुंगा : मुकुलितपल्लवा : देखो भा० बृ० इतिहास, पृ० २७७,

४. वही, लताग्रपल्लवादूर्ध्वं शुंगेति परिकीर्त्यते।

५. अमरकोश, २।४।१३९, वनौषधिपर्व,

६. देखो, पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इण्डिया, षष्ठ सं०, पृ० १९९,

७. वही,

(३) किन्तु अधिक सम्भव यही प्रतीत होता है कि शुंग राजा विदिशा के निकट स्थित बिम्बानामक नदी के किनारे पर स्थित शुंग जनपद के मूल निवासी थे। इस सम्बन्ध में विशेष किसी साक्ष्य के अभाव में दृढ़ता से कुछ नहीं कहा जा सकता, तथापि पुराण आदि के परामर्श के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि चाहे बैम्बिक शब्द का अभिप्राय कुछ भी हो, परन्तु शुंग राजा बैम्बिक थे। अतः कालिदास का बैम्बिक प्रयोग अनैतिहासिक नहीं है।

(ii) विगतरोषचेतसा—नाटक में पुष्यमित्र ने यज्ञ में सपरिवार शान्तमन एवं क्रोधरहित होकर सम्मिलित होने के लिए अग्निमित्र को सन्देश भेजते समय "विगतरोषचेतसा" शब्द का प्रयोग किया है।[1] इस शब्द से स्पष्ट होता है कि अग्निमित्र पुष्यमित्र से रुष्ट था तथा दोनों में अनबन थी। नाटक में प्रयुक्त इस शब्द के अतिरिक्त रोष के सम्बन्ध में अन्यत्र कहीं भी कुछ भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता और न इस शब्द से ही रोष का कारण स्पष्ट होता है। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि नाटककार को रोष के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं था, अतएव उसने संकेत मात्र देकर छोड़ दिया है। किन्तु यह विचार समीचीन नहीं है। वस्तुतः कालिदास शुंग इतिहास का विशेषज्ञ था। अतः उसे रोष का कारण अवश्य ज्ञात रहा होगा। किन्तु सम्भवतः उस समय का समाज इस रोष के कारण से सुपरिचित था, अतएव उसने रोष के सम्बन्ध में उल्लेख करना उचित न समझा। श्री मिराशी के शब्दों में रोष का कारण न बताने से कवि का अच्छा ऐतिहासिक ज्ञान प्रमाणित होता है।[2] किन्तु रोष के सम्बन्ध में अन्यत्र कुछ संकेत न देने से यह शब्द तथा इससे सम्बन्धित घटना आज हमारे लिए एक पहेली बन गयी है। विद्वानों ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अनुमान लगाये हैं—

(१) श्री एस० पी० पंडित[3] का कथन है कि पुष्यमित्र ने अग्निमित्र के पुत्र कुमार वसुमित्र को अश्वमेध के अश्व की रक्षा के कठिन कार्य में नियुक्त कर दिया था। संभवतः इसी कारण अग्निमित्र उससे रुष्ट था। किन्तु पण्डित का कुमार शब्द के आधार पर यह अनुमान मात्र है, इसमें तथ्यांश कुछ भी प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि जिस समय अग्निमित्र को कंचुकी लेख लाकर देता है, उस समय उसे उठकर ग्रहण करने के समादर भाव से तथा धारिणी की स्वगत उक्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि अग्निमित्र पुष्यमित्र से वसुमित्र की अश्वरक्षा की नियुक्ति के

---

१. मालविका० ५।१५–१६,
२. कालिदासः मिराशी, पृ० ६–१०,
३. मालविकाग्निमित्रः सं० एस० पी० पण्डित, पृ० २२८,

कारण रुष्ट नहीं था। इसके अतिरिक्त भयंकर संमर्द का समाचार पढ़ने के बाद अग्निमित्र को किसी युद्ध की आशंका नहीं थी। अन्त में लेख पढ़ लेने के बाद राजा अग्निमित्र के 'अनुगृहीतोऽस्मि" कहने से स्पष्ट है कि वसुमित्र की नियुक्ति के कारण वह रुष्ट नहीं था। सभवतः पण्डित महोदय ने धारिणी की स्वगतोक्ति के शब्दों तथा कुमार शब्द के आधार पर यह अनुमान कर लिया है, जो कि अस्वाभाविक है।

(२) कुछ विद्वान् बौद्धों के प्रति पुष्यमित्र के द्वेष तथा पक्षपातपूर्ण व्यवहार को अग्निमित्र के रोष का कारण मानते हैं। श्रीकाले ने यह भी लिखा है कि कालिदास ने जब नाटक लिखा तब बौद्धों के प्रति विरोध तथा द्वेष-दृष्टि खत्म हो गयी थी, अतः लेखक ने उसे स्मरण करना ठीक न समझा। किन्तु बौद्ध-द्वेष को भी अग्निमित्र के रोष का कारण मानना उचित नहीं है।

दिव्यावदान के अशोकावदान में पुष्यमित्र को बौद्धविरोधी तथा बौद्ध दमनकारी के रूप में चित्रित किया है। उसमें यहाँ तक लिखा है कि पुष्यमित्र ने यह घोषणा की थी कि जो श्रमणों के शिरों को काट कर लावेगा, उसे एक शत दीनार दी जावेगी।[1] तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने भी पुष्यमित्र को बौद्ध विरोधी, बौद्ध बिहार भजक तथा भिक्षुवधकर्त्ता बतलाया है।[2] रैप्सन[3] ने भी इन मतों का समर्थन करना चाहा है, किन्तु वे स्पष्ट शब्दों में कुछ नहीं कह सके हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि शुंगराजा ब्राह्मण-धर्म के सरक्षक तथा संवर्धक थे, किन्तु उस समय की पुरातत्व सामग्री से यह भी प्रमाणित होता है कि वे बौद्ध धर्म के प्रति असहिष्णु भी नहीं थे। हम यह मानते हैं कि ब्राह्मणों को बौद्ध धर्म के प्रति पक्षपात के कारण उनमें क्षोभ था, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि शुंग ब्राह्मण होने के कारण बौद्ध द्वेषी थे। डा० राय चौधरी, डा० त्रिपाठी, डा० उपाध्याय, आदि भारतीय विद्वानों ने दिव्यावदान तथा तारानाथ के उल्लेख को पक्षपातपूर्ण तथा निःसार प्रमाणित किया है।[4]

---

१. पुष्यमित्रो यावत् संघारामान् भिक्षुंश्च प्रघातयन् प्रस्थितः। स यावच्छाकलमनुप्राप्तः तेनाभिहितम्। यो मे श्रमणशिरो दास्यति तस्याहं दीनारशतं दास्यामि।

२. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० १४३,

३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ४६७,

४. पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शन्ट इण्डिया, राय चौधरी, पृ० ३८९, कालिदास का भारत : पृ० २२५, तथा प्रा० सा० इति० : त्रिपाठी, पृ० १४३, इण्डिया इन दि टाइम ऑफ पतंजलि : डा० पुरी, पृ० १ पर डा० बुरोदामस के शब्द :

श्री हरिकिशोर प्रसाद ने दिव्यावदान, मंजुश्रीमूलकल्प तथा तारानाथ के उल्लेखों का अध्ययन करके पुष्यमित्र को बौद्ध हिंसक मानने के उनके मत को सर्वथा तथ्यहीन प्रमाणित किया है।[1] उन्होंने लिखा है कि वास्तव में पुष्यमित्र शुंग से दिव्यावदान के पुष्यमित्र का साम्य ही नहीं बैठता है।[2] दोनों के वैषम्य को अनेक प्रकार से प्रमाणित करते हुए उन्होंने यह भी लिखा है कि पुराण, हर्ष चरित, अयोध्या के अभिलेख तथा नाटक में पुष्यमित्र का (प्रायः) सेनानी या सेनापति की उपाधि से ही उल्लेख हुआ है। वस्तुतः इसी रूप में वह प्रसिद्ध तथा परिचित था, न कि किसी राजकीय उपाधि के द्वारा। परन्तु दिव्यावदान तथा तारानाथ के इतिहास में सेनापति के रूप में उसका उल्लेख नहीं है। अतः दोनों में साम्य संदिग्ध है। यद्यपि इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता तथापि, हम पुष्यमित्र को किसी भी स्थिति में बौद्ध-धर्म-द्रोही तथा असहिष्णु नहीं मान सकते।

हमारा विश्वास हैं कि मेनेन्द्र प्रख्यात तथा कट्टर बौद्ध था। बौद्ध धर्म की आड़ में दुरभिसंधियों के द्वारा वह भारत की भूमि पर अपने पैर जमाना चाहता था। सम्भव है उसने धार्मिक भेद-भाव की खायी को और भी गहरा कर दिया था। किन्तु पुष्यमित्र मेनेन्द्र की इन चालों के प्रति सतर्क था। उसने निर्भयता तथा साहस के साथ भारतीय एकता तथा राष्ट्रीयता के लिये मेनेन्द्र की चालों को विफल कर डाला। सम्भव है पुष्यमित्र को यवन बौद्ध शासक मेनेन्द्र की आकांक्षाओं को कुचलते समय भारतीय बौद्धों के विरोध का भी सामना करना पड़ा हो और इसी से क्षुब्ध होकर बौद्धों ने पुष्यमित्र को बौद्ध बिरोधी आदि लिख दिया हो, और इस बौद्धों के उल्लेख के आधार पर ही तारानाथ ने भी लिख दिया है। अतः वास्तविकता यही है कि न तो पुष्यमित्र बौद्ध धर्म द्वेषी था, और न अग्निमित्र पुष्यमित्र के बौद्ध धर्म द्वेष के कारण रुष्ट था। नाटक के किसी भी स्थल से हमें बौद्ध धर्म के द्वेष की झलक नहीं मिलती, तब इसे अग्निमित्र के रोष का कारण मानना सर्वथा असंगत है।

(३) डा० पुरी ने अपने 'पतंजलि कालीन भारत' नामक शोधग्रन्थ में अग्निमित्र के रोष के सम्बन्ध में लिखा है कि संभवतः प्रथम यवन आक्रमण के समय पुष्यमित्र ने उससे बिना किसी शर्त के सन्धि करली थी। डा० पुरी के शब्दों में उस समय क्योंकि यह किसी भी मूल्य पर शान्ति खरीदना चाहता था। पिता की इस भीरुता से या किसी अन्य कारण से अग्निमित्र रुष्ट अवश्य हो गया और उसने पिता से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया, तथा स्वतन्त्र राजा के रूप में विदिशा में अधिष्ठित

१. इण्डियन हिस्टारिकल कांग्रेस, १९५३, पृ० ९६,
२. वही, पृ० ९७,

हो गया।[1] इस अनुमान में भी कोई सार नहीं है। डा० पुरी यह स्वीकार करते हैं कि पुष्यमित्र ने प्रथम यवन संघर्ष अपनी युवावस्था में किया और दूसरा संघर्ष वृद्धावस्था में किया। अतः यह मानना अस्वाभाविक है कि पिता पुत्रों में लम्बे समय तक मनोमालिन्य बना रहा होगा। अतः डा० पुरी की कल्पना सर्वथा अस्वाभाविक है।

वास्तविकता यही प्रतीत होती है कि पुष्यमित्र के मगध पर अधिकार होने के बाद अग्निमित्र ही, मगध पर शासन-प्रबन्ध तथा राज्य-संचालन कर रहा था। इसी कारण अग्निपुत्र ने वसुमित्र को पुष्यमित्र के पास छोड़ दिया था। अतः पुष्यमित्र के समस्त राज्यकाल में मनोमालिन्य की कल्पना का अवसर ही नहीं आता। दूसरे, जबकि यह स्पष्ट है कि पुष्यमित्र ने भारत की राष्ट्रीयता, स्वाधीनता, एकता आदि उद्देश्यों के लिए अपने सम्राट् का वध किया था, न कि साम्राज्य की भूख से, अतः पुष्यमित्र के लिए यह कहना कि वह शांति खरीदना चाहता था, तथा भीरू था, सर्वथा अनुपयुक्त है। तीसरे, डा० पुरी प्रथम आक्रमण के पश्चात् रोष के कारण ही विदिशापुर में अधिष्ठित होना मानते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि अग्निमित्र बृहद्रथ के सामने से ही विदिशा का शासक था। इसके अतिरिक्त अग्निमित्र को स्वतंत्र शासक मानना भी उचित नहीं है। यदि वह पुष्यमित्र के मतभेद होने के कारण ही स्वतंत्र हो गया होता तो पुष्यमित्र के आदेश से स्वतंत्र विदर्भ पर आक्रमण करने का औचित्य प्रतीत नहीं होता है।

वास्तव में हम अग्निमित्र के रोष के सम्बन्ध में किसी अन्य स्पष्ट उल्लेख के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी कहना ठीक नहीं समझते। तथापि, यह प्रतीत होता है कि उनमें मनोमालिन्य तथा रोष-प्रसंग किसी राजनैतिक कारण से ही उपस्थित हुआ था तथा इसने इतना महत्त्वपूर्ण रूप ले लिया था कि यह घटना जनता में भी फैल गयी थी। हमारा अनुमान है कि संभवतः मगध की संप्राप्ति तथा प्रथम यवन आक्रमण के पश्चात् पुष्यमित्र ने सामान्य रूप से अश्वमेध करके अपने उद्देश्य की पूर्ति समझली थी तथा वह राज्य की सार्वभौम समृद्धि के प्रति उदासीन हो गया था। किन्तु अग्निमित्र चाहता था कि प्रतापी शुंगों का राज्य दूर-दूर तक फैले तथा शुंगों की शक्ति की प्रबलता के उपलक्ष्य में अंतिम रूप से अश्वमेध का समायोज न हो। पर, पुष्यमित्र ने ऐसा नहीं किया था, अतः अग्निमित्र ने रोष के रूप में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। अतः अन्त में, जब अग्निमित्र के मंतव्य के अनुसार उसने सार्वभौमिक दिग्विजय के पश्चात् अश्वमेध किया, तभी रोष त्यागने का आग्रह किया है।

---

१. इण्डिया इन दी टाइम आफ पतंजलि, डा० पुरी, पृ० २६,

मालविकाग्निमित्र के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की नाट्यकला

महाकवि कालिदास ने ३ नाटक रचे : मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल । कुछ समय पूर्व तक कुछ विद्वान् अंतिम दो कृतियों को ही कालिदास की स्वीकार करते थे, मालविकाग्निमित्र को नहीं । उनकी मान्यता थी कि अन्य दो नाटकों की अपेक्षा नाट्यकला की दृष्टि से भिन्न होने के कारण मालविकाग्निमित्र कालिदास की रचना नहीं हो सकती । किन्तु अब प्रायः मालविकाग्निमित्र को कालिदास की रचना स्वीकार किया जाता है ।[१] कालिदास ने उपर्युक्त क्रम में ही अपने नाटकों का सृजन किया । इस क्रम के अनुसार मालविकाग्निमित्र कालिदास का सर्वप्रथम नाटक है, जिसमें कि कालिदास के नाटककार ने अपनी नाट्यकला की सर्वप्रथम अवतारणा की है, जबकि, विक्रमोर्वशीय में विकसित होकर अभिज्ञान शाकुन्तल में उसकी नाट्यकला चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है । अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम विक्रमोर्वशीय तथा शाकुन्तल की नाट्यकला के समान ही कलात्मकता, नाट्यशिल्प, अभिव्यंजनात्मकता तथा प्रौढ़ संविधान की अपेक्षा रखते हुए मालविकाग्निमित्र का परिशीलन न करें । पंडित पांडुरंग शास्त्री, एच. एच. विलसन तथा ए० डब्लू० रायडर आदि अनेक विद्वानों ने शाकुन्तल की कला को ही निदर्शन मानकर मालविकाग्निमित्र की हेयता प्रदर्शित करने का प्रयास किया है,[२] किन्तु इस दृष्टिकोण को हम मालविकाग्निमित्र के प्रति कथमपि न्याय्य नहीं कह सकते । हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं कालिदास ने मालविकाग्निमित्र के प्रारंभ में कहा है 'न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्" । अतः यह आवश्यक है कि कालिदास की नाट्यकला के सर्वांगीण अध्ययन के लिए मालविकाग्निमित्र की उपेक्षा न करके, कालिदास की नाट्य-कृतियों की क्रमिक अवतारणा के अनुसार ही इसका अनुशीलन किया जाय । मालविकाग्निमित्र नाटककार कालिदास की प्रथम कृति है । अतः मालविकाग्निमित्र के परिप्रेक्ष्य में कालिदास के नाटककार का अध्ययन करने पर कालिदास की नाट्य-कला के क्रमिक विकास की रूपरेखा के रूप में निःसंदेह हमें बहुत कुछ उपलब्धि हो सकती है । यही कारण है कि मालविकाग्निमित्र का कालिदास के अन्य नाटकों से कम महत्त्व नहीं है ।

मालविकाग्निमित्र का वस्तुविधान तथा चरित्र-चित्रण

कालिदास के विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तल पौराणिक इतिवृत्त पर

---

१. संस्कृत ड्रामा, कीथ पृ० १४७,

२ वेबर ने विलसन के संदेहों के प्रतिकूल इस नाटक के महत्त्व तथा कर्तृत्व को स्वीकार किया है, देखो, संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृ० १४७,

आधारित है, जबकि मालविकाग्निमित्र का इतिवृत्त ऐतिहासिक है । मालविकाग्निमित्र में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर आदि अन्त में विशेष राजनैतिक वृत्त का प्रक्षेप करके अग्निमित्र तथा मालविका के मधुर प्रणय का चित्रण किया गया है । अन्य नाटकों के समान यह भी सुखान्त है, किन्तु अन्य नाटकों के समान इसका कथा-विन्यास प्रौढ़ नहीं है । मालविकाग्निमित्र की कथा सीधी-साधी है । इसमें मुख्यतः अन्तःपुर की प्राचीर की परिसीमा में पनपने वाले कामुक प्रणय-व्यापार का चित्र ही दिया गया है, प्रेम का आदर्श नहीं । प्रणयी राजा चित्रगता सुन्दरी मालविका के प्रति अनुरक्त हो जाता है । यही अनुरक्ति वह बिन्दु है जहाँ से कथानक आगे बढ़ता है । रानी के द्वारा विशेष रूप से छिपा कर रखने पर भी कार्यान्तर-सचिव की सहायता से वह उसके प्रत्यक्ष दर्शन का प्रयास करता है । नाट्याचार्यों का विवाद प्रस्तुत करके मालविका के नृत्य का प्रसंग उपस्थित हो जाता है । मालविका को अभिनय प्रदर्शन का अवसर मिला है । अनजाने ही रानी की समस्त सुरक्षा योजनाएँ विफल हो जाती हैं और राजा को प्रत्यक्ष दर्शन का लाभ मिलता है, किन्तु इरावती के व्यवधान से प्रणय-व्यापार में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है । तृतीय अंक में अशोक-दोहद के व्याज से मिलन कराया जाता है, परन्तु वह बंदी बना ली जाती है । चतुर्थ अंक में पुनः विदूषक राजा तथा मालविका का मिलन कराने में सफल होता है । तब भी इरावती विघ्नस्वरूप आ उपस्थित होती है । अन्त में पंचम अंक में दोनों का विवाह सम्पन्न हो जाता है ।

कथानक जितना सरल है, उतना ही शिथिल भी है । कालिदास ने नाट्या-चार्यों के विवाद की उद्‌भावना करके गति देने का सफल प्रयास किया है । छलिक नृत्य का प्रदर्शन भी मालविका की रूप-माधुरी को अभिव्यक्त करने के लिये किया जाता है । नृत्य के व्याज से न केवल नेत्र-प्रीति ही होती है, अपितु सुकुमार प्रार्थना भी होती है ।[1] यही नहीं, बल्कि छलिक नृत्य की उद्‌भावना का और भी महत्त्व है। छलिक नृत्य की योजना द्वारा ही मालविका को सर्वांगसौष्ठव की अभिव्यक्ति का अवसर मिलता है । राजा उसके रूप-शिल्प की अनुपमता को देखकर मुग्ध हो जाता है । वह कहता है कि चित्रगत मालविका को देख कर हमारे मन में यह सन्देह जरूर उठा था कि वह इतनी सुन्दर न होगी, किन्तु इस समय साक्षात् देखने पर ऐसा जान पड़ता है मानो वह चित्रकार भी, जिसने कि उसको चित्रित किया, अपनी चित्रकला में सफल नहीं हुआ है ।[2] प्रेमी राजा विदूषक की सहायता से बारम्बार मालविका से

---

१. मालविका० २।५,
२. मालविका० २।२,

मिलने में सफल अवश्य होता है किन्तु इरावती के गतिरोध के कारण प्रणय-व्यापार नहीं बढ़ पाता। कालिदास ने इरावती के प्रवेश द्वारा प्रणयद्वन्द्व की अभिसृष्टि अवश्य की है। इस प्रकार नाटक की कथा अवश्य कुछ सरकती है किन्तु यहाँ नाट्यसुलभ गत्यात्मकता का अभाव है।

नाटक के प्रथम अंक में नायक नायिका की अपेक्षा नाट्याचार्यों का विवाद ही अधिक उभरा है। इसमें मालविका का परिचयमात्र प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अंक में अभिनय के द्वारा मालविका सब कुछ प्रकट कर देती है। वह गाती है "प्रिय समागम दुर्लभ है अतः हृदय तुम उसकी आशा छोड़ दो। मेरा वाम अपांग परिस्फुरित हो रहा है तो क्या उसे, जिसे बहुत पहले देखा था पुनः देख सकूँगी। हे नाथ! मुझ पराधीना को तुम अपने प्रति अनुरागिनी जानना।"[१] मालविका का यह आत्मसमर्पण का सन्देश राजा के हृदय में उतर जाता है। नृत्य प्रदर्शन के बाद वह जाने को होता है, किन्तु विदूषक अपने बुद्धि-चातुर्य से कुछ पूछने को उसे रोक लेता है। मालविका टेढी होकर खड़ी हो जाती है। इस टेढ़े खड़े होने की सुन्दरता भी कुछ अनोखी है। मणिबन्ध में निश्चल वलयों से युक्त वाम बाहु को नितम्ब पर रख कर विटप के पल्लव के समान दक्षिण हाथ को लटकाकर पैर के अँगूठे से फूलों को इधर-उधर करती हुई फर्श की ओर दृष्टि गढाए श्यामा खड़ी है। सरल भाव से देहार्ध को टेढा करके खड़े रहने की यह स्थिति नृत्य से भी कहीं मनोरम प्रतीत होती है।[२] मालविका के रूप तथा शिल्प की अनुपमता कामुक राजा को इतना उतावला बना देती है कि सर्वान्तःपुर में मालविका को ही अपने स्नेह की अधिकारिणी समझता है।[3] फलतः इरावती की झिड़कियों को सहता हुआ भी बारम्बार मालविका से मिलता है। अन्त में, एक ओर अशोक के फलने से, दूसरे मालविका का एक राजकुमारी के रूप में परिचय प्रकट होने पर दोनों का विवाह हो जाता है।

मालविकाग्निमित्र में राजा का चरित्र धीरोदात्त तथा धीरललित का मिश्रण बन गया है। उसकी धीरोदात्तता उभरी नहीं है। मालविका में उसकी अनुरक्ति इतनी अधिक है कि वह कामुक सा प्रतीत होता है। स्वयं अपने शब्दों में वह दाक्षिण्य कुलव्रत वाला अवश्य है किन्तु मालविकाग्निमित्र में चित्रित राजा का दाक्षिण्य धीरललित का ही दाक्षिण्य हो सकता है, धीरोदात्त का नहीं। नाटक के तृतीय अंक

---

१. **मालविका०** २।४,
२. **वही,** २।६,
३. **वही,** २।१३–१४,

में अशोकविहार करते समय जब राजा स्वयं अभिसार करता है किन्तु बीच में सहसा इरावती भी पहुँच जाती है, तभी एक ओर वकुलकलिका तथा मालविका कहती है– 'महारानी प्रसन्न हों महाराज के प्रेम का हमें अधिकार ही कहाँ है ?" किन्तु दूसरी ओर स्वयं राजा कहता है– "सुन्दरि, मुझे मालविका से कुछ भी प्रयोजन नहीं.....।"[1] ऐसा कथन दाक्षिण्य राजा का न होकर, केवल किसी कामुक का ही हो सकता है । यही नहीं, बल्कि इरावती राजा से कहती है "शठ, तुम विश्वासपात्र नहीं रहे ।"[2] तथा जब वह मेखला मारना तक चाहती है तो राजा उसके पैरों में गिर पड़ता है। इस प्रकार के चरित्र को धीरोदात्त तथा दाक्षिण्य नहीं माना जा सकता ।

मालविका का चरित्र भी नाटक में उभरा नहीं है। वह मुग्धा, तथा भोली-भाली प्रेयसी मात्र दीख पड़ती है। उसके रूप तथा शिल्प का चित्रण अवश्य हुआ है, किन्तु चरित्रगत विशेषताओं की व्यंजना नहीं हो पाई है। तथापि, राजा की अपेक्षा वह अधिक संयत है । उसमें कामुकता का ज्वार नहीं है । चित्र में महाराज को इरावती की ओर देखते हुआ देखकर वह स्वयं कहती है कि "राजा मुझे समदृष्टि (दाक्षिण) नायक नहीं मालूम पड़ते........।"[3] इरावती तथा धारिणी के चरित्र को कीथ विशेष प्रभावशाली मानते हैं ।[4] किन्तु वास्तविकता यह है कि नाटक में इसका चरित्र भी अधिक नहीं उभरा है । धारिणी ज्येष्ठा है । यह महिषी है और अपने स्वरूप के अनुरूप ही गंभीर है । वह राजा को प्रेम करती है किन्तु मालविका तथा राजा के प्रेम-व्यवहार से उसे चिढ़ है । अतएव वह मालविका को स्वामी की दृष्टि से अलग रखती है ।[5] किन्तु वह इतनी उदार-हृदया भी है कि जब उसे मालविका के कौलीन्य का पता चलता है, तब अशोक-दोहद के पूर्ण होने पर दोनों का विवाह कराके 'देवी' पद प्रदान करती है ।[6] इरावती का चरित्र अपेक्षाकृत अधिक उभरा है, किन्तु न उसमें गंभीरता है न उदारता । वह राजा को 'शठ' तक कह देती है और मारने को भी उद्यत हो जाती है । वह सदैव सपत्नीसुलभ ईर्ष्या से क्रुद्ध होकर राजा के पीछे पड़ी रहती है । उसके चरित्र में औद्धत्य तथा तीक्ष्णता है । एक स्थान पर वह राजा से कहती है—"मैं अस्थान पर क्रोध करती हूँ, यह आपका कहना ठीक है ।

---

१. मालविका० ३।१९–२०,
२. वही, ३।२०,
३. वही, ४।८–९,
४. संस्कृत ड्रामा : कीथ : पृ० १५५
५. मालविका० १।३–४,
६. वही, ५।१७–१९,

जब कि हमारा सौभाग्य किसी और को मिल रहा है, यदि इस पर भी क्रोध न करूँगी तो हास्यास्पद बनूँगी।[१] स्त्रीपात्रों में कौशिकी का चरित्र सबसे अधिक गंभीर, उदात्त तथा भावुकता पूर्ण है। किन्तु नाटक में किसी के भी स्वभाव विकास को विशेष अवसर नहीं मिला है। पात्र आदि से अन्त तक एक से हैं।[२] प्रायः सभी पात्र टाइप है, उनमें वैयक्तिकता का अभाव है। यही कारण है कि न तो चरित्रों में विविधता लक्षित होती है, और न चित्रण में मनोवैज्ञानिकता तथा विदग्धता ही।

नाटक में सबसे महत्त्वपूर्ण पात्र विदूषक है। वह हँसोड़, पेटू तथा कामसचिव है, किन्तु इसकी सर्वाधिक विशेषता सूझ-बूझ पूर्ण सामयिक उक्तियों में है। विदूषक के ही चरित्र के माध्यम से समस्त नाटक में हास्यव्यंग्य तथा जीवन का सचार हुआ है। समस्त कथाप्रवाह को यही आगे बढ़ाता है। यही समस्त योजनाओं का आयोजक, तथा उपायदर्शक प्रज्ञाचक्षु है।[३] निःसन्देह समस्त नाट्यविधान इसी के सुनीतिपादन का पुण्य है।[४]

नाटक का मुख्य रस शृंगार है। कालिदास भी शृंगार के महाकवि हैं। इनके समस्त काव्यों में शृंगार रस की धारा ही बही है। स्वाभाविक है कि संस्कृत साहित्य में कालिदास जैसा अन्य कोई शृंगार रस की उद्भावना में पटु नहीं है। किन्तु कालिदास की प्रथम नाट्यकृति मालविकाग्निमित्र में शृंगार की अभिव्यंजना का अद्भुत चमत्कार नहीं दीख पड़ता। समस्त वर्णन बहुत ही सीधे सादे तथा सरल हैं, तथापि शाकुन्तल में शृंगार की जिस मर्यादा, आदर्श तथा सौन्दर्य की प्रतिष्ठा है, उसका समारम्भ विवेच्य नाटक में ही हुआ। उक्त नाटक में राजा रानी का बारम्बार मिलन होता है, किन्तु दुर्वासारूप इरावती शीघ्र आ उपस्थित होती है और जब तक मालविका के कुलशील का परिचय नहीं मिलता, प्रणयव्यापार नहीं बढ़ता है। राजा की कामुकता बारम्बार कुंठित हो जाती है। कालिदास के शृंगार में रूप के लोभी को अवसर नहीं है। यही कारण है कि मालविका का वास्तविक परिचय मिलने पर ही राजा मालविका को देवीपद के योग्य स्वीकार करता है।[५] तभी विवाह होता है और रत्न को स्वर्ण का संयोग मिल जाता

१. मालविका० १।१६–१७,

२. कालिदास : मिराशी, पृ० १५६,

३. वही १।८–६,

४. वही १।६–१०

५. प्रेष्यभावेन नामेयं देवीशब्दक्षमा सती।
स्नानीयवस्त्रक्रियया पत्रोर्णं वोपयुज्यते ॥ ५।१२, वही

है।[1] नाटक में शृंगार के अतिरिक्त वसुलक्ष्मी के स्वभावादि के चित्रण में वात्सल्य भी हे, किन्तु सर्वाधिक रूप से हास्य-व्यंग की ही अभिव्यंजना मार्मिक है। विदूषक की उक्ति-प्रत्युक्ति हास्यव्यंग्य से परिपूर्ण है। जिस कौशिकी का राजा "अध्यात्मविद्या" कहकर सम्मान करता है।[2] उसी का "पीठ मर्दिका कहकर विदूषक परिहास करता है।[3] इसी प्रकार नाट्याचार्यों की उदरंभरि[4] तथा मत्तहस्ति कहकर खिल्ली उड़ाता है। उसे अपने समान पेटू गणदास से ईर्ष्या है।[5] क्योंकि इसका पेट सदैव भट्टी के तवे के समान जलता रहता है।[7] नाटक का विदूषक प्रत्युत्पन्नमति होने के साथ-साथ विपत्ति में काम आने वाला सच्चा मित्र है। उसकी उक्तियाँ सारगर्भित तथा संवादात्मक गुणों से युक्त है। मुहावरेदार चुभते हुए मार्मिक कथनोपकथन में वह सिद्धहस्त है। जब बन्दी मालविका के सम्बन्ध में राजा पूछता है तो वह कहता है—"उसका वही वृत्तान्त है जो बिल्ली के यहाँ फँसी हुई कोकिल का होता है। वह बतलाता है कि उस" बेचारी को पिंगलाक्षी ने गुहा के समान सारभाण्ड घर के तहखाने में डाल दिया है।[8] वह मित्र के साथ-साथ एक सफल अभिनेता भी है। अतएव राजा की कार्य-सिद्धि के लिये सर्पदंश का स्वाभाविक अभिनय भी करता है।

मालविकाग्निमित्र की भाषा में सरसता तथा चुटकीलापन है जो सहसा स्वप्नवासवदत्ता की याद दिला देता है। संवादों की दृष्टि से कालिदास प्रायः मुहावरेदार तथा लोकजीवन से सम्बन्धित छोटे-छोटे वाक्यों के प्रयोग का अभ्यस्त है। उदाहरण के लिए—वकुलावलिका मालविका से कहती है–"रक्त कमल के समान तुम्हारे चरण शोभा पा रहे हैं। तुम महाराज की प्रिया हो–ओ।............" मालविका—सखि, न कहने की बात मत कहो। वकुला०—मैंने कहने योग्य बात ही कही है। मालविका—मैं तुम्हारी प्रिय हूँ। वकुला०—केवल मेरी ही नहीं। मालविका—तो और अब किसकी ? वकुला०—गुणग्राही महाराज की भी।[9]" इसी प्रकार जब राजा मालविका से आलिंगन का अनुरोध करता है तो वह कहती

---

१. मालविका० ५।१८,
२. वही, १।१४,
३. वही, १।१३–१४,
४. वही, १।१५–१६,
५. वही,
६. वही, १।१६–१७,
७. विदूषक– .... इदं विपणि–कन्दुरिव में हृदयाभ्यंतरं दह्यते। २।१३–१७,
८. मालविका० ४।१–२,
९. मालविका० ३।१३–१४,

है—"देवी के भय से अपने मन का मनोरथ भी पूर्ण नहीं कर सकती हूँ। राजा—डरो मत। मालविका—(उपालंभ के साथ) आप नहीं डरते, यह मैं रानी के सामने देख चुकी हूँ।[1]

रंगमंचीयता की दृष्टि से इसकी भाषा उपयुक्त है। पद्यों की संख्या अपेक्षाकृत न्यून है। गद्य पद्य सरल हैं। इसकी सबसे बड़ी विशेषता है कि प्रत्येक अंक में इरावती का प्रवेश कराके प्रणयद्वन्द्व की सृष्टि तथा औत्सुक्यवृत्ति की उद्भावना की है। इसमें अनुचित, अस्वाभाविक तथा अनुपयुक्त घटना आदि नहीं हैं। रंगमंच का ध्यान रखकर ही नाटककार अद्भुत घटनाओं के प्रदर्शन से बचा है।[2]

नाट्यकला की दृष्टि से यद्यपि मालविकाग्निमित्र उच्चकोटि की रचना नहीं है और न इसका संविधान ही विशेष प्रौढ़ तथा कलात्मक है, तथापि इसमें कालिदास की प्रतिभा का सर्वप्रथम सफल उन्मेष हुआ है। सामान्यतः यह एक प्रकार का वर्णन प्रधान नाटक है और यद्यपि यहाँ भावुकता तथा गंभीरता का अभाव है, किन्तु ऐसी सरल कथा में गंभीरता की संभावना नहीं की जा सकती।[3] इसमें मालविका के अभिनय प्रयोग द्वारा न केवल कालिदास के नाट्यज्ञान का प्रदर्शन होता है, अपितु नाटक को भी कलात्मक रूप प्रदान कर दिया है। कालिदास का नाटककार इस नाटक के प्रथम प्रयास में दोषों से बहुत सँभल-सँभल कर चला है। श्री जी. सी. झाला ने लिखा है कि मालविकाग्निमित्र महाकवि कालिदास की प्रारंभिक रचना होने पर भी नाट्य शास्त्रीय नियमों की दृष्टि से इसके कथा-निर्वाह घटना-क्रम, पात्र-योजना आदि सभी में नाटककार के असाधारण कौशल की छाप है।[4] वस्तुतः यह मालविकाग्निमित्र के सृजन का ही परिणाम है कि कालिदास का नाटककार शाकुन्तल जैसी उत्कृष्ट कृति दे सका। इसलिए निःसन्देह कालिदास तथा संस्कृत के नाट्य-साहित्य के लिए मालविकाग्निमित्र का प्रारंभिक कृति के रूप में अत्यधिक महत्त्व है।

भास और कालिदास

कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में अन्य पूर्ववर्ती नाटककारों के साथ भास का उल्लेख भी किया है तथा उन्हें 'प्रथितयशस्' कहा है। इससे स्पष्ट होता है कि इस समय तक भास पर्याप्त यश अर्जित कर चुके थे। अतएव कालिदास ने प्रकारान्तर से उनके प्रति अत्यधिक समादर व्यक्त करते हुए आशंका व्यक्त की

---

१. मालविका० ३।१३–१४,
२. कालिदास: मिराशी, पृ० १४७,
३. कालिदास: रामस्वामी–शास्त्री, पृ० २२९,
४. कालिदास : ए स्टडी : जी. सी. झाला, पृ० १०४,

है कि कहीं विद्वान् लोग उसकी नवीन कृति की उपेक्षा न करें। प्रस्तावना में ही उसने आग्रह करते हुए लिखा है कि प्राचीन होने से ही सभी कुछ श्रेष्ठ नहीं हुआ करता और न नवीन होने से सब काव्य निम्न ही होते हैं। विद्वान् लोग तो परीक्षा के अनन्तर ही उत्तम को ग्रहण करते हैं, दूसरे के विश्वास पर मत बना लेना तो मूर्खों का काम है।[1] इस सब से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि इस नाटक की रचना करते समय कालिदास के सम्मुख भास का कृतित्व ही आदर्श रूप में रहा था। अतएव हम यह मानते हैं कि निश्चित रूप से कालिदास पर भास का प्रभाव पड़ा है। कथावस्तु आदि के प्रभाव का प्रसंगतः उल्लेख कर आये हैं।[2] नाट्यकला पर भी भास का स्पष्ट प्रभाव है। विद्वानों ने स्वीकार किया है कि दोनों नाटककारों में अनेक समानताएँ हैं। यद्यपि कालिदास की नाटकीय प्रतिभा ने भास की वस्तु घटना को लेकर नया रूप, नई स्निग्धता दे दी है तथा अधिक कलात्मकता संक्रान्त कर दी है। किन्तु कालिदास के प्रति भास का ऋण असंदिग्ध है।[3] वैसे तो कालिदास के सभी नाटकों पर भास का प्रभाव पड़ा है, किन्तु मालविकाग्निमित्र के नाट्यविधान पर स्वप्न० का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है।

हमारी तो यह भी मान्यता है कि कालिदास को नाट्यसृजन की प्रेरणा भी भास से, विशेषतः भास के स्वप्न-वासवदत्ता से ही मिली है। निःसन्देह, मालविकाग्निमित्र की रचना का उत्स सहजरूप से भास के प्रसिद्धतम नाटक स्वप्न० में खोजा जा सकता है। श्री मिराशी ने लिखा है कि मालविकाग्निमित्र के कई प्रसंग स्वप्न० से सूझे हुए मालूम होते हैं, तब भी कालिदास के एक कलाभिज्ञ तथा सौन्दर्यान्वेषक होने से इनकी रचनाएँ भास से अधिक निर्दोष तथा रमणीय हैं।[4] भास के स्वप्न० के समान ही कालिदास ने निकट भूतकालीन ऐतिहासिक वृत्त को इस नाटक का आधार बना कर उस के समान ही मालविकाग्निमित्र के आदि तथा अन्त में ऐतिहासिक घटनाओं का प्रक्षेप भी किया है। कालिदास के समय यद्यपि नाट्य-शास्त्र की परम्परा का पर्याप्त प्रचलन भी था और स्वयं कालिदास को नाट्यशास्त्र का अच्छा ज्ञान था, तथापि वह नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्त को भुला कर स्वप्न० के अनुकरण के वश शृंगार प्रधान नाटक के स्थान पर "नाटिका" की रचना कर गये हैं। यह अवश्य है कि अन्य दो कृतियों में कालिदास ने यह दोष नहीं आने दिया है। यही क्यों, मालविकाग्निमित्र में कालिदास उन सभी दोषों से बचे हैं जिनका कि भास में

---

१. मालविका० १।२,
२. देखिये हमारा इसी अध्याय का विवेचन,
३. संस्कृत कविदर्शन, पृ० २४८,
४. कालिदासः मिराशी पृ० १४७,

प्राचुर्य है ।[१] इस प्रकार कालिदास ने भास से प्रेरणा अवश्य ली है तथा रूपविधान में सहायता भी मिली है । तथापि यह कालिदास की मौलिक कृति है । इसकी अपनी विशेषताएँ हैं तथा अपना महत्त्व है ।

परवर्ती नाटक और मालविकाग्निमित्र

निःसन्देह मालविकाग्निमित्र नाटिका जैसी रचना है । इसका मुख्य उद्देश्य अग्निमित्र तथा मालविका की प्रणय-कथा को नाट्यबद्ध करना है । नाटिका के समान यहाँ भी राजा अपनी रानी से छिप-छिप कर मालविका से प्रेम करता है । वह देवीत्रास से शंकित है । अतः इसका नायक धीरोदात्त की अपेक्षा धीरललित अधिक है । समस्त घटनाचक्र अन्तःपुर तथा प्रमदवन में ही घटित होता है । केवल प्रथम तथा पंचम अंक की कुछ घटनाओं का विन्यास तथा पाँच अंकों के नाट्य-विधान के ही कारण यह नाटक कहा जाता है, "अन्यथा यह नाटिका के रूप में ही अभिसृष्ट है । परवर्ती नाटककारों ने इससे अनेक प्रकार से प्रेरणा ग्रहण की है । इसी के अनुकरण पर हर्ष ने रत्नावली प्रियदर्शिका तथा उसके बाद अनेक नाटिकायें रची गयीं । यही क्यों, इसमें मुद्रा का सफल प्रयोग किया है उसी को शाकुन्तल में "अभिज्ञान-मुद्रा" के रूप में प्रयुक्त किया है तथा विशाखदत्त ने भी मुद्राराक्षस में मुद्रा प्रयोग की प्रेरणा यहीं से ली है । इसी प्रकार अन्य नाटककारों के मालविका-ग्निमित्र से अनेक प्रकार से प्रेरणा ग्रहण की है । अतः हम कह सकते हैं कि कालिदास की इस नाट्यकृति का संस्कृत नाट्यसाहित्य पर पर्याप्त ऋण है ।

सांस्कृतिक चित्रण : राजनैतिक चित्र

विदिशा:—मालविकाग्निमित्र में अग्निमित्र का विदिशेश्वर के रूप में उल्लेख किया है । स्पष्ट है कि विदिशा अग्निमित्र की राजधानी थी तथा पाटलिपुत्र पुष्यमित्र की परम्परागत राजधानी थी ।[२] नाटक से ज्ञात होता है कि अग्निमित्र ने वीरसेन को नर्मदा तट पर स्थित सीमावर्ती दुर्ग में नियुक्त किया था ।[३] इससे यह स्पष्ट होता है कि अग्निमित्र की विदिशा की सीमा नर्मदा तक थी । विदिशा राज्य नर्मदा के दक्षिण में था । नर्मदा के स्थान पर कुछ संस्करणों में मन्दाकिनी पाठ है, किन्तु इसका तात्पर्य गंगा से नहीं, अपितु नर्मदा से ही है ।[४] विदिशा प्राचीन समय से ही प्रसिद्ध है । पतंजलि ने भी दशार्ण का उल्लेख किया है । डाक्टर पुरी ने लिखा है कि

---

१. **कालिदास : मिराशी, पृ० १४७,**

२. **अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० २०८,**

३. **मालविका० १।५-६,**

४. **अर्ली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृ० २०९, टिप्पणी,**

इसकी राजधानी वेत्रवती पर स्थित (आधुनिक वेतवा पर) विदिशा ही थी। बाद में यह भिलसा के रूप में प्रसिद्ध हुई।[1] पर स्वतंत्र भारत में पुनः इसका नाम विदिशा हो गया है। नाटक से ज्ञात होता है कि उस समय विदिशा एक प्रमुख आर्थिक व्यवसाय का केन्द्र था। नाटक में वणिकों के पथिकसार्थ के विदिशा जाने का उल्लेख है।[2]

विदर्भ:--विदर्भ के भी बहुत प्राचीन उल्लेख प्राप्त हैं। आधुनिक "बरार" से इसका साम्य माना जाता है। डा० पुरी के अनुसार जैमिनीय उपनिषद् तथा महाभारत आदि में इसका उल्लेख है।[3] महाभारत में इसकी प्राचीन राजधानी वरदा पर स्थित कुंडिन का उल्लेख है। यह एक बहुत बड़ा राज्य था। वरदा नदी इसे दो भागों में विभक्त करती थी। उत्तर की राजधानी अमरावती तथा दक्षिण की प्रतिष्ठान। यह दक्षिण में नर्मदा तक फैला था। नाटक में विदर्भ का राजा यज्ञसेन बतलाया है। अग्निमित्र ने इसे अधिकृत करके दोनों चचेरे भाईयों में वरदा की मध्य-सीमा बनाकर द्वै राज्य के रूप में विभक्त कर दिया था।[4]

सिन्धु—नाटक में सिन्धु का भी उल्लेख है। इस उल्लेख का भौगोलिक महत्त्व विशेष न होकर राजनैतिक महत्त्व ज्यादा है। नाटक के अनुसार वसुमित्र ने अश्वमेध के अश्व की रक्षा करते हुए सिन्धु प्रदेश में पहुँचने पर यवनों के प्रतिरोध करने पर उन्हें सिन्धु के दक्षिण तट पर परास्त किया। सिन्धु के सम्बन्ध में मतभेद है, किन्तु अब प्राय: सिन्धु से पंजाब की नदी का ही अभिप्राय माना जाने लगा है।[5] इन उल्लेखों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास के अनुसार शुंगों का राज्य उत्तरी भारत में सिन्धु से लेकर प्राच्य समुद्र तक फैला था, तथा इसमें विदिशा तक समस्त दशार्ण और विदर्भ भी थे। स्मिथ के अनुसार इसमें बिहार, अवध, तिरहुत, आगरा आदि सम्मिलित थे।[6] संक्षेप में समस्त उत्तर भारत में शुंगों का राज्य था।

शासन व्यवस्था

नाटक से तत्कालीन राज्य-संस्था तथा राजनीति के सम्बन्ध में भी ज्ञान होता है। उस समय राजा अपने राज्य-कार्य के संपादन में पूर्ण सतर्क रहते थे। राज्य

---

१. इंडिया इन दि टाइम ऑफ पंतजलि : डा० पुरी पृ० ८८–८९,
२. मालविका० ५।९–१०,
३. इण्डिया इन दि टाइम ऑफ पंतजलि, पृ० ८४,
४. मालविका० ५।१३–१६,
५. हमारा इसी अध्याय का ऐतिहासिक विवेचन देखिये,
६. अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० २०९,

कार्य में मंत्रियों से भी परामर्श करते थे ।[१] राज्यकार्य के संचालन के लिए अमात्य-परिषद् होती थी ।[२] इसके लिए मंत्रिपरिषद् शब्द का भी प्रयोग हुआ है ।[३] नाटक में सचिव, अमात्य, मंत्री शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त हैं। अर्थशास्त्र में भी परिषद् के सम्बन्ध में विशेष विवेचन हैं, किन्तु नाटक से इस सम्बन्ध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी के प्रति प्राणोत्सर्ग कर देना मंत्री का कर्तव्य था, तभी उसका शरीर सफल माना जाता था ।[४] नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि राजा तथा मंत्री प्रत्येक कार्य प्रायः नीतिशास्त्र के अनुसार करते थे। प्रथम अंक में विदर्भ पर आक्रमण के समय अमात्य शास्त्र के अनुसार ही परामर्श देता है ।[५] नाटक में "नीति" के लिए तंत्र शब्द का प्रयोग हुआ है ।[६]

नाटक से राज्य की सप्तप्रकृति के सम्बन्ध में भी ज्ञान होता है। प्रथम अंक में ही विदर्भ के सम्बन्ध में शास्त्र के अनुसार अमात्य कहता है कि जो (शत्रु) राज्य पर अभी-अभी अधिष्ठित हुआ है, तथा जो प्रकृति पर आरूढ़ नहीं हुआ है उसका नवसंवरोपित शिथिल वृक्ष के समान शीघ्र ही उन्मूलन सुकर होता है। यहाँ प्रकृति शब्द में सप्तप्रकृति की ओर भी निर्देश है। राज्य के सात अंग बतलाए हैं। स्वामी अमात्य, सुहृत, कोष, दुर्ग, राष्ट्र-बल इन्हें प्रकृति भी कहते हैं।[७] राजा को शक्ति-सम्पन्न तथा स्थायित्व प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि वह प्रकृति पर आरूढ़ हो, अर्थात् सभी सप्तांग से युक्त होना राजा को आवश्यक है। इसी उक्ति में नीति के अनुसार यह भी कहा है कि राज्य को अधिकृत करने वाले नवीन राजा को तत्काल अधिकृत कर लेना चाहिए।

राजा के उपर्युक्त सप्तांगों में से नाटक में कुछ अंगों का उल्लेख है। नाटक में सेना[८] तथा सेनापति[९] का उल्लेख है। सेना ही शक्ति की परिमापिका थी, इसी

---

१. मालविका० ४।४।५,
२. वही, ५।१३–१४,
३. वही, ५।१३–१५, में दो बार
४. वही, ५।११–१२,
५. वही, १।७–८,
६. राजा—तेन ह्यवितथं तंत्रकारवचनम् । वही १।८–९,
७. अमात्यः शास्त्रदृष्टमाह देवः—
अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात् ।
नवसंरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् ।। वही १।८,
८. मालविका० ५।१,
९. वही, १।८–९,

से शत्रुओं को दण्ड दिया जाता था। नाटक में कई स्थानों पर इसी का दण्डचक्र के रूप में उल्लेख हुआ है।[1] सीमाओं पर सुरक्षा के लिए दुर्ग होते थे। सीमा-रक्षक अन्तपाल कहलाते थे।[2] वीरसेन की नियुक्ति इसी रूप में नर्मदा तट के दुर्ग में हुई थी। इनके पास पर्याप्त सेना भी होती थी। वीरसेन भी इसी प्रकार का सेनापति था। इस समय राजाओं में साम्राज्यवादी प्रवृत्ति प्रबल थी। यही कारण था कि कि विदिशेश्वर ने विदर्भ को निरस्त किया। चक्रवर्तित्व की अभिलाषा भी अत्यधिक थी। राज्य बढ़ाने तथा अपने प्रताप के विस्तार के लिए अश्वमेध तथा राजसूय यज्ञ किया करते थे। पुष्यमित्र ने भी इसी प्रकार दो अश्वमेध किए थे। एक का नाटक में उल्लेख है। कभी-कभी इसी उद्देश्य की पूर्ति के साथ-साथ अन्य राजाओं को अपना करद बनाकर ही छोड़ दिया जाता था। उस समय द्वैराज्य राज्य-विधान का प्रचलन था। यह अच्छा भी माना जाता था। अग्निमित्र ने विदर्भ को दोनों चचेरे भाईयों में दो राज्यों के रूप में विभक्त कर दिया था। राजा विदर्भ-विजय की उपरांत विदर्भ को दोनों चचेरे भाईयों यज्ञसेन तथा माधवसेन में विभक्त कर देने की आकांक्षा को व्यक्त करता हुआ कहता है कि "वे दोनों वरदा के दक्षिण तथा उत्तर का अलग-अलग शासन करें, जैसे सूर्य-चन्द्रमा दिन-रात का दो भागों में उपभोग करते हैं।[3] मंत्रि-परिषद् भी इसका समर्थन करती हुई कहती है कि दो भागों में विभक्त राज्यलक्ष्मी को प्राप्त करके वे दोनों परस्पर आक्रमण की प्रवृत्ति को भूलकर सदा आपकी आज्ञा में रहेंगे, जैसे दो भागों में विभक्त रथ के भाग को रथाश्व वहन करते हैं तथा एक दूसरे से लड़ झगड़ कर नियंता की आज्ञा में रहते हैं।[4] नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि राजाओं में परस्पर कार्य-विनिमय के लिए अभिसंधियाँ हुआ करती थीं।[5] परस्पर संदेशों का आदान-प्रदान हुआ करता था।[6] इसके लिए दूतों के प्रयोग के अतिरिक्त लेख, प्रतिलेख भी भेजे जाते थे।[7] पड़ौसी राज्यों में युद्ध आदि हुआ करते थे। इन युद्धों में लूटपाट भी होती थी। सेनापति लूटपाट की वस्तुओं को राजा के लिए उपहार स्वरूप भेजते थे। इस दृष्टि से भी नाटक के प्रथम तथा पंचम अंक महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम अंक से वैदर्भ के प्रति-सन्देश से यह ज्ञात

---

१. वहीं, १।७–८, ५।१,
२. वही, १।५–६, ६–७,
३. देखो मालविका० ५।१३,
४. देखो मालविका० ५।१४,
५. मालविका० १।७,
६. वही, १।६–७,
७. वही,

होता है कि उस समय की लेखन-प्रणाली कैसी थी।[१] इसी प्रकार अंतिम अंक में पुष्यमित्र के पत्र-लेख से उस समय की पत्र लेख-प्रणाली का उदाहरण स्पष्ट होता है।[२]

सामाजिक चित्रण

धर्म—कालिदास के नाटकों में वैसे तो प्रस्तावना से धर्म के सम्बन्ध में जानकारी भी मिलती है किन्तु अन्यान्य स्थलों पर भी अनेक ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे तत्कालीन धर्म का बोध होता है। नाटक में वैदिक धर्म की छाप है। शुंग-काल की संस्थापना के साथ ही वैदिक धर्म का पुनः प्रवर्तन हुआ था। पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध किए थे। नाटक में एक अश्वमेध का विस्तार से उल्लेख है, जो कि उसने अपनी वृद्धावस्था में किया था। इसके अतिरिक्त नाटक में परिव्राजिका कौशिकी के साथ धारिणी का वर्णन करते हुए अध्यात्मविद्या से युक्त वेदत्रयी के समान उसकी शोभा बतलाई है।[३] नाटक के इन उल्लेखों से शुंगकाल में ब्राह्मण धर्म की प्रबलता का ज्ञान होता है।

वर्णाश्रम व्यवस्था:—कालिदास के समय वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रचलन का नाटक से ज्ञान होता है। समाज में परम्परागत जाति-प्रथा थी। ब्राह्मणों का स्थान उच्च था। ये विद्वान् होते थे। विशेष प्रयोजन से विद्या-युक्त विद्वान् ब्राह्मणों को महीनों तक नित्य दक्षिणा दी जाती थी। नाटक में वसुमित्र के अश्व के रक्षक के रूप में नियुक्त किये जाने पर उसकी आयु के निमित्त सौ निष्क[४] प्रतिदिन सुवर्ण दान देने का उल्लेख है।[५] सर्वप्रथम किसी कार्य के प्रारम्भ में या शिक्षा आदि के प्रारंभ में ब्राह्मण की पूजा की जाती थी।[६] ब्राह्मण की मृत्यु का निमित्त बनना महान् पाप समझा जाता था।[७] ब्राह्मण अशिक्षित भी होते थे जैसा कि विदूषक के चरित्र से स्पष्ट है। ज्ञान को जीविका के साधन बताने वालों को वणिक् माना जाता था। ब्राह्मण अन्य पेशे भी करते थे। स्वयं पुष्यमित्र ब्राह्मण होते हुए भी सेनापति था।

---

१. मालविका १।६–७,
२. वही, ४।१४–१६,
३. मालविका० १।१४,
४. **एकशत निष्क से ३२० रत्ती का अभिप्राय माना जाता है क्योंकि ८० रत्ती स्वर्ण का एक सुवर्ण और ४ सुवर्ण का एक निष्क होता था "चतुः सौवर्णिको निष्कः विज्ञेयस्तु प्रमाणतः।"**
५. मालविका० पंचम अंक का प्रवेशक,
६. वही, २।९–१०,
७. वही, ४।३–६,

परम्परागत क्षत्रिय तो थे ही, किन्तु वर्ण-संस्कार शूद्र भी क्षत्रिय का कार्य करते थे। वर्णावर वीरसेन भी सेनानायक तथा दुर्गरक्षक था।

स्त्रियों का स्थान समाज में बराबर का था। स्त्रियाँ परमचतुर, मेधाविनी[१] पढ़ी-लिखी होती थी। कौशिकी पंडिता थी। विदुषी स्त्रियाँ प्राश्निक के रूप में निर्णय भी देती थी।[२] ये कला-निपुण भी होती थी।[3] नृत्य-गीत शिल्प आदि में इनकी विशेष योग्यता होती थीं।[४] उनके लिए नृत्य गीत आदि का विशेष प्रबन्ध था। राजपरिवारों में कलानिपुण स्त्रियों को विशेष रूप से संगीत-सहकारिणी के रूप में रखा जाता था। इन्हें शिल्प-कन्या कहते थे।[५] कलानिपुण स्त्रियों का भेंट-रूप में भी आदान-प्रदान होता था।[६] नाटक से ललितकला तथा लोक-कला के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान होता है। स्त्रियाँ कलात्मक ढंग से शृंगार भी करती थीं। पैरों में अलक्तक-रेखाओं द्वारा कलात्मक विन्यास किया जाता है।[७] इस राग-रेखा-विन्यास की प्रसाधन-कला में स्त्रियाँ चतुर होती थीं।[८] स्त्रियाँ आभूषण भी पहनती थीं।[९] करधनी, नुपूर तथा अंगुलीयक शब्द नाटक में प्रयुक्त हैं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंगलालंकारों से अलंकृत रहती थीं।[१०] अलंकारों को पहनाने की भी विशेष कला मानी जाती थी।[११] विवाह आदि के अवसर पर विशेष निपुण स्त्रियाँ ही अलकार पहनाती थीं। विवाह की वेशभूषा अलग होती थी। दुकूल तथा घने सारे अलंकार प्रायः पहने जाते थे।[१२] विवाहित स्त्रियाँ अवगुण्ठन भी करती थीं।[१३] संभवतः विधवा-विवाह नहीं होते थे। विधवा यतिवेश भी धारण कर लेती था।

---

१. मालविकाग्निमित्र० १।१७,
२. वही, १।१५–१६,
३. वही, ५।६–१०,
४. वही, १।३–६,
५. वही, ५।६–१०,
६. वही,
७. मालविका० ३।१०–११,
८. वही, ३।१२–१३ १४–१५,
९. वही, ५।७, १७–१८,
१०. वही, १।१४,
११. वही, ५।३–४,
१२. वही, ५।७, १८–१९,
१३. वही, ५।१८–१९,

कौशिकी परिव्राजिका बन गयी थी। विधवाओं को यह अच्छा माना जाता था। नाटक में कौशिकी द्वारा काषाय धारण कर लेने को सज्जनों का मार्ग कहा है।[१] यहाँ सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि परिव्राजिका का चरित्र कालिदास के समय निर्धारण में भी अप्रत्यक्ष रूप से सहायता देता है।[२]

स्त्री दशा:—स्त्रियों के विवाह प्रौढ़ अवस्था में हुआ करते थे, किन्तु उनके अभिभावक सम्बन्ध पहले ही निश्चित कर लिया करते थे। मालविका का भी प्रतिश्रुत-सम्बन्ध हो चुका था।[३] बहु-विवाह की प्रथा थी। अग्निमित्र की दो रानियों का नाम्ना उल्लेख है। इसके अलावा भी संभवतः उसके अन्तःपुर में अनेक रानियाँ थीं।[४] बहु-विवाह के संदर्भ को लेकर विल्सन ने लिखा है कि तत्कालीन हिन्दू समाज पतनोन्मुख था।[५] किन्तु उनका मत सत्य से परे है। भारत में राजाओं को प्राचीन काल से ही अनेक पत्नी रखने का अधिकार है परन्तु साधारण प्रजा को नहीं। उच्च वर्ग में बहुविवाह भारत की सांस्कृतिक विशेषता है। नाटक में धारिणी के वर्णावर भाई का उल्लेख है। श्री मिराशी ने लिखा है : इस सूक्ष्मतम उल्लेख से स्पष्ट होता है कि कालिदास को अग्निमित्र के समय की सूक्ष्मतम जानकारी थी।[६] उससे यह भी ज्ञात होता है कि तब अनुलोम विवाह भी होते थे। मनु ने इसका विधान किया है।[७] जान पड़ता है कि वीरसेन धारिणी के पिता का शूद्रा या वैश्या से उत्पन्न पुत्र था। स्त्रियाँ सपत्नी का होना बुरा समझती थीं। पति की प्रसन्नता का संपादन करना स्त्रियों का कर्तव्य था। परिव्राजिका कहती है कि "साध्वी ललनाएँ सपत्नियों के होने पर भी पति की सेवापरायण ही रहती हैं।[८] भोजन आदि की व्यवस्था भी स्त्रियाँ ही करती थीं।[९]

क्रिड़ा-विनोद—स्त्रियाँ विनोद-प्रिय होती थीं। स्त्री-पुरुषों में हास-परिहास

---

१. मालविकाग्निमित्र० ५।११–१२,
२. देखिये हमारा "कालिदास का समय" विवेचन,
३. मालविका० १।६–७,
४. वही, २।१४,
५. थियेटर ऑफ हिन्दूज, भाग २, पृ० ३४८,
६. कालिदास : मिराशी, पृ० ९–१०,
७. मनुस्मृति ३।१३,
८. वही, ५।१९,
९. वही, २।१२–१३,

होते रहते थे।[1] क्रीड़ा-विनोद के अतिरिक्त कथा-विनोद भी होते थे।[2] बालिकाएँ कन्दुक से भी खेला करती थीं।

वसन्तोत्सव:—नाटक में वसन्तोत्सव का उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत नाटक का प्रयोग भी वसन्तोत्सव पर हुआ था।[3] नाटक में वसन्तोत्सव का विस्तार से वर्णन है। प्राचीन भारत में वसन्तोत्सव विशेष उत्साह के साथ मनाया जाता था। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह उत्सव दशहरे की विजय यात्रा के पश्चात् लौटे हुए वीरों के स्वागत में मनाया जाता था। इस प्रकार वह इसकी "विजयोत्सव" से समानता करते हैं। कुछ विद्वान् इसे "होलिकोत्सव" भी मानते हैं। वसन्तोत्सव तथा मदनोत्सव का प्राचीन काल से ही संस्कृत साहित्य में उल्लेख है। निःसन्देह होलिकोत्सव वसन्तोत्सव के रूप में ही मनाया जाता है। रत्नावली के वर्णन से उसका बहुत कुछ साम्य बैठता[4] है किन्तु यह वास्तव में मदनोत्सव है। किन्तु मालविकाग्निमित्र का वसन्तोत्सव ऐसा प्रतीत नहीं होता। वास्तविकता यह है कि वसन्तोत्सव के अन्तर्गत ही मदनोत्सव, सुवसन्तक, वकुल तथा अशोक वृक्ष-विहार आदि कई उत्सव आते हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी इनमें मदनोत्सव को ही प्रधान मानते हैं।[5] हमारे नाटक के मध्य में वर्णित वसन्तोत्सव में अशोक के दोहद तथा विहार आदि का वर्णन है। अतः यह भिन्न वसन्तोत्सव है। पारिजात मजरी नाटिका में भी वसन्तोत्सव का वर्णन है।[6] मालविकाग्निमित्र के वसन्तोत्सव से उसका बहुत साम्य है, उसमें हिन्दोलक आदि का भी उल्लेख है। नाटक के अनुसार इसी अवसर पर स्त्री पुरुष दोलारोहण किया करते थे।[7] राजाओं के यहाँ प्रमदवन में विशेष रूप से दोलागृह भी हुआ करते थे।[8] इन उल्लेखों से यह उत्सव श्रावण भाद्रपद में मनाये जाने वाला उत्सव प्रतीत होता है। संस्कृत नाटकों का भी अभिनय वसन्तोत्सव पर होता था। मालविकाग्निमित्र का अभिनय भी वसन्तोत्सव पर हुआ था, किन्तु हम निश्चित् रूप से इस सम्बन्ध में नहीं कह सकते कि यह वसन्तोत्सव कौनसा था जबकि नाटक अभिचीन हुआ।

---

१. मालविका० ३।१२ १३,
२. वही, ४।२–३,
३. प्रस्तावना १।१–२,
४. देखिये रत्नावली का विवेचन इसी प्रबन्ध में,
५. प्रा० भा० के कला विलास पृ० १००,
६. देखिये, पारिजात मंजरी, इस प्रबन्ध में,
७. मालविका० ३।२–३,
८. वही, ३।१२–१३,

शिक्षा:—नाटक मे शिक्षा-व्यवस्था तथा परम्परा के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान होता है। स्त्री-पुरुषों को शिक्षा की पूरी स्वतन्त्रता थी। स्त्रियाँ मुख्यत: ललित कलाओं की शिक्षा ग्रहण करती थी। गुरुजन की तुष्टि के द्वारा ही शिष्य की शिक्षा सफल मानी जाती थीं।[१] अध्यापक भी उत्तम पात्रों की खोज में रहते थे, तथा उत्तम पात्र को दी गयी शिक्षा को ही उत्कर्षाधायक मानते थे। गणदास कहता है "मेघ का जल समुद्र-शुक्ति में पड़कर मुक्ता बन जाता है, वैसे ही उत्तम पात्र में दी गयी शिक्षा उत्कर्ष प्रकट करती है।"[२] शिष्या मालविका की विशेषता के कारण ही गणदास की प्रसंशा हुई थी।[3] अधम शिष्य का चुनाव करना शिक्षक की बुद्धि-हीनता का सूचक माना जाता था। क्योंकि मन्दबुद्धि-शिष्य उपदेश को मलिन ही करता है।[४] आचार्य को शिष्य पर सर्वाधिकार होता था।[५]

शिक्षकों की नियुक्ति वैतनिक होती थी,[६] किन्तु शास्त्र-ज्ञान केवल जीविका का साधन नहीं होता था। जीविका के लिए शास्त्र-ज्ञान करने वाले की विक्रेता बनिया कहकर निन्दा की गयी है।[७] अध्यापक शिक्षाकाल में सतर्क रहते थे। शिक्षण के समय कहीं इधर-उधर नहीं जाते थे।[८] समकक्ष शिक्षकों में परस्पर आक्षेप परिवाद तथा विवाद भी हो जाता था। व्यवहारिकी विद्या का प्रायोगिक रूप से ही शिक्षण—परीक्षण होता था। गणदास ने "सुतीर्थ" से अभिनय-विद्या ग्रहण की थी तथा वह उसी का प्रायोगिक शिक्षण देता था।[९] इस प्रकार अभिनय-विद्या या नाट्यकला उसकी कुलविद्या थी। जब कभी शिक्षकों में विवाद हो जाता था तो शिक्षकों के शास्त्र-ज्ञान तथा प्रयोग-ज्ञान का परीक्षण होता था। इसके लिए तटस्थ विशेषज्ञ प्राश्निक की नियुक्ति होती थी। किसी का भी परीक्षण पक्षपात की संभावना के कारण एकाकी नहीं होता था।[१०] एकाकी व्यक्ति यदि सर्वज्ञ भी होता

---

१. **कृतार्थेदानीं वः शिष्या। यस्यगुरुजन एवं तुष्यति; वही,** १।५–६,

२. **पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः**
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ।। वही, १।६,

३. **वही,** ३।१,

४. **वही,** १।१६–१७,

५. **वही,** १।१६–२०,

६. **वही,** १।१५–१६,

७ **"यस्यागमः केवल जीविकायै, तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति: वही,** १।१७,

८. **वही,** १।१२–१३,

९. **वही,**

१० **वही,**

तब भी उसका निर्णय दोष-युक्त माना जाता था[१], अतः एकाधिक प्राश्निक होना आवश्यक माना जाता था। नाट्यशास्त्र जैसी प्रयोग-प्रधान विद्या का निर्णय प्रायोगिक रूप से ही होता था, वाग्व्यवहार से नहीं।[२] शिष्य की परीक्षा के रूप में ही गुरु की परीक्षा होती थी, गुरु की साक्षात् परीक्षा नहीं होती थी। क्योंकि उस समय यह मान्यता थी कि जिसमें ज्ञान होने के साथ-साथ शिक्षण कला भी होती है वही महान् शिक्षक होता है। परिव्राजिका कहती है कि "किसी को ज्ञान अधिक रहता है और किसी को पढ़ाने की कला में विशेषज्ञता। जिसमें दोनों गुण हों वही शिक्षकों में प्रधान माना जाता है।[३]

चिकित्सा:— चिकित्सा-व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में भी नाटक से ज्ञान होता है। द्वितीय अंक में विदूषक की उक्ति से जान पड़ता है कि उस समय दरिद्र रोगियों को वैद्य लोग बिना मूल्य भी दवा देते थे।[४] अन्यथा औषध का मूल्य पर वितरण होता था। इसी प्रकार अन्यत्र विदूषक की उक्ति से स्पष्ट है कि चिकित्सकों की मान्यता थी कि समय बिताकर भोजन करना हानिकर होता है।[५] उस समय न केवल सामान्य स्वास्थ्य तथा चिकित्सा के सम्बन्ध में लोगों का ज्ञान था, अपितु विष-चिकित्सा तथा शल्य-चिकित्सा का भी लोगों को ज्ञान था। नाटक में सर्पदंश के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख है। नाटक में सर्पदंश होने पर दंशच्छेद को पूर्वकर्म कहा गया है।[६] उसमें लिखा है "दंश-स्थान का छेदन, दाह और रक्तमोक्षण यह सभी उपचार सर्पदंश लोगों के लिए उपाय होते हैं।[७] यह भी मान्यता थी कि कभी-कभी सर्पदंश विष-रहित भी होता है, तथा विष चढ़ने पर शरीर में झनझनाहट सी होती है।[८] नाटक से ज्ञात होता है कि उस समय ध्रुवसिद्धि जैसे सफल विष-चिकित्सक भी थे।[९] नाटक में सर्पमुद्रा के द्वारा "उदकुम्भविधान" नामक सर्प-विष

---

१. मालविका० १।१७–१८,

२. वही, १।१५–१७,

३. श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।
यस्योभयसाधु स शिक्षकाणां धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव। वही १।१६,

४ वही, २–११।१२,

५. वही, २।१२–१:,

६. वही, ४।३–४,

७. छेदो दंशस्य दाहो वा क्षतेर्वा रक्तमोक्षणम्।
एतानि दंष्टमात्राणामायुष्याः प्रतिपत्तयः ॥ ४।४,

८. वही, ४।४–५,

९. वही,

चिकित्सा का उल्लेख है ।[१] उदकुम्भ-विधान के सम्बन्ध में विशेष नाटक से ज्ञात नहीं होता है। भैरवीतंत्र में इसका विशेष वर्णन है ।

ज्योतिष:—ज्योतिष सम्बन्धी कुछ संकेत भी नाटक में उपलब्ध हैं। नाटक में मंगलग्रह के वक्रभाव से राश्यन्तर में आने का उल्लेख है ।[२] कालिदास के समय में ज्योतिष का लोगों को अच्छा ज्ञान था। ज्योतिषियों को दैवचिन्तक कहते थे। ग्रहों के शुभाशुभ में विश्वास किया जाता था ।[३] यह भी मान्यता थी कि पूर्णिमा पर ही राहू चन्द्र-मण्डल को ग्रसता है ।[४] उस समय लोग सिद्धों की भविष्यवाणियों में विश्वास किया करते थे। सिद्धादेश के कारण ही १ संवत्सर मालविका को छिपाकर रखा गया था ।[५]

कामशास्त्र:—इसके सम्बन्ध में भी कुछ संकेत प्राप्त हैं। विदूषक के लिए नाटक में "काम–तंत्र–सचिव" तथा "कार्यान्तर–सचिव" शब्द का प्रयोग हुआ है ।[६]

शिष्टाचार:—इसी प्रकार नाटक में तत्कालीन शिष्टाचार के सम्बन्ध में ज्ञान होता है। नाटक में रिक्तपाणि होकर बड़े लोगों के यहाँ जाना अशिष्टता कहा है। धर्म[७] शास्त्र के अनुसार भी गुरु, राजा आदि पूज्यजनों को रिक्तपाणि देखना वर्जित है।

जनसुरक्षा:—वणिक्जन एक स्थान से दूसरे स्थान आते जाते थे, तथा मार्ग में पड़ाव भी डाल दिया करते थे। ये आयुधों से युक्त होते थे ।[८] तत्कालीन समाज में चोर डाकुओं का भय था। पथिकसार्थ लूट लिए जाते थे। नाटक में जंगल में आटविकों द्वारा पथिकों को लूटे जाने का उल्लेख है ।[९] नाटक से इनकी वेशभूषा का भी ज्ञान होता है। ये लोग तूणीर कोदण्ड आदि से सज्जित होते थे ।[१०] इन्हें

---

१. **मालविका०**
२. **वही**, ३।२२–२३,
३. **वही**, ४।५–६,
४. **वही**, ४।१६,
५. **वही**, ५।१२–१३,
६. **वही**, १।८–९, ४।१७,
७. **वही**, ३।१, ४।२–३,
८. **वही**, ५।१०–११,
९. **वही**, ५।९–१२,
१०. **वही**, ५।१०,

काल स्वरूप बतलाया गया है । संभवतः उस समय चोर भी थे जो सन्धिच्छेद किया करते थे ।[1] नाटक में चोर को कुम्भीलक शब्द प्रयुक्त है ।

वस्तुशिल्प तथा चित्रकला:—नाटक में प्रयुक्त दीर्घिका, गवाक्ष, समुद्रगृह तथा चतु:शाला आदि शब्दों से वस्तुकला के विकास का ज्ञान होता है । विशेष रूप से नाटक में चित्रकला के सम्बन्ध में ज्ञान होता है ।[2] नाटक में चित्रशाला तथा चित्र एवं चित्रप्रतिकृति शब्द का उल्लेख है । नाटक से ज्ञात होता है कि चित्रकला में लोग निपुण हुआ करते थे ।

नाट्यशास्त्र:—कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में अनेकों नाट्य-शास्त्रीय संकेत उपलब्ध होते हैं । कालिदास को नाट्यकला, संगीतकला, नृत्यकला आदि सभी की सूक्ष्म जानकारी थी । नाटक में नाम्ना नाट्यशास्त्र का भी उल्लेख है । कालिदास ने इसे प्रयोग-प्रधान बतलाया है ।[3] कालिदास ने इस नाटक में दो नाट्याचार्यों की भी अवतरणा की है—गणदास तथा हरदत्त । इन दोनों को नाटक में नाट्याचार्य तथा अभिनयाचार्य शब्द प्रयुक्त है । गणदास नाट्यविद्या को अपनी कुलविद्या बतलाता हुआ इसके प्रति सहज आत्मीयता प्रदर्शित करता है । नाटक में नाट्यविद्या के गौरव को व्यक्त करते हुए इसे "चाक्षुषयज्ञ" तथा विभिन्न रुचिवालों का एक मात्र समाराधक कहा है ।[4]

उस समय नाटकों तथा नृत्यादि का प्रदर्शन प्रेक्षागृह में होता था[5] । प्रेक्षागृह में तिरस्करणी (पर्दा) भी प्रयुक्त[6] होती थी । प्रेक्षागृह में दर्शकों को बैठने की भी व्यवस्था होती थी । दर्शकों के लिए नाटक में सामाजिक शब्द प्रयुक्त है ।[7]

नाटक से ज्ञात होता है कि अभिनय आदि का प्रदर्शन संगीतशाला में होता था ।[8] । नाट्याचार्य शिष्य वर्ग को गान, वाद्य, नृत्य आदि की समष्टि रूप संगीत

---

१. मालविका० ३।१९–२०,

२. वही, १।३–४,

३. वही, १।१५–१६,

४. देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्,
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वांगे विभक्तं द्विधा ।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ।। वही, १।४,

५. वही, १ १९–२०,

६. वही, २।१,

७. वही, ६।२१–२२,

८. वही, १।३–४,

की सर्वांगीण शिक्षा देते थे। संगीत तथा नाट्यकला के विभिन्न शास्त्रीय शब्दों का भी नाटक में प्रयोग हुआ है।

संगीतकः—इसका तात्पर्य नाटक से ही है। इसमें नृत्य, वाद्य, गीत तीनों प्रयुक्त होते हैं। संगीतक से संगीत-रचना संभवतः भिन्न होती थी। नाटक में संगीत रचना का पृथक् उल्लेख है।[1] नृत्य या अभिनय से पहिले वाद्य-यन्त्रों के द्वारा जो संगीतारम्भ किया जाता है उसे संगीत-रचना कहते हैं।

छलिकः—इसके सम्बन्ध में कहीं-कहीं चलितं भी पाठ मिलता है। यह एक प्रकार का साभिनय गान होता है। कालिदास ने छलिक को शर्मिष्ठा द्वारा प्रवर्तित "चतुष्पादोत्थ" अत्यन्त कठिन नृत्य कहा है।[2] चतुष्पथ के सम्बन्ध में नाटक में लिखा है कि यह शर्मिष्ठा द्वारा प्रकाशित मध्यमलय समन्वित चतुष्पथ गान है।[3] वास्तव में चतुष्पदी एक गीति विशेष है, जिसे चारों चरणों के उत्थान के साथ गाया जाता है। नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि उपगान के अनन्तर ही चतुष्पद-वस्तु गायी जाती है। तदनन्तर रसानुकूल नृत्य किया जाता है।[4] इसी को छलिक नामक अभिनय नृत्य कहते हैं। शर्मिष्ठा वृषपर्व नामक असुर की कन्या तथा ययाति की पत्नी थी। छलिक उसी की कृति है। इस नृत्य की विशेषता यह है कि इसमें किसी पुरावृत्त की ओर निर्देश करके स्वाभिप्राय का प्रकाशन किया जाता है। नाटक में मालविका ने भी इसी प्रकार प्रदर्शन किया है। यह एक प्रकार से प्रेमी के प्रति स्वांग निर्देश पूर्वक अभिनय-व्याज से सुकुमार प्रार्थना ही होती है।[5] परिव्राजिका के निर्णायक शब्दों से स्पष्ट है कि अंगों द्वारा गेयार्थ इतनी सफाई से प्रकट किया जाता है, मानो अंग बोल रहे हों। चरणन्यास लयानुगत रहता है। रस में तन्मयता रहती है। हाथों द्वारा दिया गया ताल अभिनय की कोमलता बढ़ाता है। एक भाव दूसरे भाव को प्रेरित करता है और इस प्रकार राग की एकतारता बँधी रहती है।[6]

---

१. मालविका० १।१९–२०,

२. शर्मिष्ठायाः कृतिं चतुष्पादोत्थं छलिकं दुष्प्रयोज्यमुदाहरन्ति। वही १।१९–२०,

३. शर्मिष्ठायाः कृतिर्लयमध्या चतुष्पदास्ति। वही २।१,

४ वही, २।३–४,

५. वही २।५,

६ अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः पादन्यासो लयमुपगतस्तन्मयत्वं रसेषु। शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ, भावो भावं नुदति विषयाद्रागबन्धः स एव॥ वही, २।८,

भाविक नृत्य[1]—भाविक भी एक नृत्य-विधा है। भाविक नृत्य उसे कहते हैं जिसमें अधिकांश में आंगिक अभिनय होता है, वाक्-प्रयोग स्वल्प मात्र होता है तथा भावपूर्ण पदार्थाभिव्यक्ति होती है।

पचांगाभिनय[2]—पंचाग-अभिनय के सम्बन्ध में संगीत रत्नाकार में नत, कंवार मर्मर, गागर, गीत नामक ५ अंगों का उल्लेख किया है। कुछ विद्वान् चित्त, अक्षि, भ्रू, हस्त, पाद इन अंगों की चेष्टा द्वारा अवस्थानुकरण को पंचागाभिनय कहते हैं।

सर्वांग सौष्ठव[3]—नाटक में अभिनय या नृत्य प्रदर्शन के लिए सर्वांग सौष्ठव आवश्यक बतलाया गया है। यहाँ सर्वांग सौष्ठव का अभिप्राय यही है कि नृत्य करते समय अंग प्रत्यग से सहज ही भावाभिव्यक्ति हो सके, इसलिए प्रत्येक अंग को सुदृढ़ पुष्ट तथा उभरा होना आवश्यक होता है। नाटक में भी इस अंग-सौष्ठव की परीक्षा के बिना कृत्रिम वेश-भूषा के द्वारा नृत्य प्रदर्शन का निर्देश किया गया है।[4]

पुष्कर आदि वाद्य:—इसके अलावा नाटक में मृदंग, पुष्कर वाद्य, आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[5] इसमें मृदग तया मुरज प्रसिद्ध हैं। पुष्कर वाद्य एक विशेष प्रकार का भारतीय वाद्य यन्त्र है।

मायूरी—यह पुष्कर वाद्य की ही एक मार्जना होती है अर्थात् पुष्कर वाद्य का यह शब्द विशेष है जो कि हाथ की थाप के साथ गम्भीर स्वर से किया जाता है। पुष्कर में तीन मार्जना होती हैं। मायूरी, अर्धमायूरी तथा कार्मारी। मायूरी मध्यमस्वरोत्था होती हैं।[6] यह मयूरों को प्रिय होने से मायूरी कहलाती है। स्वर सात प्रसिद्ध हैं। षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद। माना जाता है कि ये सभी स्वर सरस्वती की वीणा से उत्पन्न हुए हैं। इसी प्रकार लय तथा शाखा शब्द का नाटक में प्रयोग है। लय तालवर्ती काल को कहते हैं। शाखा नृत्य करते समय हस्तसंचालन को प्रयुक्त है। स्पष्ट है कि मालविकाग्निमित्र में अनेक नाट्यशास्त्रीय शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनसे कालिदास के नाट्यशास्त्रीय ज्ञान तथा कालिदास के समय में नाट्य-शास्त्र के प्रचलन तथा लोकप्रियता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

---

१. मालविका० १।१७,
२. वही, १।६–७,
३. वही, १।१५–१६, १९–२०,
४. वही १।१९–२०,
५. वही, १।२१–२२,
६. वही, १।२१,

मालविकाग्निमित्र के सांस्कृतिक स्वरूप का संक्षिप्त सर्वेक्षण करने से यह निश्चय हो जाता है कि कालिदास के दोनों नाटकों की अपेक्षा इसमें सांस्कृतिक सम्पत्ति की मात्रा प्रचुर है। और इस सांस्कृतिक सम्पत्ति के विनियोग से न केवल नाटक का कलात्मक महत्त्व बढ़ा है, अपितु ऐतिहासिक वातावरण के निर्माण में तथा सांस्कृतिक चित्राभिव्यक्ति में भी अधिक सफलता मिली है। इस दृष्टि से निःसन्देह इस नाटक का कालिदास के अन्य नाटकों में अत्यधिक महत्त्व है।

७

मृच्छकटिक

संस्कृत-नाट्यसाहित्य में मृच्छकटिक अपने प्रकार की एक अन्यतम लोकप्रिय कृति है। किन्तु मृच्छकटिक की लोकप्रियता केवल इसकी नाट्यकला की सफलता के कारण ही नहीं है, अपितु समाज एवं संस्कृति का यथार्थ चित्रण तथा प्रणयकथा एवं ऐतिहासिक घटना का कलात्मक विनियोग भी इसके लोकप्रिय होने का प्रमुख कारण है। एक ओर यह प्रणयप्रधान प्रकरण होने के कारण सुमधुर सरस श्रृंगार-रस का आस्वाद कराता हुआ, तत्कालीन समाज का यथार्थ सजीव अंकन करता है, वहाँ दूसरी ओर राजनैतिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप का प्रांजल प्रति-बिम्बन भी। यही कारण है कि मृच्छकटिक अन्य नाटकों की अपेक्षा महत्व रखता है।

मृच्छकटिक : संस्कृति-प्रधान ऐतिहासिक नाटक

यद्यपि, सामान्यतया मृच्छकटिक का सर्वाधिक महत्व एकमात्र सफल सामाजिक नाट्यकृति होने के कारण ही माना जाता है, किन्तु हम सस्कृत के ऐतिहासिक नाटक के रूप में भी मृच्छकटिक को महत्वपूर्ण मानते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मृच्छकटिक सफल सामाजिक नाटक है, किन्तु सामाजिक नाटक के रूप में सफलता का प्रमुख कारण आनुषंगिक रूप में संश्लिष्ट इसकी ऐतिहासिक घटना (कथा) भी है। यदि मृच्छकटिक से ऐतिहासिक घटना को निकाल दिया जाय तो निश्चित है कि मृच्छकटिक का सामाजिक तथा सांस्कृतिक पक्ष निर्जीव निरर्थक तथा कान्तिहीन हो जायगा, और यह केवल प्रणयप्रधान नाटक ही कहलाने लगेगा। अतः हम यह मानते हैं कि मृच्छकटिक की सामाजिक यथार्थता का प्रमुख कारण इसकी ऐतिहासिक घटना है।

इसके अतिरिक्त समाज तथा संस्कृति इतिहास का प्रमुख अङ्ग है। समाज तथा संस्कृति में (प्रच्छन्न रूप से) इतिहास अवश्य रहता है। इतिहास के बिना न संस्कृति सर्वांगीण रूप से अभिव्यक्त होती है, और न संस्कृति के बिना वास्तविक

इतिहास। संस्कृति तथा समाज इतिहास के चोखटे में जड़ जाने पर ही अपनी सवित्ति तथा रूपमाधुरी का यथार्थ प्रदर्शन करते हैं। इसी प्रकार इतिहास, संस्कृति तथा समाज से संपृक्त होने पर ही अपने स्वरूप का वास्तविक प्रतिबिम्बन करता है। वास्तव में इतिहास यदि शरीर है, तो संस्कृति उसका प्राण; इतिहास यदि भाषा है तो संस्कृति उसकी वाणी; और इतिहास यदि दर्पण है तो संस्कृति उसमें प्रतिबिम्बन होने वाला रूप। संस्कृति के बिना इतिहास न प्राणवान् इतिहास बन सकता है, न इतिहास की भाषा को वाणी मिल सकती है और न इतिहास के दर्पण में संस्कृति के सजीव रूप का प्रतिबिम्बन ही हो सकता है। वस्तुतः इतिहास, समाज तथा संस्कृति परस्पर सापेक्ष्य है, इनके परस्पर संश्लिष्ट होने पर ही सम्पूर्ण रूप में इतिहास आविर्भूत होता है। और ऐतिहासिकता मुखर हो उठती है। अतएव हमारी मान्यता है कि मृच्छकटिक में, ऐतिहासिक घटना के आनुषंगिक रूप से उपनिबद्ध होने तथा सांस्कृतिक एवं सामाजिक चित्रण से सापेक्ष्य होने के कारण ही ऐतिहासिकता अभिव्यक्त हुई है। मृच्छकटिक में प्रासंगिक कथा ऐतिहासिक होने के साथ-साथ नाटक में वर्णित सामाजिक तथा सांस्कृतिक चित्रण अधिकांश में ऐतिहासिक कथा से अभिभूत तथा संपृक्त होने के कारण मृच्छकटिक का ऐतिहासिक नाटक के रूप में समधिक महत्व है। यही कारण है कि हम मृच्छकटिक का ऐतिहासिक नाटकों के अध्ययन-क्रम में रखना आवश्यक समझते हैं। मृच्छकटिक के अध्ययन के प्रसंग में नाटक की ऐतिहासिक घटना तथा सामान्यतः सांस्कृतिक सम्पत्ति का अध्ययन ही हमारा मुख्य उद्देश्य होगा। तथापि प्रसगवश शूद्रक की ऐतिहासिकता अनैतिहासिकता का भी संक्षिप्त विश्लेषण करते हुए किसी निश्चित सूत्र को पकड़ने की चेष्टा करेंगे तथा कथानक के स्रोत के अनुसन्धान के प्रसङ्ग में कुछ अभिनव तथ्यों की समुपलब्धि का प्रयास भी।

मृच्छकटिक का रचयिता

सामान्यतः प्राचीन समय से परम्परा के रूप में यह मान्यता चली आ रही है कि मृच्छकटिक शूद्रक की रचना है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में भी शूद्रक को नाटक का कर्त्ता लिखा है। प्रस्तावना में शूद्रक के व्यक्तित्व पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखा है कि इस (नाटक) की रचना द्विजमुख्यतम कवि शूद्रक ने की थी।[1] वह ऋग्वेद, सामवेद, गणित, हस्तशिक्षा आदि विद्याओं और कलाओं में निपुण था, शिवजी की कृपा से ज्ञान प्राप्त करके तथा अपने पुत्र को राजा बनाकर वह

---

१. **मृच्छकटिक १।३,**

११० वर्ष की आयु में अग्नि में प्रविष्ट हो गया।[1] उसी में आगे लिखा है कि वह समर–व्यसनी प्रमादशून्य, वेदज्ञ एवं तपोधनों में श्रेष्ठ, हाथियों के साथ बाहुयुद्ध का इच्छुक राजा था।[2] उसी ने उज्जयनी के सार्थवाह दरिद्रचारूदत्त तथा वसन्तसेना की प्रणयगाथा को लेकर इस प्रकरण की रचना की है।[3] इस प्रस्तावना में लेखक की अन्य वैयक्तिक विशेषताओं के साथ रचयिता को नाम्ना शूद्रक तथा क्षितिपाल कहा है। इससे प्रकट है कि मृछकटिक का रचयिता शूद्रक राजा था। किन्तु प्रस्तावना में यह उल्लेख नहीं है कि शूद्रक कहां का राजा था, कब हुआ था? बल्कि ठीक इसके विपरीत अग्नि-प्रवेश आदि सुदूर की घटनाओं का उल्लेख किया है। यही कारण है कि कुछ अनुसन्धित्सु विद्वानों को शूद्रक की ऐतिहासिकता में सन्देह हुआ है, तथा अधिकांश विद्वानों ने परस्पर विपरीत एवं आत्म-प्रशंसा-पूर्ण अस्वाभाविक उल्लेखों के कारण प्रस्तावना के इन श्लोकों को प्रक्षिप्त तथा अविश्वस्त माना है। और प्रस्तावना के सम्बन्ध में यही अविश्वास तथा सन्देह मृच्छकटिक के कर्तृत्व के विषय में एक समस्या बन गई है।

शूद्रक का व्यक्तित्व संस्कृत साहित्य में साहित्यिक तथा राजा के रूप में अपरिचित नहीं है। विक्रमादित्य के समान ही शूद्रक से सम्बन्धित अनेक प्रकार की कथाओं का संस्कृत साहित्य में उल्लेख है। कादम्बरी, कथासरित्सागर, वैतालपंचविंशति, हर्षचरित्र आदि में शूद्रक से सम्बन्धित अनेक प्रकार की कथाएँ पाई जाती हैं। अनेक कथाओं में लोक कथाओं के रोमांटिक व्यक्तित्व के रूप में भी शूद्रक चित्रित है। यही कारण है कि कुछ विद्वान् शूद्रक की ऐतिहासिकता की थाह पाने में असमर्थ होने के कारण प्रस्तावना को प्रक्षिप्त तथा अविश्वस्त कह कर शूद्रक के कर्तृत्व में सन्देह करते हैं। इन विद्वानों ने लेखक के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत दिये हैं। डा० पिशेल ने मृच्छकटिक का कर्ता शूद्रक को न मान कर दण्डी को माना है।[4] मैकडॉनल ने भी इसी मत का समर्थन किया है,[5] तथा श्री करमरकर ने काव्यादर्श तथा मृच्छकटिक में प्राप्त विभिन्न समानताओं के आधार पर इस मत को पुनर्जीवित किया है,[6] किन्तु यह मान्यता भी सर्वथा निःसार है। डा० सिलवाँलेवी भी शूद्रक

---

१. मृच्छकटिक १।४,
२. वही, १।५,
३. वही, १।६,
४. मृच्छकटिक : इन्ट्रोडक्शन : एम० आर० काले० पृ० १७,
५. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर : मैकडानल : पृ० ३६१,
६. न्यू एण्टिक्विरी वाल्यूम २ नं० २ पृ० ७०–८५,

को मृच्छकटिक का कर्त्ता स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मतानुसार मृच्छकटिक के किसी लेखक ने अपनी कृति को प्राचीनता देने के लिए ही शूद्रक के नाम से चला दिया है।[1] ए० बी० कीथ भी शूद्रक को मृच्छकटिक का रचयिता नहीं मानते हैं। कीथ शूद्रक को ऐतिहासिक व्यक्ति न मानकर कल्पित (लिजेन्ड्री परसन) व्यक्ति मानते हैं।[2] इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों ने भी मृच्छकटिक को शूद्रक की कृति स्वीकार नहीं किया है। इनमें मृच्छकटिक के अमेरिकन अनुवादक ओलिवर तथा नेरूरकर आदि विद्वान् प्रमुख हैं किन्तु इस प्रकार के सभी मत अर्वाचीन शोध के पश्चात् व्यर्थ हो गये हैं।[3]

दूसरे, कुछ ऐसे भी विद्वान् हैं जो शूद्रक को ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार करते हैं। कर्नल वाइल्ड फोर्ड ने पुराणों की वंश परम्परा, विशेषतः स्कन्दपुराण के कुमारिका खण्ड के आधार पर शूद्रक का अस्तित्व १९० ई० में माना है।[4] कुछ अन्य विद्वान् आन्ध्रवंश के प्रथम राजा सिमुक (सिशुक, सिप्रक आदि) से शूद्रक को अभिन्न मानते हैं। डा० स्मिथ आदि इतिहासकार इस सिमुक का समय २४० ई० पू० के लगभग मानते हैं। अतः इनके अनुसार शूद्रक तृतीय सदी ई० पू० में ठहरता है।[5] स्टेनकोनो मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक का साम्य आभीरवंश के राजा शिवदत्त (सन् २४९ ई०) से मानते हैं।[6] श्री चन्द्रवली पांडेय अनेक पौराणिक तथा साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि से शूद्रक को अभिन्न मानते हैं।[7] इसी प्रकार कुछ अग्निमित्र के साथ शूद्रक का साम्य मानते हैं।[8]

---

१. संस्कृत ड्रामा पृ० १३०,

२. वही, पृ० १२९–३०,

३. देखो, इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आफ मृच्छ० पृ० २,

४. मृच्छ० बी० जी परांजपे. पृ० ७,

५. वही, किन्तु रायचौधरी तथा त्रिपाठी आदि ई० पू० प्रथम शतक में आन्ध्रों का प्रारम्भ मानते हैं देखो प्रा० भा० इति० पृ० १४६,

६. वही, पृ० ८ तथा ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर० दासगुप्ता, वाल्यूम १, पृ० २४०,

७. शूद्रकः चन्द्रवली पांडेय, पृ० १–३८,

८. "शूद्रकस्त्वग्निमित्राख्यो हालः स्यात सालवाहनः।"
अमरकोश की क्षीर स्वामी की नामलिंगानुशासन की टीका,
त्रिवेन्द्रम् संस्करण. २।८।१, देखो भारतवर्ष का बृहद इतिहास, पृ० २७९ तथा २९२,

उपर्युक्त विद्वान् शूद्रक को ऐतिहासिक भी मानते हैं तथा मृच्छकटिक का लेखक भी स्वीकार करते हैं। किन्तु ये मत व्यक्तिगत मान्यता तक ही सीमित हैं। व्यापक रूप से इनको समर्थन नहीं मिला है।

अर्वाचीन समालोचकों ने उपर्युक्त मतों से प्रभावित होकर ही अपने-अपने मत स्थापित किये हैं। एक प्रचलित धारणा यह है कि शूद्रक ऐतिहासिक व्यक्ति अवश्य है, किन्तु मृच्छकटिक की प्रस्तावना में उल्लिखित शूद्रक कल्पित है। मृच्छकटिक का कर्त्ता शूद्रक नहीं है, अपितु भास के चारुदत्त को अपूर्ण देखकर किसी ने संपूर्णता देते हुए मृच्छकटिक के रूप में अभिसृष्ट कर दिया है। दूसरे, कुछ विद्वानों की धारणा यह है कि शूद्रक ऐतिहासिक अवश्य है तथा मृच्छकटिक भी किसी शूद्रक की ही रचना है। किन्तु शूद्रक की ऐतिहासिकता के द्वारा शूद्रक के कृतित्व का निश्चित समय स्थापित करना कठिन है। ये विद्वान केवल परम्परा का अनुसरण करते हैं, इनके मौलिक तर्क नहीं हैं।

हमारी मान्यता यह है कि निश्चित रूप से शूद्रक ही मृच्छकटिक का रचयिता है। यद्यपि हम प्रस्तावना को शूद्रक की रचना स्वीकार नहीं करते, किन्तु प्रस्तावना के उल्लेखों को सार्थक तथा महत्त्वपूर्ण मानते हैं। निःसन्देह मृच्छकटिक की प्रस्तावना में बहुत स्वारस्य है। प्रस्तावना के लेखक ने मृच्छकटिक के लेखक के सम्बन्ध में अवश्यमेव किसी निश्चयात्मक ज्ञान के आधार पर ही उल्लेख किया होगा, अतः प्रस्तावना की उपेक्षा करके किसी तथ्य का अन्वेषण सर्वथा असंगत प्रतीत होता है।

प्रस्तावना में शूद्रक के सम्बन्ध में मुख्यतः दो बातों का उल्लेख है--(१) शूद्रक एक विख्यात, विद्वान्, बलशाली राजा हुआ है, (२) उस कवि शूद्रक ने ही मृच्छकटिक की रचना की है। अतः यह देखना आवश्यक है कि विशाल संस्कृत वाङ्मय में किसी कवि तथा साहित्यकार राजा शूद्रक का उल्लेख हैं या नहीं, यदि कोई उल्लेख है, तो शूद्रक को मृच्छकटिक का रचयिता माना जा सकेगा, अन्यथा नहीं।

संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में शूद्रक से संबन्धित घटनाओं का उल्लेख[१] है। यदि कथासरित्सागर, बैतालपंचविंशति, तथा अन्य अनुपलब्ध ग्रन्थ शूद्रकवध, शूद्रककथा, विक्रान्त शूद्रक, शूद्रक चरित, विनयवती शूद्रक आदि को कल्पित तथा अविश्वस्त भी मानलें, तब भी कुछ अन्य ऐसे ग्रन्थों में शूद्रक का उल्लेख है जिनको सहसा अविश्वस्त या कल्पित नहीं माना जा सकता। राजशेखर ने शूद्रक का साहित्य-

---

१. देखिये, भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भगवद्दत, प्रथम भाग, पृ० २७६-३०५,

प्रेमी राजा के रूप में उल्लेख किया है, इसी की सभा में शामिल सौमिल थे, जिन्होंने शूद्रकथा की रचना की थी। राजतरंगिणी में विक्रमादित्य के साथ-साथ शूद्रक से सम्बन्धित घटना का उल्लेख हुआ है। दण्डी ने भी अवन्तिसुन्दरी के प्रारम्भ में शूद्रक का राजा तथा साहित्यकार के रूप में उल्लेख किया है। इनके भी अतिरिक्त वामन ने काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में शूद्रक रचित प्रबन्धों का निर्देश किया है। रामचंद्र गुणचन्द्र ने स्पष्टः मृच्छकटिक को शूद्रक की रचना के रूप में स्मरण किया है। इनके अतिरिक्त स्कन्दपुराण, सुमतितन्त्र, कृष्ण चरित आदि अनेक ग्रन्थों में शूद्रक का राजा तथा साहित्यकार के रूप में उल्लेख है।[1] इन सभी उल्लेखों से यह प्रकट हो जाता है कि संस्कृत साहित्य में कोई शूद्रक नाम का राजा साहित्यकार अवश्य हुआ है तथा वामन और रामचन्द्र गुणचन्द्र के समय तक मृच्छकटिक के कर्ता के रूप में शूद्रक सुविदित था। उपर्युक्त सभी साहित्यिक तथा आनुश्रुतिक साक्ष्यों द्वारा पूर्वोक्त प्रस्तावना के उल्लेख सत्य प्रमाणित होते हैं, तथा यह भी प्रमाणित होता है कि मृच्छकटिक के कर्तृत्व का श्रेय शूद्रक को देने के सम्बन्ध में प्रचलित भारतीय परम्परा असंगत नहीं है। अतः कोई कारण नहीं कि प्रस्तावना को अविश्वस्त तथा प्रक्षिप्त मानकर शूद्रक को मृच्छकटिक का कर्ता न माना जाय। निःसन्देह प्रस्तावना का अनुसरण करते हुए उपर्युक्त बाह्य साक्ष्यों के आधार पर शूद्रक को ही मृच्छकटिक का रचयिता स्वीकार करना उचित है।

किन्तु, शूद्रक को मृच्छकटिक का कर्ता स्वीकार कर लेने पर प्रस्तावना के सन्देहोत्पादक उल्लेखों तथा शूद्रक के समय आदि से सम्बन्धित प्रश्नों का समाधान कर पाना अत्यन्त कठिन है। हमारी कठिनाई का सबसे बड़ा कारण यह है कि शूद्रक की लोकप्रियता ने विक्रमादित्य तथा उदयन के समान उसे दन्तकथाओं का रोमांटिक पात्र बना दिया है, जो कि सर्वतः कल्पित प्रतीत होता है। अतः मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक का समय निर्धारित करना एक समस्या है। इसके अतिरिक्त प्रस्तावना में भी शूद्रक के जन्म-स्थान, वंश, समय आदि का कोई उल्लेख नहीं है, बल्कि ११० वर्ष की उम्र में अग्निप्रवेश का उल्लेख करके प्रस्तावना को सन्देहास्पद बना दिया गया है। किन्तु मृच्छकटिक की इस सभी समस्या को सुलझाने के लिये हमारी अपनी विशेष मान्यता है :

"हमारी मान्यता है कि वस्तुतः मृच्छकटिक किसी प्राचीन कवि शूद्रक की रचना थी। कालान्तर में मृच्छकटिक के एकाधिक संस्करण हुए। इनके कुछ

---

१. **श्री शूद्रकविरचितायां मृच्छटिकायां "............"शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु का० सू० वृत्ति ३।२४, तथा का० सू० वृत्ति ५।१३ और ४।३।२३ में नाटक १।६, २।६, उद्धृत है।**

संस्करण साहित्यिक थे, जिनमें साहित्यिक स्वरूप को अविच्छिन्न रखा गया तथा रचयिता के कृतित्व से प्रभावित होकर श्रद्धा-भावना के कारण कुछ अतिरंजनात्मक रूप से प्रस्तावना में लेखक का परिचय दे दिया गया। कुछ ऐसे भी संस्करण हुए जिनमें रंगमंचीयता के उपयुक्त अपने विशेष दृष्टिकोण के अनुसार अधिकांश भाग को छोड़ कर संक्षिप्त रूप में ही संपादित किया गया। इनके सम्पादक ने संक्षिप्त कथानक के अनुसार रंगमंचीय संस्करण का नाम भी दूसरा रखा तथा लेखक तक का नाम देना उचित न समझा। आजकल हमें दोनों संस्करण अवश्य प्राप्त हैं, किन्तु शूद्रक की मूलकृति उपलब्ध नहीं है। प्राप्त मृच्छकटिक शूद्रक रचित मृच्छकटिक का साहित्यिक संस्करण है, तथा चारुदत्त रंगमंचीय संक्षिप्त संस्करण।"

उपर्युक्त मान्यता के अनुसार हम यह अवश्य स्वीकार करते हैं कि प्रस्तावना मूलतः शूद्रक की रचना नहीं है। किन्तु, वह निराधार तथा अविश्वस्त भी नहीं है। हमारा अनुमान है कि शूद्रक के कृतित्व तथा व्यक्तित्व से सुपरिचित व्यक्ति ने ही संस्कृत नाटकों में नाटककारों के परिचय न देने की परम्परा से क्षुब्ध होकर नाटक के साथ नाटककार को अमर करने के प्रयास में ही शूद्रक का परिचय निबद्ध किया है। प्रस्तावना में "एतत्कविः किल" "अस्यांच कृतौ" के रूप में परिचय देने से स्पष्ट है कि यह मूलकवि की नहीं, अपितु किसी सम्पादक की प्रस्तावना है। इसके अतिरिक्त "चकार" "बभूव" क्रियापदों द्वारा मृच्छकटिक को भूतकालीन रचना तथा शूद्रक के भूतकालीन अस्तित्व का ही ज्ञान होता है। अतएव हमें प्रस्ताबाना में उल्लिखित अग्निप्रवेश तथा आत्मप्रशंसा से युक्त अन्य उल्लेखों के आधार पर प्रस्तावना को प्रक्षिप्त मानकर भी अविश्वस्त नहीं मानना उचित नहीं प्रतीत होता। और यही कारण है कि हम शूद्रक को ऐतिहासिक मानकर आन्ध्र वंशी सिमुक से साम्य मानना उचित समझते हैं।

कुछ विद्वानों के अनुसार प्रस्तावना में अन्य उल्लेखों के साथ-साथ शूद्रक के वंश तथा देश का उल्लेख नहीं किया है। इससे प्रकट होता है कि प्रस्तावना का लेखक शूद्रक से वस्तुतः अनभिज्ञ था। अतएव वह प्रस्तावना को अविश्वस्त मानते हैं। किन्तु यह मत पूर्णतः भ्रान्त है। यह आवश्यक नहीं है कि सम्पादक प्रस्तावना में लेखक से सम्बन्धित प्रत्येक बात का या हम जिसे आवश्यक समझते हैं उसका उल्लेख करता। संस्कर्ता को लेखक के सम्बन्ध में जैसा भी ज्ञान था, तथा उसने जिस रूप में भी परिचय देना उचित समझा, उसी प्रकार श्लोकबद्ध कर दिया है। परम्पराप्राप्त तथ्यों में भी सत्यता अवश्य होती है। अतः जिस रूप में प्रस्तावना में परिचय दिया गया है उसके आधार पर मूलतः शूद्रक को ही मृच्छकटिक का रचयिता स्वीकार करना सर्वथा उचित है।

मृच्छकटिक का रचनाकाल

मृच्छकटिक के लेखक शूद्रक की तिथि निर्धारित करना कठिन है। हम यह मानते हैं कि शूद्रक की मूल कृति उपलब्ध नहीं है, बाद का संस्करण ही उपलब्ध है। अतः हम शूद्रक के समय निर्धारण के लिए प्राप्त मृच्छकटिक को अन्तः साक्ष्य के रूप में उपयोग करना उचित नहीं समझते हैं। उपलब्ध मृच्छकटिक के द्वारा उपलब्ध मृच्छकटिक का ही समय निर्धारित किया जा सकता है न कि किसी पूर्व संस्करण या उसके रचयिता का। यद्यपि कुछ विद्वानों ने उपलब्ध संस्करण में अन्तः साक्ष्य तथा बाह्य साक्ष्यों के आधार पर आनुमानिक रूप से ई० पू० द्वितीय तथा तृतीय शतक से लेकर ई० के षष्ठ सप्तम शतक के मध्य में भिन्न-भिन्न समय निश्चित किये हैं,[1] किन्तु हम इस तिथि निर्धारण को उचित नहीं मानते हैं। शूद्रक के तिथि-निर्धारण में न तो प्रस्तुत संस्करण के अन्तः साक्ष्यों का उपयोग उचित है, और न निरपेक्ष रूप से बाह्य साक्ष्यों का आनुमानिक उपयोग ही। अतएव हम (मृच्छकटिक को मूलतः शूद्रक की रचना स्वीकार करने पर भी) उपलब्ध मृच्छकटिक को एक परवर्ती संस्करण मानने के कारण मृच्छकटिक के आधार पर शूद्रक का समय निर्धारित न कर के मृच्छकटिक का ही समय निर्धारित करना उचित समझते हैं।

मृच्छकटिक का रचनाकाल निर्धारित करने के लिए, यद्यपि हम बाह्य साक्ष्य तथा अन्तः साक्ष्य का आश्रय लेंगे। तथापि मृच्छकटिक के रचनाकाल का प्रमुख नियामक अन्तःसाक्ष्य ही है। अतएव प्रस्तुत प्रसंग में हम अन्तःसाक्ष्य के रूप में विशेष महत्त्वपूर्ण तथ्यों का ही उल्लेख करेंगे। किन्तु अधिक विस्तार से सामाजिक तथा सांस्कृतिक पर्यवेक्षण के प्रसंग में ही यथावसार निर्देश किया जाना संभव तथा उचित होगा।

बाह्य साक्ष्य

संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों में शूद्रक तथा मृच्छकटिक का उल्लेख है। अनेक ग्रन्थों में मृच्छकटिक के उद्धरण प्राप्त हैं। किन्तु अंतिम सीमा के रूप में वामन के काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में विश्वस्त उल्लेख उपलब्ध है। वामन के काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में शूद्रक रचित प्रबन्ध के नाट्य-प्रपंच का निर्देश दिया है[2]। इसके अतिरिक्त इसी काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (५।१३ तथा ४।३।२३,) में मृच्छकटिक

---

१. देखो, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचरः एम० कृष्णमाचारियर पृ० ५७२–५७६,

२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति ३।२।४ शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेष्वस्यभूयान् प्रपंचो दृश्यते,

(१।९ तथा २।६) के दो श्लोक उपलब्ध हैं।[१] वामन का समय सामान्यतः अष्टम शतक निश्चित है।[२] अतः मृच्छकटिक निश्चित रूप से अष्टम शतक से पूर्व की रचना है। वामन से पूर्ववर्ती दण्डी के काव्यादर्श में मृच्छकटिक (१।३४) का एक श्लोक उपलब्ध है,[३] तथा दशकुमार-चरित एवं मृच्छकटिक में चित्रित सामाजिक चित्रण में साम्य है। अतः मृच्छकटिक दण्डी से अर्थात् सप्तम शतक से पूर्ववर्ती ठहरता है। दण्डी का समय सप्तम शतक ही नाटक के समय की अंतिम सीमा है।

अन्तःसाक्ष्य

पूर्व-सीमा-निर्धारण के लिये हमें मृच्छकटिक के अन्तःसाक्ष्य पर ही आश्रित रहना पड़ेगा। यद्यपि कुछ विद्वान् चारुदत्त के रचयिता भास के समय को तथा कुछ विद्वान् बृहत्कथा के समय को पूर्वसीमा के रूप में स्वीकार करते हैं। किन्तु हम चारुदत्त को मृच्छकटिक का परवर्ती रंगमंचीय संस्करण ही मानते हैं। अतः इसे पूर्ववर्ती रचना मानकर उपलब्ध मृच्छकटिक का उपजीव्य मानना उचित नहीं है[४]।

बृहत्कथा निश्चित रूप से मृच्छकटिक की अपेक्षा पूर्ववर्ती रचना है। बृहत्कथा यद्यपि मूल रूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु कथासरित्सागर के रूप में उसका संस्करण प्राप्त है। कथा० में वर्णित रूपणिका गणिका तथा निर्धन ललितांगद ब्राह्मण आदि की प्रणय कथाओं से मृच्छकटिक में वर्णित चारुदत्त तथा वसन्तसेना की प्रणयकथा का अत्यधिक साम्य है। अतः मृच्छकटिक की रचना के लिए नाटककार ने बृहत्कथा से ही प्रेरणा ग्रहण की होगी तथा वस्तु संजोयी होगी। इस आधार पर मृच्छकटिक का रचनाकाल बृहत्कथा अर्थात् ई० पू० प्रथम शतक के बाद का ठहरता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार श्री डे ने मृच्छकटिक का रचयिता शूद्रक को अस्वीकार करते हुए नाटक में प्रयुक्त शकार तथा विट् के रूप साम्य तथा कामसूत्र के अनुसार वसन्तसेना के चित्रण के कारण नाटक का रचनाकाल ई० पू० प्रथम तथा ई० की प्रथम शदी के मध्य में माना है[५]। किन्तु मृच्छकटिक में शकार द्वारा आर्य चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या के अभियोग का दण्ड-निर्णय लगभग मनुस्मृति के दण्ड-

---

१. यासांवलिः सपदि-कीट मुखावलीढः १।९ तथा "द्यूतंहि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्' २।६ के बाद तथा ७ के ७ ठीक पूर्व,

२. सं० सा० इति० गैरोला पृ० ६५४,

३. मृच्छ० १।३४, काव्यादर्श २।२२६ में,

४. इसी अध्याय में आगे देखो, "चारुदत्त की परवर्तित तथा अमौलिकता",

५. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर० वाल्यूम १ पृ० ७५८,

विधान से साम्य रखता है[१]। अतः प्रकट है कि नाटक की रचना मनुस्मृति (ई० पू० द्वि० शतक से ई० के द्वितीय शतक) के अनन्तर हुई होगी। आजकल प्रायः मृच्छकटिकम् का रचनाकाल ई० की तृतीय शतक से षष्ठ शतक के मध्य में ही माना जाता है[२]।

कुछ विद्वान नाटक में प्रयुक्त रुद्र राजा के उल्लेख के आधार पर,[3] उसका द्वितीय शतक के क्षत्रपराजा रुद्रदामन् (१३० ई० के लगभग) से साम्य मानकर तथा नाटक में प्रयुक्त "नाणक" शब्द,[४] जो कनिष्क के समय में प्रचलित हुआ, को आधार मानकर नाटक का "रचनाकाल" ईसा के द्वितीय शतक में मानते हैं।[५] किन्तु नाटक में प्रयुक्त "रुद्रोराजा" शब्द का उल्लेख शक्र, बालिपुत्र महेन्द्र, रम्भापुत्र कालनेमि तथा सुबन्धु के क्रम में हुआ है। इस क्रम मे "रुद्र" का साम्य रुद्रामन् से मानना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अतः यह अनुमान विशेष महत्व नहीं रखता है। इसी प्रकार परांजपे ने नाटक में प्रयुक्त कायस्थ तथा राष्ट्रीय आदि शब्दों के अर्थ तथा प्रयोग-क्रम का विवेचन करते हुए मृच्छकटिक का समय कालिदास से पूर्व अर्थात् ई० के चतुर्थ तथा पंचम शतक से पूर्व द्वितीय तृतीय शतक के लगभग माना है।[६] किन्तु कालिदास की कृतियों पर कुछेक साम्य या प्रभाव खोज लेने मात्र से किसी निष्कर्ष पर पहुंचना असंभव है। परांजपे कालिदास को गुप्तकाल में मानते हैं, और मृच्छकटिक को कालिदास से पूर्व मानकर उसका रचनाकाल द्वितीय तृतीय शतक में स्वीकार करते हैं। हम कालिदास को ई० पू० प्रथम शदी में मानते हैं। यदि हम परांजपे के अनुसार कालिदास को मृच्छकटिक से परवर्ती मानलें तो हमारे मतानुसार मृच्छकटिक ई० पू० द्वितीय तृतीय शतक की रचना होना चाहिये, जबकि यह कदापि संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रो० जागीरदार ने मृच्छकटिक पर कालिदास का प्रभाव सिद्ध किया है।[७] अतः केवल प्रभाव या साम्य ही निर्णायक नहीं हो सकता। वह तो केवल किसी तथ्य की पुष्टि या समर्थन भर कर सकता है। अधिकांश विद्वानों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर मृच्छकटिक को कालिदास का परवर्ती ही स्वीकार किया है।

---

१. मृच्छकटिक ९।३९ तथा मनुस्मृति ८।३८०–८१, मिलाइये।
२. गुप्तसाम्राज्य का इतिहास, : उपाध्याय, भाग २, पृ० १०७,
३. रुद्रो राजा द्रोणपुत्रो, मृच्छ० ८।१४,
४. मृच्छ० १।२३,
५. मृच्छकटिक: इन्ट्रोडक्शन: सं० काले, पृ० २३,
६. मृच्छकटिक: इन्ट्रोडक्शन: सं० परांजपे, पृ० १७–२८,
७. ड्रामा इन संस्कृत लिट० जागीरदार, पृ० १०३–४,

प्रो० जागीरदार ने मृच्छकटिक के भाषापक्ष तथा वस्तुतत्त्व का समीक्षण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि मृच्छकटिक की रचना उस समय हुई, जबकि समाज में भाग्यवादिता बढ़ती जा रही थी, बौद्ध धर्म का पुनरुत्थान हो रहा था तथा प्राकृत के अतिरिक्त अपभ्रंश भी प्रायः बोलचाल में प्रयुक्त होती थी। ऐसी परिस्थितियाँ गुप्तों के पतन तथा हर्ष के राज्यकाल के मध्य में समग्ररूप से दीख पड़ती हैं। इसी संदर्भ में जागीरदार ने मृच्छकटिक पर कालिदास का प्रभाव खोज कर अपने मत का समर्थन किया है। अतः जागीरदार के अनुसार मृच्छकटिक का रचनाकाल ई० के पञ्चम शतक तथा षष्ठ शतक के मध्य ठहरता है।[1]

डा० व्यास ने भी गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद की अराजकता तथा गुप्तोत्तरकालीन समाज की पृष्ठभूमि का विस्तार से दिग्दर्शन कराते हुए धर्म, संस्कृति, राजनीति से सम्बन्धित अनेक अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला है कि मृच्छकटिक का रचनाकाल ईसा की पांचवीं शताब्दी के उत्तरार्ध या छठी शदी के पूर्वार्ध में माना जा सकता है।[2]

इसके अतिरिक्त मृच्छकटिक में एक प्रबल अन्तरंग प्रमाण और उपलब्ध है। मृच्छकटिक में नाटककार ने बृहस्पति और मगल (अंगारक) का विरोधी के रूप में उल्लेख किया है।[3] आजकल भी वराहमिहिर के अनुसार दोनों ग्रहों को मित्र माना जाता है। इसके अतिरिक्त वराहमिहिर के बृहज्जातक से यह भी ज्ञात होता है कि उनसे पूर्व कुछ आचार्य बृहस्पति तथा मंगल को शत्रुग्रह भी मानते थे।[4] इस आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि मृच्छकटिक का रचनाकाल वराहमिहिर से अर्थात् षष्ठ शतक से कुछ पूर्व ही होना चाहिये।

उपर्युक्त सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि मृच्छकटिक की रचना पंचम शतक के उत्तरार्ध तथा षष्ठ शतक के पूर्वार्ध में ही हुई होगी। इस मत के समर्थन में सामाजिक तथा सांस्कृतिक दशा के प्रसंग में भी यथावसर प्रकाश डाला जायगा।

---

१. ड्रामा इन संस्कृत लिट० पृ० १०१–४,

२. सं० क० दर्शन, पृ० २८१–२८४,

३. अंगारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः, मृच्छ० ६।३३,

४. जीवेन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृद.बृहज्जातक, २।१६,

५. जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्काविभौमाः क्रमात्।
बीन्द्वर्का विकुजेन्दवश्च सुहृदः केषांचिदेवं मतम्।। बृहज्जातक २।१५,

मृच्छकटिक का कथानक

मृच्छकटिक १० अंकों का विशालकाय प्रकरण है । इसका कथानक धूर्तसंकुल है, अत यह सकीर्णकोटि का प्रकरण है ।[1] सामान्यत: मृच्छकटिक का कथानक दो भागों में प्रवाहित हुआ है । एक में, चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रणयकथा विन्यस्त है । दूसरे में पालक और आर्यक की राजनैतिक कथा निबद्ध है । ये दोनों कथानक क्रमश: आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथा के रूप में सश्लिष्ट हैं ।

प्रथम अंक में, उज्जयनी की प्रसिद्ध सुन्दरी वसन्तसेना को राजा का श्यालक शकार अपने वश में करना चाहता है, इसीलिये रात्रि में राजमार्ग पर विट और चेट के साथ उसका पीछा करता है । किन्तु, शकार के कथन से ही वसन्तसेना को जब यह ज्ञात होता है कि वह चारुदत्त के मकान के निकट ही है, तो वह उसमें घुस जाती है । किन्तु जब, रदनिका के साथ मैत्रेय बलि देने जाता है तो शकार रदनिका को पकड़ लेता है । मैत्रेय उसे डांटता है । वसन्तसेना शकार से बचने के लिए आभूषणों को न्यास रूप में चारुदत्त के यहाँ रख देती है और चारुदत्त स्वयं उसे घर तक पहुंचा आता है । इसी बीच यह व्यक्त हो जाता है कि वसन्तसेना कामदेवायतनोद्यान में देखने के बाद से ही चारुदत्त पर अनुरक्त है । इस प्रकार अलंकारन्यास नामक अंक समाप्त होता है ।

द्वितीय अंक में, चारुदत्त का पुराना नौकर संवाहक चारुदत्त के दरिद्र हो जाने पर द्यूतव्यसनी हो जाता है । एक बार जब वह जुए में दस स्वर्णमुद्रा हार जाता है, पर चुका नहीं पाता, तो माथुर तथा द्यूत-कर द्वारा पीछा किये जाने पर वह वसन्त-सेना के घर में घुस जाता है । वसन्तसेना स्वर्णाभूषण देकर उसे ऋण-मुक्त करा देती है, किन्तु वह ग्लानि के कारण बौद्धभिक्षु बन जाता है । तभी रास्ते में उन्मुक्त वसन्तसेना का हाथी एक बौद्धभिक्षु को कुचलना ही चाहता है कि वसन्तसेना का सेवक कर्णपूर उसे बचा लेता है । इससे प्रसन्न होकर पास में ही खड़ा हुआ चारुदत्त अपना उत्तरीय पुरस्कार में दे देता है । कर्णपूर इसे वसन्तसेना को दे देता है, वह इसे पाकर बहुत प्रसन्न होती है । यहीं द्यूतकरसंवाहक नामक द्वितीय अंक समाप्त हो जाता है । तृतीय का नाम संधिच्छेद है । शर्विलक नाम का ब्राह्मण वसन्तसेना की दासी मदनिका को मुक्त कराने के लिए चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर न्यास रूप में रखे हुए वसन्तसेना के आभूषण को ले जाता है । मदनिका–शर्विलक नामक चतुर्थ अंक में शर्विलक उसी आभूषण को लेकर वसन्तसेना के घर जाता है और मदनिका से मिलता है । वसन्तसेना छिपकर उनकी बातों को सुनकर सारी बात जान जाती है

1. "··· संकीर्णं धूर्तसंकुल ।" दशरूपकम् ३।४२,

ग्रौर मदनिका को शर्विलक के लिये सौंप देती है। इसी बीच चारुदत्त वसन्तसेना के ग्राभूषण के चोरी हो जाने पर दुःखी होता है, ग्रौर लोकापवाद के भय से पत्नी धूता की रत्नावली को देने के लिये मैत्रेय को वसन्तसेना के घर भेजता है। मैत्रेय उसे यह कह कर देता है कि चारुदत्त न्यासरूप में रखे गये ग्राभूषण को जुए में हार गए हैं, उसके बदले में रत्नावली भेजी है। वसन्तसेना मैत्रेय के द्वारा चारुदत्त से मिलने ग्राने का समाचार भी भेजती है। दुर्दिन नामक पंचम ग्रंक में वर्षा में भीगती हुई वसन्तसेना विट को साथ लेकर चारुदत्त के पास ग्रभिसार करने के लिए वहां जाती है, जहां कि वह प्रतीक्षा कर रहा है। दोनों का मिलन होता है ग्रौर उस रात वह वहीं रुक जाती है।

षष्ठ ग्रंक में चारुदत्त वसन्तसेना को पुष्पकरण्डक उद्यान में मिलने के लिये कहलवाकर वहीं चला जाता है। वसन्तसेना चेटी के हाथों रत्नावली को धूता के पास भेजती है, पर वह स्वीकार नहीं करती। तभी सोने की गाड़ी के लिये रोते हुए रोहसेन को लेकर रदनिका ग्राती है ग्रौर वसन्तसेना मिट्टी की गाड़ी से न खेलने वाले रोहसेन को स्वर्ण की गाड़ी बनवाने के लिये ग्रपने ग्राभूषणों को दे देती हैं। इसके ग्रनन्तर प्रेमी से मिलने जाने को उत्सुक वसन्तसेना ग्रपने लिये भेजी गई गाड़ी में न बैठकर भ्रमवश समीप में खड़ी शकार की गाड़ी में बैठ जाती है। इसी बीच गोपाल-दारक ग्रार्यक, जिसे पालक ने कैद कर रखा था, कैदखाने से भाग कर ग्राता है, ग्रौर चारुदत्त की खाली गाड़ी में बैठ जाता है। गाड़ीवान वसन्तसेना को ग्रायी समझ कर गाड़ी हांक देता है। मार्ग में चन्दन ग्रौर वीरक गाड़ी देखते हैं। चन्दन ग्रार्यक को पहिचान कर रक्षा का वचन देता है, ग्रौर जब वीरक चन्दन पर सन्देह जाने पर स्वयं गाड़ी देखना चाहता है तो वह झगड़ा कर बैठता है। इसी बीच में गाड़ी ग्रागे निकल जाती है ग्रौर प्रवहण विपर्यय नामक षष्ठ ग्रंक समाप्त हो जाता है। सप्तम ग्रंक में ग्रार्यक, उद्यान में चारुदत्त से जा मिलता है। इसी मिलने का वर्णन ग्रार्यकापहरण नाम से किया गया है। ग्रष्टम ग्रंक "वसन्तसेना मोटन" है। वसन्तसेना गाड़ी में बैठकर उद्यान में पहुंचती है किन्तु वहां चारुदत्त के स्थान पर शकार को देखकर भयभीत हो जाती है। शकार के प्रेम को स्वीकार न करने पर, वह उसका गला घोंट कर मार कर भाग जाता है। बौद्धभिक्षु संवाहक वसन्तसेना को मरी देखकर जल ग्रादि डालता है ग्रौर चैतन्य ग्राने पर समीपस्थ विहार में ले जाता है तथा जीवन-दान देता है। व्यवहार नामक नवम ग्रंक में शकार वसन्तसेना की हत्या का ग्रभियोग चारुदत्त पर लगाता है। चारुदत्त वसन्तसेना के साथ ग्रपने सम्बन्ध तो स्वीकार करता है किन्तु ग्रभिसार के लिये ग्राने जाने ग्रादि के सम्बन्ध में स्पष्टतः कुछ भी नहीं बताता। फलतः चारुदत्त को ग्रपराधी माना जाता है। इसी समय विदूषक मैत्रेय रोहसेन के लिये दिये हुए वसन्तसेना के ग्राभूषण लेकर ग्राता है ग्रौर शकार से

झगड़ा कर बैठता है। इस झगड़े में ही उसके बगल से आभूषण गिर पड़ते हैं। प्रमाण स्वरूप उन आभूषणों के मिलने पर न्यायाधीशों के द्वारा निधारित निर्वासन के दण्ड के स्थान पर राजा फांसी का दण्ड देता है। संहार नामक दशम अंक में चाण्डाल चारुदत्त को फांसी देने के लिये श्मसान में लेजा रहे है कि स्थावरक नामक शकार का चेट शकार के बंधन से भागकर आता है और स्पष्ट बात बतलाकर चारुदत्त को बचाना चाहता है पर उस दास की बात पर कोई भी विश्वास नहीं करता। इसी बीच बौद्धभिक्षु वसन्तसेना को साथ लेकर आता है और चारुदत्त बचा लिया जाता है। तभी राज्य में विप्लव होता है। शर्विलक पालक को मारकर आर्यक को राजा बना देता है। चारुदत्त को भी कुशावती का राजा बना दिया जाता है। चारुदत्त शकार को क्षमा दिलवा देता है तथा अन्य सभी आर्यक के सहयोगियों को उचित पद मिलता है, और अन्त में वसन्तसेना को चारुदत्त का वधूपद मिलने के साथ साथ प्रकरण समाप्त हो जाता है।

मृच्छकटिक के कथानक का स्रोत

मृच्छकटिक एक प्रकरण है। प्रकरण का कथानक दशरूपक के अनुसार उत्पाद्य तथा 'लोक-संश्रय' होता है।[1] उत्पाद्यवृत्त के स्रोत का अनुसन्धान सर्वथा असंभव है। किन्तु लोक सश्रय-कथानक के स्रोत का अनुसधान करके आधारभूत कथानक की रूपरेखा खींची जा सकती है। तथापि, प्रकरण के कथानक में ऐतिहासिकता की अपेक्षा अस्वाभाविक है। यद्यपि यह अवश्य सम्भव है कि लोकसंश्रित कथानक में लोक-कथात्मक ऐतिहासिक वृत्त के रूप में प्रसंगवश कुछ ऐतिहासिकता संप्राप्त हो जाय, तथापि प्रकरण में रूपायित कथानक से ऐतिहासिक तत्त्वोपलब्धि की अधिक आशा नहीं की जा सकती। विशेष रूप से संकीर्ण प्रकार के प्रकरण से इतिवृत्तगत ऐतिहासिक निश्चयात्मकता की आशा करना उचित नहीं है। यही कारण है कि मृच्छकटिक के कथानक से हम इतिवृत्तगत ऐतिहासिकता की आशा नहीं कर सकते।

मृच्छकटिक का घटनाचक्र आधिकारिक तथा प्रासंगिक दो कथाभाग के रूप में विन्यस्त है। आधिकारिक कथानक में चारुदत्त तथा वसन्तसेना की प्रणयकथा है। प्रासंगिक में पालक और आर्यक की राजनैतिक कथा है। मृच्छकटिक का नायक धीरप्रशान्त-ब्राह्मण चारुदत्त है, और नायिका कुलजा धूता तथा वैश्या वसन्तसेना है। मृच्छकटिक में उपर्युक्त आधिकारिक तथा प्रासंगिक कथा के अतिरिक्त भी संव.हक

---

१. अथ प्रकरणे वृत्तमुत्पाद्यं लोकसंश्रयम्।
"अमात्यविप्रवणिजामेकं कुर्याच्च नायकम्॥" दशरूपक ३।३६

माथुर, तथा द्यूतकर आदि की द्यूतकथा, शर्विलक तथा मदनिका की प्रणयकथा आदि उपकथाएँ भी संश्लिष्ट हैं। इन सभी के संमिश्रण से यह समस्त कथानक इतना विस्तृत अनेकांगी तथा विविधतायुक्त हो गया है कि संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रन्थों के कथा भाग से इसका कुछ साम्य परिलक्षित होता है। भास का चारुदत्त, कालिदास का शाकुन्तल, विशाख का मुद्राराक्षस, दण्डी का दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरी-कथा और सोमदेव का कथासरित्सागर आदि कुछ ऐसे ही ग्रन्थ हैं, जिनमे स्वल्पाधिक मात्रा में कथा तथा घटनाओं का साम्य खोजा गया है।[1] किन्तु अभिज्ञानशाकुन्तल, मुद्राराक्षस आदि ग्रन्थों को किसी भी प्रकार से मृच्छकटिक का उपजीव्य नहीं माना जा सकता। अतः सामान्यतः भास के चारुदत्त तथा कथासरित्सागर की उपजीव्य बृहत्कथा को ही अधिकांश विद्वान् अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार इसका उपजीव्य स्वीकार करते हैं।

निःसन्देह भास रचित चारुदत्त नाटक से मृच्छकटिक के कथानक का अत्यधिक साम्य है। अतः, जबसे भास के नाटक चारुदत्त को खोजा गया है, तभी से कुछ विद्वान् मृच्छकटिक तथा चारुदत्त को परस्पर ऋणी मानते हैं तथा अधिकांश विद्वान् चारुदत्त को ही मृच्छकटिक का उपजीव्य मानने के पक्ष में हैं। किन्तु, हम इस प्रकार के किसी मत के पक्ष में नहीं हैं। हमारी मान्यता है कि चारुदत्त तथा मृच्छकटिक में अत्यधिक साम्य होने पर भी चारुदत्त को मृच्छकटिक का उपजीव्य नहीं माना जा सकता। चारुदत्त एक परवर्ती रंगमंचीय संक्षिप्त रूपान्तर है, न कि मौलिक नाटक। मृच्छकटिक तथा चारुदत्त के सूक्ष्म तुलनात्मक परिशीलन से यही ज्ञात होता है कि चारुदत्त की अपेक्षा मृच्छकटिक पूर्ण एवं कुशल नाटककार की नाट्यकृति है। अतः मृच्छकटिक का उपजीव्य चारुदत्त को मानना उचित नहीं है। बहुत समय से चारुदत्त और मृच्छकटिक के सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है, तथा इस प्रश्न ने एक समस्या का रूप धारण कर लिया है। अतः यहाँ इसका किंचित् विस्तार से विवेचन प्रसंग प्राप्त है।

चारुदत्त की परवर्तिता तथा अमौलिकता

भास के तेरह नाटकों के आविष्कर्ता श्री टी० गणपति शास्त्री ने चारुदत्त को भास की कृति मानकर भास के अन्य नाटकों के साथ प्राचीन नाटकचक्र के रूप में प्रचलित किया है। इस चारुदत्त तथा मृच्छकटिक के प्रथम चार अंकों में भाषा, शब्द, वाक्य, छन्द, घटना पात्र आदि का इतना अधिक साम्य है कि ऐसा प्रतीत होता

---

१. इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ मृच्छकटिकः डा० जी० वी० देवस्थली, पृ० १००-२, तथा मृच्छकटिकः इन्ट्रोडक्शन सं० परांजपे, पृ० २७-२८

है मानों एक ने दूसरे को अवश्य उपजीव्य बनाया हो तथा अपने नाटक को घटा बढ़ा कर दूसरे नाटक के रूप में सपादित कर दिया हो।[1] गणपति शास्त्री के मत में निष्ठा रखने वाले अनेक विद्वानों ने इन दोनों नाटकों का सम्यक् समालोचन किए बिना ही चारुदत्त का प्राचीन नाटक मानकर मृच्छकटिक को चारुदत्त का परिवर्धित नाट्यरूप माना है, या कुछ विद्वानों ने केवल नाट्यशिल्प के स्वरूप, भाषा, काव्य रचना तथा नाटकीय घटनाओं आदि की समता तथा विषमताओं के आधार पर चारुदत्त को मृच्छकटिक का पूर्ववर्ती स्वीकार किया है।[2] इस मत के परिपोषकों में अग्रगण्य डा० सुक्थान्कर[3] तथा बेलवलकर[4] आदि ने इस समस्या का विस्तार से अनुशीलन करते हुए चारुदत्त को प्राचीन तथा मृच्छकटिक का पूर्ववर्ती उपजीव्य नाटक स्वीकार किया है। किन्तु अनेक विद्वान् उपर्युक्त मत के पक्ष में नहीं हैं। प्रमुखतः डा० पुसलकर,[5] प्रो० देवधर,[6] प्रो० जागीरदार,[7] डा० भार्गव[8] तथा पराजपे[9] आदि विद्वानों ने विस्तार से दोनों नाटकों का अनेक प्रकार से सूक्ष्म अध्ययन करने के पश्चात् चारुदत्त को अपूर्ण तथा अभिनेय सक्षिप्त, रूपान्तरित संस्करण स्वीकार किया है। इनका अभिमत है कि चारुदत्त के लेखक ने मृच्छकटिक के चार अकों के आधार पर सुखान्त नाटक बनाने के उद्देश्य से उसकी राजनैतिक तथा रोहसेन आदि से सम्बन्धित कथा-भाग को छोड़ कर सुखान्त चारुदत्त का निर्माण किया है।

निःसन्देह मृच्छकटिक के प्रथम चार अंकों तथा चारुदत्त में अनेक साम्य हैं, किन्तु चारुदत्त मृच्छकटिक के चार अंकों पर आधारित अपूर्ण तथा सक्षिप्त रूपान्तर

---

१. इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ दि मृच्छकटिक, डा० देवस्थली, पृ० १०३–६,
२. मृच्छकटिक : इन्ट्रोडक्शन : सं० काले० पृ० ३३-४१,
३ सुक्थान्कर मैमोरियल एडीशन वाल्यू० २, पृ० १२२,
४. दि रिलेशन ऑफ शूद्रक्स मृच्छ० टु दि चारुदत्त ऑफ भासः डा० एस०के० बेलवलकर, प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रान्सक्शन ऑफ दि फर्स्ट ओरियन्टल कान्फ्रेन्स, १९२२, पृ० १८९–२०४,
५. भास : डा० पुसलकर, भारतीय विद्यास्टडीज नं० १ पृ० ११८–१२०,
६. चारुदत्त : इन्ट्रोडक्शेन : देवधर, पूना १९३९,
७. ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर : जागीरदार, पृ० १६१–६३,
८. मृच्छकटिक एण्ड दि चारुदत्तम् डा० भार्गव, इन्टरनेशनल कान्फ्रेन्स ऑफ ओरियन्टलिस्ट २६ वां दिल्ली। तथा कविराज अभिनन्दन ग्रंथ, लखनऊ : पृ० ३०५–१०,
९. मृच्छकटिकम् : इन्ट्रोडक्शन : पराजपे, पृ० ११–१४,

ही प्रतीत होता है । त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित चारुदत्त के संपादक के अनुसार चारुदत्त की दो हस्तप्रतियों में से एक के अन्त में "अवसितं चारुदत्तम्" लिखा है,[1] किन्तु चार अंकों के चारुदत्त के पढ़ने से वह समाप्त प्रतीत नहीं होता । इसके समुचित उपसंहार के लिए कम से कम एक अंक अवश्य अपेक्षित है । डा० दासगुप्ता ने लिखा है कि चारुदत्त वास्तव में एक अपखण्ड है । नाटक के अन्त:साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि इसके लेखक या संपादक ने केवल चार ही अंक नहीं लिखे होंगे, किन्तु चार ही अंक प्राप्त हैं । नाटक से इसका कोई उत्तर नहीं मिलता है कि चार अंक ही क्यों प्राप्त हैं पूर्ण क्यों नहीं ।[2] वास्तव में इन सब प्रश्नों का उत्तर यही है कि चारुदत्त मृच्छकटिक जैसे नाटक पर आधारित अकुशल संपादक द्वारा संपादित रंगमंचीय संस्करण है, न कि मौलिक नाटक ।

मृच्छकटिक तथा चारुदत्त के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रकट होता है कि दोनों नाटकों में कथानक, पात्र, कथाविकास, शब्द, भाषा, श्लोक आदि में अनेक समानताएँ हैं, किन्तु समानताओं के साथ, तुलनात्मक अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि शिल्प, भाषा तथा स्वरूप आदि में पर्याप्त अन्तर भी है । अत: यह तो स्पष्ट है कि दोनों नाटक किसी एक ही लेखक की रचनाएँ नहीं हैं, किन्तु समानता तथा विभिन्नताओं के सूक्ष्म अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है कि चारुदत्त अपूर्ण तथा अमौलिक नाटक है, जबकि मृच्छकटिक सब प्रकार से पूर्ण साहित्यिक नाटक ।

यद्यपि मृच्छकटिक पूर्ण नाटक है, किन्तु इसकी साहित्यिक प्रस्तावना में नाटककार के परिचयात्मक प्रक्षिप्त अंश से यह प्रकट है कि मृच्छकटिक सर्वांश में मौलिक कृति नहीं है, अपितु शूद्रक रचित किसी अन्य मौलिक नाटक का साहित्यिक संस्करण है । अनुमानत: उपलब्ध मृच्छकटिक के संपादक ने इस नाटक में न केवल मूलकृति के साहित्यिक स्वरूप को अक्षुण्ण रखा है, अपितु संभवत: कुछ परिष्कार भी किया है । किन्तु चारुदत्त (ठीक इसके विपरीत) किसी ऐसे ही मूल नाटक के आधार पर किसी अकुशल नाटककार के द्वारा संपादित रंगमंचीय संक्षिप्त संस्करण है । अत: वस्तुत: दोनों ही नाटक मौलिक कृति नहीं है, अतः इनकी तुलना के आधार पर निष्कर्ष निकालना कठिन है । तथापि हमारे सम्मुख ये दो ही हैं; अत: इन दोनों के सम्बन्ध में इन्हीं के आधार पर निष्कर्ष निकालना उचित है । अधिकांश में मृच्छकटिक तथा चारुदत्त की समस्या पर या तो समानताओं को दृष्टि में रखकर विचार

---

१. ड्रामा इन संस्कृत लिट० जागीरदार, पृ० १६१, तथा प्रोसीडिंग्स एण्ड ट्रांसक्शन ऑफ दि फर्स्ट ओरियन्टल कान्फ्रेन्स, पूना १९२२, पृ० १६०,
२. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर : वाल्यू० १ पृ० १०८,

किया है या केवल विभिन्नताओं को। किन्तु नाट्यशिल्प, घटनाविन्यास तथा चरित्र-चित्रण आदि की कुशलता अकुशलता तथा पूर्णता अपूर्णता को सम्मुख रखकर तुलनात्मक रूप से पर्यवक्षण करने पर कुछ ठोस तथ्यों की समुपलब्धि होती है। यहाँ हम प्रत्येक अंक से कुछ मुख्य-मुख्य उदाहरण देकर निष्कर्ष निकालना उचित समझेंगे।

सर्वप्रथम यदि दोनों नाटकों की प्रस्तावना[1] पर तुलनात्मक दृष्टि डालें तो दोनों नाटकों की अत्यधिक समानता दीख पड़ती है। इससे ऐसा प्रतीत है मानो एक ने दूसरे की कृति को सम्मुख रखकर अनुकरण किया हो। मुख्यतः यहाँ भी चारुदत्त की शैली तथा शिल्प-संविधान से यही जान पड़ता है मानों चारुदत्त के सम्पादक ने मृच्छकटिक के वाक्यों को काट छांट कर रंगमंच की उपयोगिता के उद्देश्य से परिवर्तन किया है। इसके कुछ आगे के वाक्यों से यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि निश्चित रूप से चारुदत्त के संपादक ने ही मृच्छकटिक को सम्मुख रखकर चारुदत्त का रूपान्तर किया है:—

सूत्रधार:—अयमुपवासः केन ते उपदिष्टः ?

नटी:—आर्यस्यैव प्रियवयस्येन चूर्णवृद्धेन।

सूत्रधार—(सकोपम्) आः दास्याः पुत्र। चूर्णवृद्ध। कदा न खलु त्वां कुपितेन राज्ञा पालकेन नववधुकेशकलापमिव सुगन्धं छेद्यमानं प्रेक्षिष्ये।[2]

उपर्युक्त मृच्छकटिक के वाक्य सर्वप्रकार से परस्पर सुसम्बद्ध हैं, किन्तु चारुदत्त में इन्हीं वाक्यों को इस प्रकार लिखा है—

सूत्रधारः—सर्वतावत् तिष्ठतु। कोन्विदानीमार्याया उपवासस्योपदेशिकः।

नटी:—अनेन वरिवस्यकेन चूर्णगोष्ठेन।

सूत्रधार:—साधु चूर्णगोष्ठ। साधु[3]।

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि चारुदत्त के संपादक के सामने मृच्छकटिक जैसी कृति अवश्य थी। यही कारण है कि चारुदत्त के संपादक ने मृच्छकटिक के सूत्रधार के वाक्य को कर्तृवाच्य में रूपान्तर करके लिखा है, किन्तु नटी की उक्ति को मृच्छकटिक के समान भाववाच्य में ही लिख गया है। अन्यथा ये दोनों वाक्य या तो मृच्छकटिक के समान भाववाच्य में ही होने चाहिये थे या कर्तृवाच्य में। इन्हीं

---

१. **भासनाटकचक्रम्, चारुदत्तः प्रस्तावनाः प्रथम अंक, पृ० १६२ तथा मृच्छकटिकः चौखम्बा प्रकाशन २०११ प्रथम अंक प्रस्तावना, पृ० १४–१५,**

२. **मृच्छ० : प्रस्तावना,**

३. **चारुदत्त : प्रस्तावना,**

चारुदत्त के वाक्यों से ज्ञात होता है कि चारुदत्त का संपादक किसी अन्य आधारभूत ग्रंथ से रूपान्तर ही नहीं कर रहा था, अपितु वह रूपान्तर करने में अकुशल भी था।

इसके अतिरिक्त मृच्छकटिक में सूत्रधार अभिरूप-पति नामक उपवास के उपदेश देने वाले चूर्णवृद्ध पर क्रोध व्यक्त करता है, यह पूर्णतः स्वाभाविक तथा उचित है। किन्तु चारुदत्त के लेखक ने पुनः यह त्रुटि की है कि संक्षिप्त करने की धुन में क्रोध व्यक्त न करवाकर "साधुवाद" दिलाया है। यह भी इसकी अकुशलता का द्योतक है।

इसके अतिरिक्त मृच्छकटिक की उपर्युक्त सूत्रधार की उक्ति में क्रोधाभिव्यक्ति के समय राजा पालक से सम्बन्धित मृच्छकटिक नाटक के दूसरे प्रासंगिक कथानक की ओर निर्देश किया है, किन्तु चारुदत्त का संपादक, क्योंकि मृच्छकटिक जैसे किसी नाटक के प्रणयात्मक कथानक को ही अभिनेय नाटक के रूप में संपादित कर रहा था, अतः उसने नाटक के उत्तरार्ध की राजनैतिक कथा से सम्बन्धित पालक का उल्लेख नहीं किया है। ऐसा करना चारुदत्त के घटनाचक्र के अनुरूप अवश्य है, किन्तु इससे यह भी अवश्य प्रकट हो जाता है कि चारुदत्त का संपादक निश्चित रूप से मृच्छकटिक जैसे नाटक को ही संक्षिप्त रूप में संपादित कर रहा था न कि मौलिक कृति का निर्माण।

मृच्छकटिक के प्रथम अंक में उस समय जबकि मैत्रेय तथा रदनिका देवकार्य के लिये जाने वाले हैं तभी भयभीता वसन्तसेना शकार से पीछा छुड़ाने के लिये अन्य शरण्य न देखकर चारुदत्त के घर में घुस जाती है। चारुदत्त वसन्तसेना को रदनिका समझता है, अतः उसे कहता है—

"**चारुदत्तः**— (वसन्तसेनामुद्दिश्य) रदनिके। मारूताभिलाषी प्रदोषसमयशीतार्तो रोहसेनः। ततः प्रवेश्यतामभ्यन्तरमयम्। अनेन प्रावारकेण छादयैनम्। (इतिप्रावारकं प्रयच्छति)।[1]" चारुदत्त में इसी को इस प्रकार लिखा है—

नायक: मारुताभिलाषी प्रदोषः। तद्गृह्यतां प्रावारकम्।
रदनिके। प्रवेश्यतामभ्यन्तरचतुःशालम्।[2]

यहाँ दोनों नाटकों के वाक्यों में आपाततः अत्यधिक साम्य प्रतीत होता है, जिससे स्पष्ट है कि परस्पर किसी ने अनुकरण किया है। किन्तु, मृच्छकटिक में

---

१. **मृच्छ०** १।५२–५३
२. **चारुदत्त**, १।२६–२७,

शीतार्त-रोहसेन को प्रवेश कराने तथा प्रावारक से आच्छादित करने के लिए रदनिका के प्रति चारुदत्त की उक्ति युक्तियुक्त है, जब कि चारुदत्त में रोहसेन के उल्लेख का अभाव है, तब प्रावारक देने का क्या औचित्य है ? इससे स्पष्ट होता है कि चारुदत्त के संपादक ने संक्षिप्त करते समय केवल ४ अंकों के सुखान्त कथानक के अनुकूल रोहसेन के उल्लेख को हटाकर उचित अवश्य किया है । किन्तु वह अनुकरण में इतना अकुशल था कि प्रावारक देने के अनौचित्य को बिना समझे ही मृच्छकटिक जैसे उपजीव्य मूलग्रन्थ के वाक्य का प्रयोग कर दिया है । इसी अनुकरण की अकुशलता तथा संक्षिप्त रूपान्तर करने की पुष्टि इसी के अग्रिम वाक्य से भी होती है ।

मृच्छकटिक में शीत के कारण रोहसेन का अन्दर ले जाने का चारुदत्त का कथन स्वाभाविक है, जबकि चारुदत्त में रोहसेन के उल्लेख के अभाव में प्रवेश्यताम् कहा गया है । यह उल्लेख सर्वथा अशुद्ध है । यदि यह मानें कि चारुदत्त ने वसन्तसेना के प्रवेश के लिए यह शब्द कहा था तो भी 'प्रविश्यताम्' होना चाहिये था न कि "प्रवेश्यताम्" । स्पष्ट है कि चारुदत्त के अकुशल संपादक ने मृच्छकटिक में प्रयुक्त चारुदत्त की उक्ति "प्रवेश्यताम्यन्तरम्" को बिना समझे ही प्रयोग कर दिया है । मृच्छकटिक में इसी क्रम में चारुदत्त की स्पष्ट उक्ति है 'रोहसेन गृहीत्वाभ्यन्तरं प्रविश," किन्तु चारुदत्त के संपादक ने संक्षिप्त करने के उद्देश्य से रोहसेन के उल्लेख को तो हटा दिया है, परन्तु वाक्य का रूप तक अपने कथानक के अनुकूल नहीं बदल सका है । यही नहीं, बल्कि चारुदत्त के इसी अंक में कुछ आगे दूसरे दृश्य में जब चारुदत्त वसन्तसेना के प्रति अपराध के सम्बन्ध में अनुनय करता है उस समय मैत्रेय को रदनिका के प्रति अनुनय करता हुआ चित्रित किया गया है किन्तु यह चित्रण नाटक में चित्रित मैत्रेय के चरित्र के सर्वथा प्रतिकूल है ।

प्रथम अंक के अन्त में चारुदत्त मृच्छकटिक में चन्द्र तथा ज्योत्सना का वर्णन करता हुआ कहता है -- मैत्रेय । भवतु । कृतं प्रदीपिकाभिः । पश्य

"उदयति हि शशांकः कामिनीगण्डपाण्डुर्ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः ।
तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यः स्यगौराः सुतजल इवपंके क्षीरधाराः पतन्ति[1] ।।"

चारुदत्त नाटक में लिखा है: --

उदयति हि शशांः क्लिन्नखर्जूरपाण्डुर्युवतिजनसहायो राजमार्गप्रदीपः ।
तिमिरनिचयमध्ये रश्मयो यस्य गौरा हृतजल इवपंके क्षीरधाराः पतन्ति[2] ।।

इन दोनों में चारुदत्त की अपेक्षा मृच्छकटिक का श्लोक अधिक कलात्मक तथा सौष्ठव पूर्ण है । चारुदत्त के क्लिन्नखर्जूरपाण्डुः शब्द की अपेक्षा कामिनीगण्ड-

---

१. मृच्छ० १।५७,

२. चारुदत्त: १।२९,

पाण्डुः शब्द में कहीं अधिक अभिव्यंजनात्मकता तथा रमणीयता है। कुछ विद्वान् इसी या ऐसे ही सौष्ठव के कारण मृच्छकटिक को चारुदत्त के ४ अंकों के आधार पर अभिसृष्ट कलात्मक कृति भी स्वीकार करते हैं, और इस प्रकार चारुदत्त को मौलिक तथा मृच्छकटिक को परवर्तीनाट्यकृति मानते हैं। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। अगर इसी श्लोक के प्रत्येक शब्द की तुलना की जाय तो इस क्लिन्नखर्जूर-पाण्डुः शब्द के अतिरिक्त अन्य सभी शब्द मृच्छकटिक की अपेक्षा चारुदत्त में अधिक कलात्मक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए चारुदत्त का "युवति-जनसहायः" शब्द मृच्छकटिक के "ग्रहगणपरिवार" की अपेक्षा मार्मिक है।

यद्यपि हम भी यह मानते हैं कि अधिकांश में भाषा-सौष्ठव की दृष्टि से चारुदत्त की अपेक्षा मृच्छकटिक अधिक साहित्यिक है किन्तु इस साहित्यिकता तथा सौष्ठव के कारण ही मृच्छकटिक को चारुदत्त के ४ अंकों के आधार पर विकसित नाटक स्वीकार नहीं किया जा सकता। विकासवाद के परिप्रेक्ष्य से मूल्यांकन करते हुए मृच्छकटिक को चारुदत्त की अपेक्षा परवर्ती मानना सर्वथा अस्वाभाविक है। विकसित रचना को भी अकुशल तथाकथित शिल्पी विकृत कर देते हैं। यहाँ भी इसका अधिक उचित उत्तर यही है कि चारुदत्त किसी अकुशल नाटककार या अभिनेता के हाथों संपादित रंगमचीय संस्करण होने के कारण अपने आधाभूत मौलिक नाटक की साहित्यिकता को सुरक्षित नहीं रख सका है, जबकि मृच्छकटिक में किसी कुशल सम्पादक ने मौलिक नाटक की साहित्यिकता को अक्षुण्ण रखने के साथ-साथ अपनी वैयक्तिक प्रतिभा द्वारा उसे यत्रतत्र अधिकाधिक उभारने का प्रयास किया है। यही कारण है कि मृच्छकटिक तथा चारुदत्त के "उदयति हि शशांकः" जैसे स्थलों में अन्तर दीख पड़ता है[1]।

द्वितीय अंक में भी दोनों नाटकों में पर्याप्त अन्तर है। चारुदत्त के सम्पादक ने मृच्छकटिक के सुन्दर तथा आकर्षक द्यूत-दृश्य को छोड़ दिया है। मृच्छकटिक में संवाहक माथुर तथा द्यूतकर आदि पात्रों के माध्यम से द्यूत दृश्य की योजना करके मृच्छकटिक को लोकप्रियता की अभिवृद्धि की है, किन्तु चारुदत्त में वह दृश्य नहीं है। चारुदत्त के अध्ययन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि चारुदत्त का सम्पादक द्यूतदृश्य से परिचित अवश्य था। चारुदत्त में द्यूतदृश्य के प्रमुख पात्र संवाहक की अवतारणा की है। संवाहक वसन्तसेना तथा चेटी से संभाषण करता हुआ बतलाता है—कि

---

१. चारुदत्त के प्रथम अंक में (१।६ के निकट) विदूषक के द्वारा गोपदारक शब्द का प्रयोग हो गया है। जिससे ज्ञात होता है कि चारुदत्त का सम्पादक मृच्छ-कटिक के राजनैतिक कथानक से परिचित था किन्तु उसने जानबूझ कर छोड़ दिया है।

"........इति जातनिर्वेदोदग्धशरीररक्षणार्थं द्यूतोपजीवी संवृत्तः"....ततो बहूनि दिनानि मया पराजितेन पुरुषेण कदाचिदहमपि दशसु सुवर्णेषु पराजितोऽस्मि "........" ततोऽद्य वैशमार्गे यदृच्छयोपनतः समासादितोऽस्मि । तस्य भयेनेह प्रविष्टः[1] ।"

संवाहक की इस उक्ति से स्पष्ट है कि चारुदत्त का लेखक द्यूत-दृश्य से परिचित था । प्रो० जागीरदार ने बतलाया है कि मृच्छकटिक में रूपायित द्यूतदृश्य के अनुसार इस दृश्य को प्रदर्शित करने के लिए विशाल राजपथ, देवालय एवं जनसमुदाय अपेक्षित है, तथा यह दृश्य रंगमंचीयता, आदि की दृष्टि से कुछ जटिल है । इसे सर्वत्र सर्वसाधारण रंगमंच पर प्रदर्शित नहीं किया जा सकता[2] । संभवतः यही कारण है कि चारुदत्त के लेखक ने परिचित होते हुए भी इस सुन्दर दृश्य को छोड़ दिया है । अतः स्पष्ट है कि चारुदत्त किसी नाटक का संक्षिप्त अभिनेय संस्करण है । इसके अतिरिक्त चारुदत्त में मृच्छ० के समान संवाहक की अवतारणा तो की है, किन्तु मृच्छ० के समान नाटक की गत्यात्मकता तथा कथानक को बढ़ाने आदि के लिये उसका कुछ भी उपयोग नहीं हुआ है । इससे भी प्रकट होता है कि चारुदत्त के संपादक ने चारुदत्त के गुणों का बखान मात्र करवाने के लिये संवाहक का प्रयोग किया है किन्तु मृच्छकटिक के समान सदुपयोग नहीं कर सका है । इससे भी उसकी अकुशलता ही प्रकट होती है ।

चारुदत्त के इसी अंक में कुछ आगे संवाहक कहता है—"अद्यैव कदाचिन्निर्वेदेन प्रव्रजेयम्[3] ।" और कुछ आगे चेट आकार बसन्तसेना के हाथी से परिव्राजक को बचाने की घटना सुनाता है । मृच्छकटिक में भी यह घटना है । वहाँ संवाहक कहता है अहमेतेन द्यूतकरापमानेन शाक्यश्रमणो भविष्यामि[4] । किन्तु चारुदत्त में मृच्छकटिक के समान संवाहक-निर्वेद का कारण नहीं बतलाया है । चारुदत्त में प्रव्रज्या लेने का संकेत मात्र देकर, परिव्राजक को हाथी से बचाने की घटना का संकेत करना यह प्रमाणित करता है कि चारुदत्त का संपादक मृच्छकटिक जैसे किसी आधारभूतनाटक का संक्षेप करके रंगमंचीय संस्करण तैयार कर रहा था । इसी कारण संपूर्ण घटना की योजना न करके केवल संकेत मात्र देना ही उपयुक्त समझा ।

इसके अतिरिक्त चारुदत्त में जब चेट परिव्राजक को हाथी से बचाने की

---

१. चारुदत्त अंक २, पृ० २१६,
२. ड्रामाज इन संस्कृत लिट० पृ० १६२,
३. चारुदत्त० द्वितीय अंक पृ० २२०,
४. मृच्छ० २।१६–१७,

घटना का उल्लेख करता है तब "कर्णपूर" शब्द का प्रयोग करता है[1]। मृच्छकटिक में भी कर्णपूरक नामक वसन्तसेना का एक भृत्य है। इसी परिव्राजक को हाथी से बचाने की घटना के बतलाने के प्रसग में वह भी कर्णपूरक शब्द का अपने नाम के रूप में प्रयोग करता है[2]। दोनों नाटकों में क्रमशः कर्णपूर तथा "कर्णपूरक" शब्द का प्रयोग हैं। किन्तु "कर्णपूरक" मृच्छकटिक का ही पात्र है, पर कर्णपूर चारुदत्त में नहीं है। दोनों में "क" का अन्तर है। किन्तु इसका संकेत उसी पात्र की ओर है। चारुदत्त में निष्प्रयोजन कर्णपूरक शब्द का प्रयोग यही सकेत करता है कि चारुदत्त का संपादक मृच्छकटिक से परिचित है, वह मृच्छकटिक जैसे नाटक का ही सक्षिप्त रूपान्तर है, तथा चारुदत्त का संपादक इस कार्य में अकुशल है। अतएव त्रुटिवश वह अस्वाभाविक रूप से कर्णपूर आदि शब्दों का भी अपने आधार ग्रन्थ के समान उल्लेख कर गया है।

इसी अंक में इसी घटना के अन्त में चेट वसन्तसेना को यह बतलाता है कि बौद्धसाधु को बचाते समय उसके साहब को देखकर समस्त उज्जयनी प्रशंसा करने लगी, तथा एक व्यक्ति ने मेरे ऊपर प्रावारक फेंक दिया। मृच्छकटिक में लिखा है — "एकेन शून्यानि आभरणस्थानानि परामृश्य उर्द्ध प्रेक्ष्य, दीर्घं निःश्वस्य, अयं प्रावारकः ममोपरि उद्क्षिप्तः[3]।" चारुदत्त में भी इस घटना का उल्लेख है। यहाँ लिखा है— केनापि············दीर्घंनिश्वस्यै तावान् में विभव इतिकृत्वा परिजनहस्तेऽयं प्रावारकः प्रेषितः[4]।" दोनों उल्लेखों के देखने से एक बार पुनः यही प्रतीत होता है कि चारुदत्त का संपादक मृच्छकटिक को सामने रखकर संक्षिप्त प्रतिलिपि कर रहा था। इसके साथ वह इतना अनिपुण भी था कि प्रावारक को फेंकने की अपेक्षा भेजने का निर्देश कर गया है जब कि यहां परिजन के हाथों प्रावारक भेजने का कुछ भी औचित्य नहीं है।

तृतीय अंक में मृच्छकटिक में चारुदत्त द्वारा रेभिल के गायन की प्रशंसा करने पर विदूषक कहता है: "मम तावत् द्वाभ्यामेव हास्यंजायते, स्त्रिया संस्कृत पठन्त्या, मनुष्येण च काकलीं गायता। स्त्रीतावत् सस्कृत पठन्ती, दत-नव-नास्यां-इव-गृष्टिः अधिकं सुसूयते, मनुष्योऽपि काकलीं गायत् शुष्क-सुमनोदामवेष्टितो वृद्ध-पुरोहित इव मंत्रं

---

१. "हं, विप्रलब्धोऽस्मि वातायननिष्क्रामितपूर्वकायया वनमितपयोधरया कर्णपूरस्य परिस्पन्दोऽज्जुकया येन न दृष्टः।" चारुदत्त. द्वितीय अंक पृ० २२१,

२. आर्ये। वञ्चितासि, यया अद्य कर्णपूरकस्य पराक्रमो न दृष्टः मृच्छ० २।१७–१८,

३. वही, २।२०–२१,

४. चारुदत्तः भासनाटकचक्र, अंक द्वितीय, पृ० २१२,

जपन् इदं मे न रोचते[1] ।" चारुदत्त में इसी उक्ति को विदूषक इस प्रकार कहता है—" मम खलु तावत् गायन् मनुष्यः स्त्र्यपि पठन्त्युभयमादरं न ददाति । गायंस्ता-वन्मनुष्यों रक्त-सुमनोवेष्टित इव पुरोहितो इदं न शोभते । स्त्र्यपि पठन्ती छिन्ननासिकेव धेनुरतिविरूपा भवति[2] ।" दोनों उक्तियों की तुलना से स्पष्ट हो जाता हैं कि चारुदत्त के संपादक ने मृच्छकटिक संक्षिप्त किया है । इसी कारण कई सुन्दर वाक्यों को पूर्णतः छोड़ दिया है तथा रूपान्तर करने में निपुणता न होने के कारण "स्त्र्यपि पठन्ती छिन्ननासिकेव धेनुरतिविरूपाभवति" जैसा अस्वाभाविक वाक्य भी लिखा गया है । पढ़ती हुई स्त्री को छिन्ननासिका गौके समान विरूपा बतलाने में कोई भी औचित्य प्रतीत नहीं होता । विरूप मुखाकृति का असुन्दर स्वर से साम्य बतलाना किसी अनभ्यस्त लेखनी का ही कार्य हो सकता है । हम स्वप्नवासवदत्त के स्रष्टा भास से ऐसी आशा नहीं कर सकते हैं । वस्तुतः स्वप्न० में ऐसा अपूर्ण, अनुचित, अस्वाभाविक प्रयोग एक भी नहीं मिलता है, तब चारुदत्त को स्वप्न० के रचयिता भास की कृति मानना भास के साथ अन्याय करना हैं । अतएव चारुदत्त को भास की रचना मान कर उसके आधार पर मृच्छकटिक का पल्लवन मानना भास तथा मृच्छकटिक दोनों के साथ न्याय नहीं कहा जा सकता[3] ।

तृतीय अंक में ही और भी कुछ ऐसे उदाहरण हैं जिनमे चारुदत्त की अपूर्णता, अकुशलता तथा अनुकरण प्रवृत्ति का ज्ञान होता है । उदाहरण के लिए मृच्छकटिक के आर्यकापहरण नामक सप्तम अंक में जिस समय पालक की कैद से भाग कर आर्यक वसन्तसेना के लिये आई हुई चेट की गाड़ी में बैठकर चारुदत्त के समीप पहुंचता है, उस समय चारुदत्त वसन्तसेना को उतारने के लिये विदूषक मैत्रेय म कहता है–"........ सखे । मैत्रेय । अवतारय वसन्तसेनाम् ।" मैत्रेय गाड़ी के परदे को उठाकर देखता है, और उसमें वसन्तसेना के स्थान पर आर्यक को बैठा हुआ देखकर परिहास करता हुआ कहता है—"भो, नवसन्तसेना, वसन्तसेनः खल्वेषः[4] ।" मृच्छकटिक में परिहास का यह उत्कृष्ट उदाहरण है । मृच्छकटिक का संक्षिप्त रूपान्तर करते समय चारुदत्त के संपादक को यह उदाहरण बहुत जंचा । फलतः मृच्छकटिक के ४ अंकों का संक्षिप्त संस्करण करते समय भी मृच्छकटिक के सप्तम अंक की इस हास्योक्ति को तृतीय

---

१. **मृच्छकटिका ३।३–४,**

२. **चारुदत्त, ३।२–३,**

३. **भास के ऐति० ना० के विवेचन के प्रसंग में भी हमने इस तथ्य की ओर संकेत किया है।**

४. **मृच्छ० ७।४–५,**

अंक में स्थान दिया। चारुदत्त के तृतीय अंक में सन्धिच्छेद के दृश्य में विदूषक चारुदत्त के पास जाकर सूचित करता हुआ कहता है........"भोश्चारुदत्त! प्रियं ते निवेदयामि। नायकः—(बुद्ध्वा) किं मे प्रियम्। ननु वसन्तसेना प्राप्ता। विदूषकः—न खलु वसन्तसेना वसन्तसेनः प्राप्तः[1]।" चारुदत्त के इस स्थल की मृच्छकटिक के साथ तुलना करने पर यह न केवल निम्न श्रेणी का हास्योदाहरण ज्ञात होता है, अपितु अनुचित तथा अस्वाभाविक भी है। चारुदत्त में मृच्छकटिक के उदाहरण को स्थान तो दिया है, किन्तु मृच्छकटिक से समान औचित्यपूर्ण परिहास की सृष्टि नहीं हो सकी है। सन्धिच्छेद की सूचना देते समय चारुदत्त के द्वारा वसन्तसेना के आगमन की संभावना कराना स्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। इस संभावना से ऐसा प्रतीत होता है, मानों चारुदत्त सदैव सोते जागते वसन्तसेना के आगमन की ही प्रतीक्षा करता रहता था, जबकि ऐसी कल्पना न केवल चारुदत्त के चरित्र के प्रतिकूल है, अपितु अस्वाभाविक भी है। इस उदाहरण से मृच्छकटिक के समान हास्य उत्पन्न नहीं होता, बल्कि इस उदाहरण को सन्धिच्छेद के शोक पूर्ण स्थल पर प्रयुक्त करके रसप्रवाह को नष्ट कर दिया है। अतएव बलात् प्रयुक्त यह वाक्य चारुदत्त के संपादक की अनिपुणता तथा मृच्छकटिक के आधार पर संक्षिप्त संस्करण को प्रमाणित करता है।

इसी प्रकार तृतीय अंक में ही सुवर्णभाण्ड के चोरी चले जाने की सूचना चारुदत्त की पत्नी ब्राह्मणी (धूता) को मिलने पर वह मैत्रेय को अपनी मुक्तावली-दान के बहाने देती है। उस समय विदूषक द्वारा रदनिका से लेने न लेने के सम्बन्ध मे पूछने पर चेटी रदनिका का यह कथन—"किन्तु खलु तस्मै जनाय दातव्यं भविष्य-तीत्येतन्निमित्त भर्तृदारकः संतप्यत इति भर्तदारका तव हस्ते दत्वार्यपुत्रमनृणं करिष्या-मीत्येवं करोती,[2] अस्वाभाविक है। "इसके आगे जब चारुदत्त मैत्रेय को मुक्तावली देने के लिये वसन्तसेना के पास भेजता हुआ कहता है - वयस्य इमां मुक्तावली गृहीत्वा वसन्तसेनायाः सकाशं गच्छ[3]।" किन्तु चतुर्थ अंक में मैत्रेय गणिका के समीप जाकर कहता है — "शृणोतु भवती। तत्रभवश्चारुदत्तस्य गुणप्रत्यायननिमित्तं खलु त्वयालंकार स्तस्मिन् निक्षिप्तः। स तेन द्यूते हारितः[4] इस उक्ति में "स तेनद्यूते हारितः," वाक्य चारुदत्त मैत्रेय को कहने के लिये नहीं कहता, मैत्रेय स्वयं अपनी ओर से यह सन्देश कहता है। किन्तु परस्पर असम्बन्धित होने से यह अस्वाभाविक है। इस अस्वाभा-विकता का कारण यही है कि चारुदत्त के संपादक ने इस मैत्रेय की उक्ति को बिना

---

१. चारुदत्तः ३।१४—१५,
२. चारुदत्तः ३।१६—१७,
३. वही, ३।१७—१८,
४. वही, ४।५-६,

औचित्य का विचार किये मृच्छकटिक के उल्लेख के अनुसार ही विन्यस्त कर दिया है।

मृच्छकटिक के तृतीय अंक में चारुदत्त विदूषक को द्यूत में हारने का सन्देश देकर ही रत्नावली को देता है—मैत्रेय, गच्छ रत्नावलीमादाय वसन्तसेनायाः सकाशम् वक्तव्या च सा मद्वचनात्-यत् खल्वस्माभिः सुवर्णभाण्डमात्मीयमिति कृत्वा विश्रम्भात् द्यूते हारितम्, तस्य कृते गृह्यतामियं रत्नावली इति[1]।

मृच्छकटिक के चतुर्थ अंक में उपर्युक्त चारुदत्त के सन्देश के अनुसार ही विदूषक वसन्तसेना को कहता है—" मया तत् सुवर्णभाण्ड-विश्रम्भादात्मीयमिति कृत्वा द्यूते हारितम्[2]।" मृच्छकटिक तथा चारुदत्त दोनों नाटकों के उपर्युक्त उल्लेखों के मिलान करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चारुदत्त के संपादक ने संक्षिप्तीकरण की काँट छांट में मृच्छकटिक के समान चारुदत्त के मुख से मुक्तावली देने का कारण नहीं कहलाया गया है, किन्तु चतुर्थ अंक में मृच्छकटिक के समान ही द्यूत में हारने के कारण का उल्लेख कराया है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि चारुदत्त का संपादक मृच्छकटिक का ही संक्षिप्त रूपान्तर कर रहा था, किन्तु वह कुशल संपादक न होने से कुछ परस्पर के विरोधी वाक्यों का भी उल्लेख कर गया है तथा कहीं-कहीं उसने अपूर्णता छोड़ दी है।

चारुदत्त के चतुर्थ अंक में इसी प्रकार कितने ही अस्वाभाविक स्थल[3] है। उदाहरण के लिये सज्जलक (वसन्तसेना) गणिका के घर जाकर मदनिका को आवाज देकर बुलाता है तथा मदनिका से मिलता है। इस मिलन-प्रसंग में अनेक अनुचित प्रयोगों द्वारा नाटक को रोमांटिक बनाने की चेष्टा की है। इसके पश्चात् विदूषक चारुदत्त द्वारा भेजी हुई मुक्तावली को देकर निकलता है, तभी उसके बाद मदनिका सार्थवाह के यहाँ से किसी मनुष्य (सज्जलक) के आने की सूचना देती है। इतनी शीघ्र चारुदत्त के यहाँ से समान उद्देश्य के लिये दो व्यक्तियों का प्रवेश कराना[4] सर्वथा अनुचित है। इसके अनन्तर सज्जलक आभूषण की रक्षा में चारुदत्त की असमर्थता बतलाता हुआ आभूषण को लौटाता है[5]। किन्तु ऐसा करना नाटक

---

१. मृच्छ० ३।२८–२९,

२. वही ४।३१–३२,

३. चारुदत्त के सभी अंकों में अनेक स्थल ऐसे है, जिनसे चारुदत्त के सम्पादक की अयोग्यता तथा अनिपुणता का ज्ञान होता है। किन्तु स्थानाभाव से यहां समग्र स्थलों का उल्लेख सम्भव नहीं है।

४. चारुदत्त ४।५–६,

५. वही, ४।६–७,

की पूर्वघटनाओं के सर्वथा प्रतिकूल है। यदि ऐसा ही भय था तब पहिले न्यास क्यों रखा था।

इसके आगे गणिका द्वारा सज्जलक को साहसिक कहना[1] भी अत्यन्त अस्वाभाविक हैं। इसके अनन्तर प्रवहण मँगाकर मदनिका को सज्जलक को सौंप कर अस्वाभाविक प्रकार से सुखान्त नाटक बना दिया गया गया है। वस्तुतः न इसमें कोई कलात्मकता है, न रस-प्रवाह। न औचित्य है, न घटनाओं में कार्यकारण सम्बन्ध, और न स्वाभाविकता। ऐसी रचना को भास की कृति मानकर मृच्छकटिक का आधार मानना सर्वथा असंगत है।

वास्तविकता यही है कि मृच्छकटिक के ४ अंकों के आधार पर चारुदत्त एक रंगमंचीय संक्षिप्त रूपान्तर के रूप में किसी संपादक के अकुशल हाथों से संघटित किया गया है। चारुदत्त के चतुर्थ अंक के अंतिम स्थल से यह तथ्य और भी पूर्णतः प्रमाणित हो जाता है। चारुदत्त के अन्त में मदनिका जब सज्जलक को समर्पित करदी जाती है उस समय गणिका कहती है—

गणिका—चतुरिके।

चेरी—(प्रविश्य) अज्जुके इयमस्मि।

गणिका—हज्जे। पश्य जाग्रत्या मया स्वप्नो दृष्टः एवम्।

चेटी—प्रियं मे, अमृतांक नाटकं संवृत्तम्।

गणिका—एहीममलंकारं गृहीत्वार्यचारुदत्तमभिसरिष्यावः।

चेटी—अज्जुके। तथा। एतत् पुनरभिसारिकासहायभूतं दुर्दिनमुन्नमितम्।

गणिका—हताशे। मा खलु वर्धय।"

चेटी—ऐत्वेत्वज्जुका।

इन्हीं वाक्यों के साथ चतुर्थ अंक की समाप्ति के साथ चारुदत्त नाटक भी समाप्त हो जाता है। उपर्युक्त वाक्यों से स्पष्ट है चारुदत्त के सम्पादक को ४ अकों में अमृतांक अर्थात् सुखान्त नाटक का निर्माण अभीष्ट था[2]। मदनिका तथा सज्जलक के मिलन के द्वारा वह पूर्ण हो गया। अतएव उसने अनवसर में ही नाटक समाप्त कर दिया।

वास्तविकता यह है कि चारुदत्त का संपादक अग्रिम अंकों के घटना चक्र से सुपरिचित था। चारुदत्त के अन्त में गणिका अलंकारों को लेकर चारुदत्त के पास

---

१. चारुदत्त ४।६–७,

२. कुछ समय पूर्व पद्मप्राभृतक नामक भाण प्राप्त हुआ है इसका लेखक शूद्रक ही माना जाता है। इसमें भी "साधु भी अमृतांको नाटकांक सम्वृत्तः।" का

अभिसार करने की घटना की ओर संकेत करती है। मृच्छकटिक नाटक में भी चतुर्थ अंक के अन्त में वसन्तसेना कहती है—"हञ्जे। गृहाणैवमलंकारम्, चारुदत्तमभिरन्तुं गच्छाम।" पुनः चारुदत्त मे अभिसार के सहायभूत दुर्दिन का संकेत है। मृच्छकटिक में भी चेटी कहती है—आर्ये। प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व, उन्नमति अकालदुर्दिनम्। "मृच्छकटिक में इसके आगे दुर्दिन का वर्णन पंचम अंक में है। उसी अवसर पर वसन्तसेना अभिसार के लिये जाती है। मृच्छकटिक में इसी कारण पंचम अंक का नाम दुर्दिन रखा है किन्तु चारुदत्त का संपादक मृच्छकटिक के समान ही अभिसारोत्सुकता तथा दुर्दिन का संकेत तो अवश्य देता है, किन्तु नाटक को आगे न बढ़ा कर यहीं समाप्त कर देता है। गणिका चेटी से कहती है—"हताशे। मा खलु वर्धय।" इससे स्पष्ट है कि चारुदत्त का संपादक अग्रिम घटना चक्र से सुपरिचित था किन्तु वह यही अमृतांक नाटक के रूप में समाप्त करना चाहता था। इन समाप्ति के वाक्यों तथा अन्य अंकों से शब्द संकेतों से स्पष्ट है कि चारुदत्त के संपादक के सामने मृच्छकटिक के समान ही कोई नाटक अवश्य था। उसी के ४ अंकों के आधार पर वह रंगमंचीय संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत कर रहा था, अतएव उसने सुखान्त के रूप में "हताशे मा खलु वर्धय" की चेतावनी द्वारा चेटी को रोक कर अमृतांक नाटक समाप्त कर दिया है।

यद्यपि चारुदत्त ४ अंकों की समाप्ति के साथ समाप्त हो गया किन्तु चतुर्थ अंक के अन्त में चतुर्थांक लिखा है, समाप्ति का संकेत नहीं है। यद्यपि किसी हस्तप्रति में "अवसितं चारुदत्तम्" का उल्लेख भी प्राप्त है[1]। किन्तु वास्तविकता यह है कि ४ अंको में नाटक अपूर्ण है। चारुदत्त के नायक-नायिका चारुदत्त तथा वसन्तसेना से सम्बन्धित अभिसार के रूप में प्राप्त्याशा का संकेत अवश्य कर दिया है, किन्तु नियताप्ति तथा फलागम दोनों महत्त्वपूर्ण अवस्थाओं का सर्वथा अभाव है। अतः ४ अंकों की समाप्ति के साथ चारुदत्त को पूर्ण नहीं माना जा सकता।

यद्यपि चारुदत्त के अन्त मे मदनिका तथा सज्जलक का मिलन प्रदर्शित करके अमृतांक नाटक बना दिया है, किन्तु मदनिका तथा सज्जलक का प्रणय उपकथा मात्र है। इस कथा के उपसंहार को नाटक का उपसंहार नहीं माना जा सकता। नाटक के समुचित उपसंहार के लिये कुछ अंकों का होना अत्यावश्यक है, किन्तु वे अंक हमें उपलब्ध नहीं हैं। अतः चारुदत्त को संपूर्ण नाटक नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त समग्र विश्लेषण के पश्चात् संक्षेप में यही निष्कर्ष निकलता है कि चारुदत्त के संपादक ने मृच्छकटिक के समानता किसी नाटक के आधार पर संभवतः अपने उद्देश्य के अनुसार रंगमच के लिये आगे के घटनाचक्र को उचित न समझ कर ४

---

१. ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर, जागीरदार, पृ० १६१,

अंकों का ही संक्षिप्त संस्करण तैयार किया है। अतः चारुदत्त को कि ी भी दृष्टि से मौलिक नाटक मानना उचित प्रतीत नहीं होता है।

मृच्छकटिक नाटक से तुलना करते हुए हमने बतलाया है कि चारुदत्त में रंग-मंच की दृष्टि से तथा नाट्यशिल्प आदि की सरलता के लिये अनेक दृश्यों में परिवर्तन तथा परित्याग किया है। काट छांट की है। द्यूतदृश्य जैसी अनेक सुन्दर घटनाओं को छोड़ दिया है। पात्रों की संख्या कम कर दी है। मृच्छकटिक के ४ अंकों में लगभग १६--१७ पात्र हैं, जब कि चारुदत्त के ४ अंकों के संपूर्ण नाटक में केवल ११ हैं। इसी प्रकार मृच्छकटिक में ४ अंकों में १४० श्लोक हैं, जबकि चारुदत्त में केवल ५५ हैं। चारुदत्त में द्वितीय अंक में एक भी श्लोक नहीं है, जबकि मृच्छकटिक के द्वितीय अक में २० श्लोक हैं। चारुदत्त के ५५ श्लोकों में केवल १३ श्लोक मृच्छकटिक में प्राप्त नहीं हैं, ४२ मृच्छकटिक के ही हैं। इस समस्त पर्यवेक्षण से यही ज्ञात होता है कि चारुदत्त के सपादक ने यह समस्त काट-छांट नाटकीयता के ि ये की है[1]। उपर्युक्त समस्त समीक्षण से यही निष्कर्ष निकलता है कि चारुदत्त अम लिक, अपूर्ण, रंगमंचोपयोगी संक्षिप्त रूपान्तर है। न यह भास जैसे कलाकार की कृति है, और न मृच्छकटिक जैसे साहित्यिक नाटक का उपजीव्य ही।

उपर्युक्त विवेचन से उपलब्ध निष्कर्ष को संक्षेप में हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

(१) मृच्छकटिक तथा चारुदत्त—दोनों ही मौलिक नाटक नहीं हैं। ये दोनों शूद्रक रचित किसी अन्य नाटक के दो संस्करण हैं।

(२) मृच्छकटिक साहित्यिक सस्करण है, चारुदत्त रंगमंचीय संस्कर ण है।

(३) मृच्छकटिक पूर्णतः मौलिक कृति नहीं है, तथापि इसमें अधिकांश में मौलिकता सुरक्षित है। चारुदत्त सर्वांश में अमौलिक है। यह मौलिक कृति के कुछ अंश का सामान्य अभिनेय संस्करण है।

(४) मृच्छकटिक साहित्यिक दृष्टि से पूर्ण नाटक है। चारुदत्त अपूर्ण है, अपखण्ड है।

(५) मृच्छकटिक कुशल नाटककार द्वारा संपादित है। चारुदत्त अकुशल संपा-दक के अकुशल हाथों द्वारा संपादित है।

(६) मृच्छकटिक के संपादक ने संभवतः साहित्यिकता को उभार दिया है, चारुदत्त के सपादक के अकुशल हाथो द्वारा इसकी मौलिकता भी सदुष्ट हो गयी है।

---

१. इससे ज्ञात होता है कि मृच्छकटिक में चारुदत्त की अपेक्षा मूल नाटक की मौलिकता सुरक्षित है।

(७) न मृच्छकटिक शूद्रक की रचना है, न चारुदत्त भास की।

(८) न मृच्छकटिक चारुदत्त का उपजीव्य है न चारुदत्त मृच्छकटिक का।

(९) और, न मृच्छकटिक चारुदत्त से परवर्ती रचना है, न चारुदत्त ही मृच्छकटिक से पूर्ववर्ती संस्करण है।

(१०) अन्त में, संस्कृत-वाङ्मय में भास की रचना के रूप में चारुदत्त का कहीं भी प्राचीन उल्लेख नहीं है[१], किन्तु दरिद्रचारुदत्त के रूप में इसका अनेकशः उल्लेख हुआ है। मृच्छकटिक की प्रस्तावना में तथा अन्यत्र दरिद्र तथा चारुदत्त शब्दों से नाटककार का विशेष लगाव प्रतीत होता है[२]। यद्यपि नाटककार ने सूत्रधार के मुख से मृच्छकटिक प्रकरण का उल्लेख अवश्य कराया है, किन्तु कवि तथा नाटक के परिचय के प्रसंग में मृच्छकटिक का उल्लेख तक नहीं है, जब कि नाटक की घटनाओं के प्रसग में उल्लेख हो सकता था। अतः हमारा अनुमान है कि "दरिद्र चारुदत्त" ही शूद्रक की मौलिक रचना थी, और इसी के चारुदत्त तथा दरिद्र चारुदत्त के रूप में प्राचीन समय में उल्लेख हुआ है। कुछ समय पश्चात् संभवतः किसी कुशल नाट्यशिल्पी ने दरिद्र चारुदत्त का साहित्यिक संस्करण करते समय इसका चमत्कार-पूर्णनाम "मृच्छकटिक" रख दिया, जब कि किसी अन्य पश्चात्कालीन सामान्य संपादक ने "दरिद्र चारुदत्त" का चारुदत्त के नाम से रंगमंच पर अभिनय के लिए संक्षिप्त संस्करण किया। यद्यपि इस अनुमान के सम्बन्ध में विशेष दृढ़ता से कुछ नहीं कहा जा सकता, तथापि इतना अवश्य है कि चारुदत्त को मृच्छकटिक का मूल मानने वाले कीथ[३] आदि विद्वानों का मत सर्वथा भ्रामक ठहरता है। चारुदत्त को मृच्छकटिक का उपजीव्य कदापि नहीं माना जा सका। अतः मृच्छकटिक के आधिकारिक कथानक का उपजीव्य बृहत्कथा को ही मानना समुचित है।

मृच्छकटिक के कथानक की ऐतिहासिकता तथा काल्पनिकता

हम कह चुके हैं कि मृच्छकटिक का कथानक दो घटनाचक्रों के रूप में विभक्त है। प्रथम आधिकारिक कथानक का घटना चक्र चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रणय से सम्बन्धित है तथा द्वितीय, प्रासंगिक कथानक आर्यक तथा पालक के राजनैतिक

१. जागीरदार ने अनुष्टुप छन्द के विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि चारुदत्त में, क्योंकि कुल ५५ श्लोकों में से १७ अनुष्टुप हैं, अतः यह स्वप्नवासवदत्ता के लेखक की कृति न होकर किसी निम्न श्रेणी के लेखक की कृति है।

२. मृच्छकटिक १।६, तथा अन्य समस्त नाटक में प्रायः दारिद्र्य चर्चा है।

३. संस्कृत ड्रामा: कीथ, पृ० १३१, तथा इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ मृच्छकटिक डा० देवस्थली, पृ० १०३ आदि,

घटनाचक्र के रूप में विन्यस्त है। नाटककार ने चारुदत्त तथा वसन्तसेना से सम्बन्धित आधिकारिक कथानक संभवतः बृहत्कथा से सँजोया है। यद्यपि आज हमें बृहत्कथा अपने मूल रूप में (पैशाची में) उपलब्ध नहीं है, किन्तु बृहत्कथा कथासरित्सागर आदि के संस्करण के रूप में उपलब्ध है। अतः कथासरित्सागर आदि के आधार पर ही मृच्छकटिक के कथानक के सूत्र का अनुसन्धान करना संभव है।

कथा में अनेक प्रणय-कथायें वर्णित हैं। कथा० में रूपणिका तथा निर्धन-ब्राह्मण लोहजंघ की प्रणय-कथा का वर्णन प्राप्त है[1]। इस कथा में रूपणिका अपनी माता के विरोध करने पर भी लोहजंघ से प्रेम करती है, रूपणिका की माँ निर्धन ब्राह्मण को दूर भेजने आदि के कुचक्र भी रचती है, किन्तु प्रेमी को प्रेमिका से पृथक करने में सफल नहीं हो पाती। विद्वानों की मान्यता है कि मृच्छकटिक के लेखक ने बृहत्कथा के इसी स्थल से प्रेरणा ग्रहण करके निर्धन चारुदत्त तथा वसन्तसेना की प्रणयकथा उपनिबद्ध की है। डा० देवस्थली के अनुसार निर्धन ब्राह्मण और गणिका की प्रणय-कथा को शूद्रक ने इसी रूप में अपना लिया है, किन्तु माँ के विरोध को स्वीकृति तथा समर्थन के रूप में परिवर्तित कर दिया है[2]।

इसी प्रकार कथा० में वेश्या मदनमाला की कथा वर्णित है[3]। इस कथा में प्रसंगतः एक निर्धन जुआरी मदनमाला के निवासस्थान का वर्णन करता है। नाटक के चतुर्थ अंक में भी विदूषक वसन्तसेना के प्रासाद प्रकोष्ठों का वर्णन करता है। कीथ इन दोनों स्थलों की तुलना की संभावना करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से नाटक के उपर्युक्त वर्णन के लिये कथा० को प्रेरक मानते हैं[4]।

कथा० में कुमुदिकाकथा के नाम से एक और प्रणय-कथा प्राप्त है[5]। इस कथा में वेश्या कुमुदिका तथा निर्धन ब्राह्मण श्रीधर के प्रेम का उल्लेख है। प्रेमी श्रीधर को उज्जयनी का राजा बन्दी बना लेता है। बाद में विक्रमसिंह नामक राजा, जो कि राज्य से अपदस्थ हो चुका है, कुमुदिका की सहायता से राज्य को प्राप्त करता है, और श्रीधर को मुक्ति दिलाता है। डा० कीथ तथा डा० देवस्थली[6] आदि विद्वान् नाटक के प्रासंगिक राजनैतिक कथानक से उपर्युक्त कथा० के स्थल से साम्य की संभावना करते हैं। डा० देवस्थली के अनुसार नाटककार ने राज्यच्युत होने तथा

१. कथासरित्सागर २।४।४८–१९५,

२. इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ मृच्छकटिकः डा० देवस्थली पृ० १००–१,

३. कथा० ७।४,

४. संस्कृत ड्रामाः पृ० १३४,

५. कथा० १०।२।१–५३,

६. संस्कृत ड्रामाः पृ० १३३, इन्ट्रोडक्शन टु दि मृच्छकटिकः देवस्थली, पृ० १०१,

पुनः राज्यासीन होने और राजा की सहायता आदि से सम्बन्धित घटनाचक्र को उपर्युक्त कथा० की कथा के आधार पर ही अपने प्रकार से उपनिबद्ध किया है। डा० देवस्थली ने लिखा है कि नाटककार ने कथा० में वर्णित विक्रमसिंह की राज्यच्युति तथा पुनः राज्योपलब्धि के स्थान पर पालक की राज्यच्युति उसकी हत्या तथा उसके स्थान पर आर्यक की राज्योपलब्धि को नाट्य रूप में निबद्ध किया है। इसी प्रकार कौमुदिका द्वारा राज्य-प्राप्ति के लिये विक्रमसिंह की सहायता तथा प्रिय-संगम को नाटककार ने वसन्तसेना को चारुदत्त की वधू तथा आर्यक की राज्यप्राप्ति के सहायता के रूप में नाट्यबद्ध किया है[1]।

निःसन्देह उपर्युक्त कथासरित्सागर तथा नाटक की मुख्य-मुख्य घटनाओं में बहुत साम्य है। अतः यह संभव है कि नाटककार ने बृहत्कथा से प्रेरणा ली हो। किन्तु यह साम्य इतना अधिक तथा सर्वांगीण नहीं है कि हम बृहत्कथा को नाटक का उपजीव्य मान सकें। लोहजंघ तथा निपुणिका के प्रणय, मदनमाला के महल के वर्णन को नाटक में वर्णित वसन्तसेना तथा चारुदत्त के प्रणय और वसन्तसेना के प्रासाद वर्णन आदि का प्रेरक स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु कुमुदिका तथा श्रीधर के प्रणय और विक्रमसिंह से सम्बन्धित राजनैतिक घटना से नाटक में वर्णित आर्यक तथा पालक आदि से सम्बन्धित घटनाचक्र का साम्य मानना अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

कथा० के अनुसार राजा विक्रमसिंह को प्रतापादित्य आदि राजा युद्ध में परास्त कर देते हैं। अपने मंत्री अनन्त गुण के साथ विक्रमसिंह युद्ध क्षेत्र से भाग कर कुमुदिका के घर में आकर शरण लेता है। दोनों में घनिष्ठता हो जाती है। फलतः कुमुदिका की सहायता से विक्रमसिंह पुनः राज्य प्राप्त कर लेता है[2]। और, अन्त में कुमुदिका की खिन्नता के कारण का पता लगा लेने पर प्रत्युपकार के रूप में उज्जयनी जाकर कुमुदिका के प्रियतम श्रीधर को बन्धन मुक्त कराता है[3]। सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर नाटक की प्रासंगिक राजनैतिक घटना का कथा० की उपर्युक्त घटना से बहुत कम साम्य प्रतीत होता है। कथा० के समान नाटक में वसन्तसेना सीधे ही आर्यक की राज्योपलब्धि में सहायक नहीं होती है और न आर्यक ही चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रणयमिलन में सक्रिय रहता है। तथापि, कथा० की कथा को आंशिक रूप में नाटक के कथानक का प्रेरक माना जा सकता है। परन्तु वास्तविकता यही है कि शूद्रक ने अपने प्रकरण के लिए कथानक की मूलतः कल्पना द्वारा उद्भावना

---

१. इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ मृच्छकटिक. देवस्थली, पृ० १०१,
२. कथा० १०।२।५–४३,
३. कथा० १०।२।४५–५३,

की है। मृच्छकटिक के नाटककार ने बृहत्कथा की एक भी घटना को उसी रूप में स्वीकार करके रूपायित नहीं किया है। सर्वत्र नाटककार ने अपनी मौलिकता को सक्रान्त करके बृहत्कथा के नीरस कंकाल को सरस तथा सजीव बनाया है, मांसलता का विनिवेश करके नाटकीयता की उद्भावना की है, तथा विशृंखल कथासूत्रों में एकतारता तथा समरसता का उन्मेष करके व्यवस्थित रूप दिया है। अतः हम बृहत्कथा के कथानक की विशृंखल रूपरेखा मात्र की प्रेरणा लेने के कारण बृहत्कथा को उपजीव्य मानना उचित नहीं समझते। हमारा अभिमत है कि मृच्छकटिक के नाटककार ने अधिकांश में कथानक को लोकवृत्त के आधार पर कल्पना द्वारा आविर्भूत किया है, (१) चारुदत्त, वसन्तसेना, शर्विलक तथा मदनिका आदि पात्र (आर्यक तथा पालक को छोड़कर) उद्भावित तथा लोक से संग्रहीत हैं। (२) चारुदत्त तथा वसन्तसेना की आधिकारिक प्रणयकथा लोक-प्रचलित दन्तकथाओं के आधार पर अभिसृष्ट है। (३) शकार का धूर्ततापूर्ण चरित्र, द्यूतदृश्य, शर्विलक तथा रदनिका का प्रणय, संवाहक से सम्बन्धित उपकथा तथा रोहसेन और धूता की करुणा-प्रधान मार्मिक उपकथा आदि से सम्बन्धित कथायें नाटककार की निजी उद्भावनायें हैं। (४) आर्यक तथा पालक से सम्बन्धित राजनैतिक कथानक को लोक संश्रय के रूप में लोक से सँजोया है तथा अपनी मौलिक पद्धति से आधिकारिक नाट्यकथा के साथ संश्लिष्ट करके रूपायित किया है।

मृच्छकटिक में आर्यक तथा पालक से सम्बन्धित प्रासंगिक कथानक के अतिरिक्त समस्त कथा–उपकथा उत्पाद्य हैं। न तो उनके पात्रों की ऐतिहासिकता का पता चलता है और न घटनाओं की ऐतिहासिकता का ही। किन्तु, प्रासंगिक राजनैतिक कथानक लोकसंश्रय होने के साथ-साथ ऐतिहासिक है। यद्यपि आर्यक तथा पालक से सम्बन्धित राज्यक्रांति की घटना शूद्रक से पूर्व ही घटित हो चुकी थी, तथापि शूद्रक के समय में लोककथा के रूप में प्रसिद्ध थी। अतः शूद्रक ने इस राज्यक्रांति की घटना को भी ऐतिहासिक घटना के रूप में संग्रह न करके लोककथा के रूप में ही सँजोया है। अनुमानतः शूद्रक के समय में सामाजिक तथा राजनैतिक दशा अत्यधिक विशृंखल थी। राज्य में राजा के अत्याचार तथा अन्याय के कारण न्याय तथा शान्ति का अभाव था। सर्वत्र अराजकता व्याप्त थी। राज्य उलटने के उद्देश्य से षडयंत्र तथा विप्लवों में ही लोग लगे रहते थे। कुछ ही समय में राज्यक्रांतियाँ सफल हो जाती थीं। शूद्रक ने इसी प्रकार की समकालीन सामाजिक तथा राजनैतिक दशा के चित्रण के लिये आर्यक तथा पालक से सम्बन्धित प्राचीन काल से प्रचलित लोककथा को नाटक में प्रासंगिक कथा के रूप में संयुक्त किया है। यद्यपि इस राजनैतिक लोककथा से तत्कालीन राजनैतिक तथा सामाजिक चित्र को उभारने में तथा नाटक सजीवता एवं सरसता के अतिरिक्त नाटकीयता लाने में पर्याप्त सहायता

मिली है, परन्तु इसकी ऐतिहासिकता में विशुद्धता तथा विश्वसनीयता का अभाव ही रहा है। इस कथा के लोक तत्त्व ने ऐतिहासिक विशुद्धता को सक्रान्त कर लिया है। यही कारण है कि विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता को विशेष महत्त्व नहीं दिया है और इसी कारण ऐतिहासिक नाटक की अपेक्षा यह सामाजिक नाटक के रूप में ही अधिक जाना जाता है।

विन्टरनिट्ज ने "भारतीय साहित्य में ऐतिहासिक नाटक" नामक निबन्ध में "कौमुदी महोत्सव" के समालोचन के प्रसंग में लिखा है कि कौमुदी महोत्सव तथा मृच्छकटिक समान ही ऐतिहासिक नाटक हैं। उनके अनुसार मृच्छकटिक में वर्णित पालक के विरुद्ध आर्यक के राजनैतिक षड्यन्त्र की पृष्ठभूमि तथा कौमुदी महोत्सव में वर्णित चण्डसेन तथा कल्याणवर्मन से सम्बन्धित कथानक में समानता है। "विन्टरनिट्ज ने दोनों की इस समानता का उपसंहार करते हुए लिखा है कि दोनों ही नाटकों में वर्तमान में उपलब्ध भारतीय इतिहास के अनुसार घटनाओं का अनुसन्धान असंभव है[1]।" इस प्रकार विन्टरनिट्ज ने कौमुदी महोत्सव तथा मृच्छकटिक को समान अर्थ में ऐतिहासिक नाटक मानकर एक स्तर पर रखने का प्रयत्न किया है। किन्तु उनका मत अधिक समीचीन नहीं है। कौमुदी महोत्सव के सम्बन्ध में हमने आगे विशेष प्रकाश डाला है। श्री रामकृष्ण कवि ने कौमुदी महोत्सव के कथानक के किसी भी अंक की ऐतिहासिकता का निश्चय न होने पर भी इसे ऐतिहासिक नाटक के रूप में सर्वप्रथम प्रकाशित किया था। इसके पश्चात् भी अनेक इतिहासकार तथा साहित्यकारों ने कौमुदी महोत्सव की ऐतिहासिकता के अनुसन्धान की चेष्टा की है, तथापि अद्यावधि सर्वसम्मत रूप से उसके किसी भी कथांश की ऐतिहासिकता स्वीकृत न होने पर भी ऐतिहासिक पात्रों के नाम-साम्य आदि के आधार पर ही आज भी उसका ऐतिहासिक नाटक के रूप में प्रचलन है। किन्तु मृच्छकटिक में पालक तथा आर्यक से सम्बन्धित प्रासंगिक कथानक के ऐतिहासिक होने पर भी इसका सामाजिक नाटक के रूप में ही प्रचलन है। हम भी यद्यपि

---

१. 'The Kaumodi Mahotsava is a historical drama only in the same sense as the Mrichchakatika. That is to say, as the political intrigue of the latter the raising of Aryaka against Palaka is likely to have some historical background so also the story of Chanda'en and Kalyan Verman in the Kaumodi Mahotsava, but in both cases we are unable to trace the events alluded in the history of India as far as it known to us at present."

— Historical Dramas in Sanskrit Literature by Winternitze: K. S. Comm. Vol. 1936 P. 362

आधिकारिक कथानक के आधार पर मृच्छकटिक को सामाजिक नाटक ही मानना अधिक उचित समझते हैं, तथापि हम यह भी मानते हैं कि मृच्छकटिक का सामाजिक तत्त्व प्रासंगिक रूप से निबद्ध ऐतिहासिक कथानक से अछूता नहीं है। अतः इसका ऐतिहासिक नाटक के रूप में भी महत्त्व है।

कोई भी विद्वान् मृच्छकटिक में उपलब्ध राजनैतिक तथा ऐतिहासिक स्वरूप के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं कर सकता। यह अवश्य है कि नाटक के आधिकारिक सामाजिक कथानक ने उसे गौण ही रहने दिया है अतएव हम मृच्छकटिक को विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं मानते हैं तथापि यह ऐतिहासिक अवश्य है। नाटककार ने समस्त नाटक में कभी भी आर्यक पालक से सम्बन्धित घटना को दृष्टि से ओझल नहीं किया है अपितु प्रसंगतः स्थान-स्थान पर उसने उस घटना का उल्लेख किया है। प्रथम अंक में प्रस्तावना में पालक का तदनतर गोपालदारक का उल्लेख है। तृतीय अंक में आर्यक की मुक्ति के सहायक शर्विलक की अवतारणा करके चतुर्थ के अन्त में शर्विलक अपने मित्र आर्यक को मुक्त कराने को चला जाता है। आगे षष्ठ अंक में ऐतिहासिक घटना का क्रमशः विस्तार होता है और नाटक की समाप्ति इसी ऐतिहासिक घटना के साथ-साथ होती है। इसके अतिरिक्त नाटक का समस्त सामाजिक कथानक भी ऐतिहासिक राजधानी उज्जैनी से सम्बन्धित है तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि पर खड़ा किया गया है। नाटक की अधिकांश घटना किसी न किसी रूप में शकार आदि राज-परिजन तथा अन्य राज्याधिकारियों को छूते-छूते आगे बढ़ी है। समस्त नाटक में राजनैतिक वातावरण में ही सामाजिक कथानक को नाटकबद्ध किया है। अतएव यह राजनैतिक वातावरण में अभिसृष्ट सामाजिक नाटक सा प्रतीत होता है। सामान्यतः इसे इतिहास गर्भित-सामाजिक नाटक या संस्कृतिप्रधान ऐतिहासिक नाटक के रूप में स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती। वास्तविकता यही है कि पालक तथा आर्यक की राजनीतिक घटना चारुदत्त तथा वसन्तसेना की कथा से इतनी सम्पृक्त है कि दोनों को ही साथ-साथ विन्यस्त करने से नाटक की आत्मा उभरती प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त इसी प्रासंगिक कथा के द्वारा मुख्य कथा क्रमशः गतिशील होती है तथा सामाजिक वातावरण की सृष्टि में अत्यधिक योग देती है। यही कारण है कि ऐतिहासिक कथा के परिपार्श्व में ही मृच्छकटिक का अध्ययन करना अधिक उपयुक्त है, अतएव यह भी स्पष्ट है कि मृच्छकटिक के ऐतिहासिक कथानक का नाटक में समधिक महत्त्व है।

विन्टर्निट्ज का यह कथन कि मृच्छकटिक में वर्णित राजनैतिक घटना का उपलब्ध भारतीय इतिहास के अनुसार अनुसंधान नहीं हो सकता, सर्वथा त्रुटिपूर्ण है। वास्तविकता इतनी ही है कि मृच्छकटिक के रचयिता ने पालक तथा आर्यक की घटना को लोक से सँजोया है और उसी रूप में नाट्यबद्ध कर दिया है। अतएव

नाटक की कथा का प्राप्त इतिहास से यत्र तत्र विरोध है। किन्तु उसकी ऐतिहासिकता सुनिश्चित है। अतः कौमुदी महोत्सव, जिसकी कथा तथा पात्रों की ऐतिहासिकता अनिश्चित तथा विवादास्पद है, से मृच्छकटिक के ऐतिहासिक कथानक का साम्य स्वीकार करना उचित नहीं है। मृच्छकटिक में मुख्यतः गोपाल तथा आर्यक की प्रासंगिक घटना ही ऐतिहासिक है। अतः यहाँ उसका ही विश्लेषण करना उचित होगा।

पालक तथा आर्यक से सम्बन्धित कथानक की ऐतिहासिकता

मृच्छकटिक में प्रासंगिक कथानक के रूप में विन्यस्त पालक तथा आर्यक के राजनैतिक कथानक से सम्बन्धित समस्त पात्र ऐतिहासिक नहीं हैं। पालक तथा आर्यक ऐतिहासिक पात्र हैं अन्य शर्विलक आदि पात्र कल्पित हैं। पालक तथा आर्यक से सम्बन्धित राजनैतिक घटना ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण न होने से, इतिहास ग्रन्थों में इसका उल्लेख अतिस्वल्प मात्रा में हुआ है। मुख्यतः प्राचीन भारत के प्रसिद्ध राज्य "अवन्ति" उसकी राजधानी उज्जयिनी तथा उसके पराक्रमी राजा प्रद्योत से सम्बन्धित होने के कारण ही इस घटना का प्रसगतः यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होता है।

ईसा पूर्व षष्ठ शतक में भारत के प्राचीन १६ जनपदों में से एक "अवन्ति" भी था। प्राचीनकाल में अवन्ति में हैहयवंश का राज्य था, किन्तु बिम्बसार के शासन काल के अन्त में वहाँ एक नवीन राजवंश स्थापित हुआ। इस नवीन वंश का संस्थापक प्रद्योत था। यह प्रद्योत वंश लगभग ५०५ ई० पू० में अधिष्ठित हुआ। बौद्धकाल में उदयन तथा अजातशत्रु आदि के समय प्रद्योत ही अवन्ति देश का शासक था। प्रद्योत भारतीय इतिहास में अपने प्रचण्ड पराक्रम तथा दुर्दान्त तेज के लिए प्रसिद्ध है। इसीलिए प्रायः प्रद्योत को चण्ड प्रद्योत (चण्ड पज्जोत) तथा सेना की विशालता के कारण महासेन कहा गया है। पुराणों के अनुसार इस प्रद्योतवंश में ५ राजा हुए—प्रद्योत, पालक, विशाखयूप, आर्यक और अवन्ति वर्धन। आर० के० मुकर्जी ने पुराणों के अनुसार ५ प्रद्योतों का नामोल्लेख इस प्रकार किया है—प्रद्योतन, पालक (एक पाठ गोपालक), विशाखयूप, जनक (वायु पुराण में अजक, मत्स्य में सूर्यक तथा भागवत में राजक) और नन्दिवर्धन (वर्तिवर्धन भी नाम का एक रूप है)[1]। मुकर्जी ने जिस प्रद्योतवंशी जनक, (सूर्यक राजक, और आजक) का उल्लेख किया है, वह नाटक में उल्लिखित आर्यक ही है। इसी प्रकार पुराणों के अनुसार मुकर्जी ने जिस नन्दिवर्धन का उल्लेख किया है, वह कथा० में अवन्तिवर्धन के नाम से उल्लिखित

---

१. हिन्दू सभ्यताः आर० के० मुकर्जी, पृ० २६२,

है ।[1] अतः नन्दिवर्धन तथा वर्तिवर्धन अवन्तिवर्धन के पाठान्तर मात्र हैं ।

मृच्छकटिक में इसी प्रद्योतवंश के पालक तथा आर्यक से सम्बन्धित राजनैतिक घटना को नाट्यबद्ध किया गया है । प्रद्योतवंश में प्रद्योत के उत्तराधिकारियों में पालक के अतिरिक्त सभी राजा दुर्बल हुए । पालक से सम्बन्धित थोड़ा बहुत इतिवृत्त कथा० आदि ग्रन्थों में भी वर्णित है । श्री मुकर्जी ने पुराणों के आधार पर पालक का उल्लेख करते हुए उसी के पाठान्तर के रूप में गोपालक का उल्लेख किया है ।[2] इसी प्रकार अनेक इतिहासकारों ने पालक तथा गोपालक में केवल 'गो' अक्षर के अन्तर के कारण पाठभेद माना है, अन्यथा वे इन दोनों को एक ही मानते हैं ।

इसी प्रकार समानता के आधार पर, कुछ इतिहासकारों ने आर्यक को गोपाल का पुत्र कहा है ।[3] यद्यपि मृच्छकटिक में भी आर्यक का गोपालदारक के रूप में उल्लेख किया है[4] और कुछ विद्वानों ने भी उसको अर्थ गो पालने वाले ग्वाले का पुत्र माना है, किन्तु पालक तथा गोपाल को एक मानना तथा आर्यक को ग्वाले का पुत्र मानना इतिहास-विरुद्ध तथा भ्रामक है । कथा० में प्रद्योत के दो पुत्र थे गोपालक तथा पालक ।[5] गोपालक बड़ा तथा पालक छोटा था । भास ने भी पालक तथा गोपालक का प्रद्योत पुत्र के रूप में उल्लेख किया है ।[6] केवल 'गो' अक्षर के अन्तर के कारण पालक का पाठान्तर गोपालक मानना उचित नहीं है । वस्तुतः पालक तथा गोपालक दोनों भाई थे । आर्यक गोपालक का पुत्र था । नाटक में इसी गोपालक का गोपाल के रूप में उल्लेख करके आर्यक को गोपाल दारक कहा है । नाटक में इसी आर्यक द्वारा पालक के विरुद्ध की गई राज्यक्रांति का वर्णन है ।

किन्तु प्रद्योतवंश की पौराणिक वंशावली में गोपालक का उल्लेख नहीं है और इसी प्रकार प्रद्योत की पौराणिक वंशावली में पालक तथा आर्यक के मध्य में उल्लिखित विशाखयूप का मृच्छकटिक में उल्लेख नहीं है, बल्कि नाटक में तो पालक को अपदस्थ करके आर्यक के राज्यासीन होने का वर्णन किया गया है । अतः गोपालक तथा विशाखयूप की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में सन्देह होना स्वाभाविक है ।

---

१. हिन्दू सभ्यता : आर० के० मुकर्जी (हिन्दी), पृ० २६२,
२. हिन्दू सभ्यता : आर. के. मुकर्जी (हिन्दी), पृ० २६२,
३. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० ७१,
४. "एषोऽद्य गोपालदारको गुप्तिं भङ्क्त्वा" मृच्छ० ६।१ से पूर्व, पृ० ३२७, आदि ।
५. कथा० २ ५।२१–२८,
६. प्रतिज्ञायौगन्धरायण २।१३,

कथा० के अनुसार प्रद्योत के बाद पालक ही राजा बना।[1] प्रायः सभी इतिहासकार यही मानते हैं। अतः स्पष्ट है कि गोपालक पालक का बड़ा भाई था, तथापि राज्यासीन नहीं हुआ। कथा० के अनुसार यह भी स्पष्ट है कि उदयन तथा गोपालक में परस्पर घनिष्ठता थी। गोपालक ने उदयन तथा बहिन वासवदत्ता के विवाह, अपहरण आदि में सक्रिय भाग लिया था। इसी ने वासवदत्ता के अपहरण के पश्चात् कौशाम्बी जाकर वैधानिक संस्कार कराया था तथा उपहार भेंट किये थे।[2] ऐसा भी जान पड़ता है कि गोपालक प्रायः वासवदत्ता तथा उदयन के पास ही रहता था। गोपालक को राज्य प्राप्ति की इच्छा नहीं थी, इसी उदासीनता के कारण सम्भवतः छोटा भाई पालक प्रद्योत के बाद राजा बना। बृहत्कथाश्लोकसंग्रह के अनुसार स्वयं गोपालक ने पालक का राज्याभिषेक किया था।[3] यही कारण है कि प्रद्योत के उत्तराधिकारी के रूप में गोपालक का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। किन्तु इन उल्लेखों में कितनी सत्यता है, कहना कठिन है। मृच्छकटिक में वर्णित घटना के आधार पर उपर्युक्त कथाओं में सहज ही विश्वास नहीं होता है।

मृच्छकटिक में पालक को एक अत्याचारी शासक के रूप में चित्रित किया है। नाटक में उसे दुराचारी, चाण्डाल,[4] कुनृप,[5] बलमन्त्रिहीन,[6] तथा दुष्ट[7] आदि कहा है। नाटककार भास ने भी उसे गान्धर्वकलाद्वेषी तथा व्यायाम-प्रेमी कहा है।[8] अतः ज्ञात होता है कि संभवतः पालक दुष्टप्रकृति का व्यक्ति था। प्रद्योत की मृत्यु के बाद उसने अपने कुचक्रों द्वारा बड़े भाई शान्तिप्रिय गोपालक को, राज्य से वंचित करके अवन्ति को अधिकृत कर लिया था। पालक के अत्याचार, अन्याय आदि के अतिरिक्त संभवतः पालक के विरुद्ध अवन्ति की समस्त प्रजा के असन्तोष का यह भी एक कारण था। मृच्छकटिक में पालक के प्रति इसी प्रजा के असन्तोष तथा विद्रोह भावना को चित्रित

---

१. कथा० १६।२।१३,
२. देखो कथा० २।६।२८–३१ ३।१।१११–२१ तथा ३।२।५३–५५, ६४ आदि।
३. बृ० क० श्लो० संग्रह १।८६,
४. मृच्छकटिक ४।२७, १०।१६ के पश्चात् (नापरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव चाण्डाल),
५. वही, १०।४७,
६. वही, १०।४८ ६।४०,
७. वही, १०।५१, ५२ इत्यादि
८. अर्थशास्त्रगुणग्राही ज्येष्ठो गोपालकः सुतः।
गान्धर्वद्वेषी व्यायामशाली चाप्यनुपालकः। प्रतिज्ञा० २।११,

किया गया है। इसी जन-असन्तोष का परिणाम था कि प्रजा के छोटे-बड़े सभी लोगों ने पालक के विरुद्ध राज्यक्रांति में भाग लिया और कुछ ही समय में सफल विप्लव के द्वारा पालक को राज्यच्युत करके गोपालक के पुत्र आर्यक को राज्य पर आसीन किया। यही कारण है कि प्रद्योत के बाद गोपालक का उल्लेख न होकर पालक का उल्लेख है। इस प्रकार कथासरित्सागर आदि की अपेक्षा नाटक में वर्णित राज्यक्रांति, गोपालक के उल्लेख का अभाव तथा आर्यक के राज्यासीन होने की परिस्थितियों का चित्रण अधिक स्वाभाविक तथा सत्य के निकट जान पड़ता है।

मृच्छकटिक में पालक के पश्चात् आर्यक को उत्तराधिकारी के रूप में चित्रित किया है, जबकि पुराणों के अनुसार विशाखयूप पालक का उत्तराधिकारी था। अतः प्रद्योतवंश की पौराणिक वंशावली में उल्लिखित पालक के उत्तराधिकारी विशाखयूप का उल्लेख त्रुटिपूर्ण होना चाहिये, या मृच्छकटिक का वर्णन अनैतिहासिक होना चाहिये। डा० त्रिपाठी विशाखयूप के उल्लेख को गलत मानते हैं।[1] किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर पौराणिक वंशक्रम भी ठीक प्रतीत होता है तथा नाटक में चित्रित घटनाक्रम भी ऐतिहासिक प्रमाणित होता है। मृच्छकटिक के अनेक स्थलों से यह तो स्पष्ट है कि आर्यक गोपालक का पुत्र था। इतिहासकार भी यही मानते हैं। किन्तु प्रद्योत के पौराणिक वंशक्रम के आधार पर विशाखयूप भी पालक का उत्तराधिकारी था। पुराणों में विशाखयूप को–माहिष्मती का राजा लिखा है। कथा० में पालक का पुत्र अवन्तिवर्धन बतलाया गया है।[2] अतः हमारा अनुमान है कि विशाखयूप तथा आर्यक ने एक समय में ही अवन्ति के भिन्न-भिन्न भागों पर राज्य किया था। संभवतः जिस समय पालक के विरुद्ध आर्यक ने विद्रोह करके अवन्ति पर अधिकार किया, उसी समय अवन्तिराज्य (असमान) दो भागों मे विभक्त हो गया। राजधानी उज्जयनी पर आर्यक का ही अधिकार था, किन्तु माहिष्मती की ओर का थोड़ा बहुत भाग विशाखयूप ने हथिया लिया था। इस अनुमान के आधार पर विशाखयूप का उल्लेख भी ठीक प्रमाणित होता है। इसके अतिरिक्त इस अनुमान से यह भी स्पष्ट होता है कि यद्यपि प्रद्योतवंश मे पूर्वोक्त ५ राजा ही हुए, किन्तु ऐतिह्यक्रम से मुख्य अवन्ति-राज्य का उपभोग ४ राजाओं ने ही किया था। विशाखयूप ने अवन्ति का उपभोग अन्य राजाओं के समान नहीं किया, तथापि वह अवन्ति के एक भाग का शासक था। अतएव गोपालक के समान उसकी उपेक्षा न करके पुराणों में उसका प्रद्योतवंश के राजाओं में उल्लेख किया है। किन्तु अवन्ति में पालक का वास्तविक उत्तराधिकारी 'आर्यक' ही था। अतः मृच्छकटिक का उल्लेख पूर्णतः ऐतिहासिक प्रतीत होता है।

---

१. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० ७२,

२. वही, पृ० ७१,

पुराणों में प्रद्योतवंशी राजाओं का राज्यकाल १०० वर्ष (द्विपंचाशत्) लिखा है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि संभवतः पुराणों में ९८ वर्ष के लिये १०० वर्ष लिख दिया है। पुराणों के अनुसार प्रद्योत ५०५ ई० पू० में गद्दी पर बैठा। इसके २३ वर्ष राज्य करने के पश्चात् ई० पू० ४८२ में पालक राज्यगद्दी पर बैठा। कुछ साक्ष्यों के अनुसार पालक ने ६० वर्ष के लगभग राज्य किया, किन्तु पुराणों के अनुसार पालक ने २४ वर्ष राज्य किया। संभवतः पालक के २४ वर्ष के लगभग राज्य करने पर राज्यक्रांति हुई। इसी राज्यक्रांति में पालक मारा गया। पालक के मरने पर आर्यक ने ४५८ ई० पू० में अवन्ति के राज्य को अधिकृत कर लिया। आर्यक के पश्चात् अवन्तिवर्धन अवन्ति का राजा बना। अवन्तिवर्धन को ई० पू० ४०७ में उन्मूलित करके अवन्ति पर शिशुनाक वंश की स्थापना हुई। अतः स्पष्ट है कि प्रद्योतवंश में प्रद्योत के पश्चात् पालक ने २४ वर्ष राज्य अवश्य किया तथा कौशाम्बी को जीतकर अपने राज्य में मिलाया,[1] किन्तु यह लोकप्रिय शासक नहीं था। अतएव आर्यक के नेतृत्व में पालक के विरुद्ध राज्यक्रांति हुई। यह राज्यक्रांति की घटना महत्त्वपूर्ण अवश्य है, किन्तु इसका विस्तार से कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। संभवतः पालक से समस्त प्रजा अत्यधिक रुष्ट तथा असन्तुष्ट थी। अतएव प्रजा के समस्त वर्गों ने इस राज्यक्रांति में भाग लिया और कुछ ही दिनों के स्वल्प समय में यह क्रांति सफल हो गयी। इस क्रांति में कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना घटित नहीं हुई, जिसका विशेष ऐतिहासिक महत्त्व होता। सभवतः यही कारण है कि इसके सम्बन्ध में केवल मृच्छकटिक के अतिरिक्त कहीं भी विशेष उल्लेख प्राप्त नहीं है। मृच्छकटिक के नाटककार ने भी लोक कथा के आधार पर इसका सामान्य वर्णन ही किया है।

मृच्छकटिक में वर्णित प्रासंगिक घटना के अनुसार पालक के राज्यकाल में किसी सिद्ध ज्योतिषी ने आर्यक के राजा होने के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी। इस भविष्यवाणी के भय से आशंकित होकर पालक ने आर्यक को उसके निवासस्थान से पकड़वा कर बन्धन में डाल दिया।[2] किन्तु आर्यक के मित्र शर्विलक ने कारागृह के रक्षकों को मार कर आर्यक को मुक्त कराया।[3] आर्यक कैद से भाग कर चारुदत्त की

---

१. अस्त्युज्जयिन्यांनृपतिः श्रीमान्पालकसंज्ञकः।
कुमारस्तस्य पुत्रोऽस्ति सुनामावन्तिवर्धनः ॥ १६।२।१३,

२. प्रा० भा० इति०, त्रिपाठी, पृ० ७१,

३. "....एषखलु आर्य्यको गोपालदारको राजाभविष्यती"
"ति सिद्धादेश–प्रत्ययपरित्रस्तेन पालकेन राजा घोषादानीय घोरे बन्धनागारे बद्धः।" मृच्छकटिक ४।२४–२५, तथा ६।१, २, १०।५२, आदि।

४. मृच्छकटिक ४।२७, ६।१ तथा देखो विस्तार के लिये षष्ठ अंक।

शरण में गया और बाद में अपने कुटुम्बियों में जा मिला ।[1] इस समय समस्त प्रजा राजा पालक से असन्तुष्ट थी । राजा के साले आदि परिजन जनता को मनमाने ढंग से पीड़ित करते थे । न्यायाधिकारी भी राजा के भय से शंकित रहते थे । अन्याय और अत्याचार के कुचक्र द्वारा समस्त जनता का दमन किया जा रहा था । फलत: प्रजा के प्रत्येक वर्ग में राजा पालक के प्रति असन्तोष था । ऐसी परिस्थितियों में आर्यक तथा शर्विलक को पालक के विरुद्ध प्रजा का सहयोग मिला और प्रजा ने पालक के विरुद्ध राज्यक्रांति की । इस क्रांति में ही सेना तथा मंत्री से रहित पालक को यज्ञशाला में मार दिया गया और आर्यक को राजा बना दिया ।[2] आर्यक ने प्रजा को समाश्वासन देकर पालक के पक्षपातियों एवं उसके परिजन का दमन किया तथा अपने पक्षपाती—समर्थकों को उच्च पदों पर नियुक्त किया । नाटककार ने इन्हीं घटनाओं को विस्तार से पल्लवित करते हुए चारुदत्त तथा वासवदत्ता की आधिकारिक प्रणयकथा तथा अन्य उप-कथाओं के साथ गूँथ दिया है ।

नाटक में उल्लिखित आर्यक का प्रमुख सहयोगी शर्विलक कल्पित पात्र प्रतीत होता है । सेनापति चन्दनक, वीरक आदि अन्यान्य पात्र तथा उनसे सम्बन्धित घटनायें भी सम्भाव्य कल्पना द्वारा विन्यस्त हैं । चारुदत्त, वसन्तसेना, संवाहक आदि से सम्बन्धित सामाजिक घटनाओं को भी उत्पाद्य के रूप में संयुक्त किया है । भविष्यवाणी का प्रयोग कल्पित तथा अनैतिहासिक है । अनुमानत: इसमें केवल ऐतिहासिक तथ्य यही प्रतीत होता है कि जब पालक ने गोपालक को राज्य से वंचित करके अवन्ति के शासन को अपने हाथ में ले लिया था, और वह प्रजा पर अत्याचार करने लगा, तब प्रजा ने पालक के विरुद्ध गोपालक के पुत्र आर्यक को राजा बनाने की गुप्त योजना बनायी होगी । पालक को जब इसकी सूचना मिली तब पालक ने अकारण ही आर्यक को बन्दी बना लिया । किन्तु, इस घटना से प्रजा में पालक के विरुद्ध विद्रोह की आग और फैल गयी । फलत. शर्विलक जैसे पराक्रमी मित्र की सहायता से आर्यक को सब प्रकार से सफलता मिली । शर्विलक जैसे साथी की सहायता से ही आर्यक कैद से भाग निकला । पालक इस विद्रोह में मारा गया तथा आर्यक राज्यासीन हुआ । नाटककार ने इन्हीं घटनाओं को लोकस्मृति से संजोकर, कल्पना द्वारा विस्तार करके नाटक में विन्यस्त किया है । इस राजनैतिक घटना से

---

१. मृच्छकटिक अंक षष्ठ तथा सप्तम,

२. हत्वारिपुं तं बलमन्त्रिहीनं पौरान्समाश्वास्य पुनः प्रकर्षात् ।
प्राप्तं समग्रं वसुधाधिराज्यं राज्यं बलारेरिव शत्रुराज्यम् ॥
मृच्छ० १०।४८, तथा देखो १०।४७, ५१ आदि ।

सम्बन्धित अन्य किसी साक्ष्य के अभाव में इसकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कहना अनुचित है। अनुमानतः नाटककार ने इस घटना को लोकवृत्त से चुनकर कल्पना द्वारा ही पल्लवित किया है, तथापि संभावना के आधार पर यह राजनैतिक घटना निःसन्देह ऐतिहासिक प्रतीत होता है। कहीं भी इसमें अस्वाभाविकता का आभास नहीं होता है। नाटक में समस्त घटनायें स्वाभाविक रूप से इस प्रकार घटित होती जाती हैं, मानो नाटककार ने चाक्षुष अनुभव के पश्चात् ही इन्हें नाट्यबद्ध किया हो। वस्तुतः इन राजनैतिक घटनाओं के स्वाभाविक विन्यास का कारण नाटककार की सहज उर्वर कल्पना के अतिरिक्त समकालीन राजनैतिक दशा की समानता भी है, जिसके कि कारण नाटककार को इस यथार्थ चित्रण में सफलता मिली।

यद्यपि मृच्छकटिक के रचयिता ने अपनी कल्पना द्वारा लोकवृत्त से संग्रहीत घटना सूत्र को मांसल तथा सजीव बनाकर, घात-प्रतिघात की अभिसृष्टि द्वारा राजनैतिक घटनाओं के अनुरूप गत्यात्मकता का सञ्चार किया है, तथापि यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि उसने राजनैतिक घटना से लोकप्रभाव का परिमार्जन करके विशुद्ध ऐतिहासिकता के विनिवेश की चेष्टा नहीं की है। नाटक में यह घटना मूलतः अत्यधिक सूत्रात्मक तथा स्वल्प है तथापि उसमें ऐतिहासिक भूलें हुई हैं। उदाहरण के के लिये नाटक में आर्यक को राजा पालक से भिन्न गोत्र वाला कहा है।[1] जबकि इतिहास के अनुसार यह स्पष्ट है कि आर्यक पालक के भाई गोपालक का पुत्र था, तो आर्यक के लिये गोत्रान्तर का बतलाना उचित नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार नाटक में शर्विलक कहता है कि पालक के समस्त राज्य को आर्यक ने प्राप्त कर लिया है।[2] जबकि पुराणों के अनुसार हम यह बतला चुके हैं कि विशाखयूप ने माहिष्मति की ओर का कुछ भाग हस्तगत कर लिया था। वैसे इस समग्र शब्द का शाब्दिक अर्थ न लेकर समग्र प्रायः अर्थ लेना ही ठीक होगा।

नाटक में आर्यक के लिये नाटककार ने प्रायः गोपालदारक तथा गोपालप्रकृति आदि शब्दों का उल्लेख किया है। कहीं भी स्पष्ट रूप से उसका परिचय नहीं दिया है। अधिकांश व्याख्याकारों तथा इतिहासकारों ने इसका शाब्दिक अर्थ ग्वाला किया है, और आर्यक को ग्वाले का पुत्र मानकर शूद्र तक लिख दिया है। संभवतः स्वयं नाटककार को भी आर्यक का ऐतिहासिक परिचय स्पष्टतः ज्ञात नहीं था। अतएव

---

१. **आगच्छत विश्वस्तास्त्वरितं यतध्वं लघु कुरुत।**
लक्ष्मीर्येन न राज्ञः प्रभवति गोत्रान्तरं गन्तुम्॥ मृच्छ० ६।६,

२. **मृच्छकटिक १०।४८,**

उसने उसका सम्बन्ध ग्वाले अर्थात् आभीरों से मानकर 'घोष" (आभीरपल्ली) को उसका निवासस्थान मान लिया है तथा घोष से पकड़े जाने का उल्लेख किया है ।[१] किन्तु आर्यक को ग्वाले का पुत्र तथा शूद्र मानना सर्वथा त्रुटिपूर्ण है । कथासरित्सागर आदि ग्रन्थों के अनुसार हम स्पष्ट कर चुके हैं कि आर्यक प्रद्योत के ज्येष्ठ पुत्र (पालक के बड़े भाई) गोपालक का पुत्र था । प्रायः विद्वानों ने इसी गोपालदारक शब्द का अर्थ गोपालक या ग्वाला करके तथा आर्यक को शूद्र मानकर ही मृच्छकटिक को अनैतिहासिक सिद्ध करने का प्रयास किया है । किन्तु नाटक का किंचित् गंभीरता से परिशीलन करने पर उपर्युक्त मान्यतायें निःसार सिद्ध हो जाते हैं ।

नाटक में आर्यक ब्राह्मण शर्विलक के घनिष्ठमित्र के रूप में चित्रित है । शर्विलक ब्राह्मण होते हुए भी कहता है कि मैं दुष्ट कुनृप पालक को मार कर, उसके राज्य पर शीघ्र आर्यक को अभिषिक्त करके उसकी अन्य अवशिष्ट आज्ञाओं को मस्तक पर धारण करके व्यसनगत चारुदत्त का उद्धार करूँगा ।[२] यदि आर्यक शूद्र होता तो नाटककार ब्राह्मण शर्विलक के मुख से उसकी आज्ञा को सिर पर रखने का उल्लेख न कराता । शर्विलक यह भी कहता है कि साधु चरित्र वाले आर्यक ने, कुल और मान की रक्षा करते हुए यज्ञशाला में स्थित दुष्ट पालक को पशु के समान मार डाला ।[३]" इससे स्पष्ट है कि आर्यक कुलीन तथा पालक की अपेक्षा सच्चरित्र था । इसी कारण से उसे "आर्यवृत्त" कहा है । इसके अतिरिक्त चन्दनक जिस प्रकार चारुदत्त को आर्य चारुदत्त कहता है उसी प्रकार गोपालक को आर्य गोपालदारक कहता है ।[४] इस "आर्य" शब्द से भी ध्वनित होता है कि नाटककार की दृष्टि में आर्यक शूद्र न था । ऐसे ही अनेक उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि नाटककार ने आर्यक को प्रसिद्धि के अनुसार गोपालदारक आदि शब्दों का प्रयोग तो अवश्य किया है, किन्तु इतिहास के विरुद्ध शूद्र आदि कहीं भी नहीं लिखा है ।

इसके अतिरिक्त इस ऐतिहासिक कथानक की महनीय विशेषता यह है कि नाटककार ने इस ऐतिहासिक तथा आधिकारिक सामाजिक कथानक का समानान्तर विस्तार करते हुए समस्त नाटक में राजनैतिक तथा ऐतिहासिक वातावरण की सफल अभिसृष्टि की है । नाटक का समस्त सामाजिक घटनाचक्र भी राजनैतिक वातावरण

---

१. देखो मृच्छ० ४।२४–२५, १०।५२–५३,

२. मृच्छकटिक, १०।४७,

३. आर्यकेणार्यवृत्तेन कुलं मानञ्च रक्षता ।
पशुवद्यज्ञवाटस्थो दुरात्मा पालको हतः ।। मृच्छ० १०।५१,

४. आर्यगोपालदारकः आर्यचारुदत्तस्य प्रवहणमधिरुध्य—मृच्छकटिक ६।२२,

से ओतप्रोत है । राजा का साला सम्थानक, न्यायालय, पुलिस अधिकारी तथा राजनैतिक षड्यन्त्र के माध्यम से समस्त नाटक में ऐतिहासिक वातावरण की सफल अभिसृष्टि करके ऐतिहासिकता का संचार किया है

मृच्छकटिक की नाट्यकला

मृच्छकटिक नाट्यकला की दृष्टि से संस्कृत नाट्य साहित्य में सर्वाधिक सफल नाटक है । वस्तुविधान, चरित्रचित्रण, रसात्मकता आदि की दृष्टि से मृच्छकटिक भारतीय परम्परा के अनुरूप है, किन्तु, इनके अतिरिक्त भी इसकी कुछ अपनी विशेषतायें हैं, जिनका संस्कृत के अन्य नाटकों में प्रायः अभाव है या जो अत्यल्पमात्रा में प्राप्त होती हैं । संस्कृत के नाटक प्रायः भारतीय परम्परा की परिसीमा में ही अभिसृष्ट हुए हैं, उनमें भारतीय समाज तथा संस्कृति का प्रतिबिम्बन हुआ है, किन्तु मृच्छकटिक एक ऐसा नाटक है जिसमें कुछ सार्वदेशिक तत्त्व हैं तथा सार्वजनीनता एवं सार्वभौमिकता की भी झलक है । यही कारण है कि मृच्छकटिक भारतीय जनता को ही प्रिय नहीं है, और न केवल भारतीय संस्कृति, आदर्श तथा कला के प्रेमियों को ही प्रिय है, अपितु विश्वभर के रसिकों को समान रूप से प्रिय है ।

मृच्छकटिक का वस्तुविधान

मृच्छकटिक के नाटककार ने १० अंकों के इस धूर्तसंकुल प्रकरण में अनेक कथा उप-कथाओं के रूप में नाटकीय संविधान का समायोजन किया है । मृच्छकटिक में चारुदत्त तथा वसन्तसेना के प्रणय और स्थायी मिलन की अभिलाषा की कथा को अनेक प्रासंगिक घटनाओं के समुचित संक्षेप द्वारा भारतीय नाट्य सिद्धान्त की परिसीमाओं में रूपायित किया है । कामदेवायतन उद्यान में परस्पर नेत्रप्रीति से उद्भूत वसन्तसेना तथा चारुदत्त की अनुरक्ति का बीजप्रक्षेप प्रथम अंक में शकार की उक्ति में करके,[1] कर्णपूरक, शर्विलक मदनिका, तथा संवाहक और माथुर आदि से संबधित उप-कथाओं के संविधान द्वारा आधिकारिक कथानक को विकसित किया है । किन्तु जब, सहसा, चारुदत्त, शकार के कुचक्र के द्वारा वसन्तसेना की हत्या के अपराधी के रूप में मृत्यु के द्वार पर जा खड़ा होता है,[2] उस समय नाटक की कथा चरमोत्कर्ष पर पहुंच जाती है । सामाजिकों का कूतुहल उस समय और भी पराकाष्ठा पर जा

---

१. शकार-भाव, भाव । एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात् प्रभृति तस्यदरिद्रचारुदत्तस्य अनुरक्ता, न मां कामयते "मृच्छ० प्रथम अंक, पृ० ५२

२. (खड्गमाकृष्य) आर्यचारुदत्त । उत्तानो भूत्वा समं तिष्ठ । एकप्रहारेण मारयित्वा त्वां स्वर्गं नयावः ।"
मृच्छ० दशम अंक, पृ० ५६६,

पहुँचता है, जबकि चारुदत्त के वध को सन्नद्ध चाण्डालों के हाथों में उठी हुई खड्ग यहीं नाटक का पटान्त करना चाहती है। निःसन्देह मृच्छकटिक का रचयिता यदि कोई पाश्चात्य नाटककार होता, तो निश्चित रूप से यहीं नाटक को समाप्त करके ट्रेजेडी बना देता, किन्तु भारतीय आदर्श के प्रति निष्ठा होने के कारण मृच्छकटिक के रचयिता ने नाटकीय घटनाचक्र को पुनः एक मोड़ दिया है। चाण्डालों के हाथों से अनायास ही खड्ग छिटक पड़ती है।[1] और नाटक में प्राप्त्याशा के रूप में कथानक दुःखान्त से सुखान्त की ओर बढ़ चलता है। वसन्तसेना तथा बौद्धभिक्षु वध्यस्थान पर पहुँच कर चारुदत्त को जीवनरस की अनुभूति कराते हैं।[2] तभी प्रेयसी को प्रेमी के स्थायी समागम का विनिश्चय हो जाता है। तदनन्तर शर्विलक फलागम के रूप में आकर राजाज्ञा को सुनाता है—"आर्ये। वसन्तसेने। प्रसन्नराजा आपको वधू शब्द से सम्मानित करते हैं।" वसन्तसेना वधूपद पाकर कृतार्थ हो जाती है[3] और नाटक प्रणयीयुगल के इस स्थायी-मिलन के साथ समाप्त हो जाता है।

मृच्छकटिक का समस्त घटनाचक्र अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से विन्यस्त किया गया है। संस्कृत के नाटकों का घटनाचक्र प्रायः शिथिल तथा संवादबहुल है, किन्तु मृच्छकटिक इस दृष्टि से मौलिक है। मृच्छकटिक कार्यत्वरा से सश्लिष्ट घटनाबहुल नाटक है। मृच्छकटिक के समान संस्कृत के किसी भी नाटक में घटनाबहुलता तथा घटनाविविधता नहीं है। नाटककार ने केवल संवादों के द्वारा ही घटनाक्रम को अग्रसर नहीं किया है, अपितु समस्त वस्तुव्यापार में अभिनय सुलभ कार्यव्यापार संक्रान्त हैं। कार्यव्यापार की त्वरा के प्रभाव से ही नाटक की समस्त घटनायें स्वतः एक के बाद एक गतिशील होती गई है। मृच्छकटिक में घटनाक्रम की गतिशीलता इतनी अधिक है कि सामाजिकों की कुतूहलवृत्ति अनायास ही निरन्तर बढ़ती जाती है। यह कुतूहलता ही वह तत्व है जो यत्र-तत्र नाटक को नीरस बनने से रोकती हैं। कहीं-कहीं, जैसे-द्यूत अंक के प्रारम्भ में उप-कथा मूलकथाएँ विछिन्न हो जाती है तथा प्रारम्भ में ही अब सूत्रधार प्रातःकाल ब्राह्मण विदूषक को निमन्त्रण देता है किंतु कुछ बाद में ही विदूषक मातृवलि देने जाने के समय प्रदोष वेला का उल्लेख करता है। इन दोनों उल्लेखों से कालगत असंगति का आभास होता है। इसी प्रकार नाटक

---

१. मृच्छ० १०।३७,

२. आर्या। मा तावन्मा तावत्।—"मृच्छ० १०।३८, तथा मृच्छ० १०।४२, ४३, ४७,

३. शर्वि०-आर्ये। वसन्तसेने। परितुष्टो राजा भवतीं वधूशब्देनानु-गृह्णाति, वसन्त०— "आर्य। कृतार्थोऽस्मि।" मृच्छ० १०।५७,

के अन्त में धूता के अग्निप्रवेश की घटना (जिसे प्रक्षिप्त भी माना जाता है) अनावश्यक प्रतीत होती है, किन्तु कार्यत्वरा तथा कुतूहल की निरन्तरता के कारण दर्शकों को विशृंखलता तथा शिथिलता का आभास नहीं हो पाता है।

मृच्छकटिक के रचयिता ने नाटक की आधिकारिक सामाजिक कथा के साथ आर्यक तथा पालक से सम्बन्धित राजनैतिक षड़यन्त्र की उपकथा को पताका के रूप में संश्लिष्ट करके, घात-प्रतिघात की सृष्टि तथा गत्यात्मकता का संचार किया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार मुख्य कथा के साथ इस प्रासंगिक कथा का सम्बन्ध उचित नहीं बैठता है। राइडर के मतानुसार मृच्छकटिक की ये दो कथायें दो नाटकों के लिये सामग्री प्रदान करती हैं।[1] किन्तु वस्तुत: ये मत उचित नहीं हैं। डा० कीथ तथा डा० दास गुप्ता से शब्दों में प्रणयकथा तथा राजनैतिक षड़यन्त्र की कथा का मिश्रण नाटककार की मौलिकता का परिचायक होने के साथ-साथ नाटक में अपना विशेष महत्त्व रखता है।[2] यह ठीक है कि आधिकारिक कथा की अपेक्षा राजनैतिक कथा सदैव गौण ही रही है, किन्तु पताका के रूप में यह विन्यस्त होने के कारण पताका के समान ही समस्त नाट्य कथा पर फहराती रही है। अत: गौणता में ही उसका महत्त्व है। राजनैतिक कथा गौण होने से भी मुख्यकथा से अलग-अलग सी नहीं मालूम होती है, अपितु मुख्य कथा के साथ इतनी संपृक्त है कि मुख्य कथा का ही अभिन्न भाग सी ज्ञात होती है। यह कथा नाटक के कथा प्रवाह में न तो कहीं व्याघात पैदा करती है, न कहीं विराम ही; अपितु सहायक कथा के रूप में घटनाओं को गति देती है, तथा मुख्य कथा को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए यथावसर राजनैतिक तथा सामाजिक वातावरण की सृष्टि करती है। इतना ही नहीं, अपितु मुख्यकथा की उद्देश्य पूर्ति के लिये भी राजनैतिक कथा की अनिवार्यता भी है।[3]

मृच्छकटिक की मुख्य कथा की नायिका वसन्तसेना साधारण गणिका होते हुए भी उज्जयनी के प्रतिष्ठित नागरिक चारुदत्त के साथ स्थायी मिलन के लिए उत्सुक है। वसन्तसेना तथा चारुदत्त परस्पर अनुरक्त हैं। वसन्तसेना के लिये चारुदत्त का समागम दुर्लभ नहीं है। किन्तु गणिका-सुलभ क्षणिक मिलन का उसके जीवन में कोई महत्त्व भी नहीं है। यदि प्रेमी तथा प्रेयसी का सामान्य मिलन ही मुख्य कथा का उद्देश्य होता तो पंचम अंक में एक रात के सहवास के साथ ही नाटक समाप्त हो

---

१. दि लिटिल क्ले कार्ट : इन्ट्रोडक्शन, पृ० २२,

२. संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृ० १३३, हिस्ट्री ऑफ सं० लिटरेचर, दास गुप्ता, पृ० २४२,

३. आलोचना : जनवरी, १९६४, पृ० ८४,

जाता, किन्तु नाटककार को मिलन मात्र अभीष्ट न था। अतएव कथा आगे बढ़ती है। दशम अंक में शर्विलक वसन्तसेना को राजा आर्यक की शुभ सूचना देता हुआ कहता है कि राजा ने उसे "वधू" पद प्रदान किया है, तो वसन्तसेना कहती है कि मैं कृतार्थ हो गयी।[1] नाटक के अनेक प्रसंगों से स्पष्ट है कि वसन्तसेना चारुदत्त की वधू बनकर ही रहना चाहती थी, अतएव चारुदत्त के घर में नहीं जाना चाहती।[2] अपने को चारुदत्त तथा धूता की गुणार्जिता दासी कहती है।[3] धूता से बहिन का सम्बन्ध स्थापित करती है, रोहसेन को पुत्रक शब्द से सम्बोधित करती है,[4] तथा जब अलंकृत होने के कारण वसन्तसेना को रोहसेन भी स्वीकार नहीं करता, तो वह मातृत्व से अभिभूत होकर 'माँ' बनने के लिए शीघ्र ही आभूषणों को उतार कर सुवर्ण शकटिका बनने के लिए दे देती है, और क्षण भर को (काल्पनिक रूप से) माँ बन कर आत्म-सन्तोष का अनुभव करती है।[5] किन्तु इतने मात्र से सदैव के लिये वधू बन कहाँ पाती है? त्याग तथा प्रेम की अग्नि में तपकर जब वह चारुदत्त की समकक्षता प्राप्त कर लेती है, तभी उसके वधू बनने का स्वप्न पूरा होता है। आर्यक की घोषणा के पश्चात् न केवल वह चारुदत्त की वधू बनती है, अपितु संपूर्ण राज्य की दृष्टि में वधू बन जाती है। आधिकारिक कथा का यही 'मुख्य कार्य' है। यह कार्य फलागम के रूप में उपकथा के द्वारा ही सभव होता है।[6] आर्यक तथा शर्विलक के अभाव में फलागम की कल्पना असभव है। अत. स्पष्ट है कि मुख्य कथा के लिये उपकथा की अनिवार्यता है। दोनों ही एक दूसरे में अनुस्यूत हैं। एक के विकास से दूसरी का विकास होता है। चारुदत्त की सहायता से यदि आर्यक की कथा आगे बढ़ती है तो आर्यक की सुरक्षा में व्यस्त रहने के कारण ही वसन्तसेना शकार के हाथों विपन्न तथा मुमूर्षु हो जाती है और चारुदत्त की कथा आगे बढ़ती है। इसी प्रकार वसन्तसेना तथा आर्यक की गाड़ी बदलने की घटना, चारुदत्त के अपराध तथा दण्ड प्राप्ति की घटना तथा वसन्तसेना को वधूपद प्राप्ति आदि की घटनायें एक दूसरे के द्वारा ही विकसित हैं। पालक के अस्तित्व के अभाव में चारुदत्त तथा वसन्तसेना का चरित्रोद्घाटन हो नहीं सकता है। अत: नाट्य प्रभाव के लिये पालक तथा आर्यक की

---

१. मृच्छकटिक, १०।५७,

२. मृच्छ० अंक ६।१ से पूर्व,

३. इयं श्रीचारुदत्तस्य गुणनिर्जितादासी"........मृच्छ० ६।१, पृ० ३१७,

४. वही, पृ० ३१८,

५. मृच्छकटिक, ६।१, पृ० ३२०-३२१,

६. आलोचना, जनवरी, १९६४, पृ० ८६,

राजनैतिक घटना का नाटक में आवश्यकता है, अनिवार्यता है। समग्र रूप में मृच्छकटिक का वस्तुविधान अत्यधिक व्यवस्थित, संश्लिष्ट, प्रवाह तथा प्रभावपूर्ण है। प्रारम्भ से अन्त तक घटनाओं की गतिशीलता, व्यापार-प्रवाह तथा कार्यत्वरा के कारण नाट्यप्रभाव अक्षुण्ण बना रहता है।

मृच्छकटिक का चरित्रचित्रण

संस्कृत के नाटककारों ने प्रायः सामाजिक तत्त्व की उपेक्षा की है। मृच्छकटिक ही संस्कृत का सर्वप्रथम ऐसा नाटक है जिसमें नाटककार ने सर्वप्रथम पौराणिक तथा राजवर्ग के सामाजिक कथानक से भिन्न सामाजिक इतिवृत्त को नाट्यरूप में रूपायित किया है। मृच्छकटिक का कथानक उज्जयनी के समाज के मध्यम वर्ग के दैनिक जीवन की घटनाओं पर आधारित है। इसके प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित चोर, जुआरी, भिक्षु, राजपिशुन, राजसेवक, पुलिस कर्मचारी, न्यायाधीश, राजनैतिक, षड्यन्त्रवादी, गणिका, तथा विट, चेट आदि जीवन्त चरित्रों का अवतारणा की है। अतएव यह संस्कृत का एक मात्र यथार्थवादी नाटक है। इसमें राजप्रासाद की प्राचीर की परिसीमा में चित्रित रोमानी चरित्र नहीं है। यद्यपि इसमें नागरिक चारुदत्त तथा गणिका वसन्तसेना की प्रणयकथा को ही मुख्य कथा के रूप में विन्यस्त किया है, किन्तु वह संस्कृत के अन्य प्रेम प्रधान नाटकों के समान शृंगारिक वातावरण में नहीं, अपितु प्रेम की पवित्रता, मधुरता, कोमलता तथा बलिदान की आधारशिला पर अभिसृष्ट है। मृच्छकटिक के सामाजिक कथानक को नाटककार ने यथार्थता तथा समाज की यथार्थता तथा व्यावहारिकता के अनुरूप ही चित्रित किया है। मृच्छकटिक में प्रायः समाज के सभी वर्गों के चरित्रों की अवतारणा की है। ब्राह्मण से चोर तक, राजा से भिक्षु तक तथा कुलवधू से गणिका तक सभी पात्रों का विनियोग किया गया है। चरित्रों की यह विविधता ही इसकी लोकप्रियता का प्रमुख कारण है।

मृच्छकटिक में सभी पात्र अपने स्वाभाविक व्यक्तित्व के साथ आये हैं, प्रतिनिधि पात्र के रूप में नहीं। नायक चारुदत्त जाति से ब्राह्मण है, किन्तु व्यवसाय तथा व्यवहार से श्रेष्ठी है। यह उज्जैनी के नागरिकों का प्रतिनिधि न होकर, व्यक्तिगत विशेषताओं से युक्त है। वसन्तसेना चारुदत्त को ब्राह्मण समझकर प्रेम नहीं करती है।[1] अपितु वह प्रियदर्शन, श्रुतिरमणीय, दृष्टिरमणीय,[2] कलाप्रेमी, शरणागत-

---

१. यस्तादृशः प्रियदर्शन, मृच्छ० अंक २।१४-१५,
'न केवलं श्रुतिरमणीयः दृष्टिरमणीयोऽपि,' मृच्छ० अंक ७ ४-५,

२. पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः मृच्छ० अंक २।१, पृ० ९७,

वत्सल, भूतलमृगांक, उदात्त, उदार, कुलीन तथा समस्त उज्जयनी के मन को जीतने वाला गुणज्ञ युवक है, इसलिये वसन्तसेना उस पर अनुरक्त है। चारुदत्त भी वसन्त सेना को प्रेम करता है, परन्तु उसका प्रेम निष्क्रिय है। वह उसे प्राप्त करने के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं करता। त्यागशीलता तथा वदान्यता के कारण वह दरिद्र हो गया है और उसे इस बात का दुःख है कि वह आज दरिद्रतावश अतिथियों के सत्कार तथा याचकों की सेवा में असमर्थ है। अपने शब्दों में ही चारुदत्त एक उस हाथी के समान है, जिसने मदजल से अनेकों मधुकरों को परितृप्त किया है, किन्तु अब मदलेखा के शुष्क हो जाने पर कोई भी भ्रमर वहाँ नहीं आता है।[1] वह अपनी दरिद्रता से इतना दुःखी है कि दरिद्र जीवन से मृत्यु को भी श्रेयस्कर समझता है।[2] उसे यश की चिन्ता है, किन्तु वह यशोलिप्सु नहीं है। यह सत्यनिष्ठ है परन्तु वसन्तसेना को रत्नावली भेजते समय विशेष प्रयोजन से झूठ भी बोलता है। चारुदत्त निरा आदर्श प्रेमी नहीं है। वह द्यूतक्रीड़ा को निन्दनीय नहीं समझता, और न गणिका प्रेम को ही चरित्र दोष का कारण मानता है। उसमें चारित्रिक अच्छाइयाँ हैं तो मानवसुलभ दुर्बलता भी है। सब प्रकार से उसका चरित्र श्रेष्ठ तथा मानवीय गुणों से सम्पन्न है। किन्तु उसके चरित्र में कहीं-कहीं मिथ्या आदर्श भी झलकता है। जैसे वसन्तसेना के सुवर्णभाण्ड के चोरी चले जाने पर चोर को खाली हाथ न लौटने के कारण सन्तुष्ट होता है,[3] न्यायालय में बारम्बार वसन्तसेना की मित्रता के सम्बन्ध में पूछे जाने पर भी वह स्पष्ट स्वीकार न करके उत्तर टाल देता है।[4] नाटककार ने वसन्तसेना के साथ चारुदत्त का सम्बन्ध होते हुए भी वेश्यासंग के लोकापवाद से बचाने के लिए झूठ बुलवाकर न केवल चारुदत्त के मिथ्या आदर्श का चित्रण किया है, अपितु वसन्त सेना के साथ भी अन्याय किया है।

वसन्तसेना का चरित्र चारुदत्त की अपेक्षा अधिक उच्च तथा निखरा हुआ है। वसन्तसेना गणिका है, वेश्या नहीं है। उसकी गणिका वृत्ति की नैसर्गिक कालिमा तथा दोष विशुद्ध प्रेम, त्याग तथा बलिदान की अग्नि में तप-तप कर निःशेष हो गयी है और पवित्र नारी का आदर्श रूप प्रकट हो गया है। वह सामान्य गणिकाओं के

---

१. एतत्तु मां दहति यद्गृहमस्मदीयं क्षीणार्थमित्यतिथयः परिवर्जयन्ति।
संशुष्कसान्द्रमदलेखमिव भ्रमन्तः कालात्यये मधुकराः करिणः कपोलम्॥
मृच्छ० १–१२ तथा १–३६, ३७, ३८,

२. मृच्छ० १।११,

३. मृच्छ० ४।२३, २४,

४. मृच्छ० ९।१६–२४, पृ० ४८०–९३,

समान सर्वभोग्या नहीं है, अतएव वह (दस हजार के स्वर्ण आभूषण) प्रचुर स्वर्ण-राशि के लालच में न पड़कर शकार के प्रणय निवेदन को ठुकरा देती है। वह माँ को चेतावनी भी देती है कि यदि वह उसे जीवित देखना चाहती है, तो ऐसा प्रस्ताव कभी न रखे।[१] समृद्ध गणिका होने से उसके पास अपार सम्पत्ति तथा वैभव है, तथापि इस गर्हित जीविका के प्रति उसमें विद्रोह है। अतएव वह चारुदत्त से प्रेम करती है। वह चारुदत्त के रूप यौवन पर आसक्त नहीं है, अपितु उसके गुण तथा कीर्ति पर आसक्त है। प्रेमी चारुदत्त के दरिद्र होने का उसको क्षोभ नहीं है. अतएव वह किसी भी प्रकार से उज्जयनी के आभरण-भूत चारुदत्त को अपना आभरण बना लेना चाहती है। वह जानती है कि दरिद्र पुरुष पर आसक्त गणिका अवचनीया होती है।[२] अतएव वह चारुदत्त की हो जाना चाहती है। वह अपने को उस मधुकरी के समान नहीं समझती है, जो आम्र मंजरी के झड़ते ही उसे त्याग देती है।[३] वह आदर्शप्रेयसी है। मन, वाणी, कर्म से वह चारुदत्त पर अनुरक्त है। सामान्य वेश्याओं के समान क्षणिक मिलन ही उसका अभीष्ट नहीं है, अपितु स्थायी समागम ही उसका उद्देश्य है।

वह यह भी जानती है कि चारुदत्त की अपेक्षा वह अत्यन्त तुच्छ है, अतः उसका प्रेम पाने के सर्वथा अयोग्य है, तथापि वह त्याग तथा प्रेम में चारुदत्त से पीछे नहीं है। वह अपने व्यक्तिगत गुणों के द्वारा इतना उठती है कि चारुदत्त का वधूपद प्राप्त कर सके, तथा चारुदत्त भी उसे सहर्ष स्वीकार कर सके। वसन्तसेना समृद्ध होने के साथ-साथ शरण्य है, अतएव संवाहक जब माथुर तथा द्यूतकर के भय से शरण में आता है तो वह प्रथम तो द्वार बन्द करवा देती है, किन्तु धनिक के भय से शरणागत जानकर द्वार खुलवा देती है, और संवाहक को ऋणमुक्त करवाती है। वह सुशिक्षित है, अतएव प्राकृत भाषी होने पर भी संस्कृत में बोलती है। ललितकला निपुण है। वेश्या होने पर भी धार्मिक है। नाटक में वसन्तसेना का चरित्र चारुदत्त की अपेक्षा अधिक मार्मिक है। समस्त नाटकीय चरित्रों पर वसन्तसेना का चरित्र ही छाया रहता है। प्रणय संघर्ष, उत्थान पतन तथा त्याग और बलिदान के माध्यम से वसन्तसेना के चरित्र में ऐसी प्राभावात्मकता तथा महनीयता सक्रान्त हो गयी है, जो कि अन्य किसी चरित्र में नहीं है। वसन्तसेना की सक्रियता, महनीयता तथा प्रभावात्मकता के

---

१. एवं विज्ञापयितव्या "यदि मां जीवन्तीमिच्छसि, तदा एवं न पुनरहं मात्रा आज्ञापयितव्या' मृच्छ० अंक ४।१

२. अतएव काम्यते। दरिद्रपुरुषसंक्रान्तमनाः खलु गणिका लोके अवचनीया भवति मृच्छ० अंक २।१,

३. मद० आर्ये किं हीन कुसुमं सहकारपादपं मधुकर्यः पुनः सेवन्ते।
वसन्त० अतएव तां मधुकर्यः उच्यन्ते। मृच्छ० २।१,

कारण ही चारुदत्त का चरित्र फीका-फीका सा लगता है। वसन्तसेना के चरित्र की विशेषताओं के कारण ही नाटक में केवल ३–४ प्रमुख स्त्री पात्र होने पर भी मृच्छकटिक नायिका प्राप्त नाटक है। चारुदत्त न केवल निष्क्रिय है अपितु कुछ अंकों में उसका दर्शन भी नहीं होता। वसन्तसेना का ही एक मात्र चरित्र ऐसा है जो प्रारम्भ से अंत तक समस्त नाटकीय घटनाचक्र को अपने प्रभाव में अभिभूत रखता है। अन्य चरित्र गौण हैं।

शर्विलक जन्म से ब्राह्मण है पर कर्म से चोर तथा साहसी है। वह सच्चा मित्र, वीर तथा सच्चा प्रेमी भी है। दासता की अपेक्षा स्वाधीनता का पक्षपाती है।[1] प्रतिनायक शकार का चरित्र भी महत्त्वपूर्ण है उसमें मूर्खता, भीरूता, हठधर्मिता, विलासिता, क्रूरता आदि सभी विशेषतायें है। राजा का साला होने पर उसे गर्व है, अतएव वह न्यायाधीश को भी कुछ नहीं समझता।[2] वह व्यभिचारिणी माँ का पुत्र (काणेलीभातः) है। उसकी बोलचाल, उक्ति-प्रयुक्ति, क्रियाकलाप सभी मूर्खतापूर्ण तथा हास्योत्पादक हैं। विटचेट भी उसे मूर्ख समझते हैं। विदूषक मैत्रेय भी अपने प्रकार का पात्र है। विदूषक का हास्य शकार के समान मूर्खतापूर्ण न होकर, बुद्धिमतापूर्ण तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व से उत्पन्न है। विदूषक चारुदत्त का हितैषी तथा व्यवहार कुशल है। चारुदत्त के शब्दों में वह "सर्वकालमित्र" है।[3] धूता, मदनिका आदि अन्य सभी २५–२६ पात्रों के चरित्र भी अपनी वैयक्तिकता से युक्त हैं। जुआखोर संवाहक, माथुर तथा द्यूतकर और पुलिस अधिकारी चन्दनक, तथा वीरक आदि का चरित्र भी मार्मिक होने के साथ-साथ सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक है।

मृच्छकटिक के चरित्रों में विविधता के साथ-साथ चित्रण में विदग्धता है। सभी चरित्र यथार्थता, सजीवता, वैयक्तिकता को लेकर उतरे हैं। सभी में अच्छाई-बुराई है। मृच्छकटिक के पात्र कल्पनालोक के आदर्शमात्र नहीं हैं, अपितु वे अस्थिरक्त, मांस के ऐसे जीवन्त चरित्र हैं, जो सभी देश और काल में उपलब्ध हो सकते हैं। इसीलिये आर्थर विलियम राइडर ने भारतीय नाटककारों की परम्परा में एक मात्र शूद्रक के चरित्रों को ही सार्वदेशिक स्वीकार किया है।

राइडर की मान्यता है कि शकुन्तला भारतीय नारी है, माधव भारतीय नायक

---

१. "स्वाधीनता वचनीयताऽपि हि वरं बद्धो न सेवाञ्जलिः" मृच्छ० ३।११,
२. मृच्छ० ९।५–७,
३. "अत्रे। सर्वकालमित्रं मैत्रेयः प्राप्तः" मृच्छ० १।९,

है, किन्तु संस्थानक, मैत्रेय तथा मदनिका विश्व के पात्र हैं।[1] डा० कीथ राइडर के मत से सहमत नहीं हैं। वे मृच्छकटिक के चरित्रों की विविधता का श्रेय भास को देते हुए मृच्छकटिक को भारतीय विचार और जीवन से सापेक्ष्य मानते हैं।[2] कीथ का मत है कि मृच्छकटिक के तीनों चरित्रों की अपेक्षा कालिदास के पात्र सार्वदेशिक अधिक हैं। वस्तुत: कीथ का मत आवश्यकता से अधिक उदार है, अत: पक्षपातपूर्ण है। निःसन्देह कालिदास तथा भवभूति के पात्र विशुद्ध भारतीय हैं। मृच्छकटिक के चारुदत्त तथा वसन्तसेना भी केवल भारतीय समाज के चरित्र हैं किन्तु संस्थानक, मैत्रेय तथा मदनिका भी अभारतीय नहीं हैं। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि मृच्छकटिक के कुछ पात्रों में सार्वभौमिक विशेषताएँ हैं। अत: यह भी निश्चित है कि मृच्छकटिक के कुछ पात्र विश्व के किसी भी भाग में मिल सकते हैं।[3]

मृच्छकटिक के चरित्र-चित्रण की प्रमुख विशेषता उसका तीखापन यथार्थता तथा सजीवता है। कटु सत्य को चित्रित करने में भी नाटककार ने संकोच नहीं किया है। नाटककार ने सूक्ष्म पर्यवेक्षण द्वारा जनजीवन के व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा है। चारुदत्त के चरित्र-चित्रण में भावुकता तथा आदर्शवादिता को अभिव्यंजित करने के लिए मनोवैज्ञानिक प्रतिभा का परिचय दिया है। दरिद्रता के सम्बन्ध में चारुदत्त की उक्तियाँ नाटककार की मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ का अच्छा उदाहरण है। शार्विलक, वसन्तसेना तथा मैत्रेय जुआरी, पुलिस कर्मचारी आदि के यथार्थ जीवन से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण पक्ष नाटक में चित्रित हैं। नाटककार ने पात्रों के चरित्रोद्घाटन में संवादों का ही प्रयोग नहीं किया है, अपितु कार्यों के द्वारा चरित्रोद्घाटन उसकी मुख्य विशेषता है। पात्र बोलते कम हैं, सक्रिय अधिक रहते हैं। यही कारण है कि एक के बाद घटनाएँ स्वत: गतिशील होती जाती हैं।

अन्वितित्रय:— कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मृच्छकटिक में कार्यान्विति का अभाव है, किन्तु यह विचार सर्वथा अग्राह्य है। संस्कृत में मुद्राराक्षस के पश्चात् मृच्छकटिक ही ऐसा नाटक है, जिसमें कार्यान्विति की अधिकता मिलती है।

---

१. "Sudraka, a lone in the long line of Indian Dramatists has a cosmopolitan character. Shakuntala is a Hindi maid, Madhava is a Hindu Here, but Sansthanaka and Maitreya and Madanika are citizens of the world."
The little Clay Cart : Introduction P. XVI.

२. Sanskrit Drama: Keith P. 139–40.

३. Introduction to the study of Mrechakatika ;
Dr. Devesthala P. 99.

मृच्छकटिक के घटनाक्रम की गत्यात्मकता तथा चरित्रगत कार्यत्वरा के समन्वय के कारण कार्यान्विति का सुन्दर निर्वाह हुआ है। यही नहीं, बल्कि नाटक में स्थानान्विति भी मिलती है। नाटक की समस्त घटना उज्जयनी में ही घटित होती है। नाटक के समस्त दृश्य उज्जयनी के राजमार्ग, चारुदत्त तथा वसन्तसेना के घर, पुष्पकरण्यक उद्यान न्यायालय तथा वध्यस्थान से ही सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार कालान्विति का भी अभाव नहीं है। डा० देवस्थली के अनुसार नाटक का समस्त घटनाचक्र लगभग ९६ घंटों के क्रियाकलाप से सम्बन्धित है। इस क्रम में कहीं भी लम्बा विराम नहीं है, अपितु घटनायें क्रमशः निरन्तर विकसित होकर उपसंहारोन्मुख होती जाती हैं। अतः संस्कृत के समस्त नाट्यसाहित्य मे मृच्छकटिक एक ऐसा नाटक है जिसमें न केवल कार्यान्विति, अपितु पाश्चात्यानुमोदित तीनो अन्वितियों का सफल निर्वाह हुआ है।[1]

दृश्यतत्त्व:—मृच्छकटिक नाटक का वस्तुविधान तथा चरित्रचित्रण दृश्यतत्त्व को सम्मुख रख कर किया गया है। मृच्छकटिक के १० अंकों में निबद्ध कथानक का अधिकांश भाग दृश्य है। अतएव समस्त नाटक में प्रवेशक तथा विष्कम्भक आदि उपचूलिकाओं का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है। मृच्छकटिक की अंक योजना भी दृश्यात्मकता—सापेक्ष है। सामान्यतः इसमें अन्य प्राचीन नाटकों के समान अंक विभाजन अवश्य किया गया है, तथापि प्रत्येक अंक की योजना में दृश्यविधान परिलक्षित होता है। सामान्यतः मृच्छकटिक के प्रत्येक अंक में २ से ५ तक दृश्य हैं। समस्त नाटक में लगभग २५ से भी अधिक दृश्यों का विधान है, किन्तु मृच्छकटिक का विधान न तो आधुनिक दृश्यविधान के अनुरूप है, और न अभिनय के लिए सुविधाजनक। एक-एक अंक में ऐसे ४-५ दृश्यों की योजना है, कि सामान्य रंगमंच पर उनको प्रदर्शित करना कठिन है। यही कारण है कि किसी अभिनेता ने इसका चारुदत्त जैसा रंगमंचीय संस्करण किया है। किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक युग में मृच्छकटिक रंगमंच के लिए अनुपयोगी नहीं रहा है। यही कारण है कि भारत में तथा रूस आदि देशों में मृच्छकटिक का सफलता के साथ नाट्य प्रयोग हुआ है। मृच्छकटिक के द्यूतदृश्य तथा न्यायालय आदि कुछ दृश्य नाट्यकला की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। आज के गतिशील तथा व्यस्त युग में मनोरंजन की दृष्टि से एकांकी के रूप में इन दृश्यों का अत्यधिक प्रभावशाली प्रयोग किया जा सकता है।

शीर्षक—नाटक का शीर्षक सार्थक, मनोवैज्ञानिक तथा कौतूहलपूर्ण है। मृच्छकटिक के रोहसेन की मिट्टी की गाड़ी को सोने की बनवाने के लिए वसन्तसेना,

---

१. विशेष देखिये—इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ मृच्छकटिक : डा० देवस्थली, पृ० १२१-२४,

आभूषणों को देती है उसी घटना के आधार पर नामकरण किया है। यह घटना नाटक के कार्य तथा उद्देश्य सापेक्ष्य है। क्योंकि इसी अवसर पर वसन्तसेना को रोहसेन का मातृपद प्राप्त हो जाता है। अतः निःसन्देह समस्त संस्कृत नाटकों में मृच्छकटिक के समान चमत्कारपूर्ण शीर्षक किसी अन्य को नहीं है।

नाट्यविधान एवं भाषा-शैली आदि:—संस्कृत के अन्य नाटकों के समान मृच्छकटिक में काव्यात्मकता का आधिक्य नहीं है, किन्तु नितान्त अभाव भी नहीं है। वर्षावर्णन के प्रसंग में काव्य-प्रतिभा का चमत्कार परिलक्षित होता है। किन्तु काव्यात्मकता तथा वर्णनों की अधिकता नाट्य-प्रभाव में बाधक होती है। मृच्छकटिक का वर्षावर्णन काव्य दृष्टि से उत्कृष्ट होने पर भी नाटक की प्रभावोत्पादकता में बाधक, अतः अस्वाभाविक है। इसी प्रकार नाटक के चतुर्थ अंक में वसन्तसेना के महल के सात प्रकोष्ठों का लम्बा वर्णन नाटकीयता की दृष्टि से उचित नहीं है। यही कारण है कि मृच्छकटिक के नाटकीय सविधान को निर्दोष नहीं कह सकते। नाटककार ने कथानक को नाट्यबद्ध करते समय अभिनयकाल के औचित्य को भुला दिया है। १० अकों के विशालकाय मृच्छकटिक का न तो २-३ घंटों में प्रदर्शन ही संभव है, और न पढ़पाना ही। अतएव इसकी विशालता अरुचिकर प्रतीत होती है। डा० दासगुप्ता ने कथानक की अधिक लम्बाई को दोष माना है। राइडर भी प्रकरण की लम्बाई को दोष मानते हैं।[1] किन्तु कुछ विद्वानों ने इसे दोष स्वीकार नहीं करके मृच्छकटिक को दोषमुक्त करने की चेष्टा की है।[2] परन्तु सामाजिक की दृष्टि से तटस्थ होकर देखा जाय तो इसे दृश्यतत्त्व की दृष्टि से उचित नहीं कहा जा सकता। निःसन्देह लेखक यदि चाहता तो इसे सरलता से संक्षिप्त कर सकता था, किन्तु उसका ध्यान सभवतः इस ओर गया ही नहीं। कुछ विद्वान् राजनैतिक घटना को भी शिथिलता तथा विशृंखलता का कारण मानते हैं, किन्तु यह मत उचित नहीं है। मृच्छकटिक की राजनैतिक घटना के औचित्य तथा अनिवार्यता पर हम प्रर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं, उससे स्पष्ट है कि मृच्छकटिक की घटनाओं एव चरित्रों की विविधता, गत्यात्मकता तथा घातप्रतिघात द्वारा सजीवता के विनिवेश का समधिक श्रेय राजनैतिक कथा को ही है।

कुछ विद्वान् नाटक के अन्त में धूता के सती होने की घटना को अनावश्यक तथा नाट्यकला की दृष्टि से अनुपयुक्त मानते हैं। उनकी मान्यता है कि यह घटना बाद में नीलकण्ठ नामक किसी व्यक्ति ने जोड़ दी है।[3] यद्यपि प्रकट प्रमाण के बिना

---

१. **हिस्ट्री ऑफ इंगलिश लिटरेचर, डा० दास गुप्ता, पृ** २४५,

२. **आलोचना, जनवरी, १९६४, पृ०** ८८,

३. **संस्कृत ड्रामा, पृ०** १३५,

इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता तथापि इतना अवश्य है कि धूता की उप-कथा से नाटक में गति आती है, अन्त में क्षीण होते हुए नाट्य प्रभाव में पुनः प्रवाह आता है, तथा इसके विनियोग से करुण रस की झलक भी मिलती है, तथापि नाट्य-कला की दृष्टि से इसे उचित नहीं माना जा सकता। बिना इस घटना की योजना के भी नाटक प्रभावशाली ढंग से समाप्त हो सकता था।

मृच्छकटिक शैली की दृष्टि से संस्कृत साहित्य में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। विशाखदत्त ने जिस प्रकार मुद्राराक्षस में विशेष शैली के प्रयोग के द्वारा ऐतिहासिक तथा राजनैतिक वातावरण की सृष्टि करके नाट्य-प्रभाव को उभार दिया है, उसी प्रकार मृच्छकटिक के नाटककार ने विषयानुसारिणी शैली के द्वारा सामाजिक तथा राजनैतिक वातावरण की सृष्टि करके नाटक की प्रभावात्मकता को उद्घटित किया है। मृच्छकटिक में सर्वत्र स्वाभाविकता है। घटनाओं को स्वाभाविकता देने के लिए नाटककार ने कहीं भी दैवी, आकस्मिक या चमत्कार-प्रधान प्रसंगों का विनियोग नहीं किया है। बिना किसी आरोप के घटनायें स्वतः विकसित होती गयी हैं। एक स्थान पर, जबकि चांडालों की उठी हुई तलवारें सहसा छिटक पड़ती है, अवश्य कुछ अस्वाभाविकता प्रतीत होती है। किन्तु वास्तव में यह घटना भी सम्भव है, तथा नाटकों में विशेष प्रयोजन से इस प्रकार का प्रसंग उपस्थित कर देना दोष नहीं कहा जाता है।

नाटककार ने चरित्रों में स्वाभाविकता तथा यथार्थता के विनिवेश के उद्देश्य से अकृत्रिम भाषा शैली का प्रयोग किया है। चरित्रों की विविधता के अनुसार नाटककार ने विविध प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया है। मृच्छकटिक में संस्कृत के अतिरिक्त सात प्राकृतों का प्रयोग मिलता है। इनमें शौरसेनी, मागधी, प्राच्या तथा अवन्तिका को प्राकृत माना गया है, शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की को विभाषा। विभिन्न पात्रों से अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुसार भिन्न-भिन्न भाषाओं का प्रयोग कराया है। जैसे द्यूत-कर तथा माथुर ढक्की का प्रयोग करते हैं, तो संवाहक आदि मागधी का। विदूषक प्राच्या बोलता है तो चन्दनक तथा वीरक आवन्ती। इसी प्रकार कोई-कोई पात्र संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भी बोलता है। समस्त नाटक में स्वाभाविक रूप से संवादों का प्रयोग हुआ है। संवाद संक्षिप्त, चरित्र के अनुकूल तथा कथानक को गति देने वाले हैं। भाषा सरल, चुभती हुई तथा हास्य व्यंग के उपयुक्त है। नाटक का मुख्य रस श्रृंगार है, किन्तु अन्य नाटकों के समान नखशिख वर्णन तथा श्रृंगारिक वातावरण का अभाव है। मृच्छकटिक में नाट्य गुण तथा काव्य गुण का ही समायोग नहीं है, अपितु यह वर्तमान की भिन्न-भिन्न रुचि तथा विचारों के अनुरूप सर्वविध सामग्री प्रदान करता है। समग्ररूप में मृच्छकटिक में हास्य, व्यंग्य, प्रणय, करुणा, वीरता सभी का मंजुल संमिश्रण है। इसमें मानव जीवन की कटुता तथा

कठोरता का प्रतिबिम्बन है, तो जीवन रस के सुधाकरणों का निर्भरण भी है। इसमें जीवन के यथार्थवादी पतनोन्मुख चित्र हैं, तो आदर्शोन्मुख स्पृहणीय चित्रों का भी अभाव नहीं है। इसमें चोर, जुआरी, हत्यारों, वेश्या तथा व्यभिचारी चरित्रों की अवतारणा है तो त्याग बलिदान तथा प्रेम के पवित्र पथ पर चलने वाले चरित्रों का भी विनियोग है। वास्तविकता यही है कि मृच्छकटिक के नाटककार ने इसमें सत्य की पृष्ठभूमि पर सौन्दर्य की सृष्टि करके शिव तथा मंगल के युगल स्वरूप को अभिव्यंजित किया है।

मृच्छकटिक कालीन सांस्कृतिक दशा

मृच्छकटिक एक साहित्यिक नाटक ही नहीं, अपितु एक सामाजिक, राजनैतिक अथवा सांस्कृतिक नाटक है, अत अन्य नाटकों की अपेक्षा इसमें समकालीन समाज, राजनीति,, संस्कृति आदि का चित्रण अधिक मात्रा में तथा अधिक प्राजंल रूप में हुआ है। मृच्छकटिक में समकालीन सांस्कृतिक सामग्री का इतना प्राचुर्य है कि केवल इसी के आधार पर मृच्छकटिक कालीन भारत का भी अध्ययन किया जा सकता है। विशेषत: मृच्छकटिक का समस्त कथानक उज्जयनी से सम्बन्धित है तथा उज्जयनी में ही घटित होता है। अतएव इस नाटक के आधार पर 'मृच्छकटिक कालीन उज्जयनी" का अध्ययन करने में अधिक सरलता हो सकती है। कुछ विद्वानों ने इस प्रकार का प्रयास किया है,[१] किन्तु तत्कालीन भारत के अध्ययन के अनेक अन्य स्रोत भी हैं अतः मृच्छकटिक का भास तथा कालिदास के नाटकों के समान सांस्कृतिक महत्त्व नहीं है, तथा मुख्यत: यहाँ अनवसर, अप्रासंगिक तथा स्थानाभाव होने के कारण हम मृच्छकटिक का सविस्तार सांस्कृतिक चित्र प्रस्तुत करना उपयुक्त नहीं समझते हैं। अत: संक्षेप में केवल विहगम रूपरेखा देने का ही प्रयास करेंगे।

उत्तरी भारत में गुप्तों के समय संस्कृति, सभ्यता तथा समाज की आशातीत उन्नति हुई अतएव गुप्तकाल भारतीय इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से विख्यात है। गुप्तोत्तरकाल में, जिस समय मृच्छकटिक का सृजन हुआ, शनैः-शनैः भारत का स्वर्णयुग का सूर्य अस्तगामी होता गया। उज्जयनी से गुप्तों का अस्तित्व मिट गया और गुप्तों का वैभव, पराक्रम तथा साम्राज्य केवल भूतकालीन घटना मात्र रह गयी। गुप्तों के बाद हर्ष तक का भारत पतनकालीन भारत था। मृच्छकटिक उसी–गुप्तों के बाद से हर्ष तक के–भारत, विशेषत: उत्तरी भारत, उसमें भी विशेषत: उज्जयनी की सांस्कृतिक दशा का प्राजंल चित्र प्रस्तुत करता है।

---

१. **उज्जैनी इन मृच्छकटिक, बी. सी. ला. वाल्यूम १, कलकत्ता १९५५, पृ० ४००–४१३,**

सामाजिक दशा :

वर्णाश्रम व्यवस्था :—मृच्छकटिक कालीन समाज चतुर्वर्ण में विभक्त था। संभवतः चाण्डालों का पंचम वर्ण होता था। ब्राह्मण विद्या-विशेष के अभिज्ञ तथा पूजनीय होते थे,[1] परन्तु सभी ब्राह्मण विद्वान् नहीं होते थे। वे अन्य वर्णों के काम भी करते थे। चारुदत्त ब्राह्मण होते हुए भी व्यवहार से सार्थवाह-पुत्र तथा श्रेष्ठी था, व्यापार आदि करता था। शर्विलक वेदज्ञ विद्वान् पिता का पुत्र होने पर भी चोरी करता था। चारुदत्त तथा शर्विलक दोनों ही वेश्या-प्रेम करते थे। चारुदत्त द्यूतक्रीडा भी करता था। अतः स्पष्ट है कि ब्राह्मणों का चारित्रिक पतन हो रहा था। ब्राह्मण पौरोहित्य कार्य करते, दान दक्षिणा लेते तथा भोजन भी करते थे।[2] किन्तु भोजन आदि करना उसकी स्वेच्छा पर था। अतएव विदूषक भोजन के लिये[3] मना कर देता है। ब्राह्मणों को शुभ तथा सिद्धिप्रद समझा जाता था।[4] ब्राह्मण धर्म-कर्म भी करते थे। तथा कुछ ब्राह्मण अत्यन्त धनवान होते थे। सम्भवतः व्यवसाय के अनुसार पृथक्-पृथक् मोहल्ले होते थे। चारुदत्त श्रेष्ठिचत्वर में निवास करता था।[5] वणिक्जन परिजन-परिवार को छोड़कर विदेशों में व्यापार आदि को जाते थे। चाण्डाल फांसी आदि देते थे। संभवतः छूताछूत भी उस समय थी। सुवर्णकार तथा वणिकों को चोर तथा वंचक माना जाता था। नाटक में उन्हें सर्प कहा है। वर्णसंकर शकार को "प्राकृत" कहा है। प्राकृत पुरुष वेदोच्चारण के अधिकारी नहीं होते थे।[6]

स्त्रीदशा :—स्त्रियों का समाज में सम्मान था, किन्तु स्त्रियाँ सदैव दुष्ट पुरुषों से आतंकित रहती थीं। एकाकी घूमना-फिरना उन्हें सम्भव नहीं था। पर्दे लगी गाड़ियों में ही स्त्रियाँ आती-जाती थीं,[7] किन्तु इसका तात्पर्य पर्दाप्रथा से नहीं है।

विवाह :—प्रायः सवर्ण स्त्री से ही करते थे, किन्तु असवर्ण विवाह भी होते थे। ब्राह्मण चारों वर्णों की स्त्रियों से विवाह कर सकता था। नाटक में शर्विलक

---

१. "विद्याविशेषालङ्कृतः किकोऽपि ब्राह्मणयुवा काम्यते" "पूजनीयो मे ब्राह्मणजनः" मृच्छ० अंक २, पृ० ६७,

२. मृच्छ० अंक १।८–६,

३. "सभीहितसिद्धये ब्राह्मणः अग्रतः कर्तव्यः" मृच्छ० अंक १०, ५६–५७,

४. "सखलुश्रेष्ठिचत्वरे प्रतिवसति" मृच्छ० अंक २।१४–१५,

५. "अपवारितं प्रवहणं व्रजति मध्यमेन राजमार्गस्य" मृच्छ० ६।१२,

६. मृच्छ० ६।२१,

७. मृच्छ० ६।१२,

तथा चारुदत्त मदनिका तथा वसन्त सेना से विवाह करते हैं। सती प्रथा भी थी। धूता नाटक में सती होने का प्रयास करती है।[१]

वेश्या प्रथा :—उस समय वेश्या प्रथा भी थी। ये वेश्या तथा गणिका दो प्रकार की होती थीं। वेश्या रूप यौवन से धन अर्जित करती थीं। किन्तु गणिका नृत्य गीतादि कला विशेष द्वारा। नाटक में वसन्त सेना को अधिकतर गणिका प्रयुक्त है। गणिका का स्थान वेश्या से उच्च था। वेश्याओं से सम्बन्ध समाज में श्रेष्ठ नहीं समझा जाता था। अतएव चारुदत्त वसन्तसेना के सम्बन्ध में न्यायाधीश से बारम्बार स्वीकृति न देकर झूठ बोलता है।[२] गणिकायें अपना पेशा छोड़ कर कुल वधू भी बन सकती थी। किन्तु राजाज्ञा के बिना नहीं। वसन्तसेना चारुदत्त की कुलवधू बनती है।

द्यूत प्रथा :—मृच्छकटिक के समय द्यूत-प्रथा का बहुत प्रचार था। जुआ खेलने के अड्डे भी होते थे तथा एकान्त स्थानों में खेला जाता था। द्यूतकारों की मंडली होती थी। मुखिया समिक कहलाता था।[३] राजा की दृष्टि में द्यूत दण्डय नहीं था। द्यूत में बेईमानी से या हार कर रुपया न चुकाने पर न्यायालय की शरण ली जाती थी[४]। बेईमानी करने वालो को बुरी तरह मारा जाता था। रुपये न देने पर उसे दास रख दिया जाता था। कुछ लोग अन्य आजीविका के अभाव में द्यूतोप-जीवी बन जाते थे[५]। नाटककार द्यूत को अच्छा नहीं समझता है[६]। संभवतः उस समय शराब भी पीते थे। नाटक में "आपानक" शब्द का प्रयोग भी है[७]।

दास प्रथा :— दास प्रथा प्रचलित थी। मनुष्य पशुओं की तरह खरीदे-बेचे जाते थे। दास अपने स्वामी की संपत्ति होते थे। अतः प्रचुर संपत्ति देने पर दासों को मुक्त भी कराया जा सकता था। शर्विलक दासी मदनिका को चोरी से धन प्राप्त कर के मुक्त कराता है। कभी-कभी स्वामी भी स्वयं दासों को मुक्त कर देता था। चारुदत्त द्वारा स्थावरक को अदास कर देने का उल्लेख है[८]।

---

१. मृच्छ० १०।५५,

२. मृच्छ० १०।६७, ३०,

३. मृच्छ० २।२, ३,

४. मृच्छ० अंक २।१४–१५,

५. मृच्छ० अंक २।१५–१६,

६. मृच्छ० २।१२,

७. शकार—"आपानक-मध्य-प्रविष्टस्येव रक्तमूलकस्य शीर्षते भंक्ष्यामि"
मृच्छ० ८।४,

८. मृच्छ० अंक १०।५८,

न्याय प्रणाली :—न्याय प्रणाली के सम्बन्ध में मृच्छकटिक से अच्छा ज्ञान होता है। न्यायालय में न्यायाधीश श्रेष्ठी तथा कायस्थ मिलकर न्याय निर्णय देते थे। न्यायाधीश वेतन जीवी होता था। अतः न्याय पर राजा का आतंक था। राजा इच्छानुसार न्यायाधीश को सेवा से पृथक भी कर सकता था, शकार न्यायाधीश को निकलवाने की धमकी देता है[1]। न्याय के सम्बन्ध में नाटक में नवम् अंक से अच्छा ज्ञान होता है। शकार चारुदत्त तथा न्यायाधीश की उक्ति प्रत्युक्ति से स्पष्ट है कि न्याय व्यवस्था ठीक न थी। सभ्य पुरुषों को आसन पर बिठाया जाता था। वादी प्रतिवादी के बयान लेकर साक्षी के आधार पर निर्णय दिया जाता था। फांसी के निर्णय की अंतिम आज्ञा राजा से लेनी होती थी। न्याय का अस्तित्व स्वतंत्र नहीं था। राजा की आज्ञा ही सर्वोपरि होती थी[2]।

कला :—कला के सम्बन्ध में भी मृच्छकटिक से ज्ञान होता है। कला उन्नत थी। संगीत कला का व्यसन था। रेभिल गायन में चतुर था। वाद्य यंत्रों में वीणा का महत्त्व ज्यादा था। नाटक में वीणा को रत्न कहा है[3]। वीणा के अतिरिक्त बांसुरी, मृदंग, दर्दुर, पणव का भी उल्लेख है[4]। चित्रकला का भी प्रचार था। वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र बनाकर मदनिका को दिखाती है। संवाहन भी एक कला थी। संवाहक इस कला में निपुण था। प्रतिमा कला का भी लोगों को ज्ञान था। शिला और काष्ठ की प्रतिमायें बनायी जाती थीं। "चौर्य" भी एक कला थी। चौर्य कला का नाटक में विशेष उल्लेख है। इनके अतिरिक्त वसन्तसेना के प्रकोष्ठ-वर्णन के प्रसंग में भी अन्य कुछ कलाओं का उल्लेख है जिनसे प्रतीत होता है कि तत्कालीन स्त्री-पुरुष प्रसाधान आदि शारीरिक तथा अन्य ललित कलाओं में कुशल होते थे।

धार्मिक दशा :—धार्मिक दशा पर मृच्छकटिक से अच्छा प्रकाश पड़ता है। बौद्ध तथा वैदिक दोनों धर्म के उस समय अनुयायी थे, किन्तु बौद्ध धर्म पतनोन्मुख था। संवाहक दुःखों से ऊबकर श्रमण हो जाता है। वैदिक धर्म राजधर्म था। पालक का यज्ञशाला में जाने आदि का नाटक में उल्लेख है। बौद्ध भिक्षु होना अभी बुरा नहीं माना जाता था, तथापि वे सशंक दृष्टि से देखे जाते थे। श्रमणक दर्शन अनाभ्युदयिक माना जाता था[5]। शिरोमुण्डित भिक्षुओं पर नाटक में व्यंग्य किया गया

---

१. मृच्छ० ९।६
२. मृच्छ० ९।३९
३. मृच्छ० ३।२–३,
४. वही,
५. "कथमभिमुखमनभ्युदयिकं श्रमणकदर्शनम्" मृच्छ० ७।९,

है[1]। ब्राह्मण धर्म अभ्युदयोन्मुख था। शाक्त तथा शैवों के विकास के सम्बन्ध में नाटक से ज्ञान होता है। पूजा, पाठ, यज्ञ, बलि आदि का नाटक में उल्लेख है। व्रतोपवास भी लोग करते थे। दान देना एवं भगवत् स्मरण करने की परम्परा थी। चाण्डाल "सह्यवाहिनी" देवी के उपासक होते थे[2]।

राजनैतिक दशा :—मृच्छकटिक कालीन राजनैतिक दशा तथा राज्यव्यवस्था भी अच्छी न थी। उत्तरी भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। सार्वभौमिक सम्राट् कोई न था। राजा भी शक्तिहीन थे। देश में सर्वत्र अराजकता थी। प्रजा राजा से संतुष्ट नहीं थी, अतएव सदैव राजा के अत्याचारों से बचने के लिये राजा के विरुद्ध षड्यंत्रों में संलग्न रहती थी। राजा भी शत्रुओं से आशंकित रहते थे। किंचित मात्र प्रतिकूल सूचना मिलते ही विपक्षियों को बन्दी बना लेता था। आर्यक के प्रति आशंकित होकर पालक ने उसे बन्धन में डाल दिया था। राज्य-व्यवस्था भी अत्यधिक शोचनीय थी। राजा के पक्षपाती राज कर्मचारी अपने को अधिकार सम्पन्न समझते थे। राज्य में सदैव विद्रोह की स्थिति बनी रहती थी। क्रांतियों में अधिक समय नहीं लगता था। आर्यक ने स्वल्प समय में ही पालक के राज्य को पलट दिया था। षड्यंत्रकारी देश के सभी छोटे-छोटे वर्गों के लोगों का सहयोग लेते थे। शर्विलक नाटक में राजपरिजन धूर्त, वीर, राजा से क्रुद्ध मंत्रियों को उकसाता है[3]। अतः स्पष्ट है कि राज्य-क्रांति में चोर, जुआरी आदि सभी ने भाग लिया था।

राज्य में अपराधियों की तलाशी के लिये विशेष अधिकारी नियुक्त होते थे। पालक के वीरक तथा चन्दनक को आर्यक के पता लगाने के लिये नियुक्त किया था। राजा के साले आदि नगर में अशान्ति फैलाते रहते थे। नगर की रक्षा व्यवस्था राजपिशुन सेवकों ने ही बिगाड़ रखी थी। कोई भी बहू-बेटी सायंकाल के बाद घर से बाहर नहीं निकल सकती थी। राजमार्ग पर वेश्या विट, द्यूतकर आदि ही सायंकाल में घूमने लगते थे। यदाकदा लोगों में मारपीट हो जाती थी तथा आतंकपूर्ण वातावरण हो जाता था।

राजाओं का चरित्र भी अच्छा न था। मृच्छकटिक के राजा पालक ने कई रखेलें रख रखी थी। शकार की बहिन उनमें से एक थी। शकार भी व्यभिचारिणी का पुत्र था। अतः स्पष्ट है कि राजाओं के यहाँ भुजिष्यायें भी होती थीं। ये विलास में मग्न रहते थे। फलत: राज्य-क्रांति तथा अशान्ति की स्थिति बनी रहती थी एवं षडयंत्र चलते रहते थे।

---

१. मृच्छ० ८।३,
२. मृच्छ० १०।३७,
३. 'ज्ञातीन् विटान् स्वभुजविक्रमलब्धवर्णान्, राजावमानकुपितांश्च नरेन्द्रभृत्यान्। उत्तेजयामि सुहृदः परिमोक्षणाय, यौगन्धरायण इवोदयनस्य राज्ञः। ४।२६,

८

प्रियदर्शिका तथा रत्नावली एवं अन्य उदयन नाटक

(अ) प्रियदर्शिका एवं रत्नावली

हर्ष ने प्रियदर्शिका तथा रत्नावली की रचना करके संस्कृत के नाट्य-साहित्य में सर्वप्रथम नाटिकाओं की परम्परा का प्रवर्तन किया है। अतः यदि भास, कालिदास तथा शूद्रक ने नाट्य साहित्य को नाट्य कला की दृष्टि से विकसित करके अपने को अमर कर दिया है, तो हर्ष ने भी नाट्यविद्या की दृष्टि से उसको एक नवीन मोड़ देकर रचनात्मक दृष्टि से नवीन परम्परा का श्रीगणेश करके अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान बना दिया है।

हर्ष की कृतियाँ तथा कर्तृत्व :

हर्ष के नाम से तीन नाट्य–कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। किन्तु कुछ विद्वान् इनमें नागानन्द को अंतिम कृति स्वीकार करते हैं, पर अधिकांश विद्वानों की यही मान्यता है कि 'प्रियदर्शिका प्रथम तथा रत्नावली अन्तिम कृति है''।[1] हर्ष की नाट्य-कला के विकास की दृष्टि से देखने पर यही मत उपयुक्त भी प्रतीत होता है। हर्ष की ये दोनों नाटिकायें उदयन-कथा पर आधारित हैं। अतः हम यहाँ ऐतिहासिक नाटक के अध्ययन क्रम में इनके महत्त्व तथा ऐतिहासिकता के अनुसार संक्षेप तथा विस्तार में पर्यवेक्षण करेंगे। सामान्यतः प्राचीन समय से ही उपर्युक्त रचनाओं के कर्तृत्व के सम्बन्ध में प्राच्य पाश्चात्य विद्वानों में अनेक प्रकार के मतभेद रहे हैं। कुछ विद्वानों ने मम्मट के उल्लेख के आधार पर इन्हें स्वयं हर्ष की रचना न मानकर धावक की माना है तो कुछ ने रत्नावली के किसी कश्मीरी संस्करण में बाण के उल्लेख के

---

१. विशेष देखिये—रत्नावली, सं० देवधर एवं सुरु, भूमिका, पृ० ३२–३३, प्रियदर्शिका : सं० काले, भूमिका, पृ० ३२, स० क० दर्शन, पृ० ३०६ आदि।

आधार पर उसे बाण की रचना स्वीकार किया है ।[१] इसी प्रकार तीनों नाट्यकृतियों में नाट्यशिल्प आदि की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर होने के कारण भी कुछ इन्हें एक लेखनी से अभिसृष्ट नहीं मानते । उनके अनुसार मुख्यतः प्रियदर्शिका का लेखक रत्नावली का रचयिता कभी नहीं हो सकता, किन्तु ये सब मान्यताएँ गम्भीर अध्ययन पर आधारित न होकर अनुमान पर ही अधिक आधारित हैं, अतःश्च निःसार प्रतीत होती हैं ।[२]

काव्य-प्रकाश में काव्य प्रयोजन के सम्बन्ध में उदाहृत वाक्य का अभिप्राय इतना ही है कि काव्य रचना से कवियों को अर्थ-लाभ भी होता है, जैसे धावक (या बाण) आदि कवियों को श्री हर्ष आदि राजाओं के द्वारा हुआ । अतः इस वाक्य के आधार पर ही इन्हें हर्ष की रचना न मानना सर्वथा भ्रामक है । मुख्यतः जबकि अधिकांश प्राचीन विद्वानों ने इन्हें हर्ष का माना है तथा तीनों रचनाओं की प्रस्तावना मे इन्हें स्पष्टतः हर्षदेव की रचना लिखा है [३] तो जब तक हर्ष के कर्तृत्व के विपक्ष में अन्य कोई सुदृढ़ प्रमाण नही दिया जाता, इन्हें हर्ष की रचना मानना ही अधिक सगत है । अर्वाचीन अनेक विद्वानों ने इन कृतियों के गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर, अनेकविध समानताओं को खोज कर यही निष्कर्ष निकाला है कि ये सब एक ही नाटककार की रचना है और वह नाटककार है हर्ष ।[४]

यद्यपि भारतीय इतिहास से हर्ष नाम के पांच व्यक्तियों का ज्ञान होता है किन्तु विद्वानों ने इस विषय पर भी पूर्वापर विचार करके कन्नौज के हर्ष-वर्धन को ही इनका रचयिता स्वीकार किया है ।[५] कन्नौज के राजा हर्षवर्धन के बहुमुखी व्यक्तित्व का

---

१. देखिये—प्रियदर्शिका : भूमिका : एम. आर. काले, पृ० १७, संस्कृत ड्रामा, पृ०, १७१ सं० का० दर्शनः पृ० ३०८, सं० सा० इति०: उपाध्याय, पृ० ४७७,

२. देखिये, रत्नावली; शारदारंजन रायः पृ० १४, राय ने यह भी लिखा है कि काव्य प्रकाश के एक टीकाकार अच्युताराय ने इसी भ्रम के कारण नैषध को धावक की रचना बतला दिया है ।

३. श्री हर्षदेवेन अपूर्ववस्तु रचनालकृता रत्नावली नाम नाटिका कृता,
,, ,, प्रियदर्शिका नाम नाटिका कृता,
,, ,, अलंकृत विद्याधरजातक निबद्धं नागानन्द नाम

४. देखिये—रत्नावली: भूमिका: देवधर एवं शुरू, पृ० ६, प्रियदर्शिका भूमिका : काले : १४, संस्कृत ड्रामा, पृ० १७०–७१,

५. देखिये—प्रियदर्शिका : काले० भूमिका, पृ० १४–१७, श्री हर्ष ऑफ कन्नौज: के. एम. पनिक्कर, पृ० ६४–७०,

परिचय भारतीय इतिहास तथा संस्कृत वाङ्मय में स्फुट तथा व्यापक रूप से प्राप्त है। उससे स्पष्ट है कि वह बाण, मयूर तथा मातंग दिवाकर आदि का आश्रयदाता ही नहीं था अपितु विक्रमादित्य, शूद्रक, महेन्द्र, विक्रम वर्मा, यशोवर्मा तथा विग्रहराज के समान स्वयं भी साहित्यिक था। हर्ष-चरित में इसका काव्य-रसिक के रूप में अनेकशः उल्लेख हुआ है। चीनी परिव्राजक इत्सिंग के यात्रा विवरण तथा दामोदर गुप्त के कुट्टनीमत के उल्लेख से भी न केवल काव्यानुराग अपितु नागानन्द तथा रत्नावली के कर्तृत्व की प्रमाणिकता भी परिव्यक्त होती है।[1] अतः हर्ष को नाटिकाओं का रचयिता न मानने में कोई औचित्य नहीं दीखता। यह अवश्य माना जा सकता है कि किसी आश्रित कवि ने इनमें संशोधन कर दिया हो।[2] आधुनिक अनेक विद्वानों ने सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर श्री हर्ष को ही इन तीनों का रचयिता सिद्ध किया है।[3] आजकल प्रायः यही मत प्रचलित है।[4] सौभाग्य से संस्कृत के अन्य अनेक नाटककारों के समान हर्ष का समय अनिश्चित नहीं है। हर्ष प्रभाकर-वर्द्धन के कनिष्ठ पुत्र थे तथा बड़े भाई राज्य वर्द्धन की मृत्यु के बाद गद्दी पर बैठे। अतः हर्ष (६०६–६४७) का समय सप्तम शतक निश्चित है।

हर्ष की नाटिकाओं का कथानक

प्रियदर्शिका:—वत्सराज उदयन का सेनापति विजयसेन दृढ़वर्मा की पुत्री प्रियदर्शिका को राज्यसभा से लाकर आरण्यकाधिपति विन्ध्यकेतु की पुत्री के रूप में राजा के सामने प्रस्तुत करता है। राजा उसे शिक्षा दीक्षा की समुचित व्यवस्था की दृष्टि से वासवदत्ता को सौंप देता है तथा उसके विवाह योग्य होने पर सूचना देने को कह देता है। द्वितीय अंक में उदयन विदूषक के साथ घूमता हुआ उपवन में वहाँ पहुँचता है जहाँ कि प्रियदर्शिका वासवदत्ता के लिये पुष्प चुनने को आयी है। प्रियदर्शिका कमलों पर उड़ते हुए भ्रमरों से व्यग्र होकर चिल्लाती है कि तभी राजा लता-कुंज से प्रकट होकर उसे बचाता है। यहीं नायक-नायिका के प्रथम दर्शन के द्वारा पूर्व-राग का बीज निक्षिप्त किया गया है। तृतीय अंक में उदयन तथा प्रियदर्शिका की अनुराग जनित व्याकुलता का संकेत मिलता है। प्रियदर्शिका की सखी मनोरमा

---

१ देखिये—प्रियदर्शिका, काले : भूमिका : पृ० १६, संस्कृत ड्रामा, पृ० १७०–७१ आदि।

२. प्रा० भा० इति०: त्रिपाठी : पृ० २३५,

३. विशेष देखिये—रत्नावली: शारदारंजनराय, पृ० १४–२८, तथा हर्षवर्धन: गौरीशंकर चटर्जी पृ० २३१–४४, आदि।

४. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्० : दासगुप्ता, वाल्यूम १ पृ० २५५,

तथा विदूषक दोनों प्रेमी जनों के सम्मिलन की योजना बनाते हैं। इसी उद्देश्य से एक गर्भांक की योजना की गयी है। वासवदत्ता उदयन चरित से सम्बन्धित एक नाटक का अभिनय करना चाहती है, जिसमें मनोरमा को उदयन बनना है और आरण्यका को वासवदत्ता। मनोरमा की चतुरता से अपने स्थान पर राजा स्वयं पहुँच जाता है। वासवदत्ता को सन्देह होता है और मनोरमा की सारी चाल पकड़ ली जाती है। चतुर्थ अंक में ज्ञात होता है कि वासवदत्ता प्रियदर्शिका पर कड़ी नजर रखे हुए हैं। किन्तु तभी अंगारवती का पत्र उसे चिन्तित बना देता है, क्योंकि उसका मौसा दृढ़वर्मा कलिंगराज के यहाँ बन्धन में पड़ा हुआ है। उदयन उसे मुक्त कराने को सेना भेजता है। तभी दृढ़वर्मा का कंचुकी आता है और प्रियदर्शिका को पहिचान लेता है। फलतः वासवदत्ता भी उसे पहिचान कर राजा के साथ उसका विवाह करा देती है।

रत्नावली :—प्रस्तावना में यौगन्धरायण लावाणक में वासवदत्ता के जलने का प्रवाद फैलाकर सिंहलराज की कन्या रत्नावली को उदयन के विवाहार्थ माँगता है, क्योंकि ज्योतिषियों ने रत्नावली को उदयन की पत्नी बनने तथा इसके उपरान्त चक्रवर्तित्व की प्राप्ति की भविष्यवाणी की है। किन्तु दुर्भाग्यवश रत्नावली को लाने वाला जहाज टूट जाता है, पर एक तख्ते का आश्रय लेकर वह बच जाती है और उसे समुद्रयात्री बनिये राजा के यहाँ यौगन्धरायण के पास पहुँचा देते हैं। यौगन्धरायण उसके व्यक्तित्व को छिपाकर वासवदत्ता के पास सागरिका के नाम से रख देता है। अंक के प्रारम्भ में सागरिका कामपूजा के समय सर्व प्रथम उदयन को देखकर अनुरक्त हो जाती है। यहीं उसे उदयन का परिचय मिलता है, जिसके लिए उसके पिता ने भेजा है। द्वितीय अंक के प्रवेशक से सागरिका के विरह का संकेत मिलता है। वह लतागृह में चित्त-विनोद के लिए राजा का चित्र बनाती है। उसकी सखी सुसंगता उसी चित्र में उदयन के चित्र के पास वासवदत्ता का चित्र भी बना देती है और वे परस्पर गुप्त प्रणय की चर्चा करती हैं। पास में स्थित मैना उन सब गुप्त बातों को सुन लेती है। तभी एक बन्दर के आने के कारण हलचल मचती है। वे दोनों डर कर भाग जाती हैं। बन्दर पिंजरे को खोल जाता है। वे दोनों पिंजड़े से उड़ी हुई मैना को पकड़ने को पुनः आती हैं, किन्तु चित्रपट भूल जाती हैं। तभी राजा विदूषक के साथ घूमता हुआ उपवन में आता है और मैना की बातों को सुन कर सारे रहस्य को जान लेता है। राजा तथा विदूषक को वह चित्रपट मिल जाता है तथा सारी स्थिति का ज्ञान हो जाता है। तभी सुसंगता सागरिका को चित्रपट लेने के बहाने वहाँ लाकर राजा से मिलन कराती है।

इसी बीच राजा को ढूंढती हुई वासवदत्ता वहाँ आ जाती है और चित्रपट को देखकर क्रुद्ध होती है, किंतु राजा के द्वारा क्षमा माँगने पर चली जाती है।

तृतीय अंक में राजा सागरिका से मिलने को चिन्तित है। विदूषक सुसंगता के साथ ऐसी योजना बनाता है जिससे कि सागरिका वासवदत्ता के वेश में राजा के पास अभिमरण कर सके। इस योजना का पता वासवदत्ता को चल जाता है और वह ठीक समय पर वहाँ पहुँचती है। राजा उसे ही सागरिका समझ प्रणय-निवेदन करता है। पर वासवदत्ता के प्रकट होने पर क्षमा मांगता है। वह रुष्ट होकर चली जाती है। सागरिका इन समस्त बातों को जानकर ग्लानिवश लतापाश से फाँसी लगाकर मरना चाहती है तथा पैतृक रत्नावली को विदूषक को दे देती है। पर राजा पहुँच कर उसे बचा लेता है। वासवदत्ता पुनः वहाँ आ जाती है और सागरिका तथा विदूषक को पकड़ कर ले जाती है। चतुर्थ अंक से ज्ञात होता है कि सागरिका उज्जयनी भेज दी गयी है, पर यह सूचना मिथ्या है। वास्तविकता यह है कि उसे तहखाने में डाल दिया गया है। तभी एक ऐन्द्रजालिक आकर जादू दिखाता है कि अन्तःपुर में आग लग जाती है। वासवदत्ता को सागरिका के बचने की याद आती है और वह राजा से उसे बचाने को कहती है। राजा उसे बचा लाता है। तभी उसके पिता का मंत्री वसुभूति तथा कंचुकी वाभ्रव्य आते हैं और विदूषक के गले में रत्नावली को देखकर सारे रहस्य को प्रकट कर देते हैं। अंत में वासवदत्ता भी रत्नावली से उदयन का विवाह करा देती है।

प्रियदर्शिका और रत्नावली में समानता :—उपर्युक्त कथानक से स्पष्ट है कि उदयन-कथा पर आधारित हर्ष के इन नाटकों में स्वरूप तथा विषय आदि की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है। दोनों ४ अंक की नाटिकायें हैं। उदयन, वासवदत्ता, बसन्तक आदि मुख्य-मुख्य पात्र समान हैं। सागरिका की ही प्रियदर्शिका के रूप में उद्भावना की गई है। यही नहीं, अपितु मुख्य घटना भी दोनों में एकसी है। दोनो की परिस्थितियाँ आदि भी प्रायः समान हैं।[1] अतएव इन्हें "बहिन नाटिका" भी माना जाता है। इसीलिये हम यहाँ इनका एक साथ ही अनुशीलन करना उचित समझते हैं।

हर्ष की नाटिकाओं की स्रोत सामग्री :—हर्ष की दोनों नाटिकायें उदयनकथा पर आधारित हैं। उदयनकथा की स्रोत सामग्री का भास के उदयन नाटकों के पर्यवेक्षण करते हुए हम विस्तार से उल्लेख कर चुके हैं, किन्तु हर्ष ने उस समस्त सामग्री का प्रयोग किया है, इसमें सन्देह है। हर्ष ने दोनों नाटिकाओं के प्रारम्भ में "लोकेहारि च वत्सराज-चरितं" लिखा है। अतः हमारा अनुमान है कि हर्ष ने अपने नाट्यरूपों

---

१. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्० दासगुप्ता, वाल्यूम १, पृ० २५६–५८, तथा प्रियदर्शिका सं० काले, भूमिका, पृ० ३२–३४,

के लिए उदयन-कथा का चयन एक लोकप्रिय कथा के रूप में किया है। विद्वानों की मान्यता है कि हर्ष ने बृहत्कथा (या कथासरित्सागर) से वस्तु का चयन किया है।[1] यद्यपि बृहत्कथा से भी पूर्व भास ने प्रामाणिक रूप में उदयन कथा को नाट्यरूप मे रूपायित किया है, किन्तु हर्ष ने भास को अपना उपजीव्य नहीं बनाया है भास, कालिदास तथा शूद्रक आदि ने उदयन कथा को किसी न किसी रूप में अपनाया है, जिससे यह निश्चित है कि प्राचीन काल से उदयन तथा रोमांटिक कथा के रूप में प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रही है। हम इसकी लोकप्रियता पर संक्षेप में प्रकाश डाल चुके हैं[2]। यद्यपि हर्ष ने उदयन कथा को रूपायित करने में अपने पूर्ववर्ती अनेक काव्यों से भी प्रेरणा ग्रहण की है, तथापि हमारा अनुमान यही है कि मुख्यतः यहाँ बृहत्कथा से ही लोककथा के रूप में कथावस्तु का चयन किया गया है।[3] संभव है हर्ष के समय बृहत्कथा उपलब्ध रही हो। पर आज उसके संस्करण कथासरित्सागर तथा बृहत्कथा मंजरी में उदयनकथा उपलब्ध है।[4] उनके आधार पर यही माना जाता है कि किसी न किसी रूप में इस के सूत्र वहीं से सँजोये हैं। कुछ विद्वानों ने हर्ष की उदयनकथा से उसकी तुलना करते हुए विस्तार से प्रकाश डाला है[5] अतः हम यहाँ उसका पिष्टपेषण करना उचित नहीं समझते।

हर्ष की नाटिकाओं के कथानक की ऐतिहासिकता :

उदयन कथा की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में हम विस्तार से लिख चुके हैं। वहीं हमने यह स्पष्ट कर दिया है कि बृहत्कथा या उसके संस्करण कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामंजरी आदि में उपलब्ध उदयनकथा की अपेक्षा भास की कथा अधिक ऐतिहासिक है। अतः यहाँ संक्षेप में हमें भास की उदयनकथा के परिप्रेक्ष्य में ही हर्ष की नाटिकाओं का समीक्षण करना उचित प्रतीत होता है।

हर्ष की नाटिकाओं में उदयन, वासवदत्ता, यौगन्धरायण, रूमण्वान आदि ऐतिहासिक पात्रों की अवतारणा हुई है। अमात्यशब्द व्यवहृत करने पर भी भास ने रूमण्वान का एक मंत्री के रूप ही विनियोग किया है, किन्तु हर्ष ने उसको सेनापति के रूप में प्रयोग

---

१. देखो, जे. ए ओ. एस. वाल्यूम् २१, पृ० ८८, आदि
२. देखो, इसी पुस्तक का पंचम अध्याय,
३. देखिये, प्रियदर्शिका : काले, भूमिका, पृ० १४–१७ आदि
४. कथा० २।१–६, ३।१–२, बृ० क० मंजरी: द्वितीय तथा तृतीयलम्बक
५. देखिये, रत्नावली: देवधर व सुरु, भूमिका, पृ० ७–१५, तथा रत्नावली शारदारंजनराय : भूमिका, पृ० २६–३५,

किया है,[1] जोकि स्वाभाविक तथा हमारी पूर्वोक्त कल्पना के अनुकूल है।[2] बृहत्कथा-मंजरी में भी रूमण्वान को स्पष्टतः "वाहिनीपतिः" लिखा है।[3] अतः हर्ष का यह प्रयोग ऐतिहासिक है। कांचनमाला, बसन्तक आदि कुछ पात्रों को लोककथा से (कथासरित्सागर आदि से) संजोया गया है। सांस्कृत्यायनी का मालविकाग्निमित्र तथा कथा० में भी विनियोग प्राप्त है। विजयसेन, विजयवर्मा, विक्रमबाहु, वसुभूति, बाभ्रव्य, तथा दृढवर्मा आदि की ऐतिहासिकता संदिग्ध है। अनुमानतः यह कल्पित ही प्रतीत होते हैं। अन्य साधारण पात्र कल्पित हैं।

हर्ष की नाटिकाओं में उदयन वासवदत्ता के प्रणय या परिणय की प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना का आधिकारक रूप से उपन्यास नहीं है, तथापि लावाणक-दाह तथा गर्भांक की घटना आदि के प्रसंग में प्रासंगिक रूप से उदयन के इस पूर्वचरित का निर्देश किया गया है। हर्ष की नाटिकाओं में मुख्यतः समस्त घटनाचक्र प्रियदर्शिका तथा सागरिका के चारों ओर घूमता है। अतः इनसे सम्बन्धित कथानक ही इन नाटिकाओं का मुख्य वृत्त है। किन्तु यह वृत्त ऐतिहासिक है इसमें सन्देह है। कथा-सरित्सागर आदि में भी यह इस रूप में उपलब्ध नहीं होता। विद्वानों की मान्यता है कि कथा० में संक्षेप में उल्लिखित बन्धुमती के कथानक से इनके कथानक का साम्य होने के कारण यह वहीं से संजोया गया प्रतीत होता है।[4] निःसन्देह इन दोनों वृत्तों में पर्याप्त समानता है।[5] अतः सम्भव है कि नाटककार ने इनके सृजन में वहाँ से भी प्रेरणा ली हो, किन्तु नाटिकाओं के इतिवृत्त में हमें ऐतिहासिकता प्रतीत नहीं होती, और न किसी इतिहासकार ने ही इसे ऐतिहासिक स्वीकार किया है।

हर्ष की दोनों नाटिकाओं में प्रियदर्शिका की अपेक्षा रत्नावली का कथानक कुछ विस्तृत है, किन्तु इसके रूपायित करने में कथा० के बन्धुमती के कथानक से ही प्रेरणा नहीं ली है, अपितु भास के पद्मावती के चरित्र से भी प्रेरणा लेकर उसे अपने प्रकार से उपनिबद्ध किया है तथा उसे अपनी कल्पना द्वारा नवीन कलेवर देने की चेष्टा की है। यही कारण है कि उदयनकथा की रही-सही ऐतिहासिकता भी नष्ट हो गई है। भास ने पद्मावती के विवाह के मूल में आरुणि द्वारा अपहृत राज्य की प्राप्ति की ऐतिहासिक घटना को कारण रूप में विन्यस्त किया है, जबकि हर्ष ने कथा० के

१. प्रियदर्शिका १।७–१०,
२. देखिये हमारा भास वाला अध्याय,
३. बृ० क० मंजरी २।१३–१४,
४. देखिये प्रियदर्शिका, काले : भूमिका, पृ० २४–२६, आदि
५. इसी प्रबन्ध के "मालविकाग्निमित्र" अध्याय में कथा देखिये,

आधार पर पद्मावती के विवाह द्वारा चक्रवर्तित्व की प्राप्ति की घटना को ही रत्नावली के विवाह के रूप में उपन्यस्त किया है, जो कि अनैतिहासिक है । मूलतः पद्मावती-उदयन विवाह मंत्रियों के षड्यंत्र का परिणाम है । हर्ष ने भी सागरिका के विवाह के पीछे मन्त्रियों के राजनैतिक उद्देश्य को प्रदर्शित किया है । लावाणकदाह के प्रवाद से पद्मावती के विवाह के समान ही सागरिका की याचना तथा विवाह किया जाता है, किन्तु यहाँ भी ऐतिहासिक तथ्य को भ्रष्ट कर दिया गया है । इसी प्रकार हर्ष ने अन्यत्र भी कथा० तथा भास की उदयनकथा पर अपना रंग चढ़ा कर उपन्यस्त किया है । संक्षेप में, हर्ष की उदयनकथा पद्मावती तथा बन्धुमती के कथानक के मिश्रण के रूप में उपनिबद्ध होने पर भी मौलिकता लिये हुए हैं तथा इसमें अपने उद्देश्य के अनुसार परिवर्तन–परिवर्धन एवं नवीन उद्भावनायें भी की गई हैं, किन्तु इससे ऐतिहासिकता की सुरक्षा नहीं हो सकी है ।

हर्ष ने कथानक की गत्यात्मकता, रसात्मकता तथा प्रभावात्मकता की अभिवृद्धि के उद्देश्य से कुछ मौलिक कल्पनाएँ की हैं । रत्नावली के मानभंग, वसन्तोत्सव में कामदेवपूजन, चित्रविनोद, छद्मवेश में अभिसार तथा ऐन्द्रजालिक के क्रियाकलाप आदि इसी प्रकार की घटनायें हैं, किन्तु इनमें भी ऐतिहासिक यथार्थ तिरोहित हुआ है तथा अस्वाभाविकता का प्रक्षेप हुआ है । अतः ऐतिहासिकता के निर्वाह की दृष्टि से इनका विनियोग उचित प्रतीत नहीं होता । उपर्युक्त नाटिकाओं का ऐतिहासिक दृष्टि से परिशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हर्ष भास से प्रभावित अवश्य है तथा मुख्यतः रत्नावली के सृजन में हर्ष ने अनेक प्रकार से भास से प्रेरणा तथा सहायता ली है । किन्तु यहाँ भास के समान उदयनकथा को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से उपन्यस्त न करके वैयक्तिक उद्देश्य से स्वच्छन्दरूप में नाट्यबद्ध किया है और इस प्रकार अपनी कल्पना द्वारा अनेक प्रकार का परिवर्तन करके मौलिकता को संक्रान्त करने का प्रयास किया है ।[1] यही कारण है कि भास का उदयन प्रणयी होने पर भी धीरोदात्त है जबकि हर्ष का उदयन सामान्य शृंगारी नायक मात्र । उसमें धीर, वीर गंभीर तथा आदर्श प्रेमी का रूप लक्षित नहीं होता । नाटिका के लिए धीर ललित की अनिवार्यता के कारण हर्ष उदयन के ऐतिहासिक चरित्र की सुरक्षा नहीं कर सके हैं । फलतः यहाँ वह कामुक नायक सा बन कर रह गया है ।

इसी प्रकार वासवदत्ता का ऐतिहासिक चरित्र भी हर्ष की नाटिकाओं में भास के समान उदात्त तथा उदार नहीं रहा है । यहाँ वह एक सामान्य नारी के सदृश सपत्नीडाह एवं ईर्ष्या से सदैव उद्विग्न तथा क्रुद्ध सी दीख पड़ती है ।

---

१. देखिये, रत्नावली, शारदारंजनराय : भूमिका, पृ० २८–३९,

हर्ष की वासवदत्ता में भास की नायिका के समान त्याग, बलिदान, पति-प्रेम तथा अनन्यता नहीं है। अतएव मृतवासवदत्ता को न भुला पाने वाला उदयन भी यहाँ चोरी-चोरी उपनायिकाओं के प्रति प्रणय-निवेदन करता है। अनुमानत. हर्ष ने अपनी नाटिकाओं में उदयन तथा वासवदत्ता के चरित्र में भास की अपेक्षा कालिदास के अग्निमित्र तथा इरावती को आदर्श बनाया है। यही कारण है कि इनका, विशेषतः प्रियदर्शिका का, स्वप्न० की अपेक्षा मालविकाग्निमित्र से अधिक साम्य लक्षित होता है।

उपर्युक्त परिशीलन के बाद हम कह सकते हैं कि हर्ष की दोनों नाटिकायें उदयन की ऐतिहासिक कथा पर आधारित होते हुए भी ऐतिहासिक कम, किन्तु काल्पनिक अधिक है। इन नाटिकाओं के सृजन में हर्ष का न तो उद्देश्य ही ऐतिहासिक रहा है, न दृष्टिकोण ही। यही नहीं, बल्कि हर्ष ने मूलभूत इतिहास का कल्पना के रूप में ही अधिक प्रयोग किया है। तथापि, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हर्ष ने अन्य कल्पित पात्रों तथा घटनाओं के विनियोग में अपनी इतिहासीकरण की सहज प्रवृत्ति तथा कुशलता का परिचय दिया है। जो भी हो, हर्ष की इन प्रणय-नाटिकाओं का साहित्यिक महत्त्व तो अवश्य है, किन्तु ऐतिहासिक महत्त्व विशेष नहीं है। इसी प्रकार इनकी ऐतिहासिकता तथा ऐतिहासिक महत्त्व की न्यूनता के कारण इन्हें कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक नाटिका मानना ही उचित समझते हैं।

हर्ष की नाटिकाओं का वस्तुविधान तथा चरित्र-चित्रण

हम लिख चुके हैं कि हर्ष के नाटकों में प्रियदर्शिका प्रथम कृति है, रत्नावली अंतिम। अतः प्रियदर्शिका में हर्ष के नाटककार का बालप्रयास ही परिलक्षित होता है, जबकि रत्नावली उसकी नाट्यप्रतिमा के विकास का निदर्शन है। सामान्यतः हर्ष ने इन दोनों को शास्त्रीय पद्धति के अनुरूप ही रूपायित किया है, तथापि प्रियदर्शिका की अपेक्षा रत्नावली का वस्तुविधान अधिक सशक्त है। दोनों नाटिकायें एक ही वृत्त पर समान शिल्पविधान से उपनिबद्ध हैं, अतः दोनों का तुलनात्मक परिशीलन हर्ष की नाट्यकला के अध्ययन के लिये उपादेय है। कुछ विद्वानों ने एक ही वृत्त पर दो नाटिकाओं के सृजन को दोष माना है, किन्तु ऐसा मानना उचित नहीं है, क्योंकि हर्ष को प्रियदर्शिका में जो त्रुटियाँ तथा न्यूनतायें परिलक्षित हुईं, उन्हीं के परिमार्जन के रूप तथा और भी अधिक मौलिकता संक्रान्त करने के उद्देश्य से रत्नावली की रचना की है। इसके अतिरिक्त दोनों नाटिकायें अपने-अपने स्वतंत्र रूप में रसास्वाद कराने तथा अनुरंजन करने में भी सर्वथा समर्थ है।[1] तथापि यदि लेखक चाहता

१. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्० दासगुप्ता वाल्यूम, १, पृ० २६१,

सी दूसरे इतिवृत्त पर भी अन्य नाटिका की रचना कर सकता था या इसी इतिवृत्त पर अन्य नाट्यरूप को रूपायित कर सकता है। किन्तु सम्भवतः उदयन कथा के प्रति अनुरागातिरेक के कारण तथा ललित शृंगार प्रधान नाट्यरचना के प्रति उन्मुख होने के कारण उसका दूसरी ओर ध्यान ही नहीं गया। जो भी हो, पर इस प्रश्न को तूल देना महत्त्वपूर्ण नहीं है।

हर्ष की प्रणय नाटिकाओं के वस्तुविधान पर भास तथा कालिदास का अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। अतएव चरित्र-चित्रण, घटनाविन्यास आदि में परस्पर पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है। प्रियदर्शिका में यह प्रभाव रत्नावली की अपेक्षा अधिक पड़ा है, तब भी हर्ष ने उसे मौलिक रूप देने की चेष्टा की है।

प्रियदर्शिका की कथावस्तु तथा वस्तुविधान दोनों ही संक्षिप्त तथा शिथिल हैं। समस्त प्रथम अंक मुख्य कथानक की पृष्ठभूमि के रूप में ही उपनिबद्ध किया गया है। द्वितीय अंक में कमल पर भौंरे से नायिका के त्रस्त होने का प्रसंग शाकुन्तल से संजोया गया है। हर्ष ने यहाँ इतनी दूर आकर नायक-नायिका के प्रणय बीज का निक्षेप किया है, जबकि उसे यह प्रथम अंक में ही करना चाहिये था। इसी प्रकार यहाँ नायिका की अपेक्षा नायक में प्रथम रागोद्बोध कराया है। रत्नावली में ऐसे दोषों का परिमार्जन कर दिया गया है।[१] तृतीय अंक में गर्भांक की योजना नवीन है तथा अनेक विद्वानों ने इसे शिल्प आदि की दृष्टि से सराहा है। किन्तु इसकी परिकल्पना भी मालविकाग्निमित्र के नृत्य दृश्य से अनुप्रेरित प्रतीत होती है तथापि प्रस्तुत रूप में यह मौलिक है और भवभूति तथा राजशेखर ने इसको यहीं से सँजोया है। चतुर्थ अंक में माता के लेख का संप्रयोग भी महत्त्व का है, किन्तु अनुमानतः यह भी शाकुन्तल के दुष्यन्त की माता के समाचार से अनुप्रेरित प्रतीत होता है। जो भी हो, प्रियदर्शिका हर्ष का बालप्रयास मात्र है। इस पर अन्य पूर्ववर्ती रचनाओं (मालविकाग्निमित्र तथा स्वप्न० आदि) का पर्याप्त प्रभाव है। नाट्यकला तथा शिल्प भी प्रभावोत्पादक नहीं है। किन्तु रत्नावली में हर्ष का नाटककार अधिक संभल कर चला है।

रत्नावली का वस्तुविधान प्रियदर्शिका की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित एवं सुगठित है। संस्कृत के अनेक प्राचीन अर्वाचीन विद्वानों ने इन्हें तथा मुख्यतः रत्नावली को, नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर समीक्षण करने पर सफल पाया है।[२] इसी प्रकार

---

१. सं० क० दर्शन, व्यास, पृ० ३१२,

२. इसको देखिये, दशरूपक। सं० क० दर्शन : व्यास, पृ० ३१८, आदि प्रियदर्शिका : काले, भूमिका, पृ० ३०–३१,

जैक्शन आदि अनेक आधुनिक समालोचकों ने रत्नावली की कालान्विति के परिप्रेक्ष्य में समालोचन किया है।[1] अतः हम यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करना उचित नहीं समझते। रत्नावली के घटनाविन्यास में भी पर्याप्त मौलिकता है। चित्रविनोद, मैना का उड़भागना, सागरिका का अभिसरण तथा ऐन्द्रजालिक का दृश्य अधिकतर हर्ष की मौलिक परिकल्पना है। किन्तु हर्ष की नाटिकाओं पर भास तथा कालिदास का अत्यधिक प्रभाव है। बन्दर के हटने, तहखाने में डालने आदि की अनेक घटनाओं तक को वहाँ से सँजोया है, तथापि हर्ष ने अपनी मौलिकता को भी संक्रान्त करने का पूरा प्रयास किया है।[2] मुख्यतः इनमें अन्तःपुर के प्रणयचित्र का अंकन ही किया गया है। हर्ष क्योंकि स्वयं एक राजा होने से, इस सम्बन्ध में अभिज्ञ था। अतः उसका वर्णन स्वाभाविक तथा अन्तःपुरीय यथार्थ के निकट है तथा इनकी घटनाओं में नाटिका-सुलभ गत्यात्मकता, रसप्रवणता एवं व्यापारान्विति का भी सफल निर्वाह हुआ है। किन्तु, इससे कथानक के मूलचरित्रों के साथ न्याय नहीं हो सका है। फलतः उदयन वासवदत्ता जैसे ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र भी ऐतिहासिक यथार्थ से दूर कल्पित से बन कर रह गये हैं।

हर्ष की दोनों नाटिकाओं के पात्र वैयक्तिक गुणों से युक्त न होकर टाइप अधिक हैं। उदयन धीरललित में ललित तथा विलासी अधिक है, धीर कम। वह एक रोमांटिक प्रणयी मात्र है। वासवदत्ता भी प्रभुत्व के अहं की प्रतिकृति मात्र है। वह ईरावती के समान ईर्ष्यालु तथा प्रगल्भ है। अतएव यहाँ नायक देवी के त्रास से शंकित रहता है। वासवदत्ता के चरित्र की अपेक्षा रत्नावली का चरित्र अधिक कोमल, उदात्त तथा वैयक्तिकता से अनुप्राणित है। यह एक ऐसी भोली-भाली मुग्धा प्रेयसी है, जो स्वयं उदयन के लिये पिता द्वारा प्रदत्त जानकर मर्यादित प्रणय के के लिये ही अग्रसर होती है। वह राजकन्या होकर भी सेविका बनने पर न तो क्षुब्ध होती है और न राजा के प्रेम को पाकर गर्विष्ठ। यही नहीं, बल्कि परिस्थितिवश लज्जित तथा तिरस्कृत होने पर प्राणत्याग तक को उद्यत हो जाती है। वस्तुतः दोनों नाटिकाओं में रत्नावली का ही एक मात्र ऐसा मार्मिक चरित्र है जिसका स्पर्श पाकर हर्ष का प्रणय चित्रण मार्मिक तथा सफल बन सका है।

हर्ष नाटककार के रूप में सफल है या नहीं, इस सम्बन्ध में सामान्यतः मत-भेद है। किन्तु इसमें दो मत नहीं कि हर्ष ने संस्कृत साहित्य में नाटिकाओं का सफल

---

१. रत्नावली : देवधर : भूमिका, पृ० १६–२५, प्रियदर्शिका, काले, भूमिका, पृ० २७–३०, तथा देखो जे० ऐ० ओ० एस०, वाल्यूम, २०, पृ० १३६, वही, वाल्यूम २१, पृ० ८८,

२. विशेष देखिये, रत्नावली : राय : भूमिका, पृ० ३५,

प्रवर्तन किया है। यद्यपि हर्ष भास, कालिदास, शूद्रक तथा भवभूति की समता करने में समर्थ नहीं है, तथापि बाद के नाटककारों में उनका स्थान महत्त्वपूर्ण है। निःसन्देह प्रणयनाटिका के रचनाकार के रूप में हर्ष सर्वथा सफल हैं और उनकी सफलता का मुख्य कारण उनका कवित्व है, नाट्यकुशलता नहीं। डा० सुनीति कुमार चटर्जी ने लिखा है कि हर्ष में काव्यप्रतिभा है, कल्पना शक्ति है, किन्तु केवल इनसे ही कोई नाटककार नहीं बनता है। अतः उनका मत है कि हर्ष कवि के रूप में सफल हैं किन्तु नाटककार के रूप में नहीं।[1] वस्तुतः इन दोनों नाटिकाओं में हर्ष का कवित्व परिस्फुट रूप से अभिव्यंजित हुआ है। हर्ष की शैली सुबोध, सरल, कोमल तथा स्निग्ध है। किन्तु कवित्व के रूप में भी उनकी सफलता का प्रमुख कारण उनकी रसिकता है, अतएव उनके प्रणय स्थल रसप्रवण हो सके हैं। मदनोत्सव का वर्णन इसका स्पष्ट उदाहरण है।

यद्यपि हर्ष के वस्तुविधान तथा चरित्रचित्रण में किसी असाधारणता के दर्शन नहीं होते और न उनमें गंभीर अनुभूति तथा भाषा चमत्कृति आदि ही उपलब्ध होती है तथापि नाटककार के रूप में घटनीयता की सृष्टि उनकी अपनी विशेषता है। भावों की सहज अभिव्यंजना, सरस संघटना तथा शैली की अकृत्रिमता ही उनकी मौलिकता है। डा० चटर्जी यह मानते हैं कि हर्ष ने कुछ विशेष कहने के लिये नहीं लिखा है, अपितु स्वयं को नाटककार के रूप में विज्ञापित करने के लिये ही लिखा है।[2] सम्भवतः यही कारण है कि हर्ष ने अपनी रचनाओं, विशेषतः नाटिकाओं के द्वारा नाटककार के रूप में विज्ञापित तो सफलतापूर्वक किया है तथा उनकी रचनाओं में सौन्दर्य है, रसवत्ता है, प्रभावान्विति है; किन्तु न तो कोई नई बात कह सके हैं और न उनमें ऐतिहासिक यथार्थ का निर्वाह ही हुआ है। जो भी हो, हर्ष की प्रणय नाटिकायें, नाटिका की दृष्टि से न केवल सर्वप्रथम रचना है, अपितु रसप्रवण, अभिनेय, सरल तथा सुबोध होने के साथ अपने उद्देश्य में सफल हैं। ये काव्यात्मक दृष्टि से हेय नहीं है। मुख्यतः रत्नावली एक ऐसी कृति है जो उनकी प्रतिष्ठा के लिये पर्याप्त मानी जा सकती है।

सांस्कृतिक चित्रण :

संस्कृत के अन्य नाटकों के समान हर्ष की नाटिकाओं से भी सांस्कृतिक सामग्री संजोयी जा सकती है, किन्तु हर्षकालीन संस्कृति सभ्यता पर प्रकाश डालने के लिये नाटिकाओं की अपेक्षा हर्षचरित जैसे अधिक समृद्ध एवं प्रमाणित स्रोतग्रन्थ उपलब्ध हैं तथा यहाँ स्थानाभाव भी है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत नाटिकाओं में अधिकांशतः

१. इंडियन ड्रामा : डा० सुनीति कुमार चटर्जी, पृ० २१,
२. वही,

सुप्रसिद्ध या परंपरा प्राप्त सांस्कृतिक सामग्री का ही विनियोग हुआ है, अतएव हम इनसे प्राप्त सामान्य सामग्री का यहाँ विवरण देना महत्त्वपूर्ण नहीं समझते। तब भी इन नाटिकाओं में कुछ विशेष महत्त्व के शब्दों का प्रयोग हुआ है। प्रियदर्शिका में एक स्थल पर कौमुदी महोत्सव का उल्लेख हुआ है।[1] यह आश्विन की पूर्णिमा को मनाया जाता था। नाटिका से इसके सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं होता।

वसन्तोत्सव:—हर्ष की नाटिकाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण उल्लेख वसन्तोत्सव का हुआ है। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली का सम्भवत: वसन्तोत्सव पर ही अभिनय हुआ था।[2] संस्कृत के नाटकों का प्राय: वसन्त के समय भी अभिनय हुआ करता था। कुछ विद्वानों के अनुसार वसन्तोत्सव चैत्र के शुक्ल पक्ष में मनाया जाता था तो कुछ माघ में मानते हैं। सामान्यत: आजकल फाल्गुन के सुप्रसिद्ध होलिकोत्सव से इसका साम्य माना जाता है। रत्नावली में वसन्तोत्सव का बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है।[3] अत: इससे आयोजन तथा स्वरूप पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

रत्नावली के अनुसार वसन्तोत्सव, कामोत्सव, मधूत्सव तथा मदनोत्सव से एक ही अभिप्राय प्रतीत होता है, तथापि इनमें मदनोत्सव ही संभवत: प्रमुख होता था। यह उत्सव संभवत: मध्याह्न के समय से मनाया जाता था। इस उत्सव के समय समस्त नगर नाचते गाते नागरजन तथा कामिनियों के आमोद-प्रमोद से मुखरित हो जाता था, तथा पौरजन का प्रमोद और भी परिवृद्ध हो जाता था। कामिनियाँ मधुपान से मत्त होकर नाचते हुए नागरों पर पिचकारी से जल प्रहार करती थीं। रास्ते मर्दल तथा चर्चरी के प्रचण्ड शब्द से मुखर हो जाते थे। सुगन्धित अबीर तथा गुलाल के उड़ने से दिशायें ढ़क जाती थीं। फुव्वारे चलते रहते थे। रंगीन कीचड़ से प्रांगण पंकिल हो जाते थे। वारविलासिनी जल-प्रहार से सीत्कार करती थीं। स्त्री–पुरुष अलङ्कृत होते थे। मुख्यत: इस समय लोकगीत गाये जाते थे। बाद में सम्भवत: दूसरे दिन प्रात: उद्यान में कामदेव की पूजा की जाती थी। वहाँ भी नृत्यगान चलता रहता था। इस वर्णन से यही स्पष्ट होता है कि उस समय आजकल फाल्गुन में मनायी जाने वाली होली को ही मदन महोत्सव के रूप में मनाया जाता था।

(आ) उदयन नाटक

उदयनकथा की लोकप्रियता तथा ऐतिहासिकता आदि के सम्बन्ध में हम भास के ऐतिहासिक नाटकों पर विचार करते समय प्रकाश डाल चुके हैं। संस्कृत में उदयन-

---

१. प्रियदर्शिका, तृतीय अंक का प्रारम्भ,

२. प्रियदर्शिका १।२–३, रत्नावली १।४–५,

३. देखिये, रत्नावली १।८–२५,

कथा पर अनेक नाटक अभिसृष्ट हुए हैं, उन्हें हम उदयन नाटक कहना उपयुक्त समझते हैं। संस्कृत साहित्य में लगभग एक दर्जन उदयन नाटकों के उल्लेख प्राप्त हैं: (१) स्वप्नवासवदत्ता, (२) प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, (३) रत्नावली, (४) प्रियदर्शिका (५) वासवदत्ता नाट्यधारा, (६) वीणावासवदत्ता (वत्सराज चरित तथा उन्मद-वासवदत्ता), (७) अभिसारिका वञ्चितकम् (८) तापसवत्सराज, (९) मनोरमा—वत्सलराज. (१०) उदयनराज, (११) ललितरत्नमाला, आदि।

उपर्युक्त प्रथम ४ नाटकों के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन हो चुका है। अन्य उदयन नाटकों का हम यहाँ क्रमशः परिचयात्मक पर्यवेक्षण ही करेंगे:—

वासवदत्तानाट्यधारा

अपखण्ड:—यह सुबन्धु की कृति है तथा एक अपखण्ड मात्र है। अभिनव-भारती आदि में इसके सम्बन्ध में जो कुछ उद्धरण या निर्देश प्राप्त हैं उन्हीं के आधार पर इसका पर्यालोचन होता रहा है।[1] सर्वप्रथम वामन के साभिप्रायत्व के उदाहरण में उल्लिखित सुबन्धु शब्द को लेकर सुबन्धु के नाम तथा समय के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त विवाद रहता था। किन्तु अब प्रायः यह निश्चित हो गया है कि यह गद्य-कार सुबन्धु से भिन्न, मौर्यकालीन सुबन्धु की नाट्यकृति है।[2]

अभिनवगुप्त ने अभिनय के विवेचन के प्रसंग में नाट्यायित नामक विधा के उदाहरण के लिये *वासवदत्तानाट्यधारा* को उपन्यस्त किया है। इसके लिये नाट्य या वृत्त धार पार सार शब्द भी उल्लिखित हैं।[3] नाट्यदर्पण में इसको नृत्तधारा भी लिखा है।[4] सामान्यतः यह गर्भांग के समान ही होती है। गर्भांक के उदाहरण प्रियदर्शिका, उत्तररामचरित तथा बालरामायण में देखे जा सकते हैं, किन्तु नाट्यायित की यह कृति एक मात्र उदाहरण है। इस विधा में एक प्रकार से नाटकों की संधि

---

१. देखिये, उद्धरण आदि के लिये, अभिनवभारती, नाट्यशास्त्रः सं० रामकृष्ण कवि, वाल्यूम ३, बड़ौदा, पृ० १७२—१७५ तथा वाल्यूम १ पृ० ४२५; इ०हि० क्वा० वाल्यूम १९, १९४३, पृ० ६९—७२; ई० ऐ० भाग ३, १९२४, में वसुबन्धु और सुबन्धु लेख, आदि,

२. इ हि० क्वा० १९४३, २९, पृ० ६९—७२, इं० ए० भाग एल ३, १९२४ पृ० ८—११७ तथा प्रोसीडिंग्स ऑफ सेकण्ड आरियन्टल कान्फ्रेन्स, कलकत्ता, १९२२ पृ० २०९—१३,

३ "नाट्यधारशब्दो नाट्यपार इति नाट्यसार इति च दृश्यते," नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती टिप्पणी, वाल्यू० ३, बडौदा पृ० १७४,

४. देखिये ई० हि० क्वा० १९, १९४३, पृ० ७१,

सी होती है। अभिनवगुप्त ने इसका स्वप्नायित के रूप में उल्लेख किया है। जिस प्रकार एक स्वप्न में दूसरा स्वप्न, उसमें भी दूसरा स्वप्न होता है, इसी परंपरा के अनुसार बहुगर्भस्वप्नायित के समान नाट्यायित में नाटकों की धारा होती है।[1] श्रीरंगस्वामी सरस्वती तथा डा० राघवन आदि अनेक विद्वानों ने विस्तार से इस विधा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।[2] वासवदत्ता नाट्यधारा के त्रुटित अंशों से भी इसके बारे में थोड़ा बहुत ज्ञान होता है। इसमें जहाँ बिन्दुसार उदयन का अभिनय करता है, वहाँ उदयन तथा वासवदत्ता सामाजिक बनते हैं। उसी प्रकार आगे उनके अभिनय करने पर बिन्दुसार सामाजिक बनता है। इसी क्रम से यह नाट्य रूप उपनिबद्ध हुआ है। इसके उपलब्ध संदर्भों तथा उद्धरणों से इसके कथानक का सम्यक् ज्ञान नहीं होता। अनुमानतः इसमें भी उदयन द्वारा वासवदत्ता के अपहरण तथा प्रणय आदि का ही चित्रण किया गया है।[3] तथापि वस्तु के सम्यक् ज्ञान के बिना इसकी ऐतिहासिकता आदि का मूल्यांकन असंभव है।

वासवदत्तानाट्यधारा से संबंधित उद्धरणों में उदयन, वासवदत्ता, यौगन्धरायण शालकायन के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार का भी उल्लेख हुआ है, यहाँ तक कि इनकी पात्र के रूप में अवतारणा की गई है। इनके अतिरिक्त हर्षरक्षित तथा कटकपिंगल का भी उल्लेख प्राप्त है। श्री सरस्वती के अनुसार हर्ष-रक्षित प्रतिहारी तथा कटकपिंगल विदूषक प्रतीत होता है।[4] जो भी हो, किन्तु इस उल्लेख मात्र से उनके ऐतिहासिक चरित्र के सम्बन्ध में कुछ भी निर्णय करना अस्वाभाविक है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस कृति का संस्कृत साहित्य में महत्त्व नहीं है। वास्तविकता यह है कि वासवदत्ता नाट्यधारा का साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दोनों दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व है।

साहित्य, विशेषतः नाट्यसाहित्य की दृष्टि से जिस काल को अब से कुछ पूर्व तक अन्धकारमय माना जाता था, सुबन्धु की नाट्यधारा की उपलब्धि से उस पर विशेष प्रकाश पड़ता है। इसकी उपलब्धि से यह निश्चित हो गया है कि संस्कृत नाट्य-परंपरा भास या उससे कुछ पूर्व से ही नहीं, अपितु मौर्यकाल से भी पूर्व, संभवतः रामायण-महाभारत काल से ही प्रचलित रही है। नाट्यधारा जैसी कठिन

---

१. "तत्रास्य बहुतरव्यापिनो बहुगर्भस्वप्नायिततुल्यस्य नाट्यायितस्य...." नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती : रामकृष्ण कवि, वाल्यू ३, बड़ौदा, पृ० १७२,

२. देखिये, पूर्वोक्त लेख,

३. देखो नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती : भाग १, १९३४, बड़ौदा, पृ० ४२५,

४. ई० ऐ० भाग, एल ३, १९२४, पृ० १७८,

विधा जो कि आज के नाट्यसाहित्य में दुर्लभ है, के उस काल में अस्तित्व से यह भी प्रकट होता है कि उस समय नाट्यसाहित्य उत्कर्ष की पराकाष्ठा पर था। श्रीरंग-स्वामी सरस्वती के शब्दों में उस समय का भारतीय नाटक इतने उत्कर्ष पर था कि बाद के भारतीय साहित्य के इतिहास में उतना कभी नहीं रहा।[१]

इसी प्रकार इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी कुछ कम नहीं है। मुख्यतः इस प्रसंग में चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार के उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं। वामन के उल्लेख के आधार पर श्री घोष आदि ने सुबन्धु को गुप्तकाल में माना था[२], किन्तु नरसिंहाचार्य द्वारा प्रकटित नाटक के उद्धरणों तथा अवन्तिसुन्दरीकथा के उल्लेख से सुबन्धु की ऐतिहासिकता प्रकट हो चुकी है।[३] अतः इतिहासकारों ने सुबन्धु को अन्तिम नन्द तथा प्रथम दो मौर्यों का मंत्री माना है।[४] इस प्रकार इस नाट्यधारा से मौर्यकालीन इतिहास, विशेषतः बिन्दुसार पर विशेष प्रकाश पड़ता है। काव्यालंकारसूत्रवृत्ति के चन्द्रगुप्त के पुत्र के साथ मंत्री सुबन्धु के सम्बन्ध के उल्लेख के आधार पर एक ओर यह स्पष्ट होता है कि यह चन्द्रगुप्त तथा बिन्दुसार का समकालीन था तो दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि बिन्दुसार साहित्यिकों का आश्रयदाता भी था। इसी प्रकार सुबन्धु के सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि वह चाणक्य का उत्तराधिकारी[५] तथा अच्छा साहित्यिक भी था।[६] हमारा विश्वास है कि इस अमूल्य नाट्यकृति के संपूर्णरूप में उपलब्ध होने पर संस्कृत नाट्य-साहित्य तथा भारतीय इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ने की संभावना है।

वीणावासवदत्ता (उन्मदवासवदत्ता तथा वत्सराजचरित)—अपूर्ण—

प्राप्त वीणावासवदत्ता (मद्रास १६३१) अज्ञात लेखक की अपूर्ण—कृति है। इसमें तीन अंक पूर्ण हैं, चतुर्थ की केवल तीन पंक्तियाँ हैं। इसके लेखक के अज्ञात होने के साथ-साथ इस कृति के वास्तविक नाम का भी इसमें उल्लेख नहीं है। उक्त नाम इसके संपादक ने इसकी हस्तप्रति के स्वामी के कथन तथा इसमें पृथक् से लगे हुए संकेत विशेष के आधार पर ही दिया है।[७] कुछ विद्वान् इसे शक्तिभद्र की

---

१. प्रोसीडिंग्स ऑफ दि सेकण्ड ओरियण्टल कान्फ्रेन्स १६२२, पृ० २३,

२. देखिये, वही, पृ० ६–११ तथा ई० हि० क्वा० १६, १६४३, पृ० ६६–७२,

३. वही,

४. एज ऑफ दि नन्दाज एन्ड मोर्याज अध्याय ११, पृ० ३३०,

५. कुछ विद्वान् सुबन्धु का साम्य राक्षस या उसके पुत्र से मानते हैं, पर यह तथ्यहीन है।

६. द्रष्टव्य: हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल सं० लिट्० कृष्णमाचारी, पृ० ५४६–५०;

७ वीणा० प्रस्तावना, पृ० ५,

आश्चर्यचूडामणि की प्रस्तावना में उल्लिखित उन्मदवासवदत्ता मानना उचित मानते हैं[१] किन्तु यह मान्यता निराधार तथा विवादास्पद है।[२] कुछ अन्य विद्वानों ने इसका वत्सराजचरित के नाम से भी उल्लेख किया है,[३] किन्तु दक्षिण में उदयन नाटकों को प्रायः वत्सराजचरित कहा जाता रहा है, अतः इसे इसका नाम नहीं माना जा सकता। इसलिये जब तक सुनिश्चित रूप से इसका नाम ज्ञात नहीं होता, तब तक इसे वीणा-वासवदत्ता के रूप में स्वीकार किया जाना ही उचित है।

श्रीकृष्णमाचारियर ने इस कृति को शूद्रक की रचना होने का संकेत किया है।[४] डा० कुन्हनराजा ने भास के नाटकों के साथ तुलना करते हुए इसे भास की रचना माना है।[५] श्री कुप्पुस्वामी ने भी प्रतिज्ञा० के साथ इसके साम्य का उल्लेख किया है।[६] नि.सन्देह इसका भास के नाटकों, विशेषतः प्रतिज्ञा० से साम्य अवश्य है। किन्तु शिल्प आदि के साम्य के आधार पर ही इसे भास की रचना मानना उचित नहीं है। इतना निश्चित है कि यह प्राचीन कृति है। इसकी शैली प्रांजल, लालित्य-पूर्ण एवं प्रसादगुण सम्पन्न है। इसमें भी भास के नाटकों के समान नान्दी का अभाव तथा स्थापना आदि का प्रयोग है। किन्तु इसमें प्रतिज्ञा० से घटनापात्र आदि की अनेक विभिन्नतायें भी हैं,[७] तथा जबकि प्रतिज्ञा० को हम भास रचित मानते हैं तो उसी वृत्त पर आधारित इस कृति को भास की मानना कथमपि उचित नहीं है। तथापि इसकी शैली एवं शिल्प के आधार पर हमारा अनुमान है कि इसकी रचना भासकाल के आसपास की, संभवतः कालिदास और भास के मध्यकाल में हुई है।

वीणा० का कथानक प्रतिज्ञा० के समान है। संक्षेप में, इसमें प्रद्योत वासवदत्ता के विवाह के निमित्त शम्भु आराधन करता है तभी उसे वर के गुणों से संबन्धित स्वप्नदर्शन होता है। उन गुणों के अनुरूप वर केवल वत्सराज है, किन्तु उसमें अभिमान आदि कुछ दोष भी हैं। मंत्रीगण के परामर्श के अनुसार उसकी मदव्याधि की चिकित्सा के लिये हस्ति पकड़ने के प्रसंग में उसे बांध लाने का षड्यंत्र किया जाता है और पकड़ कर उज्जैनी ले जाया जाता है। यौगन्धरायण इस समाचार

---

१. वीणा० प्रस्तावना, पृ० ५;
२. ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्० दासगुप्ता, वाल्यूम १, पृ० ३०१, फुटनोट
३ हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल लिट्० कृष्णमाचारियर, पृ० ५७८,
४. हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल लिट्० कृष्णमाचारियर पृ० ५७८,
५. ए न्यू ड्रामा ऑफ भास : प्रोसीडिंगस ऑफ सिक्थ आरियन्टल कान्फ्रेन्स : १९३०, पृ० ५९३,
६. वीणा० प्रस्तावना :
७ वही, अनेक फुटनोट

से दुःखी होकर प्रतिकार के लिये स्वयं भी षडयंत्र की योजना करता है। वह स्वामी के दुःख में चिता-प्रवेश के व्याज से लुप्त होकर उन्मन के वेश में उज्जयनी जाने तथा वत्सराज के साथ आने का निश्चय करता है। नाटक के प्राप्त तृतीय अंक तक यही कथा है, चतुर्थ में केवल हंसक का प्रवेश तथा उक्ति निर्दिष्ट है। अनुमानतः इसके आगे का कथानक प्रतिज्ञा० के समान ही होगा और वीणा० के नाम के अनुसार संभवतः वासवदत्ता की वीणा-शिक्षा के प्रसंग में ही अपहरण किया होगा।

वीणा० के कथानक से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका पल्लवन प्रतिज्ञा० के आधार पर ही किया गया है। वीणा० के लेखक ने इसमें मौलिकता संक्रान्त करने के लिये कुछ घटनाओं तथा पात्रों का विनियोग किया है, किन्तु उनसे प्रतिज्ञा० की मूलभूत स्वाभाविकता तथा यथार्थता नष्ट हो गई है। शम्भु आराधन, स्वप्नदर्शन, यौगन्धरायण का चिताप्रवेश तथा मोहिनी सिद्धि द्वारा लुप्त होना आदि इसी प्रकार की घटनायें हैं। इसमें पांचाल आरुणि के आक्रमण का अपेक्षाकृत विस्तृत निर्देश है, किन्तु इसमें पांचालन को प्रद्योत के इशारे में नाचने वाले मित्र के रूप में तथा वत्सराज स निर्बल चित्रित किया गया है।[१] इससे यह भी ध्वनित होता है कि पांचाल ने वत्सराज के बन्दी होने पर ही संभवतः कौशाम्बी का अपहरण किया था। इसी प्रकार इसमें यह भी लिखा है कि बाल्यकाल में राजमार्ग में मित्रों के साथ खेलते हुए उदयन ने "मैं" गज हूँ। ऐसा कह कर, जाते हुए अंगारक मुनि पर बारम्बार धूल उड़ायी थी तभी उस ऋषि ने क्रुद्ध होकर हस्ति के कारण ही शत्रु द्वारा पकड़े जाने का शाप दिया था।[२] हमें ये घटनायें तथा वसुवर्मा, विष्णुत्रात, हरिवर्मन आदि कुछ नवीन पात्रों की अवतारणा ऐतिहासिक प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त अश्मकेश्वरसुत संजय, माथुर राजा जयवर्मा, काशीपति विष्णुसेन, अंगेश्वर जयरथ, मत्स्य के राजा शतमन्यु तथा सिन्धुराज सुबाहु के उल्लेख की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में भी कुछ नहीं कहा जा सकता। यही नहीं बल्कि यहाँ ऐतिहासिक पात्र उदयन तथा दर्शक को भी गर्विष्ठ तथा क्रूर के रूप में चित्रित किया है। शलङ्कायन का नाम सूर्यदत्त लिखा है।[३] वत्सराज के तीन भाई बतलाये हैं।[४] इसमें प्रतिज्ञा० की षड़यंत्र आदि की घटनाओं को भी अपने अनुसार विन्यस्त किया है, जिन्हें प्रतिज्ञा० के आधार पर ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता।

---

१. वीणा० पृ० ८–९,
२. वीणा० १।१६,
३. वही, पृ० २६,
४. वही, पृ० ४६,

संक्षेप में, वीणा० का ऐतिहासिक महत्त्व उतना अधिक नहीं प्रतीत होता, जितना कि साहित्यिक। साहित्यिक दृष्टि से यह उत्कृष्ट प्रांजल तथा अभिनेय है। वाक्य छोटे-छोटे, संवाद सुन्दर, सरल तथा अनलंकृत हैं। चरित्र-चित्रण परिस्फुट रूप में नहीं हुआ है। संपूर्ण रूप में बिना प्राप्त हुए इसका उचित मूल्यांकन असंभव है। तथापि भास के प्रतिज्ञा० के आधार पर इसकी ऐतिहासिकता का पर्यवेक्षण से पुनः यह प्रकट हो जाता है कि यह भास के बाद की है।

अभिसारिका बन्चितकम् (बंथितकम्)—(अपखंड)

यह नाटक विशाखदेव की रचना के रूप में शृंगारप्रकाश (भोज) तथा अभिनवभारती (अभिनवगुप्त) में अंशतः उद्धृत है।[1] अतः विद्वान् इसे विशाखदत्त की ही रचना मानते हैं। उद्धरणों के आधार पर विद्वानों ने इसके शीर्षक के औचित्य के परिप्रेक्ष्य में संभावित कथानक को प्रस्तुत किया है जिससे स्पष्ट होता है कि यह नाटक भी विशाखदत्त के अन्य नाटकों के समान महान कृति रहा होगा। उदयन तथा पद्मावती के प्रणय तथा परिणय की कथा प्रसिद्ध है, किन्तु इसमें उदयन तथा पद्मावती के विरोध की पृष्ठभूमि में पद्मावती हत्यारिणी के रूप में चित्रित है। पद्मावती तथा राजा में विरोध कराने को उसे उदयन के किसी पुत्र की हत्यारिणी के रूप में प्रसिद्ध कर दिया जाता है। राजा भी इस प्रवाद में विश्वास करके घृणा तथा क्रोध में भरकर उसे फटकारता है (शृंगार प्रकाश में यही उक्ति दी है)। पद्मावती को प्रियतम के उस अविश्वास तथा प्रेम को खोने का दुःख होता है और वह शबरी (अभिसारिका) के रूप में शनैः-शनैः नष्टराग का प्रत्यायन करके पुनः प्रेमाधिकारिणी हो जाती है (अभिनवभारती में यही स्थल है)। विद्वानों के अनुसार नाटककार ने यह कथा बौद्ध जातकों के अनुपमा तथा माकन्दिका के चरित्रों के आधार पर उपन्यस्त की है।[2] जो भी हो, किन्तु यह पद्मावती के ऐतिहासिक चरित्र के अनुरूप नहीं है।

तापसवत्सराज :

यह नाटक मातृराज (माउराज), अपरनाम अनंगहर्ष की रचना है। प्राचीन समय से ही यह अत्यन्त लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध रहा है। अतएव अनेक प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने इसका अनेकशः उल्लेख तथा समीक्षण-परीक्षण किया है।[3] विद्वानों

---

१. देखिये उद्धरण तथा कथा के लिये-हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल संस्कृत लि० कृष्णमाचारियर, पृ० ६१०,

२. हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल संस्कृत लिट्० कृष्णमाचारियर : पृ० ६:४; जे ए० एच० आर० एस० १९२७ वाल्यूम १, भाग ३, पृ० १५६,

३ विशेष देखिये, तापसवत्सराज, भूमिका, पृ० १७–२२,

ने ध्वन्यालोक में नाटक (२।१६) के उद्धरण के आधार पर नवमशतक से प्राचीन[1] तथा कुट्टनीमत में अनंगहर्ष के उल्लेख के कारण अष्टम से बाद का माना है ।[2]

प्रस्तुत नाटक बड़े-बड़े छः अंकों में उपनिबद्ध है। पांचालराज के द्वारा राज्य के अपहरण कर लेने पर भी राज्य-कार्य के प्रति उदासीन उदयन को विषय-भोग में निमग्न देखकर मंत्रिगण षड़यन्त्र का आयोजन करते हैं। फलतः वासवदत्ता-दाह के समाचार से खिन्न होकर राजा भी प्राण-त्याग करना चाहता है, पर रूमण्वान के परामर्श से ऐसा न करके प्रयाग के तपोवन में तापस बन रहता है। तापस वेश में ही घूमता हुआ राजगृह जाता है, जहाँ सांस्कृत्यायनी द्वारा प्रेरित पद्मावती उदयन पर अनुरक्त होकर स्वयं भी परिव्राजिका बनकर उसके चरित्र की आराधना में रत है। उधर यौगन्धरायण वासवदत्ता को पद्मावती के पास छोड़कर आता है। पद्मावती और राजा की भेंट होती है, किन्तु राजा को तब भी वासवदत्ता के लिए रोता देख कर खिन्न होती है। चतुर्थ में राजा पद्मावती के प्रति अनुरक्त होता है तथा उनके विवाह का निश्चय हो जाता है। पंचम में दर्शक पालक आदि की सहायता से आरुणी पर विजय पा लेता है। षष्ठ में वासवदत्ता ग्लानिवश जलना चाहती है। उधर राजा भी प्राणत्याग करना चाहता है और शीघ्रतावश वासवदत्ता की चिता में ही प्रवेश करना चाहता है कि तभी विदूषक वासवदत्ता को समझाते हुए यौगन्धरायण को पहिचान जाता है रहस्य खुलता है और सभी के सम्मिलन के साथ नाटक समाप्त होता है।

उपर्युक्त कथानक से स्पष्ट है कि इसमें उदयन के ऐतिहासिक चरित्र को स्वच्छन्दरूप से तोड़ मोड़ कर विन्यस्त किया गया है। इसमें उदयन, वासवदत्ता, पद्मावती, यौगन्धरायण, रूमण्वान, दर्शक तथा पालक आदि ऐतिहासिक पात्र हैं, तो कांचनमाला आदि पात्र लोक कथा से सँजोये हुए तथा विनीतभद्र आदि कल्पित हैं। मूलतः आरुणि का आक्रमण, वासवदत्ता-दाह का प्रवाद, पद्मावती से विवाह आदि घटनायें ऐतिहासिक अवश्य हैं किन्तु उद्देश्य विशेष के लिये उनका उपन्यास ऐसा किया गया है कि उनकी ऐतिहासिकता पर आवरण पड़ गया है।[3] उदयन तथा पद्मावती का तापस बनना आदि उद्भावित घटनाओं का विन्यास रसोद्बोध की त्वरा

---

१. सं० सा० इति० बलदेव उपाध्याय, पृ० ५२३,

२. तापसवत्सराजः जे० ए० एच० आर० एस० १९२७, वाल्यूम १, भाग ३, पृ० १५५–५८,

३. हुल्टज के अनुसार इसका कथानक बौद्धस्रोतों में संजोया गया है, देखो— हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल संस्कृत लिट्० कृष्णमाचारियर, फुटनोट, पृ० ६३३,

की दृष्टि से किया गया है। इसके अतिरिक्त नाटक में किसी भी ऐतिहासिक पात्र की मूलभूत चारित्रिक विशेषता उभरने नहीं पाई है, फलतः ऐतिहासिक पात्र भी नाम्ना ऐतिहासिक हैं, किन्तु चरित्र प्रायः कल्पित हैं। उदयन को अत्यधिक विलासी तथा अधीर रूप में चित्रित किया गया है। सामान्यतः नायिकायें तथा नायक भी मन्त्रियों के इशारे पर नाचने वाले खिलौने मात्र हैं।

प्रमुखतः इस नाटक में नाटककार का उद्देश्य ऐतिहासिक न होकर रसप्रवण रचना करना मात्र रहा है। अतएव उसने ऐतिहासिक यथार्थ की उपेक्षा करके चमत्कृतिपूर्ण उद्भावना द्वारा रसात्मकता का विनिवेश किया है। यही कारण है कि इसमें ऐतिहासिक पात्र तथा कुछ ऐतिहासिक घटनाओं के विनियोग होने पर भी काल्पनिकता की प्रबलता है। साहित्यिक दृष्टि से कथावस्तु वेदनामयी तथा चमत्कारपूर्ण है। घटनाओं में कार्यान्विति तो है किन्तु न तो कार्यकारण की दृष्टि से स्वाभाविकता है और न नाट्यसुलभ गत्यात्मकता ही। चरित्र-चित्रण में कोई विशेषता नहीं है। वासवदत्ता का चरित्र अवश्य कुछ ठीक माना जा सकता है। शैली तथा विचारों में वैयक्तिकता है। करुणविप्रलंभ भी सशक्त है। संक्षेप में इसमें राजनैतिक, शृंगारिक तथा तापसजीवन का संश्लिष्ट चित्रण है। ह्रासकालीन नाटकों में यह श्रेष्ठ अवश्य है किन्तु रंगमंचीयता तथा ऐतिहासिकता का अभाव है।

मनोरमा वत्सलराज (उल्लेख प्राप्त) :

यह नाटक नाट्यदर्पण में भीमट के नाम से उल्लिखित है। भीमट या भीमदेव कालिंजर का राजा था। इसने ५ नाटक लिखे, किन्तु सभी अपर्याप्त हैं।[१] राजशेखर ने भी इसका नाटककार के रूप में उल्लेख किया है। यह नाटक हर्ष की प्रियदर्शिका की एक पात्र मनोरमा को अधिकृत करके रचित प्रतीत होता है।[२] इनकी अन्य कृतियों के सम्बन्ध में इसके प्रतिज्ञा चाणक्य के सन्दर्भ में प्रकाश डाला गया है।

उदयनराज :

यह सुप्रसिद्ध जैन नाट्यकार हस्तिमल्ल (१२९० ई०) की अप्राप्त कृति है। इसके ४ नाटक प्राप्त हैं-४ अप्राप्त। श्री नाथूराम प्रेमी ने आफ्रेक्ट के 'केटलाग केटलोगोरम" के आधार पर उदयनराज को एक नाटक माना है,[3] तो अन्य विद्वानों

१. हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल संस्कृत लिट्०, कृष्णमाचारियर, पृ० ६३१-३२,
२. हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल संस्कृत लिट्०, कृष्णमाचारियर, पृ० ६३४,
३. जैन साहित्य का इतिहास : प्रेमी, पृ० ३६९,

ने इसका काव्य के रूप में ही निर्देश किया है।[1] जैन परम्परा में हस्तिमल्ल मुख्यतः एक नाटककार के रूप में विख्यात है, तथा उन्होंने नाटक ही अधिक लिखे हैं। इसके अतिरिक्त उदयन विषयक काव्यों का पूर्ण अभाव है जबकि नाटकों की संख्या पर्याप्त है। अतः इसे भी नाटक ही मानना उचित है। किन्तु जब तक यह प्राप्त नहीं होता इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

ललितरत्नमाला (अपखण्ड) :

यह क्षेमेन्द्र की अप्राप्त रचना है। नाट्यदर्पण तथा औचित्यविचारचर्चा में इसके उद्धरण प्राप्त हैं। विद्वानों का अनुमान है कि यह भी रत्नावली के समान कथानक पर विन्यस्त है।[2] उपर्युक्त समग्र नाटकों के प्राप्त होने पर उदयन नाटकों तथा उदयन-कथा के अध्ययन में विशेष सहायता मिल सकने की संभावना है।

---

१. कार्ने कॉमामरेशन वाल्यूम : पृ० ५२६; हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल संस्कृत लिट्० कृष्णमाचारियर, पृ० ६४२,

२. देखिये, हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल संस्कृत लिट्०, कृष्णमाचारियर, पृ० ५८७–८८ तथा ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्०, पृ० ४७१,

९

मुद्राराक्षस एवं देवी चन्द्रगुप्त

संस्कृत-नाट्य साहित्य में विशाखदत्त, (अपर नाम विशाखदेव),[1] सर्वाधिक सफल तथा अन्यतम ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रसिद्ध है। उसने एकाधिक नाटक लिखकर नाट्यसाहित्य को अभिवृद्ध ही नहीं किया है, अपितु सर्वप्रथम सर्वाधिक स्वाभाविक ऐतिहासिकता से संपृक्त सफल एकाधिक ऐतिहासिक नाटकों की रचना करके इस क्षेत्र में आदर्श भी उपस्थित किया है। विद्वानों के अनुसार विशाखदत्त ने ४ नाटक लिखे, इनमें तीन मुद्राराक्षस, देवीचन्द्रगुप्त और अभिसारिका वंचितकम्, ऐतिहासिक हैं तथा सुभाषित के रूप में ज्ञात राघवानन्द पौराणिक है।[2] इनके उपर्युक्त ३ ऐतिहासिक नाटकों में से अभिसारिका-वंचितकम् का उदयन नाटकों के प्रसग में उल्लेख कर आये हैं, अतः यहाँ विशाखदत्त के मुख्यतम दो ऐतिहासिक नाटक मुद्राराक्षस तथा देवी चन्द्रगुप्त का ही अध्ययन करेंगे, जिनके कि कारण उसे अद्वितीय गौरव तथा महत्ता प्राप्त हुई है।

विशाखदत्त एवं उसका समय :

विशाखदत्त के परिचय का प्रमुख साधन मुद्रा० की प्रस्तावना है। उसके अनुसार ये सामन्त बटेश्वरदत्त (या वत्सराज) के पौत्र तथा महाराज भास्करदत्त (या पृथु) के पुत्र थे। प्रस्तावना में इनके पितामह के लिए प्रयुक्त सामन्त शब्द से स्पष्ट है कि ये किसी सामन्त परिवार से सम्बन्धित थे, किन्तु सम्भवतः बाद में इनके पिता को महाराज पद प्राप्त हो गया था। नाटक में ज्योतिष, न्याय, व्याकरण,

---

१. मुद्रा० की प्रस्तावना में निर्दिष्ट पिता तथा पितामह के वृत्तान्त नाम साम्य के आधार पर विशाखदत्त तो सुनिश्चित है, किन्तु अनेक प्राचीन ग्रन्थों में तथा इसकी प्रतियों, सुभाषितावली, सदुक्तिकर्णामृत एवं शृंगार प्रकाश आदि में विशाखदेव नाम भी मिलने से दोनों अभिन्न माने जाते हैं।

२. मुद्राराक्ष : भूमिका : के. एच. ध्रुव, पृ० १७; पूना ओरियन्टलिस्ट, १९३६, पृ० ४२,

नाट्यशास्त्र आदि के अतिरिक्त सर्वत्र विशेष रूप से सक्रान्त राजनीति शास्त्र के ज्ञान तथा कूटनीतिक कुशलता से यह भी स्पष्ट होता है कि हो न हो, इन्होंने भी अपने पिता के आश्रय में या स्वतन्त्र रूप से राजनीति के खेल अवश्य खेले थे ।[१] किन्तु उनकी ऐतिहासिकता तथा इन राजकीय उपाधियों का ऐतिहासिक परिचय अभी भी अनुसंधान का विषय है । यही कारण है कि विशाखदत्त का समय भी विवादास्पद बना हुआ है ।

विशाखदत्त के स्थिति काल के निर्णय के लिये विद्वानों ने अन्त: बाह्य साक्ष्यों के आधार पर अनेक प्रयत्न किये हैं, किन्तु उनमें अभी भी वैमत्य है । मुद्रा० की विभिन्न हस्तप्रतियों के भरतवाक्य में दन्तिवर्मा, चन्द्रगुप्त, अवन्तिवर्मा तथा रन्तिवर्मा एवं दो अन्य अशुद्ध उल्लेख प्राप्त हैं । विद्वानों ने इनमें दन्तिवर्मा, चन्द्रगुप्त तथा अवन्तिवर्मा को शुद्ध मानकर अपने-अपने मत उपन्यस्त किये हैं । श्री ए० रंगस्वामी सरस्वती ने दक्षिण की अनेक हस्तप्रतियों में दन्तिवर्मा पाठ खोजकर इसे ही प्रामाणिक माना है ।[२] तथा इसका साम्य अष्टम शतक के पल्लव-नरेश से मानकर विशाखदत्त का समय भी अष्टम शतक स्वीकार किया है,[३] किन्तु उस समय दक्षिण में किसी हूण आक्रान्ता का ज्ञान न होने से तथा कट्टर शैव पल्लव नरेश के साथ भरतवाक्य के विष्णु के अवतार की कल्पना का औचित्य आदि न होने के कारण विद्वानों ने इस मत को अस्वीकार कर दिया है ।[४]

कुछ विद्वान् "पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः पाठ को ठीक मानते हैं । ढुंढिराज ने इसी को ठीक मानकर इसका साम्य चन्द्रगुप्तमौर्य से माना है, किन्तु यह मत सर्वथा अस्वाभाविक है अतः अग्राह्य है ।[५] कुछ अन्य विद्वान् जिनमें शारदारंजनराय, जायसवाल तथा श्रीपंडित आदि प्रमुख हैं,[६] चन्द्रगुप्त पाठ को प्रामाणिक मानकर इसका साम्य चन्द्रगुप्त द्वितीय से मानते हैं ।[७] इस मत के मानने वाले विशाखदत्त को गुप्तकाल (४-५ शतक) में तथा कालिदास का समकालीन स्वीकार करते हैं ।[८] यही नहीं बल्कि

---

१. विशेष द्रष्टव्य : सं० क० दर्शन : डा० व्यास, पृ० ३५२,

२. जनरल आफ मिथिक सोसाइटी : अप्रेल, १९२३, पृ० ६१६–१७,

३. मुद्राराक्षस: ध्रुव: भूमिका, पृ० ७,

४. वही पृ० ६, सं० क० दर्शन : व्यास, पृ० ३५५,

५. मुद्रा: ध्रुव, पृ० १०, भूमिका,

६. द्रष्टव्य, मुद्रा : राय : भूमिका पृ० ९–१४ तथा
इ० ए० एक्स एल पृ० २६५, मुद्रा० पंडित, भूमिका पृ० १,

७. विशेष देखिये, इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ मुद्रा० : देवस्थली पृ० ९-१०,

८. गुप्त साम्राज्य का इति०: वासुदेव उपाध्याय, भाग २, पृ० १०७–९,

श्री आर० एस० पंडित ने देवीचन्द्रगुप्त के आधार पर विशाखदत्त को गुप्तों का संबंधी भी माना है,[1] किन्तु विद्वानों ने इस मत के समर्थकों का खंडन करके इसे भी अग्राह्य ठहरा दिया है। कीथ के शब्दों में विशाखदत्त को कालिदास का समकालीन मानना भ्रामक कल्पना मात्र है।[2] वस्तुतः विशाखदत्त की शैली कालिदासोत्तरकालीन तथा कम से कम २–३ सदी बाद की है।[3] प्रो० ध्रुव के अनुसार विशाखदत्त पर भारवि का प्रभाव है।[4] अतः गुप्तकाल में उसे मानना कदापि उचित नहीं। मुख्यतः देवीचन्द्रगुप्तम् की उपलब्धि से, जिसका नायक चन्द्रगुप्त है, यह मत पूर्णतः ध्वस्त हो गया है। अतः अन्य कुछ विद्वान् अवन्ति वर्मा पाठ को प्रामाणिक मानते हैं। किन्तु अवन्तिवर्मा भारतीय इतिहास में दो हुए हैं, एक काश्मीर नरेश, दूसरे कन्नौज नरेश। याकोबी नाटक के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर काश्मीर नरेश, अवन्तिवर्मा (८५५–८८३ ई०) से इस पाठ का साम्य मानते है। प्रस्तावना से एक चन्द्रग्रहण का संकेत है, जो कि बुधग्रह के योग के कारण नहीं हो पाता (१।६:)। याकोबी के अनुसार यह तिथि २ दिसम्बर ८६० में पड़ी थी। अतः ये विशाखदत्त का समय नवम शतक में मानते हैं।[5] पर, अपने समर्थन में कोई सुदृढ़ निष्कर्षात्मक प्रमाण न देने के कारण इस मत को विद्वानों ने अस्वीकृत कर दिया है।[6]

श्री काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग ने अवन्तिवर्मा का साम्य मौखरि वंशी कन्नौज नरेश से माना है।[7] प्रो० ध्रुव ने भी इनका समर्थन किया है।[8] तैलंग तथा ध्रुव आदि ने अनेक प्रबल प्रमाणों के आधार पर इसे हर्ष के बहनोई ग्रहवर्मा के पिता अवन्तिवर्मा से अभिन्न मानकर इनका समय सप्तम शतक माना है।[9] वस्तुतः मुद्रा० में चित्रित जैन तथा बौद्ध धर्म के प्रति सहिष्णुता, नाटक की गौड़ी शैली तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि के आधार पर यही प्रतीत होता है कि विशाखदत्त हर्ष के बाद हुए। देवीचन्द्रगुप्त की उपलब्धि से यह मत और भी प्रमाणित हो गया है। राइज् डेविड्ज्

---

१. मुद्रा० पंडित नोट्स पृ० १७१–२,
२. सं० ड्रामा, कीथ, पृ० २०४,
३. सं० क० दर्शन व्यास, पृ० ३५७,
४. द्रष्टव्य मुद्रा० ध्रुव भूमिका, पृ० १०,
५. द्रष्टव्य सं० ड्रामा, कीथ : २०४,
६. वही,
७. मुद्रा० तैलंग, पृ० १३–२८,
८. मुद्रा०, ध्रुव : भूमिका, पृ० ११,
९. मुद्रा : ध्रुव : ८–१०, मुद्रा : तैलंग, पृ० २०–२५,

तथा विन्टर्निट्ज, रैप्सन, मैकडॉनल आदि इतिहासकारों ने भी इस मत को स्वीकार किया है।

(अ) मुद्राराक्षस

मुद्राराक्षस का कथानक—सात अंक के इस नाटक में चाणक्य तथा अमात्य राक्षस के बौद्धिक एवं कूटनीतिक संघर्ष का प्रपंच किया गया है। नन्दवंश का नाश करके चन्द्रगुप्त को राज्य पर अधिष्ठित कर दिया गया है, किन्तु मलयकेतु के द्वारा चन्द्रगुप्त के अभिभव की आशंका से क्षुब्ध चाणक्य नन्दवंश के उन्मूलन करने पर शिखा बांधने की प्रतिज्ञा के पूर्ण हो जाने पर भी, राक्षस को वश मे किये बिना इसे पूर्ण नहीं मानता। अतएव वह राक्षस को वश में करने में तत्पर है। यहीं ज्ञात होता है कि उसने राक्षस के द्वारा चन्द्रगुप्त के वध के लिये भेजी गई विषकन्या द्वारा पर्वतेश्वर को मरवा दिया है तथा तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मरवाया है—ऐसा भय देकर भागुरायण मलयकेतु को कटक से भगा देता है। चाणक्य ने सर्वत्र अपने गुप्तचरों का जाल बिछा रखा है। यहीं उसे एक गुप्तचर बतलाता है कि कुसुमपुर में तीन व्यक्ति राक्षस के प्रियपात्र हैं : क्षपणक जीवसिद्धि (जो कि चाणक्य का ही गुप्तचर है), कायस्थ शकटदास तथा श्रेष्ठी चन्दनदास (जिसके घर राक्षस अपने कुटुम्ब को रख कर नगर से बाहर चला गया है)। वह वहीं से प्राप्त एक राक्षस की मुद्रा भी देता है, जिससे वह शकटदास से लिखवाये एक कूटलेख को मुद्रित करा देता है और इसी मुद्रा द्वारा उसे वश में करता है। यही जबकि चन्द्रगुप्त पर्वतेश्वर का श्राद्ध करना चाहता है, चाणक्य पर्वतेश्वर के आभूषणों को अपने ही तथाकथित राक्षस के ५ परमभक्त कुलूत के चित्रवर्मा, मलय के सिंहनाद, काश्मीर के पुष्कराध्यक्ष तथा सिन्धु के सिन्धुषेण राजाओं को देने का परामर्श देता है। दूसरी ओर पर्वतेश्वर के हत्यारे क्षपणक का निष्कासन कराता है तथा शकटदास को वध्यस्थान से भगवा देता है और चन्दनदास को बुलाकर आतंकित करता है, जिससे कि वह राक्षस के परिवार को उसे सौंप दे।

द्वितीय अंक में, राक्षस भी अपनी कूटनीतिक-चक्र चलाता है, किन्तु उसे असफलता ही मिलती है। राक्षस एवं उसके गुप्तचर विराधगुप्त की बातों से ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त की हत्या की समस्त योजनायें चाणक्य ने असफल कर दी हैं। चन्द्रगुप्त को मारने को भेजी गई विषकन्या द्वारा पर्वतेश्वर को मरवा दिया गया है। नगर प्रवेश के समय तोरण द्वारा चन्द्रगुप्त की हत्या के बदले पर्वतक के भाई वैरोचक को ही मरवा दिया गया है। इसी प्रकार के विष प्रयोग तथा सुरंगविस्फोट आदि के सभी प्रयत्न निरस्त कर दिये गये हैं। अन्त में राक्षस चन्द्रगुप्त के यहाँ नियुक्त अपने गुप्तचर वैतालिकों के द्वारा भेद नीति का आश्रय लेता है और भेदक-प्रशस्ति पढ़ने

की सूचना भेजता है। तृतीय में कौमुदी महोत्सव के आयोजन की चन्द्रगुप्त की आज्ञा के उल्लघन के रूप में चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य के कृत्रिम विग्रह द्वारा राक्षस की भेद-नीति को पुष्पित दिखाकर चाणक्य उसको पुनः बाजी देता है। चतुर्थ में चाणक्य अपनी नीति द्वारा राक्षस का पक्ष-भेद करता है। इसका गुप्तचर भागुरायण, जो पुष्पपुर से भागकर मलयकेतु के पास आ गया है, उसे यह विश्वास दिला देता है कि राक्षस की शत्रुता चाणक्य के साथ है न कि चन्द्रगुप्त के साथ। अतः चन्द्रगुप्त द्वारा चाणक्य को मन्त्रिपद से च्युत करने पर नन्दवंश में अनुरक्त राक्षस चन्द्रगुप्त को नन्द-वंशी समझकर तथा वह राक्षस को "पितृपर्यायागत" मानकर परस्पर सन्धि कर सकते हैं। तभी करभक के मुख से चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य के विग्रह के समाचार को सुनकर राक्षस अपने को कृतकार्य मानता है। किन्तु भागुरायण इन बातों को गलत ढंग से मलयकेतु को समझाकर उसे राक्षस से फोड़ देता है। इसी बीच पाटलिपुत्र पर आक्रमण की योजना बनायी जाती है और क्षपणक से मुहूर्त पूछते हैं।

पचम में नाटक की गर्भसन्धि है। इसमें चाणक्य की कूटनीति चरम उत्कर्ष पर पहुँच जाती है। राक्षस का कृत्रिम मित्र जीवसिद्धि भागुरायण से कुसुमपुर जाने के लिये मुद्रा लेते समय प्रसंगवश यह बतला देता है कि राक्षस ने ही विषकन्या द्वारा पर्वतेश्वर को मरवाया है। इसे मलयकेतु भी सुन लेता है। दूसरी ओर कूटलेख तथा राक्षस से पुरस्कार में प्राप्त पर्वतेश्वर के अलंकारों की पेटिका के साथ सिद्धार्थक भी पकड़ा जाता है। फलतः मलयकेतु को यह विश्वास हो जाता है कि राक्षस गुप्तरूप से चन्द्रगुप्त से मिला हुआ है, और यह राक्षस को बुलाकर फटकारता है। राक्षस को अपनी नीति की असफलता पर घोर पश्चाताप होता है। मलयकेतु निर्दोष राक्षस का तिरस्कार करता है तथा उससे पृथक् हो जाता है। षष्ठ अंक में सिद्धार्थक से ज्ञात होता है कि मलयकेतु ने चित्रवर्मा प्रभृति अपने सहयोगी ५ राजाओं को मरवा डाला है। अतएव बहुत से राजा अपने-अपने देश को भाग गये तथा भद्रभटादि ने अविचार-शील मलयकेतु को पकड़ लिया है और चाणक्य ने उनकी समस्त सेनाओं को अधिकार में कर लिया है। उधर राक्षक—मित्रचन्दनदास की प्रवृत्ति जानने को कुसुमपुर आता है, किन्तु जीर्णोद्यान में आत्महत्या के कृत्रिम प्रयास करने वाले चाणक्य के गुप्तचर द्वारा चन्दनदास की फांसी के सम्बन्ध में जानकर उसे बचाने को कटिबद्ध होता है। सप्तम अंक में चाणक्य के दो गुप्तचर चन्दनदास को बध्यस्थान में लाते हैं, जहाँ उसकी पत्नी पुत्र के साथ मर जाना चाहती है। तभी राक्षस अपने कारण पीड़ित मित्र को बचाने के लिये वहाँ पहुँचता है और आत्म समर्पण कर देता है। निदान, यह चाणक्य का सुहृद तथा चन्द्रगुप्त का अमात्य बनता है और जब बन्दी के रूप में मलयकेतु लाया जाता है तब उसे मुक्त कराकर उसे उसके पिता का राज्य दिला देता है।

मुद्राराक्षस के कथानक के स्रोत:—मुद्रा० के कथानक से स्पष्ट है कि इसमें मूलतः नन्द तथा चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बन्धित भारतीय इतिहास के सुप्रसिद्ध इतिवृत्त को ही नाट्यबद्ध किया गया है। यह मौर्यकालीन ऐतिहासिक वृत्त हमें पुराण, कौटिल्य के अर्थशास्त्र, बृहत्कथा के बृहत्कथामंजरी तथा कथासरित्सागर आदि संस्करण एवं बौद्ध ग्रन्थ तथा जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त यूनानी तथा लेटिन ग्रन्थों में अनेक प्रकार से उपलब्ध हैं।[1] इतिहासकारों ने इस सामग्री के आधार पर ही मौर्यकालीन इतिहास लिखने की चेष्टा की है, किन्तु विशाखदत्त ने इस सबका उपयोग किया है—इसमें सन्देह है। यद्यपि दशरूपक के अवलोककार धनिक ने इसका मूल बृहत्कथा को बतलाया है,[2] किन्तु उसका कथन भ्रामक है। उसने बृहत्कथा के उपलब्ध संस्करण कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामंजरी को ही बृहत्कथा समझकर उदाहरण के रूप में उपन्यस्त किया है,[3] किन्तु वास्तविकता यही है कि ये भी मुद्रा० के उपजीव्य नहीं हैं। इन दोनों संस्करणों में चन्द्रगुप्त, नन्द तथा चाणक्य के नाम के अतिरिक्त नाटक के इतिवृत्त से कुछ भी साम्य नहीं है। यही कारण है कि प्रो० ध्रुव, श्रीराय तथा मुकर्जी आदि विद्वानों ने भी धनिक के कथन को अग्राह्य ठहराया है।[4] इतना अवश्य माना जा सकता है कि नाटककार ने बृहत्कथामंजरी आदि को भी देखा होगा, किन्तु किसी ग्रन्थ विशेष को मुद्रा० का मूल माना जाना सर्वथा अस्वाभाविक है। वास्तविकता यही है कि विशाखदत्त ने चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बन्धित प्रचलित कूटनीतिक कथाओं, किंवदन्तियों तथा परंपरागत विश्वासों से ही अधिक प्रेरणा ली है, कृतिविशेष से नहीं, तथापि उपर्युक्त समस्त सामग्री के आधार पर मुद्रा० की ऐतिहासिकता का परिशीलन अवश्य किया जा सकता है।

मुद्राराक्षस में कल्पना तथा ऐतिहासिकता

मुद्रा० में ई० पू० चतुर्थशतक के पूर्वार्द्ध की मगध के सुप्रसिद्ध नन्दोन्मूलन की राज्यक्रांति से सम्बन्धित घटना को नाट्यबद्ध किया गया है। संक्षेप में, अपमानित चाणक्य द्वारा प्रतिशोध स्वरूप नन्दवंश के समूलोन्मूलन की प्रतिज्ञा को पूर्ण करके चन्द्रगुप्त को राज्यासीन करने तथा चन्द्रगुप्त की राज्यश्री के स्थायित्व के लिये स्वामीभक्त राक्षस को अमात्यपद पर प्रतिष्ठित करने के कथानक का ही मुद्राराक्षस में

---

१. विशेष देखिये, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल : मुकर्जी, पृ० २०–२२,
२. तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्—दशरूपक १।६८ की अवलोक,
३. मिलाइये दोनों के उद्धरण,
४. मुद्रा० : ध्रुव : भूमिका, पृ० २३, मुद्रा : राय : भूमिका, पृ० ८, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल : मुकर्जी, पृ० ३३, आदि,

प्रस्तार है। स्पष्ट है कि नाटक में आधारभूत घटना दो हैं (१) नन्दोन्मूलन की प्रतिज्ञा तथा चन्द्रगुप्त को राज्यासीन करना। इसका नाटक में पृष्ठभूमि के रूप में उल्लेख किया गया है, तथा (२) राक्षस को मौर्य के अमात्य पद पर स्थापित करने की घटना, इसी पर नाटक का समस्त प्रासाद खड़ा किया गया है।

नाटक वहाँ से प्रारम्भ होता है, जहाँ कि नन्दोन्मूलन के पश्चात् चन्द्रगुप्त शिशुनागों के प्रसिद्ध गांगेयप्रासाद के सिंहासन पर बैठता है और यही वह स्थल है, जिसके बाद की घटनाओं के सम्बन्ध में इतिहास मौन है। स्पष्ट है कि उपरिनिर्दिष्ट नन्दोन्मूलन तथा चन्द्रगुप्त को राज्यासीन करने की घटना ऐतिहासिक है, किन्तु नाटक में इसका संकेत या उल्लेख मात्र है। इसी से संबधित "राक्षस निग्रह" की दूसरी घटना, जिसको कि नाटक में आधिकारिक वस्तु के रूप में रूपायित किया गया है, नाटककार द्वारा उद्भावित है। इस प्रकार मुद्रा० के नाटककार ने यहाँ अन्धकारावृत्त इतिहास के गर्भ में छिपी घटनाओ को सम्भवतः भारतीय आनुश्रुतिक परम्परा तथा किंवदन्तियों आदि से सँजोकर आनुमानिक इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि नाटक की समस्त घटनायें विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं हैं। कुछ ऐतिहासिक हैं, कुछ परम्परा प्राप्त हैं तो कुछ अनुमान प्रक्रिया के आधार पर कल्पित। किन्तु विशाखदत्त ने इन सबका समन्वय तथा प्रस्तुतीकरण इतना स्वाभाविक तथा यथार्थ रूप से किया है कि समस्त नाटक विशुद्ध ऐतिहासिक प्रतीत होता है। अतः हम यहाँ नाटक की प्रमुख प्रमुख घटनाओं के परिपार्श्व में यथावसर संक्षेप तथा विस्तार से इसकी काल्पनिकता तथा ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालेंगे।

(१) मुद्राराक्षस के ऐतिहासिक घटना एवं पात्र :

मुद्राराक्षस के प्रारम्भ में नन्दोन्मूलन तथा चन्द्रगुप्त के राज्य पर आसीन होने एवं शस्त्र धारण करने की जिस घटना का बीज रूप मे विन्यास किया गया है, वह मूलतः ऐतिहासिक है। इतिहास के अनुसार शिशुनागवंश के पतन के पश्चात् नंदवंश का प्रादुर्भाव हुआ। पुराणों के अनुसार अन्तिम शिशुनाग महानन्दिन् की शूद्रा पत्नी से उत्पन्न महापद्म, जिसे धननन्द भी कहा गया है, ने नन्दवंश का प्रवर्तन किया। महापद्म तथा उसके आठ पुत्रों को नवनन्द कहा गया है। बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में भी नवनन्दों का उल्लेख है महाबोधिवंश में ९ नन्दों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—उग्रसेन, पुण्डुक, पण्डगति, भूतपाल, राष्ट्रपाल, गोविषाणक, दशसिद्धक, कैवर्त तथा धननन्द।[1] बौद्धग्रन्थों में इन्हें "नवभ्रातरों" कहा है, जबकि पुराणों में पितापुत्र।[2]

---

१. हिन्दू सभ्यता : मुकर्जी : पृ० २६४,

२. वही,

श्री जायसवाल ने "नव" शब्द का अर्थ "नवीन" किया है किन्तु श्री हारीनकृष्णदेव आदि ने उसके प्रति असहमति प्रकट की है[1] और अब इसको सामान्यतः संख्याबोधक ही माना जाता है। विशाखदत्त ने 'नव' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग किया है, किन्तु उसमे संख्याबोधक अर्थ ध्वनित होने पर ही उसका स्वारस्य ठहरता है।[2] कुछ भी हो सामान्यतः इतना निश्चित है कि नवनन्दों के अस्तित्व की धारणा ऐतिहासिक है।

नाटक में सांकेतिक रूप से निर्दिष्ट उपर्युक्त घटना से सम्बन्धित दोनों प्रमुख पात्र चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य भी विश्रुत तथा ऐतिहासिक हैं। नाटक में चाणक्य के लिये प्रायः कौटिल्य तथा विष्णुगुप्त आदि शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु इनमें वास्तविक नाम विष्णुगुप्त ही प्रतीत होता है। अन्यथा चणक का पुत्र होने से चाणक्य तथा कुटिल-कूटनीतिक होने से कौटिल्य नाम पड़ा प्रतीत होता है। विद्वानों में इसके लिये प्रचलित कौटिल्य तथा कौटल्य शब्द के सम्बन्ध में भी मतभेद है।[4] यद्यपि कुछ ग्रीक विद्वानो ने प्रारम्भ में चाणक्य को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना है किन्तु भारतीय परम्परा, साहित्यिक–साक्ष्य तथा अनुश्रुतियों के आधार पर इसकी ऐतिहासिकता असंदिग्ध है। परम्परा के अनुसार चाणक्य का तक्षशिला के विश्वविद्यालय से संबध था। प्रो० हरिश्चन्द्र के अनुसार यह तक्षशिला का निवासी था।[5] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वह शास्त्र परीक्षा देने के लिये पाटलिपुत्र गया था।[6] सारांश यही है कि चाणक्य का व्यक्तित्व ऐतिहासिक है।

नाटक में पृष्ठभूमि के रूप में निर्दिष्ट उपर्युक्त घटना से ज्ञात होता है कि सभा में अग्रासन से हटाये जाने के कारण अपमानित क्रुद्ध[7] चाणक्य ने शिखा खोलकर नन्दवंश के उन्मूलन की प्रतिज्ञा की थी।[8] और इस प्रतिज्ञा-नदी को उसने पार भी कर लिया था।[9] इतिहासकारों ने इस घटना को भी मूलतः ऐतिहासिक माना है, किन्तु रूप तथा घटना-प्रकार के सम्बन्ध में एकरूपता नहीं है। पुराणों से इतना ही

---

१. इ० हि० क्वा० १९३०, भाग ६, पृ० २७५,
२. मुद्रा० १।१३,
३. द्रष्टव्य सं० सा० इति० : वाचस्पति पृ० ५३०,
४. कौटिल्य तथा कौटल्य : सम्मेलन पत्रिका : १८८३, भाग ४७, अंक ४,
५. चन्द्रगुप्त : प्रो० हरिश्चन्द्र सेठ, पृ० १२८,
६. पाणिनिकालीन भारत : वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० २४,
७. देखिये, मुद्रा० १।१२, ४।११,
८. मुद्रा० १।९, १०, ३।२९,
९. मुद्रा० १।७, १०, ११, १२, १३, ३।२७ आदि,

ज्ञात होता है कि नन्दों का ब्राह्मण कौटिल्य ने उन्मूलन किया तथा चन्द्रगुप्त को राज्य पर बैठाया था,[1] पर अन्य कुछ ग्रंथों से इस पर प्रकाश पड़ता है।

"कथासरित्सागर" के अनुसार नन्दमंत्री शकटार ने चाणक्य को कुश उखाड़ते हुए देखकर स्वयं अपने तथा अपने पुत्रों पर किये गये अत्याचार का प्रतिशोध लेने के लिये उसे श्राद्धभोजन के लिये निमंत्रित किया। चाणक्य राजसभा में आकर सर्वोच्च आसन पर बैठ गया, किन्तु उसे वहाँ से हटाकर अपमानित किया। फलतः सभा से जाते हुए उसने सात दिनों में नंदवध न करने तक शिखा न बांधने की प्रतिज्ञा की। "चाणक्य कथा" में यही कथा कुछ भिन्न प्रकार से मिलती है। इसके अनुसार नन्दों ने चन्द्रगुप्त के १०० भाइयों तथा पिता को मरवा दिया था तथा वे चन्द्रगुप्त की बुद्धिमत्ता से ईर्ष्या रखते थे। एक बार नन्द ने पितृश्राद्ध के अवसर पर चन्द्रगुप्त को ब्राह्मण निमंत्रित करने को कहा। चन्द्रगुप्त को मार्ग में मूंज उखाड़ता तथा उन्हें जलाता चाणक्य मिला। चन्द्रगुप्त के पूछने पर ज्ञात हुआ कि वह पांव छील देने के कारण ऐसा कर रहा है। उसकी इस दृढ़ निश्चयात्मकता को देखकर अपने भाई तथा पिता के बदले का अवसर जानकर उसे निमंत्रित किया। चाणक्य राज्यसभा में जाकर एक विद्वान् के लिए सुरक्षित स्थान पर जा बैठा। नन्दों ने सेवकों द्वारा उसे शिखा पकड़वा कर निकलवा दिया, तभी चाणक्य ने हीनकुल के नन्दों के समूलोन्मूलन की प्रतिज्ञा की थी। ढुंढिराज ने भी लगभग इसी प्रकार की कथा दी है। पर उसने चन्द्रगुप्त को अन्नसत्राधिकारी लिखा है।[2] इसी प्रकार एक अन्य कथा के अनुसार लुब्धक नन्दों की दानशाला के प्रबन्धक संघ का अध्यक्ष एक बार चाणक्य चुना गया। राजा को उसकी कुरूपता तथा धृष्ट स्वभाव अच्छा न लगा, अतः उसे पदच्युत कर दिया गया। इस अपमान से क्रुद्ध चाणक्य ने राजा को शाप दिया और उसके वंश को निर्मूल करने की धमकी दी और एक आजीवक के रूप में उसके चंगुल से बच निकला।[3]

उपर्युक्त कथाओं से स्पष्ट है कि नन्दराजा ने चाणक्य का अवश्य कोई सामाजिक अपमान किया होगा जिसके कारण उसे नन्दोन्मूलन की प्रतिज्ञा करनी पड़ी। यद्यपि उपर्युक्त कथाओं में चाणक्य के चरित्र को उचित रूप में प्रदर्शित नहीं किया गया है, किन्तु उनसे यह अवश्य ज्ञात होता है कि नाटक की इस घटना में सत्यता अवश्य है, तथा यह भी प्रकट है कि विशाखदत्त ने अग्रासन से सभ्यों के सामने

---

१. दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ५५,
२. मुद्रा० तेलंग, उपोद्घात, २४-५७,
३. चन्द्रगुप्तमौर्य और उसका काल : मुकर्जी, पृ० ४२-४३,

हटाए जाने के कारण अपमानित होकर नन्दोन्मूलन की प्रतिज्ञा को इन्हीं परम्पराओं से सँजोकर नाट्यबद्ध किया है। सामान्यतः इसका रूप चाहे जो भी रहा हो, पर नन्दोन्मूलन की इस घटना का अर्थशास्त्र में तथा पुराणों में भी उल्लेख है, अतः इतिहासकारों ने भी इसे मूलतः ऐतिहासिक स्वीकार किया है।[1]

उपर्युक्त चाणक्य कथा तथा दृढ़िराज के सन्दर्भ से चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में भी कुछ विशेष परम्परागत बातें ज्ञात होती हैं—

१. नन्दों से सम्बन्धित उपर्युक्त दोनों कथाओं के अनुसार चन्द्रगुप्त का नन्दों से न केवल सम्बन्ध था, बल्कि सभवतः चन्द्रगुप्त नन्दों का कोई उच्चाधिकारी भी था।

२. नन्दों से विरोध. नन्द के यहाँ रहते समय ही चन्द्रगुप्त का नन्दों से विरोध हुआ। यह विरोध या तो चन्द्रगुप्त की प्रतिभा के कारण हुआ या चन्द्रगुप्त के भाईयों के वध के कारण। जो भी हो, पर यह विरोध धीरे-धीरे प्रतिशोध के रूप में बदल गया। जयचन्द्र विद्यालकार ने यहाँ तक लिखा है कि घननन्द ने चन्द्रगुप्त को मारने की आज्ञा भी दे रखी थी।[2]

३. चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य का मिलन:—चन्द्रगुप्त ने अपने प्रतिशोध लेने के लिए चाणक्य जैसे व्यक्ति को खोजा और चाणक्य का अपमान होने पर इन दोनों विरोधियों ने मिलकर नन्दों से बदला लिया।

उपर्युक्त वृत्तान्त से चन्द्रगुप्त और नन्द के विरोध की परिस्थितियों पर तो सामान्य प्रकाश पड़ता है किन्तु उसके प्रारम्भिक जीवन पर नहीं। सामान्यतः चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारम्भिक परिचय तथा चाणक्य के साथ उसके सम्पर्क के सम्बन्ध में भी अनेक किंवदन्तियाँ हैं। मुख्यतः बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अपनी जन्मभूमि को छोड़कर चली आने वाली मोरिय जाति का मुखिया चन्द्रगुप्त का पिता था। दुर्भाग्यवश वह सीमान्त पर एक झगड़े में मारा गया तथा उसका परिवार अनाथ हो गया। उसकी अबला विधवा अपने भाइयों के साथ भाग कर पुष्पपुर नगर में आयी, जहाँ उसने चन्द्रगुप्त को जन्म दिया। सुरक्षा के विचार से इस अनाथ बालक को उसके भाइयों ने एक गोशाला में छोड़ दिया, जहाँ एक गडरिये ने उसे अपने पुत्र की तरह पाला और बड़े होने पर उसे एक शिकारी के हाथ बेच दिया। शिकारी ने उसे गाय चराने के काम पर नियुक्त किया। एक बार वह कुछ ग्वालों के साथ खेल

१. **चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल : मुकर्जी, पृ० २७ २८, दि एज ऑफ इम्पीरियल यूनिटी : पृ० ५५,**

२. **भा० इति० रूपरेखा, भाग २, पृ० ५४८,**

में राजा बनकर खेल रहा था, तभी चाणक्य की दृष्टि उस पर पड़ी और उसकी नेतृत्व-शक्ति से प्रभावित होकर वह उसे साथ ले आया ।[1] प्रचलित परम्परा के अनुसार तक्षशिला में दोनों में गुरु शिष्य का सम्बन्ध भी था । नाटक में यद्यपि दोनों की भेंट तथा सम्पर्क आदि के सम्बन्ध में कुछ भी उल्लेख नहीं है तथापि नाटक से दोनों का गुरु-शिष्य सम्बन्ध ध्वनित होता है ।[2] इससे यह भी प्रकट होता है कि विशाखदत्त ने इस घटना की कथा को परम्परा से ही सँजोया है । इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि राज्य पर अधिष्ठित होते समय भी वह युवक ही था, अतएव राक्षस ने उसे 'बाल" कहा है ।[3]

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त कथाओं से यह स्पष्ट है कि चाणक्य के समान चन्द्रगुप्त भी नन्दों द्वारा प्रताड़ित तथा त्रस्त होने के कारण प्रतिशोध लेने के अवसर की प्रतीक्षा में था, अतः जब चाणक्य का साहचर्य्य उसे मिला तो उसने भी नन्दोन्मूलन में उसका पूर्ण सहयोग दिया होगा । यही कारण है कि चाणक्य ने सफल क्रान्ति के पश्चात् भी चन्द्रगुप्त को ही राज्यासीन किया । नाटक में चाणक्य की सहायता से एवं चाणक्य के द्वारा चन्द्रगुप्त के राज्य-प्राप्ति का अनेकशः स्पष्ट उल्लेख है ।[4] यद्यपि चाणक्य के शब्दों में नन्दोन्मूलन तथा चन्द्रगुप्त के राज्यासीन कर देने के पश्चात् उसकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गयी तब भी वह चन्द्रगुप्त के अनुरोध के कारण ही मंत्रित्व ग्रहण करके राज्य-कार्य में सक्रिय था ।[5] वह स्वयं मुद्रा० में इसके कारण का भी निर्देश करता है कि राक्षस को बिना वश में किये न तो नन्दोन्मूलन पूर्ण माना जा सकता है और न चन्द्रगुप्त की राज्य-लक्ष्मी की स्थिरता की आशा ही ।[6] स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त के राज्यासीन होने पर भी देश में विद्रोहियों का आतंक था । नन्दों के पक्षपाती लोग राक्षस के नेतृत्व में विद्रोहरत थे । इसके अतिरिक्त संभवत चाणक्य चन्द्रगुप्त को एकच्छत्र चक्रवर्ती के रूप में भी देखना चाहता था । अतएव वह चन्द्रगुप्त के अभिभव को स्पष्टतः अपना अभिभव समझ कर उत्तेजित हो उठता था ।[7] यही नहीं, बल्कि चाणक्य स्वय राक्षस की योग्यता तथा स्वामिभक्ति का प्रशंसक था। अतएव वह उसका उपयोग चन्द्रगुप्त के लिये करना चाहता था तथा वह क्योंकि

---

१. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल : मुकर्जी : पृ० ३६,
२. मुद्रा० ३।६, ३।१६–२०, ७।११, १३, १४ आदि,
३. मुद्रा० ७।१२, एक स्थान पर उसे नववयसि शब्द भी प्रयुक्त है. वही, ३।३,
४. मुद्रा० १।१३, २।१३ आदि,
५. मुद्रा० १।१२–१३,
६. वही, १।१३ १४,
७. देखिये, वही १।६–११,

कारण विशेष से राजनीति में सक्रिय हुआ था, अतः चन्द्रगुप्त तथा भारत के शासन का भार उस पर छोड़ कर स्वयं मुक्त होना चाहता था[1] मुद्रा० से यह तथ्य स्पष्ट है कि नन्दोन्मूलन की पूर्णता एवं चन्द्रगुप्त की राज्यलक्ष्मी की स्थिरता आदि के लिये वह नन्दों के परमभक्त राक्षस को वश में लाना आवश्यक मानता है और इसीलिए वह तपस्वी सर्वार्थसिद्धि तथा नन्दोन्मूलन के सहयोगी पर्वतक को मरवा डालता है।

किन्तु, मुद्रा० के प्रारम्भ तथा अन्त में अनेकशः (नौ) नन्दों के समूलोन्मूलन के बाद भी सर्वार्थसिद्धि की अंतिम नन्द के रूप में अवतारणा कुछ अनुचित तथा अनैतिहासिक प्रतीत होती है। हम नौ नन्दों का नामोल्लेख कर चुके हैं। उनमें अंतिम नन्द का नाम धननन्द लिखा है, सर्वार्थसिद्धि नहीं। यह हमारा अनुमान है कि धननन्द अंतिम नन्द का वास्तविक नाम नहीं था बल्कि धनलुब्धक होने के कारण ही उसे धननन्द जैसा अभिधान दे दिया गया जिस प्रकार कि उग्रसेन तथा महापद्म थे।[3] नाटक में भी अनेक स्थानों पर अंतिम नन्द को धनलुब्धक के रूप में चित्रित किया है। और यदि सर्वार्थसिद्धि अंतिम नन्द था तथा वह धनलुब्धक था तो उसका ही नाम धननन्द रहा होगा। अतः हमारा अनुमान है कि अंतिम नन्द के एकाधिक अभिधान थे, उनमें एक सर्वार्थसिद्धि भी रहा होगा। सभवतः इसीलिए प्रो० ध्रुव इसे ऐतिहासिक मानते हैं।[4]

नाटक के अनुसार सुरंग द्वारा भागकर तपोवन में तपस्या करते समय सर्वार्थसिद्धि का वध कराया गया था। नाटक में यह घटना नन्दों के वंशनाश की समानान्तर घटना के रूप में उल्लिखित प्रतीत होती है। नाटक के इन उल्लेखों के ससन्दर्भ अध्ययन से यही प्रतीत होता है, मानो सर्वार्थसिद्धि की मृत्यु के पश्चात् ही चाणक्य ने अपने को पूर्णप्रतिज्ञ समझा था। नाटक में जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धि के पलायन तथा बाद में मृत्यु का उल्लेख है, उसकी अन्य साक्ष्यों में भी पुष्टि होती है। परिशिष्टपर्वन् से स्पष्ट है कि अंतिम नन्द मारा नहीं गया, बल्कि चाणक्य की अनुमति से रथ में अपनी पत्नी एवं पुत्री के साथ प्रचुर धन लेकर पाटलिपुत्र से भाग गया था।[5] इतिहासकारों ने इसका इस प्रकार भी उल्लेख किया है कि जब चन्द्रगुप्त पाटलिपुत्र में प्रवेश कर रहा था, तब अंतिम नन्द रथ में स्वर्णमुद्रा लद कर निकल

---

१. मुद्रा० १।१३–१५, १।२७,
२. वही, १।१३–१४, १।१५–१६
३. भा० इति० रूप० भाग २, जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ० ५२७,
४. मुद्रा० सं० ध्रुव० भूमिका, पृ० २४,
५. देखिये, चन्द्रगुप्त मौर्य एवं उसका काल : मुकर्जी, पृ० ५६,

रहा था।[1] इन उल्लेखों से यही प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम अंतिम नन्द मारा नहीं गया, अपितु भाग गया था, तभी चाणक्य ने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण समझ ली थी। इसी लिये संभवतः नाटक में सर्वार्थसिद्धि का पलायन वर्णित है। नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि राक्षस (या इसी प्रकार के अन्य किसी) नन्दभक्त मंत्री के उकसाने पर भावी भय की आशंका से उस निस्पृह तपस्वी को भी मरवा दिया गया। तथ्य कुछ भी हो, पर प्रचलित अनुश्रुतियों के परिप्रेक्ष्य में नाटक की यह घटना संभावित तथा किसी परम्परा पर आधारित ही प्रतीत होती है।

मुद्रा० के अनुसार नन्दोन्मूलन के बाद राक्षस ही चाणक्य का प्रमुख प्रतिद्वन्दी था तथा मुख्यतः वह नन्दनाश के कारण अत्यन्त क्रुद्ध था। चाणक्य अन्तर्देशीय समस्त विघ्नों को दूर करने के लिये राक्षस को वश में करके चन्द्रगुप्त के अमात्य पद पर प्रतिष्ठित करना चाहता था, किन्तु मलयकेतु भी अपने पिता की हत्या से क्रुद्ध था एवं नन्द। राज्य के लोभ से उत्साहित था।[2] अतः राक्षस मलयकेतु की सहायता से चन्द्रगुप्त के राज्य को उलटने के षडयंत्र में संलग्न था। संक्षेप में नाटक से इस घटना का पूर्वापर क्रम इस प्रकार ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य ने पर्वतक की सहायता से नन्दोन्मूलन किया। संभवतः इस सहयोग के प्रतिदान के रूप में उनमें विजित राज्य के बँटवारे की संधि भी हुई थी; किन्तु नन्दोन्मूलन के बाद द्वैराज्य के दोष की आशंका से तथा अत्यधिक बलशाली पर्वतक से संभावित भय से आशंकित होकर चाणक्य ने छल द्वारा पर्वतक को मरवा दिया, जिससे कि चन्द्रगुप्त निष्कंटक होकर राज्य का सार्वभौम उपभोग कर सके। किन्तु राक्षस ने अवसर का लाभ उठाते हुए पर्वतक के पुत्र मलयकेतु को अपना अस्त्र बनाकर चाणक्य से बदला लेने की इच्छा से चन्द्रगुप्त के राज्य को उलटने के लिये षडयन्त्रों का जाल बिछा दिया। पर चाणक्य चाणक्य था, उसने न केवल पर्वतक की हत्या का दोष ही उसके सर पर मढ़ा, अपितु उसके समस्त प्रयत्नों को असफल करके इतना विवश कर दिया कि उसे चन्द्रगुप्त का अमात्य पद ग्रहण करना ही पड़ा।

उपर्युक्त सम्पूर्ण घटना ऐतिहासिक नहीं है। सर्वप्रथम, राक्षस जैसे प्रमुख पात्र की ऐतिहासिकता ही सन्दिग्ध है। वैसे मुद्रा० में राक्षस के अतिरिक्त नन्दो के सुप्रसिद्ध मन्त्री वक्रनास का भी उल्लेख है,[3] जो कि ऐतिहासिक है, किन्तु राक्षस के व्यक्तित्व का निश्चय नहीं है। जाली ने राक्षस को ऐतिहासिक न मानकर कल्पित

---

१. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : शाह, पृ० ८८,

२. मुद्रा० १।१०–११,

३. मुद्रा० १।२३,

माना है, किन्तु श्री दीक्षितार ने उनसे असहमति प्रकट की है।[१] प्रो० ध्रुव भी राक्षस को ऐतिहासिक मानने के पक्ष में हैं।[२] कुछ विद्वानों ने राक्षस को वक्रनास का भ्रातृष्पुत्र भी माना है।[३] नाटक में चित्रित स्वाभाविक तथा सजीव चित्रण के आधार पर हमारा अनुमान है कि विशाखदत्त ने परम्परा से समागम किसी अनुश्रुति के आधार पर ही राक्षस की उद्भावना की है। नाटक के इतने प्रमुख पात्र को नितान्त कल्पित नहीं माना जा सकता। अनुमानतः नन्दों के बाद इस प्रकार का कोई स्वामी-भक्त मंत्री अवश्य रहा होगा। हमारा यह भी अनुमान है कि चाणक्य की अपेक्षा उसके प्रतिद्वन्दी के चरित्र को निम्न कोटि का प्रदर्शित करने की इच्छा से ही उसको राक्षस नाम दिया गया है, जैसा कि चाणक्य का कूटिलमति होने से कौटिल्य[४] अन्यथा राक्षस इतना अधिक नीति निपुण तथा स्वामिभक्त था कि चाणक्य न केवल उसकी प्रशंसा या सम्मान करता है अपितु वह चन्द्रगुप्त के राज्य की स्थिरता के लिये उसकी सेवाओं का उपयोग करना चाहता है। नाटक में ही चाणक्य ने स्पष्ट कर दिया है वह उसे नीति द्वारा ही वश में लाना चाहता है बल द्वारा नहीं। क्योंकि यदि राक्षस सेना द्वारा पकड़े जाने पर स्वयं मर जाता तो चन्द्रगुप्त लोकोत्तर गुणवान राक्षस से वियुक्त हो जाता और यदि सेना को मार डालता तो भी कष्ट होता।[५] यही कारण है कि वह चन्द्रगुप्त से राक्षस का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कूटनीति का प्रयोग करता है।[६] यद्यपि इस घटना की ऐतिहासिकता के सबंध में कुछ भी कहना असम्भव है, पर इसके यथार्थ-चित्रण से राक्षस जैसे मत्री का अस्तित्व संभावित प्रतीत होता है।

किन्तु पर्वतक की ऐतिहासिकता भी सुनिश्चित नहीं है। पर्वतक कौन था, किस प्रदेश का था, आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ इतिहासकारों ने अनभिज्ञता प्रकट की है,[७] किन्तु कुछ इसे ऐतिहासिक भी स्वीकार करते हैं। नाटक में इसके लिये पर्वतक, पर्वत, पर्वतेश्वर आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। मुद्रा० से यह भी स्पष्ट है कि नन्दोन्मूलन में पर्वतक ही चाणक्य तथा चन्द्रगुप्त का प्रमुख सहयोगी था। संभवतः यह पर्वत प्रदेश, जिसे हिमालय प्रदेश भी कहा जा सकता है, का निवासी था।

---

१. दि मौर्यन पालिटी : दीक्षितार, पृ० १४-१५,
२. मुद्रा० ध्रुव० भूमिका, पृ० २४,
३. द्रष्टव्य : प्र० ऐति० ना० जोशी, पृ० १०७,
४. द्रष्टव्यः मुद्रा० १।७, ४।२ आदि,
५. वही ३।२५,
६. वही, ७।६,
७. भा० इति० रूप० जयचन्द्र पृ० ५४६,

अतएव इसे उपर्युक्त नामों से अभिहित किया गया है। परिशिष्टपर्वन् से ज्ञात होता है कि चाणक्य हिमवत्कूट गया और उस प्रदेश के राजा के साथ मैत्री की।[1] बौद्ध-वृत्तान्तों से भी चाणक्य तथा पर्वतक की मित्रता की पुष्टि होती है।[2] इतिहास के अनुसार पर्वत प्रदेशीय इस राजा की मित्रता के पश्चात् इसकी सहायता से ही मगध विजय हो सकी थी।[3] नाटक के अनेक स्थलों से भी यही ध्वनित होता है। मुद्रा० के अनुसार यह अत्यन्त प्रभावशाली तथा पराक्रमी राजा था। नाटक से ज्ञात होता है कि पर्वतक की मित्रता तथा सहयोग पाने के लिये इनमें विजितराज्य के बँटवारे की तथा अन्य सहयोगी राजाओं को भी कुछ न कुछ देने की संधि हुई थी। मुद्रा० के 'योजनशतं समधिकं—" के आधार पर विद्वानों ने यह भी निष्कर्ष निकाला है कि इसकी राजधानी चिनाब तथा झेलम के पास रही होगी।[4]

कुछ इतिहासकारों ने पर्वतक का सुप्रसिद्ध राजा पोरस से साम्य माना है। प्रो० हरिश्चन्द्र सेठ ने स्पष्टतः पर्वतक को पोरस की उपाधि मान कर पोरस तथा पर्वतक को एक ही व्यक्ति माना है।[5] किन्तु श्री नीलकण्ठ शास्त्री पर्वतक तथा पोरस का साम्य मानने से सहमत नहीं हैं।[6] मुख्यतः उनका कहना है कि म्लेच्छ तथा उसकी सेना को म्लेच्छबल शब्द प्रयुक्त है, किंतु वास्तविकता यह है कि नाटक में म्लेच्छ शब्द न तो प्रत्यक्षतः मलयकेतु को प्रयुक्त हुआ है, और न स्पष्टतः वह जाति बोधक है। वहाँ जहाँ कहीं भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसका अभिप्राय केवल घृणा व्यक्त करना है या अन्य सहयोगियों की सेना का निर्देश करना।[7] दूसरे, उन्होंने यह भी लिखा है कि पर्वतक के हिमवत्कूट तथा पोरस के चिनाब तथा झेलम के प्रदेश में पर्याप्त अंतर है. किन्तु हिमवत्कूट का तात्पर्य विशाल हिमाचल प्रदेश से है और उसमें काश्मीर से लेकर पंजाब तक के समस्त भूभाग को समाहित करना अधिक संगत प्रतीत होता है। तीसरे, वह नाटक में उल्लिखित सिन्धु के सिन्धुषेण राजा के उल्लेख से भी भ्रम में पड़ जाते हैं, किन्तु वास्तव में श्री सेठ ने सिन्धु का आधुनिक सिन्धु से तात्पर्य न मानकर डेराजात तथा सिन्धुसागर दोआब से माना है।[8] चौथे, उन्होंने

---

१. द्रष्टव्य : चन्द्रगुप्त मौर्य एवं उसका काल : मुकर्जी, पृ० ५०,
२. वही,
३. चन्द्रगुप्त मौर्यः हरिश्चन्द्र सेठ, पृ० ३४,
४. वही, पृ० ४२
५. चन्द्रगुप्त मौर्य: हरिश्चन्द्र, पृ० ३४–३९, ४६,
६. दि एज ऑफ दि नन्दाज़ एण्ड मौर्याज : नीलकण्ठ शास्त्री, पृ० १४७,
७. देखिये मुद्रा० ३।२४–२५, ६।७, ८ आदि,
८. भा० इति० रूप० भाग २, जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ०५४९,

पर्वतक की विषकन्या द्वारा हत्या पर भी आपत्ति की है, किन्तु यह नाटककार की उद्भावना है और मुख्यतः चाणक्य की कूटनीति को प्रदर्शित करने के लिये ही ऐसा किया गया है। स्पष्ट है कि पर्वतक का पोरस से साम्य मानने में नाटक के सामान्य उल्लेखों को बाधक मानना उचित नहीं है। अतएव अनेक इतिहासकारों ने पर्वतक का पोरस से साम्य माना है। श्री मुकर्जी ने दोनों के साम्य का समर्थन करते हुए लिखा है कि इस बात को देखते हुए कि अपने समय में अपने देश की राजनीति में पोरस का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था, यह बिल्कुल तर्कसंगत ज्ञात होता है।[1]

परन्तु प्रो० हरिश्चन्द्र सेठ पर्वतक का पोरस से ही साम्य नहीं मानते, अपितु उसका सम्बन्ध पौराणिक "पुरु" से जोड़ते हैं तथा पोरव और पोरस को एक ही मानते हैं। हम यहाँ इस विस्तार तथा विवाद में नहीं उलझना चाहते, किन्तु यह लगभग निश्चित है कि नाटक का पर्वतक अवश्य ऐतिहासिक व्यक्ति है तथा यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि उसकी सहायता से ही चन्द्रगुप्त ने नन्दोन्मूलन किया था। यही कारण है कि चन्द्रगुप्त उसका आत्मीय जनके समान ही श्राद्ध आदि कार्य करता है।[2] नाटक के अनुसार चाणक्य ने पर्वतक की हत्या प्रति-श्रुत अर्धराज्य न देने के उद्देश्य से करवा दी[3] और इसी कारण चन्द्रगुप्त की कटक से उसके पुत्र मलयकेतु का पलायन करवा के, उसके भाई वैरोचक को प्रतिश्रुत राज्य देने का प्रदर्शन करके उसे मरवा डाला।[4] इसी प्रकार नाटक में पर्वतक के परमभक्त ५ अन्य प्रधान सहयोगी राजाओं का भी उल्लेख है। क्रमशः उनके नाम है : कुलूत का राजा चित्र-वर्मा, मलयका राजा सिंहनाद, काश्मीर का राजा पुष्कराक्ष, सिंधु का सिन्धुषेण तथा पारस का मेघाक्ष।[5] अनुमानतः इन सभी ने किसी न किसी शर्त पर ही पर्वतक की सेना के रूप में चन्द्रगुप्त की सहायता की थी और बाद में ये शर्त पूरी न होने पर चन्द्रगुप्त के विरुद्ध मलयकेतु की सहायता कर रहे थे। यद्यपि मलयकेतु वैरोचक तथा उपर्युक्त राजाओं तथा इनसे संबंधित घटनाओं की ऐतिहासिकता संदिग्ध है और यह सब नाटककार की उद्भावना मात्र प्रतीत होती है। तथापि इतना संभव प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त की नन्दोन्मूलन के सहयोगियों के साथ कुछ न कुछ संधि अवश्य

---

१. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, मुकर्जी, पृ० ५०,
२. चन्द्रगुप्त मौर्य : हरिश्चन्द्र, पृ० ४१–७१ आदि,
३ मुद्रा० १।१६–२०,
४ मुद्रा० ५।५–६ आदि,
५. देखो वही १।१५–१६, २।१५–१६ आदि;
६. वही, १।२० इत्यादि;

हुई होगी। किन्तु चाणक्य ने राजनैतिक भय की आशंका से वह पूर्ण तो की ही नहीं, साथ ही किसी भी भावी भय से मुक्ति पाने के उद्देश्य से कूटनीति द्वारा उन्हें कुचल डाला होगा। वास्तव में उपर्युक्त घटनाओं में ऐतिहासिकता चाहे हो या न हो, पर सर्वार्थसिद्धि तथा पर्वतक आदि का वध राजनैतिक आवश्यकतायें है। यद्यपि यहाँ विष-कन्या आदि का विनियोग सर्वथा काल्पनिक है, किंतु राजनीति में ऐसी घटनाओं की सम्भाव्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(२) मुद्राराक्षस के काल्पनिक विनियोग :

हम नाटक की प्रमुख ऐतिहासिक घटना तथा पात्रों के सम्बन्ध में विचार करते समय स्पष्ट कर चुके है कि इसमें मलयकेतु जैसे प्रमुख पात्रों का विनियोग भी ऐतिहासिक दृष्टि से सन्देहास्पद है। विश्रुत पात्रों से संबंधित घटनाओं को भी समग्र रूप में तथा तद्रूप में ऐतिहासिक कहना असम्भव है। इसी प्रकार चन्दनदास, शकटदास आदि अन्य पात्र भी काल्पनिक ही हैं। वास्तविकता यही है कि नाटक में प्रमुख रूप में दो मंत्री चाणक्य तथा राक्षस का बौद्धिक संघर्ष ही चित्रित है, किन्तु यह भी ऐतिहासिक न होकर नाटककार की कल्पना द्वारा अभिसृष्ट है। यही कारण है कि इससे सम्बन्धित विषकन्या द्वारा पर्वतक की हत्या, मलयकेतु द्वारा चन्द्रगुप्त के अभिभव का प्रयास, राक्षस तथा मलयकेतु का कलह, भागुरायण तथा भद्रभट आदि गुप्तचर एवं उनसे सम्बन्धित यंत्र-प्रयोग, विष-प्रयोग आदि समस्त घटनायें काल्पनिक हैं। इसी प्रकार नाटक में शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक एवं बाल्हीक तथा खस, मगध, चेदि, हूण आदि राज-सैन्यों का उल्लेख भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं है। इन्हें नाट्यवस्तु के काल से संबंधित करके सतोलना उचित नहीं है। अनेक इतिहासकारों ने इनकी ऐतिहासिकता के प्रति सन्देह व्यक्त किया है।[1]

नाटककार ने मुद्रा तथा लेखप्रयोग जैसी घटनाओं को अभिज्ञानशाकुन्तल तथा मालविकाग्निमित्र से सँजोकर तथा "अलंकारन्यास" के प्रसंग की मृच्छकटिक से प्रेरणा लेकर यहाँ अपने प्रकार से विनियोग किया है। अतः यह भी ऐतिहासिक नहीं है। स्पष्ट है कि मुद्रा० में ऐतिहासिक अंश कम तथा काल्पनिक ही अधिक हैं, तथापि ऐतिहासिकता की सफल अभिसृष्टि के कारण यह प्रतिनिधि ऐतिहासिक नाटक स्वीकार किया जाता है।

(३) मुद्राराक्षस की ऐतिहासिकता :

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि मुद्रा० का आधारभूत प्रमुख कथांश सुप्रसिद्ध तथा ऐतिहासिक है पर अन्य कूटनीतिक समस्त घटना-विन्यास कल्पित हैं।

---

१. द्रष्टव्य : चन्द्रगुप्त मौर्य एवं उसका काल : मुकर्जी, पृ० ५०, वि एज ऑफ नन्दाज् एण्ड मौर्याज् : नीलकण्ठ शास्त्री, पृ० १४६–१४७,

किन्तु विशाखदत्त ने नाटक के इस समस्त घटनाचक्र को अत्यन्त संतुलित रूप से विनियुक्त करके अपनी नाट्यप्रतिभा तथा कुशलता द्वारा ऐतिहासिकता का ऐसा स्वाभाविक प्रक्षेप किया है कि समस्त नाटक आमूलचूल विशुद्ध ऐतिहासिक सा प्रतीत होता है। इसका सर्व प्रमुख कारण यह है कि मुद्रा० के नाटककार ने नाटक की वस्तु के अनुरूप एक ओर जहाँ ऐतिहासिक वातावरण का सफल निर्माण किया है, वहाँ दूसरी ओर काल्पनिक वस्तु तथा पात्र का इतिहासीकरण भी अतीव सफलतापूर्वक किया है। यही नहीं, बल्कि इस नाटक में एक कुशल ऐतिहासिक नाटककार के रूप में उसने सर्वत्र ऐतिहासिक दृष्टिकोण को सदैव सम्मुख रखा है। इसी का परिणाम है कि नाटक का समस्त वातावरण ऐतिहासिक रंग से अनुरंजित तथा नाटक इतिहासरस का आस्वाद कराने में सर्वथा समर्थ है।

प्रमुखतः मुद्रा० वीररस-प्रधान नाटक है किन्तु इसका वीर उस संग्रामस्थल से सम्बन्धित नहीं जहाँ तलवारों की झनझनाहट, घोड़ों के टापों की आवाज, हाथियों की चिंघाड, या सैनिकों की मारधाड़ आवश्यक होती है। संक्षेप में, यह दो मंत्रियों के कूटनीतिक युद्ध की कहानी है। इसमें बौद्धिक संघर्ष ही प्रमुख है। अतएव समस्त नाटक में षड्यंत्र तथा अभिचारों का विनियोग किया गया है। विष-प्रयोग, यंत्र-प्रयोग तथा गुप्तचरों के षड्यंत्र आदि इसी प्रकार के क्रिया, कलाप हैं। यही नहीं, बल्कि नाटककार ने इसमे प्रायः ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अनुरूप पात्रों का चित्रण किया है। नाटक के प्रमुख पात्र चाणक्य, राक्षस तथा चन्द्रगुप्त आदि का चरित्र पूर्णतः इतिहास-सापेक्ष्य है। नाटक के प्रत्येक पृष्ठ पर चाणक्य का ऐतिहासिक व्यक्तित्व सक्रिय दृष्टिगत होता है। इसमें चाणक्य का चरित्र इतना अधिक स्वाभाविक तथा मार्मिक है कि उसकी समता अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार राक्षस का चरित्र भी उसके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। चन्द्रगुप्त तथा नन्द आदि के चरित्र-चित्रण में भी विशाखदत्त ने परम्परा का ही आश्रय लिया है। अतएव नन्दों को अभिमानी, लुब्धक तथा लालची के रूप में चित्रित किया है तो चन्द्रगुप्त को विनम्र तथा आज्ञापालक के रूप में।

मुद्रा० में ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण या इतिहासीकरण में अनुमान-प्रक्रिया के अतिरिक्त अर्थशास्त्र का अधिक आश्रय लिया गया है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र इसकी प्रत्येक पंक्ति में बोल रहा है। यही कारण है कि जहाँ इतिहास मौन है, वहाँ राजनैतिकता तथा ऐतिहासिकता मुखर है। यद्यपि नाटक में वस्तु के देश काल से भिन्न भी कुछ विनियोग हुए हैं किन्तु वह नाटककार के देशकाल सापेक्ष्य है तथा क्षम्य है। वास्तविकता यही है कि इसमे कूटनीतिक तथा राजनैतिक क्रियाकलाप आदि प्रायः अर्थशास्त्र से ही अनुप्राणित हैं और इसी का परिणाम है कि इसमें वस्तु-

कालीन सभ्यता तथा संस्कृति के चित्रण में यथार्थता आ सकी है। यही नहीं, बल्कि विशाखदत्त का राजनीति-संबंधी प्रायोगिक ज्ञान, उसकी सशक्त लेखनी तथा नाट्य सुलभ कलात्मकता ने अज्ञात इतिहास के शुष्कपक्ष में भी प्राणवत्ता तथा रसात्मकता का ऐसा समन्वित, मंजुल विनिवेश किया है कि जिससे न केवल समस्त नाटक विशुद्ध ऐतिहासिक ही प्रतीत होता है, अपितु वह अज्ञात इतिहास का एक मुखर अध्याय भी बन गया है अधिक विस्तार में न जाकर, हम संक्षेप में यही कह सकते हैं कि ऐतिहासिक नाटक के लिये जिस संघर्ष, घातप्रतिघात, वस्तुकालीन संस्कृति-सभ्यता तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है, और नाट्यरूप की सफलता के लिये जैसी गत्यात्मकता तथा कुतूहल-प्रवृत्ति अपेक्षित होती है, उसका मुद्राराक्षस में सर्वथा सफल विनियोग हुआ है; और इसी कारण यह ऐतिहासिकता से संयुक्त, इतिहासरस से अनुप्राणित सफल ऐतिहासिक नाटक है, जिसे हम बिना किसी संदेह के विशुद्ध ऐतिहासिक नाटकों की श्रेणी में रख सकते हैं।

(४) मुद्राराक्षस के कुछ विवादास्पद उल्लेख :

मुद्राराक्षस में नन्दोन्मूलन तथा चन्द्रगुप्त के राज्यासीन होने की घटना के ऐतिहासिक होने पर तथा समग्र रूप में इसके ऐतिहासिकता से संपृक्त होने पर भी इसमें चन्द्रगुप्त तथा नन्दों के संबंध में एकाधिक परस्पर विरोधी, भ्रामक एवं परम्परा के विरुद्ध उल्लेख हुए हैं, जो न केवल विवादास्पद हैं, अपितु जिनके परिपार्श्व में मुद्रा० की ऐतिहासिकता का पर्यवेक्षण करने पर इसमे पर्याप्त अनैतिहासिकता तथा कल्पना की अराजकता का आभास होता है। उदाहरण के लिये चन्द्रगुप्त मौर्य को "वृषल" तथा यहाँ तक कि "कुलहीन" शब्द भी प्रयुक्त किया है। नन्दों को 'अभिजात" तथा "प्रथित" कहा है। चन्द्रगुप्त को मौर्यपुत्र के साथ-साथ नंदवंशी कहा है, तथा नवनंदों के उन्मूलन के उल्लेख के पश्चात् भी सर्वार्थसिद्धि की अवतारणा की गई है।

चन्द्रगुप्त मौर्य निःसंदिग्ध रूप से ऐतिहासिक पुरुष है, किन्तु उसके वंश तथा जाति आदि के संबंध में अनेक प्राचीन ग्रंथों, अनुश्रुतियों तथा लोककथाओं में अनेकशः संक्षेप तथा विस्तार से उल्लेख होने पर भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। पूर्वनिर्दिष्ट बौद्ध अनुश्रुति के आधार पर चन्द्रगुप्त का जन्म शाक्यों से संबंधित "मोरिय-जाति में हुआ, जिसमें कि स्वयं बुद्ध उत्पन्न हुए थे। किंतु मुद्रा० में उसे अनेकशः "वृषल" शब्द प्रयुक्त है।[१] कोश में वृषल का शूद्र, अवरवर्ण तथा जघन्यज के साथ पर्याय के रूप मे उल्लेख हुआ है।[२] अतः अनेक विद्वानों ने मुद्रा के आधार पर चन्द्र-

---

१. मुद्रा० १।१२--१३ -७।११-१२,

२. अमरकोश २।१६।१,

गुप्त को शूद्र माना है। उनके अनुसार इसीलिए सम्भवत. नाटक में एक स्थान पर स्पष्टतः "कुलहीन"[1] शब्द का प्रयोग किया गया है। यद्यपि यह सत्य है कि नाटक में चन्द्रगुप्त के लिये शूद्रार्थक वृषल तथा "कुलहीन" शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु इन उल्लेखों के एकांगी शाब्दिक अर्थ के आधार पर ही चन्द्रगुप्त को 'शूद्र" मानना उचित नहीं है। यहाँ इन शब्दों के युक्तियुक्त अर्थ को आत्मसात् करने के लिये उनके प्रसंगानुसार अनुशीलन करने पर उपर्युक्त धारणा पूर्णतः भ्रान्त प्रतीत होती है।

नाटक में प्रायः अनेकशः चाणक्य राक्षस तथा कंचुकी ने चन्द्रगुप्त को "वृषल" कहा है। इनमें चाणक्य के उल्लेख सर्वाधिक महत्त्व के हैं, किन्तु उनसे चन्द्रगुप्त की किंचित्मात्र भी लघुता व्यक्त नहीं होती, बल्कि उनसे कई स्थानों पर वत्सलता तथा उच्च एवं सामर्थ्यशाली राजा का अर्थ ही ध्वनित होता है।[2] प्रो० हरिश्चन्द्र सेठ ने नाटक के अनेक उद्धरणों का समीक्षण करके यही लिखा है कि चाणक्य के द्वारा प्रयुक्त वृषल शब्द प्रायः देव, राजन्, आदि अर्थ के लिये ही प्रयुक्त है।[3] श्री हारीतकृष्ण देव ने भी इसे राजन् के विशेषण के रूप में प्रयुक्त माना है।[4] मुकर्जी के अनुसार कई स्थानों पर चाणक्य अपने प्रिय शिष्य को इस शब्द से इस प्रकार प्रयुक्त करता है, मानो यह उसका प्यार का नाम हो।[5]

कुछ विद्वानों के अनुसार राक्षस तथा कंचुकी की उक्तियों में कुछ स्थानों पर वृषल मे लघुता का भाव स्पष्ट है। अतएव डा० शर्मा ने कंचुकी की उक्ति को इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना है।[6] किन्तु तत्वतः यदि देखा जाय तो यह धारणा भी उचित प्रतीत नहीं होती। वास्तविकता यही है कि उन स्थानों पर यह उल्लेख श्लेषात्मक है। प्रथम स्थान पर श्लेष का लाभ उठाते हुए चन्द्रगुप्त के शत्रु राक्षस ने यह प्रयुक्त किया है।[7] अतः यह प्रयोग चन्द्रगुप्त के प्रति शत्रुता के कारण घृणा व्यक्त करने के लिये किया गया है जोकि सर्वथा उचित है तथा शत्रु द्वारा प्रयुक्त होने से इस सम्बन्ध मे विशेष महत्त्व नहीं रखता। दूसरे स्थान पर कंचुकी चाणक्य की गृह-संपत्ति का वर्णन करता हुआ एक ओर उसकी निस्पृहता को बतलाता है तो दूसरी

---

१. मुद्रा० २।७,
२. देखो, मुद्रा० १।१९–२०, ३।१८–१९,
३. चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० ५१,
४. इ० हि० क्वा० वाल्यूम १३, पृ० ६४१,
५. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल : मुकर्जी, पृ० २९,
६. इ०हि० क्वा० १९४०–४१, पृ० ८६,
७. मुद्रा० ६।६,

और चाणक्य द्वारा प्रयुक्त "वृषल" शब्द के औचित्य का प्रतिपादन करता है।[1] यहाँ भी इस प्रयोग में चाणक्य की निस्पृहता तथा अपरिग्रह के सम्मुख चन्द्रगुप्त की समृद्धि तथा ऐश्वर्यगत लघुता ही व्यक्त होती है, न कि कुल-वंश तथा जातिगत। स्पष्ट है कि नाटक में प्रयुक्त श्लिष्ट वृषल शब्द का तात्पर्य शूद्र नहीं है। यदि विशाखदत्त का इस शब्द से शूद्र का ही अभिप्राय होता तो कम से कम (अन्तिम अंक में) राक्षस से परिचय कराते समय "वृषल" शब्द-प्रयोग की अशिष्टता वह न करता।[2] नाटक के गंभीर अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें चाणक्य द्वारा प्रयुक्त वृषल शब्द का ही वस्तुतः सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि राक्षस तथा कंचुकी द्वारा इसका प्रयोग गौण रूप में तथा उसके अनुकरण के रूप में ही किया गया है और नाटक में अधिकांश में चाणक्य द्वारा प्रयुक्त वृषल शब्द के सन्दर्भादि के अनुशीलन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि वह प्रायः आत्मीयताभिव्यक्ति तथा वात्सल्यद्योतन के लिये ही प्रयुक्त हुआ है न कि शूद्र के लिये।

यही नहीं, बल्कि नाटक में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त वृषल शब्द चन्द्रगुप्त की उपाधि भी प्रतीत होता है।[3] कोश में भी यह शब्द चन्द्रगुप्त तथा राजा के पर्याय के लिये उल्लिखित है। डा० सुधीर कुमार गुप्त ने लिखा है कि वृषल पद शूद्र का ही वाचक नहीं है, घोड़ा और गाजर का भी द्योतक है और वृषली पद केवल शूद्र या शूद्री का ही द्योतक नहीं, प्रत्युत अविवाहित रजस्वला कन्या रजस्वला बाँझ–मृतवत्सा भी वृषली होती है। ऐसी कन्या तथा स्त्री सभी वर्णों में होती है। उनका मत है कि क्षत्रिय मौर्यों को वृषल पद उनके श्रेष्ठत्व के कारण ही मिले होंगे।[4] प्रो० हरिश्चन्द्र सेठ ने इसके आविर्भाव के सम्बन्ध में बतलाया है कि यह ग्रीक शब्द (बेसिलियस) बसिलिओ का संस्कृत रूप है, जिसका प्राकृत रूप "वसल" होता है। यह वसिलिओ ग्रीक में राजाओं के लिये प्रयुक्त होता था। उन्होंने लिखा है कि राजा के स्थान पर वसिलिओ और राजाधिराज या महाराज के स्थान पर वसिलिओ (वसिलियन) का प्रयोग अनेक भारतीय राजाओं ने अपने द्विभाषिक सिक्कों में भी किया है।[5] एरियन आदि पुराने योरोपीय इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त को सदैव इंडियन वसिलिओ (इंडियन वसिलियस) कहा है। चन्द्रगुप्त के साथ इसके उपाधिरूप में प्रचलन का कारण यह

---

१. मुद्रा० ३ १५ १६,

२. चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ० ५२,

३. इ०हि० क्वा० वा ७, पृ० ४६९,

४ वेदलावण्यः सुधीरकुमार गुप्त, पृ० ५६,

५ चन्द्रगुप्त मौर्य : पृ० ५४,

है कि चन्द्रगुप्त की पत्नी यूनानी सैल्यूकस की पुत्री थी। अतः उसके कारण ही उसे ग्रीक उपाधि से अभिहित होना असंगत नहीं है।[1] उनका अनुमान है कि मुद्रा० का रचयिता संभवतः इस दन्तकथा से अवगत हो और उसने अभिज्ञान रूप से इस उपाधि का प्रयोग किया हो। तथ्य कुछ भी हो, किन्तु इतना स्पष्ट है कि नाटक में प्रयुक्त वृषल शब्द को हीनजाति सूचक तथा अपमान सूचक मानना कथमपि उचित नहीं है।

वस्तुतः भारतीय वाङ्मय के अनुशीलन से भी यही स्पष्ट होता है कि वृषल शब्द को मूलतः शूद्रार्थक मानना ही असंगत है। डा० पुरी ने लिखा है कि भाष्य में डाकू लोगों के लिये वृषल शब्द प्रयुक्त हुआ है। यही नहीं, बल्कि उन्होंने यह भी लिखा है कि ऋग्वेद में वृषल शब्द का प्रयोग है तथा यही शब्द बाद में मुद्रा० में अधार्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2] अर्थशास्त्र में दो स्थानों पर वृषल शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु वहाँ उसका अर्थ श्री जायसवाल के अनुसार अधर्मी है।[3] श्री राय चौधरी के अनुसार स्मृति तथा महाकाव्यों में निष्ठापूर्वक धर्मपालन न करने वाले क्षत्रियों को ही वृषल शब्द प्रयुक्त हुआ है।[4] वे इस शब्द का अर्थ व्रात्य भी मानते हैं।[5] श्री के. सी. चट्टोपाध्याय के अनुसार मनुस्मृति में वृषल शब्द से सम्बन्धित कई श्लोक है, पर उनके अनुसार उनका प्राचीन अर्थ अधर्मी था, बाद में शूद्र हुआ।[6] मनुस्मृतिकार के श्लोकों से स्पष्ट है कि उसके मत में वृषल का मूलतः तात्पर्य अधर्मी ही है।[7] मनुस्मृति के परिप्रेक्ष्य में इस शब्द का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि वृपल में अर्थ-परिवर्तन हुआ है। सर्वप्रथम इसका तात्पर्य अधर्मी था, किन्तु बाद में अधर्मी को शूद्र सदृश मानने के कारण वृपल भी शूद्रार्थक हो गया और अधर्मियों को वृपल (तथा शूद्र) कहा जाने लगा। चन्द्रगुप्त के लिये इस शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में विद्वानों का यह भी मत है कि मौर्य वस्तुतः क्षत्रिय था, किन्तु एक तो उसने ग्रीक राजकुमारी के साथ शादी की और सम्भवतः उसने धर्म परिवर्तन भी किया तथा उसके पौत्र अशोक ने बौद्ध धर्म में रुचि ली। अतः ब्राह्मणों ने अधर्मी के रूप में वृषल कहा है। इसलिये यहाँ मूलतः वृषल शब्द को शूद्र अर्थ में ग्रहण करना

---

१. चन्द्रगुप्त मौर्य : पृ० ५४,
२. द्रष्टव्यः इंडिया इन दि टाइम ऑफ पतंजलि: पुरी, पृ० ९०–९१,
३. द्रष्टव्यः इ०हि० क्वा० १९३०, भाग ६, पृ० २७१,
४. दि एज आफ नन्दाज एण्ड मौर्याज, पृ० १४०,
५. इंडियन कल्चर, भाग २, पृ० ५५८,
६. इ० हि० क्वा० १९३०, भाग ६, पृ० २८२–८३,
७. विशेष देखो, मनु० १०।४२, ८।१६, ३।१९ आदि,

उचित नहीं है ।[1] यही नहीं, बल्कि श्री देव के अनुसार एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल की किसी हस्तप्रति में वृषल के स्थान पर "वृषभ" है ।[2] तथा श्री पंडित ने नाटक में प्रयुक्त वृषल का तात्पर्य भी एक नवीन वृष माना है ।[3] तैलंग ने भी अपने मुद्रा० में एक स्थल पर वृषल के स्थान पर किसी आधारभूत हस्तप्रति में पाठान्तर के रूप में देव का निर्देश किया है ।[4] इससे भी ज्ञात होता है कि यह शब्द मूलतः हीन जाति बोधक नहीं है और न इस अभिप्राय से यह मुद्रा० में प्रयुक्त ही हुआ है । अतः वृषल शब्द के आधार पर चन्द्रगुप्त को शूद्र मानना सर्वथा अस्वाभाविक है ।

इसी प्रकार नाटक में "कुलहीन" शब्द का भी प्रयोग अवश्य हुआ है ।[5] किन्तु वह उक्ति स्पष्टतः राक्षस की है जोकि न केवल शत्रु है, अपितु दिवंगत नन्दों का परमभक्त भी है । इसके अतिरिक्त राक्षस की वह उक्ति विषण्णता से पूर्ण क्रोधोक्ति है तथा नन्दों को चन्द्रगुप्त की अपेक्षा प्रशस्यतर दिखलाने के अभिप्राय से ही उसमें इस शब्द का प्रयोग हुआ है । यही कारण है कि लक्ष्मी को उसने "पापे" तथा "अनभिजाते" तक कहा है, जोकि अभिधेय अर्थ की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता । अतः यहाँ "कुलहीन" शब्द का भी शाब्दिक अर्थ ग्रहण करना अस्वाभाविक है । वस्तुतः यहाँ इस शब्द का मात्र "साधारणकुल" से तात्पर्य है । श्री मुकर्जी, रायचौधरी तथा श्री हारीतकृष्णदेव आदि विद्वानों ने भी इसको हीनजाति बोधक नहीं माना है । तथा उपर्युक्त शब्दों के आधार पर मौर्य को शूद्र मानने वालों का समाधान किया है ।[6]

मुद्रा० में चन्द्रगुप्त का मौर्य के रूप में अनेक बार उल्लेख हुआ है । किन्तु, मुद्रा० में ही अन्यत्र चन्द्रगुप्त को राक्षस के स्वामी (नन्दों) का पुत्र कहा है ।[7] नन्दों को चन्द्रगुप्त का पूर्वज (गुरु) कहा है,[8] चन्द्रगुप्त को नन्दान्वय,[9] एवं नन्दों द्वारा

---

१. इ० हि० क्वा० १९३०, भाग ६, पृ० २८१–८२
२. देखो वही, पृ० २७२.
३ मुद्रा० : पंडित : भूमिका १४,
४. मुद्रा० तैलग : भूमिका, पृ० १६४, फुटनोट,
५. मुद्रा० २।८
६. चन्द्रगुप्त मौर्य एवं उसका काल, पृ० २९–३० तथा जे. बी. ओ. आर. एस. भाग ४, १९१८, पृ० ९१–८,
७. मुद्रा० ५।१९,
८. वही २।८,
९. वही ४।७–८, ५।४,

पालित-पोषित कहा है,[१] तथा राक्षस को चन्द्रगुप्त का पैतृक अमात्यमुख्य,[२] एवं पितृ-परम्परा से आगत[३], कहा है। इन उल्लेखों के आधार पर कुछ विद्वानों की धारणा रही है कि चन्द्रगुप्त नन्दों से ही सम्बन्धित था किन्तु यह धारणा उचित नहीं है।

प्रथमत: यह धारणा—जैसा कि श्री रायचौधरी ने लिखा है कि यदि वह नन्द होता तो नन्दों के प्रति घृणा व्यक्त न करता।[४]

द्वितीयत: यदि वह नन्दों से सम्बन्धित होता तो उसे भी नन्द कहा जाना चाहिये था तथा चाणक्य का कृपापात्र न होकर उसकी क्रोधाग्नि का शलभ होना चाहिये था।

तृतीयतः चन्द्रगुप्त के नन्द होने पर नाटक में उल्लिखित बलगुप्त को भी नन्द कहा जाना चाहिये था तथा वह भी चाणक्य का क्रोध-पात्र होना चाहिये था।

चतुर्थत: इतिहास के अनुसार नन्द शूद्र थे। पुराणों में नन्दों को शूद्रगर्भोद्भव, शूद्रभूमिपाल, शूद्रयोनि, शूद्रप्राय: तथा अधार्मिक लिखा है।[५] यूनानी लेखक कर्टियस, डायोडोरस प्लूटार्क तथा जस्टिन आदि ने स्पष्ट शब्दों में नन्दों को नापितपुत्र, स्वभावत: नीच, दुष्ट तथा हीनकुल का लिखा है।[६] दूसरी ओर दीर्घ निकाय, महापरिनिर्वानसूत्र, तथा महावंश आदि बौद्धग्रन्थों, परिशिष्टपर्वन, आदि जैन ग्रन्थों तथा कर्टियस आदि यूनानी लेखकों के साक्ष्य के आधार पर श्री मुकर्जी ने विस्तार से यह प्रमाणित किया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य निश्चित रूप से क्षत्रिय था।[७] यही नहीं, बल्कि पुरातात्विक प्रबल प्रमाण के रूप मे उपलब्ध स्तम्भ तथा स्मारकों के आधार पर भी इतिहासकारों ने चन्द्रगुप्त मौर्य को सूर्यवंशी क्षत्रिय प्रमाणित किया है।[८] इसके अतिरिक्त पुराण आदि अनेक साक्ष्यों के अनुसार क्षत्रान्तक नन्दों को उन्मूलित करके ब्राह्मण कौटिल्य ने पृथ्वी को मुक्त कराया तथा चन्द्रगुप्त को राज्याधिकारी चुनकर अभिषिक्त किया,[९] तो इससे भी स्पष्ट होता है कि नन्द शूद्र थे तथा क्षत्रिय

---

१. वही २।८,
२. वही ७।१२–१३,
३. वही ४।७–८,
४. दि एज आफ नन्दाज एण्ड मौर्याज, पृ० १४१,
५. चन्द्रगुप्त मौर्य एवं उसका काल: मुकर्जी, पृ० २६,
६. वही, पृ० २३,
७. वही, पृ० २२–२८,
८. इ० हि० क्वा० वाल्यूम, ३१, १९५५, पृ० १५५–६,
९. चन्द्रगुप्त मौर्य एवं उसका काल, मुकर्जी पृ० २७,

विरोधी थे। अतएव चाणक्य जैसे दृढ़प्रतिज्ञ ब्राह्मण ने नन्दोन्मूलन के पश्चात् कुलीन क्षत्रिय को ही अभिषिक्त किया होगा। अतः दोनों में सम्बन्ध मानना अनुचित है।

पंचमतः अर्थशास्त्र में जबकि कौटिल्य बारम्बार राजा के "अभिजात" होने पर बल देता है,[1] अतः यदि चन्द्रगुप्त शूद्र नन्दों का सम्बन्धी या कुटुम्बी होता तो नन्दोन्मूलन के पश्चात् चाणक्य जैसा कट्टर ब्राह्मण, शास्त्राचार्य तथा कुलीनराजा का पक्षपाती शूद्र चन्द्रगुप्त को किसी भी स्थिति में राज्य पर अभिषिक्त न करता। स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त अभिजात था, वह नन्दों से सम्बन्धित नहीं था। अतः किसी भी आधार पर नन्द तथा चन्द्रगुप्त को कुटुम्बी या परस्पर सम्बन्धित मानना सर्वथा अस्वाभाविक है।

यद्यपि मुद्रा० में नन्दों को उच्च-कुलीन, प्रथित तथा सज्जन भी कहा है[2] जो कि उपर्युक्त नन्दों से सम्बन्धित उल्लेखों के विरुद्ध प्रतीत होता है। किन्तु मुद्रा० के ये सभी उल्लेख नन्दों के परमभक्त राक्षस के मुख से तथा मलयकेतु के द्वारा तिरस्कृत होने पर विषण्ण एवं खिन्न दशा में निकले हैं। अतः ये अनैतिहासिक नहीं, अपितु स्वाभाविक, स्वामिभक्ति के द्योतक तथा नाटकीय परिस्थिति के अनुकूल हैं और इनसे नन्दों के शूद्र होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

कथासरित्सागर में चन्द्रगुप्त को 'पूर्वनन्दसुत' अवश्य लिखा है और इस आधार पर उसे नन्दों से सम्बन्धित भी माना जा सकता है, किन्तु कथा० में उसकी जाति के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। श्री देव ने चन्द्रगुप्त को पूर्वनन्दसुत मानते हुए भी उसे क्षत्रिय माना है।[3] किन्तु ऐसा मानकर भी पूर्वोक्त शूद्र नन्दराजाओं से उसका वंश तथा जातिगत सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। लगभग १८वीं सदी के पुराणों के टीकाकार रत्नगर्भ ने मौर्य शब्द को आधार बनाकर चन्द्रगुप्त को नन्द की किसी दूसरी पत्नी "मुरा" का पुत्र लिखा है। यद्यपि इसने "मुरा" को नन्दराजा की पत्न्यन्तर तो बतलाया है किन्तु उसकी जाति का उल्लेख नहीं किया है। दूसरे, इसे टीकाकार ने मौर्य शब्द से नन्द की पत्नी अवश्य खोज निकाली है, किन्तु उसे चन्द्रगुप्त की "माँ" नहीं माना जा सकता। क्योंकि मुरा से मौरेय बनता है न कि मौर्य। इस व्याकरण की त्रुटि के कारण ही विद्वानों ने इस टीकाकार के उल्लेख को त्याज्य ठहराया है। मुकर्जी के शब्दों में टीकाकार के द्वारा निर्दिष्ट "मुरा" पुराणों के प्रतिकूल है तथा उसने व्याकरण की ओर बिना ध्यान दिये चन्द्रगुप्त की "माँ"

---

१. इ० हि० क्वा० १९३०, भाग ६, पृ० २७२,

२. मुद्रा० ६।६, ५।२०,

३. देखो—इ० हि० क्वा० १९३०, भाग ६, पृ० २७२,

खोजने भर का प्रयत्न किया है। वस्तुतः मौर्य 'मुर" पुल्लिंग से बन सकता है न कि "मुरा" से।[1] अतः इस आधार पर भी मौर्य को नन्दों से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता।

मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुंढिराज ने भी नाटक के विवादास्पद परस्पर विरुद्ध उल्लेखों को सुलझाने की चेष्टा की है। इसके अनुसार सर्वार्थसिद्धि नामक नन्द राजा के दो रानियाँ थीं—बड़ी 'सुनन्दा" तथा छोटी वृषलपुत्री "मुरा"। सुनन्दा के नौ पुत्र हुए वे नन्द कहलाये। मुरा के मौर्य नामक पुत्र हुआ। उस मौर्य के एक शत पुत्रों में चन्द्रगुप्त भी एक था, जो कि नन्दों के छल से बच निकला।[2] स्पष्टतः उपर्युक्त मत का कोई भी ऐतिहासिक आधार नहीं है, केवल मुद्रा० के अटपटे उल्लेखों के आधार पर अपनी कल्पना द्वारा उन्हें सुलझाने भर के लिये यह कथा गढ़ी गई है। वास्तविकता यही है कि नन्द शूद्र थे तथा चन्द्रगुप्त मौर्य क्षत्रिय। अतः दोनों मे न तो कोई सम्बन्ध माना जा सकता है और न किसी सम्बन्ध के आधार पर मौर्य को शूद्र ही माना जा सकता है। इतिहासकारों ने अनेक बौद्ध तथा जैन साक्ष्यो के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य पिप्पलीवन में रहने वाली क्षत्रिय जाति से सम्बन्धित था।[3] लका की बौद्ध परम्परा के अनुसार विद्वान् इन्हें शाक्यों से सम्बन्धित मानते हैं।[4] जैन परम्परा के अनुसार इनका सम्बन्ध मयूर पोषकों से था।[5] डा० बुद्धप्रकाश यद्यपि मयूरपोषक या रक्षकों की अपेक्षा इनका सम्बन्ध मयूर-भक्षकों से मानना उचित समझते है,[6] किन्तु उनका मत ग्राह्य प्रतीत नहीं होता। पुरातात्विक उपलब्धियों के आधार पर विद्वानो ने मयूर को मौयवश का प्रतीक माना है तथा अधिकांश विद्वान् उनका सम्बन्ध मयूरपोपकों से मानते हैं। जो भी हो, हम यहाँ विशेष विस्तार मे नही जाना चाहते, किन्तु उपर्युक्त समस्त उल्लेखों के आधार पर मानते हैं कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय था, तथा उसको किसी भी प्रकार नन्दों से सम्बन्धित नहीं माना जा सकता।

जहाँ तक "मौर्य" अभिधान का सम्बन्ध है विद्वानो का मत है कि यह 'मोरियपुत्र या मोरिय दौहित्र' होने के कारण ही पड़ा। उनके अनुसार मौर्य नाम

---

१. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ० २८-२६,
२. देखो-मुद्रा०: तैलग उपोद्घात, २४-४४,
३. देखो-इ० हि० क्वा० १६३०, भाग ६, पृ० २७२,
४. देखो-वही भाग ३१, १६५५, पृ० १५३,
५. देखो-वही, पृ० १५५,
६. वही, पृ० १५६,

मातृकुल से सम्बन्धित मानना अधिक उचित है।[1] इसी प्रसंग में अनेक विद्वानों ने मौर्यों के पूर्व निवास स्थान के रूप में "मौरिय नगर" को खोजने की भी चेष्टा की है।[2] हम यहाँ इस अप्रासंगिक प्रपंच में नहीं पड़ना चाहते, किन्तु इतना निश्चित है कि शूद्रा मुरा की कल्पना करके चन्द्रगुप्त को मौर्य तथा शूद्र मानना एवं नन्दों से सम्बन्धित बतलाना युक्तियुक्त नहीं है। परन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि मुद्रा० के पूर्वोक्त उल्लेख निराधार तथा अनैतिहासिक हैं या विशाखदत्त को इतिहास का समुचित ज्ञान न था या उसने इतिहास को भ्रष्ट किया है। वस्तुतः तथ्य जैसा कि हम निर्देश कर चुके हैं, यह है कि विशाखदत्त ने मुद्रा० का सृजन लोक परम्परा तथा अनुश्रुतियों के आधार पर किया है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध है कि चन्द्रगुप्त के पिता के सीमान्त पर मरने के बाद उसकी विधवा माँ ने उसको पाटलिपुत्र में ही जन्म दिया था। संभवतः उसका पिता मौर्य था और विशाखदत्त इस अनुश्रुति से परिचित था। अतएव उसने नाटक में स्पष्टतः चन्द्रगुप्त को मौर्य-पुत्र कहा है।[3] इसके अतिरिक्त विशाखदत्त यह भी जानता था कि मौर्य तथा नन्दवंश का परस्पर किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। अतएव उसने मौर्य को नन्दों से भिन्न गोत्र (गोत्रान्तर) का कहलवाया है।[4] इसी प्रकार जैसा कि हम चन्द्रगुप्त के प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं तथा कथाओं का उल्लेख कर चुके हैं, उनसे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त का बाल्यकाल तथा किशोरकाल नन्दों के आश्रय में ही व्यतीत हुआ था, सभवत विशाखदत्त इनसे भी सुपरिचित था। अतएव उसने चन्द्रगुप्त को नन्दों द्वारा पालित पोषित आदि लिखा है।

यद्यपि नाटक के नन्दान्वय, स्वामिपुत्र आदि उल्लेख आपाततः अनैतिहासिक अवश्य प्रतीत होते हैं तथा कुछ विद्वान् इन्हें असंगत, पुराणों के प्रतिकूल, पुराण के टीकाकार से सग्रहीत तथा ढुण्ढिराज के उल्लेख की आधारभूत परम्परा पर आधारित मानते हैं। किन्तु नाटक के मूलभूत उद्देश्य तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि को सम्मुख रख कर सन्दर्भ आदि के परिपार्श्व में इनका परिशीलन करने पर तत्वतः ये सोद्देश्य प्रयोग प्रतीत होते हैं। सर्वप्रथम, नाटक के तृतीय अंक में कंचुकी द्वारा नन्द को चन्द्रगुप्त का "गुरु" कहलाया गया है किन्तु यहाँ गुरु का पिता आदि अर्थ लेना ही अनिवार्य नहीं है। सामान्यतः इस स्थल से ऐसा प्रतीत होता है मानो नाटककार ने

---

१. द्रष्टव्यः इ० हि० क्वा० वाल्यूम ६, १६३०, पृ० २४३,

२. द्रष्टव्य, दि होम ऑफ दि मौर्याज : इ० हि० क्वा० वाल्यूम, ३१, १६५५, इत्यादि।

३. मुद्रा० २।६,

४. वही, ६।५,

छन्द एवं अलंकार की दृष्टि से ही इस शब्द का प्रयोग किया हो । चतुर्थ अंक में भागुरायण मलयकेतु से सभाषण करते समय चन्द्रगुप्त के लिये नन्दान्वय एवं "पितृ-परंपरागत" शब्दों का प्रयोग करता है । किन्तु यह सुविदित है कि मुद्रा० विशुद्ध राजनैतिक नाटक है । मुख्यतः प्रस्तुत स्थल पर कूटनीतिपटु कौटिल्य का गुप्तचर भागुरायण राक्षस तथा मलयकेतु में फूट डालने के लिये भेदनीति का प्रयोग कर रहा है । अतएव नन्द राजा से चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध की परम्परा के आधार पर उद्देश्य विशेष के लिये यह चन्द्रगुप्त को नन्दवंशी तथा नन्दों की परम्परा से समागत बतलाता है । यहाँ दो बात ध्यान देने की हैं । एक तो यह कि यह कूटनीति के प्रयोग का स्थल है और गुप्तचर आदि छल-छद्म से ऐसे प्रयोग प्रायः किया करते हैं । अतएव भागुरायण द्वारा यहाँ दोनों में भेद कराने के लिये ऐसा किया जाना अस्वाभाविक नहीं है । दूसरे सीमान्तवासी मलयकेतु नन्दोन्मूलन में चन्द्रगुप्त का सहयोगी होने पर भी उसकी वंश परम्परा से अभिज्ञ होगा, यह आवश्यक नहीं है । यही कारण है कि विशाखदत्त ने निःसंकोच रूप से चन्द्रगुप्त को नन्दवंशी आदि बतलाकर भेदनीति का सफल तथा व्यावहारिक प्रदर्शन किया है ।

यही नहीं, बल्कि भागुरायण के द्वारा कान फूंके जाने के कारण ही पंचम अंक में पुनः स्वयं मलयकेतु राक्षस से वाद-विवाद करते हुए, चन्द्रगुप्त को राक्षस का "स्वामीपुत्र" तथा "नन्दवंशी" बतलाया है । स्पष्ट है कि इन शब्दों के आधार पर विशाखदत्त के ऐतिहासिक ज्ञान को लांछित करना उचित प्रतीत नहीं होता । वास्तव में ये चाणक्य के कूटनीतिक प्रयोग के रूप में प्रयुक्त हैं । अतएव राक्षस मलयकेतु के द्वारा प्रताड़ित होने पर कहता है—"अहो, सुश्लिष्टोऽयममूच्छत्रु-प्रयोगः ।"[1] इस प्रकार के नाटक में पर्वतक को स्वयं मरवा कर चाणक्य द्वारा राक्षस को बदनाम करना आदि कई विशुद्ध कूटनीतिक प्रयोग हैं, जिनके आधार पर मुद्राराक्षस की ऐतिहासिकता का समीक्षण नहीं किया जा सकता । यदि वस्तुतः विशाखदत्त के अनुसार चन्द्रगुप्त तथा नन्द राजा में आनुवांशिक सम्बन्ध होता तो वह नाटक में ही अन्यत्र चन्द्रगुप्त को "मौर्यपुत्र" न कहता और न 'गोत्रान्तर' का बतलाता ।

मुद्रा० के सप्तम अंक में चाणक्य के द्वारा राक्षस को चन्द्रगुप्त का पैतृक अमात्य बतलाना अवश्य कुछ खटकता है । किन्तु, हमारा अनुमान है कि नाटक में अनेकशः कूटनीतिक प्रयोगों में चन्द्रगुप्त को नन्दवंशी आदि के रूप में उल्लेख कर देने के कारण अन्त में स्वयं कार्यभार से मुक्त होने की इच्छा से तथा इस सम्बन्ध के

---

१. मुद्रा० ५।१७–१८,

निर्देश द्वारा राक्षस तथा चन्द्रगुप्त की घनिष्ठता स्थापित करने के उद्देश्य से ही इस वाक्य का प्रयोग किया गया है। संभवत यही कारण है कि नाटककार ने उपर्युक्त वाक्य के बाद ही राक्षस के द्वारा स्वगत के रूप में "योजितोऽनेनसम्बन्धः,"[1] कहकर अपने इस वाक्य प्रयोग के औचित्य की ओर संकेत किया है। अन्यथा यदि चन्द्रगुप्त नन्दवंशी होता, और राक्षस चन्द्रगुप्त का पैतृक होता तो चन्द्रगुप्त के अभिवादन करने पर एक अनभिज्ञ तथा सर्वप्रथम परिचयागत के समान—"अये। अयं चन्द्रगुप्तः" से नहीं कहता।[2]

अन्त में; यदि विशाखदत्त ने वास्तव में चन्द्रगुप्त तथा नन्दों को परस्पर सम्बन्धित मानकर नाटक लिखा होता या ऐसा ही मानकर नाटक का अध्ययन किया जाय तो नाटक का कोई विशेष महत्त्व तो ठहरता ही नहीं, बल्कि साथ ही इन परस्पर विरुद्ध उल्लेखों के कारण वह अत्यन्त अस्वाभाविक, निष्प्राण तथा अकुशल नाटककार की कृति मात्र प्रतीत होती है।[3] स्पष्ट है कि नाटक के किसी भी उल्लेख के आधार पर न तो चन्द्रगुप्त को शूद्र मानना उचित है और न नन्दवंशी ही। अतः मुद्रा० के सम्बन्ध में अनैतिहासिकता की कल्पना करना भी उचित तथा न्याय्य नहीं माना जा सकता।

मुद्राराक्षस की नाट्यकला

मुद्राराक्षस संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में तो निःसदिग्धरूप से सर्वोत्कृष्ट है ही, किन्तु अपनी नाट्यकला की विशिष्टता के कारण यह समग्र संस्कृत-नाट्य साहित्य के सफलतम नाटकों में भी अन्यतम ठहरता है। कथानक, नाट्यशिल्प तथा शैली आदि प्रत्येक दृष्टि से यह मौलिक है। विशाखदत्त ने इसमें प्राचीन संस्कृत नाट्य-परम्परा से उठकर अभिनव कथानक को मौलिक धरातल पर विन्यस्त किया है। कथानक विशुद्ध राजनैतिक है, किन्तु नाटक में ज्ञात इतिहास के भी अग्रिम अध्याय को अपनी काल्पनिक आँखों से साक्षात्कार करके सर्वप्रथम रूपायित किया है। इसमें न प्रणयकथा है, न प्रणय का रोमानी वातावरण है। यहाँ तक कि इसमें नायिका का अभाव है। यद्यपि सप्तम अंक में चन्दनदास की पत्नी की अवतारणा अवश्य हुई है, पर वह स्वल्पकालिक है। और न तो उसका प्रत्यक्षत कथानक या कथा-प्रवाह से सम्बन्ध है और न वह ऐन्द्रिक उत्तेजना से सम्पृक्त ही है। इसी प्रकार इसमें नर्मसचिव परिहासप्रिय विदूषक का भी अभाव है। यही नहीं, बल्कि मुद्राराक्षस एक

---

१. मुद्रा० ७।११–१२,

२. वही,

३. द्रष्टव्यः पूना ओरियन्ट–लिस्ट, १६४०–४१, वाल्यूम ५, पृ० ८१–८५, तथा चन्द्रगुप्त मौर्य: हरिश्चन्द्र सेठ, पृ० ६१,

ऐसा राजनैतिक षड़यंत्र–प्रधान नाटक है, जिसमें बौद्धिक गंभीरता, विचारों का दार्शनिकता तथा शैलीगत गुरुता ही अधिक है। इसका वस्तुविधान तथा चरित्र-चित्रण ही कुछ इस प्रकार का है कि दर्शक इसके गुंफानुगुंफित कथाजाल में उलझकर षड़यंत्र-सापेक्ष संघर्ष, अन्तर्द्वन्द्व तथा घातप्रतिघात के चक्रवात में खो जाता है। फलतः कहीं उसे शिथिलता, नीरसता तथा दुरूहता का आभास तक नहीं होता ।

वस्तुविधान

सात अंक के इस नाटक का कथानक भारतीय इतिहास के जाज्वल्यमान अध्याय से सम्बन्धित है, किन्तु नाटककार वहाँ से कथासूत्र के रूप में कंकालमात्र सँजोकर कल्पना द्वारा ही उसे सरस-सजीव-गतिशील नाटकीय रूप दिया है। सर्वप्रथम प्रस्तावना के अनन्तर मुक्तशिखर को स्पर्श करते हुए चाणक्य की नाटकीय अवतारणा ही अत्यधिक मार्मिक तथा महत्त्वपूर्ण है। नाटककार ने यहाँ चाणक्य की ऊर्जस्वल प्रभावपूर्ण उक्ति द्वारा एक ओर कथानक का बीज निक्षिप्त कर दिया है तो दूसरी ओर नाटकीय कार्यव्यापार के लिये पृष्ठभूमि का समुपस्थापन भी। इसके अतिरिक्त यहाँ नायक के स्वभाव, कूटनीतिक, व्यक्तित्व तथा षड़यन्त्र-प्रधान कार्यव्यापार एवं राक्षस के निग्रहरूप नाटक के उद्देश्य को अत्यन्त प्रभावात्मक प्रकार से व्यक्त कर दिया है। प्रथम अंक के प्रारम्भ मे ही सामाजिक को यह ज्ञात हो जाता है कि यह लड़ाई चाणक्य तथा राक्षस की नहीं है, अपितु चतुर महावत तथा मत्त हस्ति की है। दूसरे शब्दों में सिद्धान्तों की है। नन्दोन्मूलन की प्रतिज्ञा के पूर्ण कर लेने पर भी चाणक्य स्वामीभक्त राक्षस को वश में किये बिना नन्दोन्मूलन को अपूर्ण मानता है। अतएव वह राक्षस रूपी जंगली हाथी को अपनी नीति तथा बुद्धि की रज्जु से बांधना चाहता है,[1] जबकि राक्षस उसकी चालों से बचने के साथ–साथ अपनी स्वामीभक्ति का भी परिचय देना चाहता है। राक्षसनिग्रह के लिये चाणक्य ने गुप्तचरों का जाल बिछा रखा है, जिसके फलस्वरूप प्रतिद्वन्दी राक्षस के समस्त प्रयत्न न केवल विफल हो जाते हैं, अपितु पर्वतेश्वरवध आदि से कलंकित करके उसके पक्ष को भी क्षीण किया जाता है। राक्षस भी अपनी नीति द्वारा गुप्तचरों के माध्यम से उसका प्रतिकार तथा अपकार करता है। नाटक के अग्रिम अंकों में दोनों की इसी मंत्रशक्ति का संघर्ष तथा कूटनीतिक पैंतरेबाजी का प्रभावशाली नाटकीय प्रदर्शन है। अन्त में, चाणक्य के बुद्धि-वैभव के सामने राक्षस आत्मसमर्पण कर देता है।

इस प्रकार राक्षस यद्यपि चाणक्य से हार जाता है किन्तु राक्षस के द्वारा चन्द्रगुप्त के मंत्रिपद को अयोग्य बतलाने पर चाणक्य प्रकारान्तर से स्वयं यह व्यक्त

---

१. मुद्रा० १।२७,

कर देता है कि वस्तुत: राक्षस हार कर भी जीत गया है ।[1] चाणक्य की विजय वास्तव में उसकी नीतिकुशलता तथा मंत्रशक्ति की विजय है, जबकि राक्षस की हार होने पर भी उसकी मानवता की विजय है, हृदय की विजय है, त्याग, तपस्विता तथा बलिदान की विजय है। यही कारण है कि नाटक के पटान्त होने पर भी राक्षस की स्वामीभक्ति तथा आदर्शपूर्ण मित्रता से अभिभूत सामाजिक का हृदय राक्षस की प्रशंसा किये बिना नहीं रहता।

नाटक का वस्तुविधान अत्यन्त सुगठित है। प्रो० ध्रुव ने भारतीय नाट्य-सिद्धान्त के अनुसार समीक्षण करते हुए यह प्रमाणित किया है कि इसमें सभी संधियों का सफल प्रयोग हुआ है।[2] नाटकीय घटनाओं में अनूठी गत्यात्मकता प्रभावात्मकता तथा एकदेशीयता है। इसका रहस्य यही है कि इसमें विशाखदत्त सर्वत्र अन्वितित्रय के पालन में सचेष्ट रहा है।[3] संस्कृत नाटकों में प्राय: स्थानान्विति की उपेक्षा हुई है, पर मुद्रा० समस्त घटनाचक्र प्रमुखत: पाटलिपुत्र तथा मलयकेतु के शिविर में ही घटित होता है। मुद्रा० के नाटककार ने अंक तथा उपचूलिकाओं के समुचित विधान द्वारा कालान्विति का भी सफल निर्वाह किया है। सामान्यत: इसका समस्त कथानक १ वर्ष के लगभग का है किन्तु इस नाटक की सर्वाधिक विशेषता कार्यान्विति के निर्वाह की सफलता है और यही नाटक की सफलता के लिये अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण भी होती है। यह इस कार्यान्विति की सफलता का ही परिणाम है कि समस्त नाटक में प्रभावऐक्य है तथा शैथिल्य का अभाव है। यद्यपि पर्वतेश्वर तथा मलयकेतु के आभूषणों के दान आदि के कुछ ऐसे प्रसंग हैं, जिनका मूल कथानक से सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता, किन्तु आपातत: एवं नाटक के अन्त होते-होते समस्त घटनाओं की सार्थकता व्यक्त होती है तथा सभी मूलकथा में समाहित हो जाती है। कार्य के सतत प्रवाह के कारण ही कथाधारा में प्रवाह, प्रभाव तथा एकरसता है और यही कारण है कि पाश्चात्य समालोचकों ने भी इसे सराहा है।

चरित्र-चित्रण :

विशाखदत्त की सशक्त लेखनी ने चरित्र-चित्रण में भी अपूर्व सफलता प्राप्त की है। सामान्यत: चरित्रगत विविधता आदि की दृष्टि से संस्कृत में मृच्छकटिक को महत्त्व दिया जाता रहा है, किन्तु मुद्रा० उससे किसी भी प्रकार पीछे नहीं है। मृच्छकटिक के समान न केवल इसमें सार्वदेशिक पात्रों का विनियोग हुआ है, अपितु चरित्र-

---

१. वही, ७।१५,
२. मुद्रा० भूमिका : प्रो० ध्रुव, पृ० १६,
३. द्रष्टव्य : इन्ट्रोडक्शन टू दि स्टडी ऑफ मुद्रा० ११५-२३,

गत विविधता का भी यहाँ अभाव नहीं है ।[1] मुद्रा०, क्योंकि एक षड्यन्त्र-प्रधान राजनैतिक नाटक है अतः इसमें सभी से सम्बन्धित अनेकविध पात्रों की अवतारणा हुई है । मुख्यतः इसमें विशाखदत्त ने वर्ग-भावना के आधार पर परस्पर विरोधी युगल पात्रों का विनियोग किया है जिससे एक ओर उसे संघर्ष-प्रधान राजनैतिक वातावरण के निर्माण में सहायता मिली है, तो दूसरी ओर चरित्र-विकास को भी पर्याप्त अवसर मिला है । मुद्रा० में दो राजा हैं, दो मंत्री हैं तथा दो मित्र हैं । निःसन्देह, संस्कृत नाटकों में यह द्वन्द्वपात्रों की अवतारणा सर्वथा अनूठी है ।

मुद्रा० में चित्रित विशाखदत्त का चाणक्य महान् कूटनीतिक, दृढप्रतिज्ञ, निस्पृह तथा वत्सल है । उसमें अपार मंत्रशक्ति तथा अटूट बुद्धिबल है । उसके कार्य इतने पेचीदे हैं तथा अक्षर-अक्षर इतना रहस्यपूर्ण है कि फल आने पर ही उसका प्रयोजन तथा सार्थकता ज्ञात होती है । राक्षस भी महान् नीतिज्ञ, निस्वार्थ तथा दृढ़ प्रतिज्ञ है किन्तु उसमें भावुकता तथा हृदयपक्ष अधिक है जो कि राजनीति के खिलाड़ी को उचित नहीं होता । यही कारण है कि वह नीति के खेल में बाजी खो बैठता है । डा० व्यास के शब्दों में चाणक्य स्पष्ट बुद्धि, आत्मविश्वासी तथा अप्रमत्त है; राक्षस भावुक कोमल, तथा गलती करने वाला है । चाणक्य की नीति गुप्त है, वह किसी पर विश्वास नहीं करता, राक्षस स्पष्ट है, दयापूर्ण है तथा हर एक पर विश्वास करता है । यह हर एक पर विश्वास करना ही राक्षस का पतन कराता है।[2] वैसे चाणक्य में भी मानवसुलभ हृदय है, अतएव वह नन्दों के तिरस्कार से तिलमिला, उठता है । वह चन्द्रगुप्त का सहृदय गुरु है, तथा शिष्यों की मन-स्थिति का पारदर्शी भी; किन्तु उसका राजनैतिक व्यक्तित्व गंभीर तथा कठोर है; जबकि राक्षस इतना अधिक भावुक है कि मृत नन्दों की स्वामीभक्ति के कारण अनेक कठिनाइयों को झेलते हुए भी चाणक्य से प्रतिशोध लेने को सन्नद्ध होता है और मित्रप्रेम के कारण ही आत्मसमर्पण करके चाणक्य के सामने घुटने टेक देता है ।

यही नहीं, बल्कि विशाखदत्त का चाणक्य कर्मवादी है अतएव वह भाग्य पर विश्वास रखने वालों को मूर्ख मानता है ।[3] वह इतना बुद्धिवादी भी है कि बुद्धिबल के रहते अनन्त शत्रुसैन्य को भी कुछ नहीं समझता,[4] जबकि राक्षस निरा भाग्यवादी है और भाग्यवादी राजनीति का सच्चा खिलाड़ी नहीं हो सकता । यद्यपि विशाखदत्त

---

१. वही, पृ० ८५,

२. सं० क० दर्शन : पृ० ३७३,

३. दैवमविद्वान्स : प्रमाणयन्ति मुद्रा०,

४. मुद्रा० १।२६,

का चाणक्य क्रोधी अवश्य है, किन्तु उसका क्रोध आत्मसम्मान पर आँच आने पर ही व्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त विशाखदत्त ने इस क्रोध व्यक्ति द्वारा उसके प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तित्व को भी मूर्तरूप देने की सफल चेष्टा की है।

चन्द्रगुप्त का चरित्र भी मलयकेतु के ठीक विपरीत है, और इस विपरीत चरित्र-योजना द्वारा नाटककार ने चन्द्रगुप्त के चरित्र को जीवन्त रूप दिया है। विशाखदत्त का चन्द्रगुप्त एक योद्धा, पुरुषार्थी उदात्तचरित्र तथा आज्ञा-पालक है। वह इतना विनम्र है कि प्रतिद्वन्दी राक्षस भी उसकी विनम्रता तथा गुरुभक्ति का प्रशंसक है; जबकि मलयकेतु अहंम्मन्य, उद्धत, राज्यलोलुप तथा उच्छृंखल है। वह इतना अविवेकी है कि शत्रु के जाल में फँसकर हितैषी राक्षस को अपशब्दों से तिरस्कार करके निष्कासित कर देता है। इसी प्रकार विशाखदत्त ने अन्य पात्रों को भी सजीव तथा प्राणवान रूप दिया है। यहाँ तक कि विद्वानों के अनुसार मुद्राराक्षस के पात्र तथा मृच्छकटिक से भी अधिक जीवन्त हैं।[1] वस्तुतः मुद्रा० के सभी पात्र वैयक्तिकता से सम्पन्न हैं तथा सभी का सफल चरित्र-चित्रण हुआ है। वह विशाखदत्त की सशक्त लेखनी का चमत्कार ही है कि वह गुरु गंभीर विषय को बिना हल्के-फुल्के वातावरण के लोकप्रिय बनाने में सफल हुआ है।

मुद्रा० के नायक के सम्बन्ध में भी पर्याप्त विवाद है। कुछ विद्वान् चन्द्रगुप्त को नायक मानते हैं तो कुछ राक्षस को और कुछ चाणक्य को। डा० देवस्थली ने राक्षस को ही नायक माना है।[2] सामान्यतः वे नाटक के शीर्षक तथा उसके भावुक पक्ष एवं संघर्षशील व्यक्तित्व आदि के कारण उसमें पक्षपात दिखाते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि वह प्रतिनायक है। भावुकता की अधिकता एक राजनैतिक व्यक्तित्व की दृष्टि से उसकी कमजोरी है। इसी प्रकार उसका सतत संघर्ष करना तथा उत्थान-पतन से निकलकर भी सफलता प्राप्त न करना उसकी अशक्ति तथा पराजय का ही द्योतक है। उसे नायक मानने पर वास्तव में मुद्रा० का कोई महत्त्व ही नहीं रह जायगा और न तब इसका अंगीरस वीर रहेगा। हाँ, भारतीय सिद्धान्त के पक्षपाती चन्द्रगुप्त को अवश्य नायक मानना चाहेंगे, किन्तु नाटक के सूक्ष्म अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विशाखदत्त ने चाणक्य को ही नायक मानकर नाट्य-सृजन किया है। चन्द्रगुप्त चाणक्य से अत्यन्त गौण है, तथा वह उसका आज्ञा-पालक मात्र है। नाटक में उसकी भूमिका महत्त्वपूर्ण नहीं है। अतः चाणक्य को ही नायक मानना उचित समझते है। क्योंकि वह आदि से अन्त तक समस्त नाटक पर छाया रहता है तथा चन्द्रगुप्त की सफलता का उसी को श्रेय है।

---

१. **देखो हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्०, दासगुप्ता, पृ० २६४,**

२. **इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ मुद्रा देवस्थली, पृ० ९६–१०१,**

शैली :

विशाखदत्त की शैली विषयानुरूप पौरुष-प्रधान तथा समस्त, पर आडम्बरहीन है। भाषा पात्रों के अनुकूल है, अतएव शौरसेनी, मागधी तथा महाराष्ट्री—तीन प्राकृतों का प्रयोग किया है। विशाखदत्त ने मुद्रा० में कलापक्ष को प्रमुखता नहीं दी है। वैसे, इसमें शरद् वर्णन आदि के प्रसंग में काव्यात्मक स्थलों का भी विनियोग हुआ है, किन्तु वह भी नाट्यप्रवाह में बाधक नहीं बने हैं। नाटक के काव्यात्मक स्थल अलंकार से बोझिल न होकर प्रासांगिक तथा मूल-विषय की अभिव्यंजना के सहयोगी बनकर ही आये हैं। छन्द भी शैली के अनुरूप हैं, अतएव स्रग्धरा तथा शार्दूलविक्रीडित जैसे छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनसे गम्भीर वातावरण के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिली है। मुद्रा० का मुख्य रस वीर है, किन्तु यहाँ वेणीसंहार के समान वीर की निष्पत्ति नहीं हुई है, जहाँ रक्तपात, मार-धाड़, गर्जन-तर्जन तथा शस्त्रास्त्रों की टंकार होती हो। यहाँ तो बौद्धिक सघर्ष तथा राजनीति के दावपेचों का ही प्रदर्शन हुआ है। कीथ के अनुसार इसमें भारतीय राजनीति को यथार्थतः व्यावहारिक प्रयोग हुआ।[1]

वस्तुतः विशाख की शैली व्यक्तित्व प्रधान है। इससे न केवल उसका व्यक्तित्व सामने आता है, अपितु पात्रों के जीते जागते व्यक्तित्व को उभारने की भी सफल चेष्टा की है। इसये दो मत नहीं कि मुद्रा० में चाणक्य के व्यक्तित्व के अनुरूप तत्कालीन राजनीति को सफलता के साथ मूर्तरूप दिया गया है। इसके अतिरिक्त, घटना, पात्र तथा समस्त वस्तु-सभार सुनियोजित सुसम्बद्ध तथा लक्ष्योन्मुखी है। नाट्यव्यापार में असाधारण त्वरा है, षड्यंत्र-प्रधान राजनैतिकता से संपृक्त घात-प्रतिघात के द्वारा वीर की सहज अभिव्यजना हुई है, ओजस्वी वातावरण का निर्माण हुआ है, प्राणवत्ता एव रसवत्ता का विनिवेश हुआ है और इसी का परिणाम है कि मुद्राराक्षस में इतिहासरस की भी सहस्र अभिसृष्टि हुई है।

सामान्यतः मुद्रा० का नाट्यविधान दृश्यात्मक है। कुछ विद्वानों ने चाणक्य तथा राक्षस की लम्बी-लम्बी स्वोक्तियों को इस दृष्टि से दोष माना है।[2] किन्तु वास्तविकता यही है कि विशाखदत्त ने उनका प्रयोग उन पात्रों के व्यक्तित्व को व्यक्त करने के लिये इस प्रकार किया है कि वह दोष नहीं प्रतीत होतीं। वह उनकी मनःस्थिति की द्योतक हैं। मुद्रा० की घटनाओं में तीव्रता तथा गत्यात्मकता आदि इसकी कुछ मुख्य विशेषतायें हैं। जिनके फलस्वरूप कुतूहल बना ही रहता है और विषय की गम्भीरता का आभास नहीं होता। वस्तुविधान की दृष्टि से यदि देखा जाय तो कृत्रिम

---

१. **संस्कृत ड्रामा : पृ० २०८,**

२. **हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्० : दासगुप्ता, पृ० २७०,**

कलह, चन्दनदास का महान् उत्सर्ग तथा राक्षस के आत्म-समर्पण का दृश्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक तथा सर्वोत्कृष्ट है। निष्कर्षतः यह नाटक प्रत्येक दृष्टि से मौलिक तथा सफल है।

सांस्कृतिक चित्रण

मुद्राराक्षस एक विशुद्ध राजनैतिक नाटक है। अतः लेखक को इसमें तत्कालीन संस्कृति के सर्वांगीण चित्रण का यथोचित अवसर नहीं मिल सका है, तथापि कुछ विद्वानों ने अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षण द्वारा तत्कालीन समाज की रूपरेखा दी है।[1] अतः हम यहाँ उसकी पुनरावृत्ति उचित नहीं समझते। तथापि संक्षिप्त सर्वेक्षण के रूप में विशेष बिन्दुओं का निर्देश करना अप्रासंगिक भी प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त, क्योंकि मुख्यत इसमें राजनैतिक सिद्धान्तों, विचारों, मान्यताओं एवं पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा अधिकांशतः इसका रूपायन अर्थशास्त्र सापेक्ष है। परन्तु प्रो० ध्रुव, श्री तैलंग तथा पंडित आदि विद्वानों ने तुलनात्मक तथा समीक्षणात्मक दृष्टि-कोण से इसकी सब राजनैतिक संवित्ति पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।[2] अतः उसका भी पिष्टपेषण करना महत्त्वपूर्ण प्रतीत नहीं होता। इसलिये यहाँ हम मुख्यत राज-नैतिक वातावरण के परिप्रेक्ष्य में ही तत्कालीन समाज तथा राजनैतिक स्थिति का संक्षिप्त एवं संश्लिष्ट विहंगावलोकन करना उचित समझेंगे।

मुद्राराक्षस कालीन समाज में वर्णव्यवस्था थी, किन्तु वर्णों की स्थिति, रूप तथा कर्म में पर्याप्त अन्तर आ गया था। ब्राह्मण दान-दक्षिणा लेते थे, नैमित्तिक भोजन भी करते थे; किन्तु उनका पहिले जैसा सम्मान तथा स्थान न था। राजनैतिक क्षेत्र में ब्राह्मणवध निन्द्य न था। ब्राह्मण सेनापति, मंत्री तथा सिपाही भी होते थे। चाणक्य पंडित, विद्वान् तथा निस्पृह अवश्य था, किन्तु उसमें ब्राह्मण सुलभ ऋजुता का अभाव था। वैश्यों को श्रेष्ठी, शब्द प्रयुक्त है तथा मुद्रा० में चन्दनदास प्राकृत भाषी है। अतः श्री राय का अनुमान है कि संभवतः इस समय वैश्यों का स्तर निम्न हो गया था।[3] किन्तु मुद्रा० में कायस्थ शकटदास को आर्य कहा है तथा वह संस्कृतभाषी है। इससे ज्ञात होता है कि समाज में कायस्थों का वैश्यों से उच्च स्थान था। वैसे कायस्थ लेखक तथा बुद्धिमान होते थे। मृच्छ० में चारुदत्त को श्रेष्ठी शब्द तो प्रयुक्त है पर यह संस्कृत भाषी है। अतः जान पड़ता है कि अब समाज में पर्याप्त अन्तर आ चुका

---

१. द्रष्टव्य : इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ मुद्रा० देवस्थली पृ० १२८–४१,

२. द्रष्टव्य : उपर्युक्त विद्वानों द्वारा संपादित मुद्रा० तथा मुद्रा० सं० आर० एस० बालिम्बे, पृ० २८–४३ तथा नोट्स पृ० १५–१६, आदि,

३. मुद्रा० : श्री शारदारंजन राय, पृ० १७,

था। नाटक में वृषल शब्द 'अवश्य' प्रयुक्त है, पर इसका तात्पर्य शूद्रों से नहीं है।[१]

मुद्रा० से तत्कालीन मित्र-मित्र, पति-पत्नी तथा पिता-पुत्र के सामाजिक संबंधों पर भी प्रकाश पड़ता है। उस समय मित्र एक दूसरे को हर्ष-पूर्वक प्राण-त्याग करने को प्रस्तुत रहते थे।[२] भयंकर रोग से पीड़ित, राजक्रोध के पात्र तथा स्त्री में आसक्त व्यक्ति जिस प्रकार अग्नि प्रवेश कर जाते थे उसी प्रकार एक मित्र दूसरे मित्र के नष्ट होने पर अग्नि में प्रविष्ट हो जाता था।[३] पत्नी का पति सर्वस्व होता था, अतः पति की मृत्यु के बाद स्त्रियाँ सती होना श्रेयस्कर समझती थीं।[४] पुत्र भी पिता की आज्ञा पालन तथा इच्छापूर्ति को कटिबद्ध होते थे।[५] विवाह संस्था के सम्बन्ध में ज्ञात होता है कि कुलवधू बड़ों में समादर रखती थी।[६] गोत्रान्तर में पुनर्विवाह हो जाते थे। पुनर्जन्म में भी विश्वास था। इसके अतिरिक्त शिखा खोलकर ब्राह्मण द्वारा प्रतिज्ञा करना, ग्रहण में विश्वास, वामाक्षिस्पंदन तथा क्षपणक-दर्शन को अनिष्ट सूचक मानना,[७] सर्प दर्शन को शुभ मानना, श्राद्ध तथा दान में विश्वास आदि लोक मान्यतायें भी प्रचलित थीं। सामान्यतः ज्योतिष आदि में अधिक विश्वास था। भवन-प्रवेश,[८] रणयात्रा,[९] तथा साधारण गमनागमन[१०] में भी लग्न, मुहूर्त, नक्षत्र तथा शकुन का ध्यान रखते थे।

धार्मिक दृष्टि से अवतारवाद का प्राबल्य था। शिव, विष्णु, वराह तथा सूर्य आदि का नाटक में उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त यमउपासक की नाटक में महत्त्व-पूर्ण अवतारणा हुई है। सामान्यतः ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त जैन तथा बौद्ध धर्म के प्रति भी विशाखदत्त ने उदारता व्यक्त की है, तथापि ज्ञात पड़ता है कि जैन धर्म के प्रति घृणा होती जा रही है। क्षपणक को अनिष्ट सूचक माना जाता था तथा उसका परिहास भी किया जाता था। वैसे बौद्धों को अज्ञानरोग का चिकित्सक भी कहा

१. विशेष देखिये, हमारा इसी अध्याय का ऐति० विवेचन,
२. मुद्रा० १।२५,
३. वही, ६।१६,
४. वही ७।३–४,
५. वही, ६।५,
६. वही ५।८,
७. वही ५।१–२,
८. वही २।१५–१६,
९. वही ४।१८–२१,
१०. वही ५।२–३,

है।[1] विशाखदत्त स्वयं ब्राह्मण धर्म में निष्ठा रखता था तथा उसने कट्टर ब्राह्मण चाणक्य के व्यक्तित्व के अनुरूप ही नाटक में ब्राह्मण-धर्म-सापेक्ष वातावरण की अभिसृष्टि की है।

मुद्रा० में मौर्यकालीन पाटलिपुत्र के सुगांग प्रासाद का भी उल्लेख हुआ है तथा तत्कालीन ऐतिहासिक उत्सव "कौमुदी महोत्सव" का भी वर्णन है।[2] इससे ज्ञात होता है कि यह एक उत्सव था जिसमें नागरिक स्त्री पुरुष ही नहीं अपितु राजा भी सोत्साह सम्मिलित होता था। मुद्रा० से यह स्पष्ट है कि यह उत्सव शरद में संभवतः कार्तिक की पूर्णिमा को मनाया जाता था। इसके अतिरिक्त भौगोलिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उल्लेख कुलूत, मलय, काश्मीर, सिन्धु तथा पारस देश का और खस, मगध, गान्धार, चेदि, हूण, शक, यवन, किरात, काम्बोज, पारसीक तथा वाह्लीक आदि का हुआ है।[3] अनेक विद्वानों ने इनकी ऐतिहासिकता तथा स्थिति के संबंध में विचार भी किया है,[4] किन्तु हूण आदि के संबंध में मतभेद है। अतएव कुछ विद्वानों ने कुछ उल्लेखों को अनैतिहासिक माना है।[5] किन्तु वास्तविकता यह है कि उपर्युक्त उल्लेखों में सामान्यतः यद्यपि मौर्यकालीन एवं वस्तु सापेक्ष देश तथा जाति का ही निर्देश किया गया है; तथापि यदि कोई १–२ उल्लेख ऐसे हो गये हों, जिनका उस काल में अस्तित्व संदिग्ध है तो उसे नाटककार के देशकाल का प्रभाव ही माना जा सकता है और वह सम्भव होने से क्षम्य है। हम तो यह स्पष्ट कर चुके हैं कि संस्कृत के नाटकों में प्रायः नाटककार के देशकाल सापेक्ष उल्लेखों की ही बहुलता होती है, किन्तु विशाखदत्त ने अर्थशास्त्र आदि का आश्रय लेकर यथासम्भव मौर्यकालीन वातावरण के अभिसृजन की सफल चेष्टा की है तब भी यदि कोई देश-काल विरुद्ध उल्लेख हो गया है तो उसे विशेष महत्त्व दिया जाना उचित प्रतीत नहीं होता।

विशाखदत्त ने अपने ऐतिहासिक नाटक में राजनैतिक तथा ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण जिस सफलता से किया है उससे मौर्यकालीन राजनीति का सजीव चित्र आँखों के सामने उतर आता है। मुद्रा० के राजनैतिक चित्रण से यह प्रकट होता है कि वह युग अभिचार का युग था। उसमें षड्यंत्रों की प्रचुरता थी। कूटनीति तथा बुद्धि के आश्रय से ही राजनीति के खेल खेले जाते थे। वैसे, वह नृपतन्त्र का युग

---

१. मुद्रा० ४।१८, ५।२,
२. देखिये, मुद्रा० २।१०, तथा तृ० अंक
३. वही १।२०, २।१२–१३, ५।११ आदि,
४. द्रष्टव्य, मुद्रा० : पंडित तथा तैलंग द्वारा संपादित,
५. मुद्रा० : पंडित, पृ० २११,

था। वही मुख्य प्रकृति होता था,[1] किन्तु वह स्वतंत्र नहीं, अपितु पराधीन प्राप्य: होता था।[2] राज्य में राजा के बाद सचिव का ही स्थान था, तंत्रभार उसी पर होता था। वही राज कार्यों का नियमन करता था।[3] किन्तु राजा कभी-कभी अमात्य का तिरस्कार भी कर देता था तथा मरवा भी सकता था। मुद्रा० में तीन सिद्धियों का उल्लेख हुआ है। सचिवायत्त, राजायत तथा उभयायत्त सिद्धि।[4] नाटक में स्पष्ट है कि तत्कालीन राज्य उभयायत्त ही था।[5] प्रभुशक्ति तथा मंत्रशक्ति दोनों के सहारे ही राज्य स्थित रह सकता है। वैसे, राजा का धर्म प्रजारक्षण था तथा वही राज्य के प्रति उत्तरदायी था,[6] किन्तु राजा की त्रुटि का दायित्व मंत्री पर ही होता था।[7] पर राजा का गौरव इसी में था कि वह मंत्री के परामर्श को महत्त्व दे।[8] राजसेवा भयावह होती है। राजा और सर्प को मुद्रा० में एक कोटि में रखा है।[9] राष्ट्रचिन्तक तथा षाड्गुण्यचिन्तक ही राज सेवा कर सकता था।[10] संधिविग्रह आदि गुणों तथा साम-दाम-दण्ड-भेद रूप उपायों द्वारा आमात्य ही राज्य संचालन में समर्थ होता था।[11] चाणक्य भी अहर्निश इसी में चिन्तनरत रहता था।[12] वैसे, इस समय भी पितृ-परम्परा से राजक्रम चलता था,[13] पर उत्तराधिकारी अयोग्य होने पर उसे राज्य से वंचित होना पड़ता था। चाणक्य के समय राजा का अभिजन होना आवश्यक था। अन्यथा गोत्रान्तर का व्यक्ति भी राज्याधिकारी हो सकता था।[14] राज्यक्रांति मंत्रियों के इशारे पर हो जाती थीं। कभी-कभी मंत्री स्वेच्छा से भी राष्ट्र तथा राजा के हित की कामना से पदत्याग कर देते थे तथा मंत्री पद की प्रतीक तलवार को दूसरे को सौंप देते थे।

---

१. मुद्रा० १।१५–१६,
२. वही, ३।४,
३. वही, १।१५–१६, ३।२३–२४,
४. वही, ३।१६-२०,
५. वही, ४।१२–१४,
६. वही, ३।४ आदि,
७. स दोष : सचिवस्यैव यदसत् कुरुतेनृप : ३।३२,
८. वही, ३।३३,
९. वही २।१–२,
१०. वही
११. वही ६।४–५,
१२. वही ७।१३,
१३. वही ४।५,
१४. वही ६।५,

नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि चाणक्य के समय द्वैराज्य के शासन-विधान की अपेक्षा एकतंत्र को ही अच्छा समझा जाता था।[1] पर्वतेश्वर को इसी कारण मरवा दिया गया था। राष्ट्रीय भावना का महत्त्व अधिक था। दण्ड व्यवस्था कठोर थी। बगावत करने वालों को प्राणहर दण्ड दिया जाता था। या तो उन्हें जिन्दा गढ़वा दिया जाता था या हाथियों से कुचलवा दिया जाता था।[2] अपराधियों को जेल में बन्दी बनाया जाता था। राजाओं के पास दुर्ग तथा विशाल सेना होती थी। हाथी तथा घुड़सवार आदि सेना के अंग होते थे। स्वदेशी सैनिकों के अतिरिक्त बाहर के मुख्यतः पहाड़ी सैनिकों का महत्त्व ज्यादा था। सैन्यावास पृथक् होता था। षड्यंत्रों के समय सैन्यावास में प्रवेश तथा निर्गमन निषिद्ध हो जाता था। राज-मुद्रा या मुद्रित पत्र लेकर ही आ जा सकते थे।[3] सैन्य-प्रयाण व्यूहबद्ध होते थे। सेना भी कोष के समान एक साधन मानी जाती थी। नाटक में कालपाशिक तथा दण्डपाशिक नामक अधिकारियों का भी उल्लेख है।[4] सम्भवतः ये पुलिस अधिकारी नगराध्यक्ष होते थे। इस समय राज्य-संचालन, शासन-व्यवस्था तथा सधि-विग्रह आदि में गुप्तचरों का बहुलतः आश्रय लिया जाता था। गुप्तचर अनेक भाषानिपुण तथा विभिन्न वेषधारण पटु होते थे। तीक्ष्ण-रस, विषचूर्ण, विषरल, विषकन्या, यंत्रतोरण तथा कूटलेख आदि का नाटक में व्यावहारिक प्रयोग हुआ है। उस समय सुरंगों का भी प्रयोग होता था। विद्वानों के अनुसार सुरंग खोदने की परम्परा सिकन्दर के बाद प्रचलित हुई। संक्षेप में, इतना ही कहा जा सकता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जिस राजनैतिक विचारधारा का विस्तृत उल्लेख हुआ है, विशाखदत्त ने मुद्रा० में नाटकीय रूप देकर उसका सफल तथा यथार्थ व्यावहारिक प्रयोग करके दिखला दिया है।

मुद्राराक्षस का महत्त्व :

उपर्युक्त सक्षिप्त समीक्षण के पश्चात् विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि समस्त संस्कृत नाट्य-साहित्य में मुद्राराक्षस का अद्वितीय महत्त्व है तथा अपना निजी स्थान है। अभिज्ञानशाकुन्तल को यदि छोड़ दें तो भवभूति के उत्तररामचरित में रससिद्धि भले ही मिल जाय, पर नाटकीयता, चरित्र-चित्रण की सफलता एवं प्रभावान्विति का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। संस्कृत के सुप्रसिद्ध वीर रसप्रधान नाटक वेणीसंहार को यदि लें, तो वह भी मुद्रा० की तुलना में असफल ही दीख पड़ता है।

---

१. मुद्रा० ३।२४–२५,
२. वही ५।२१–२२,
३. वही ५।८–१०,
४. वही १।४–५,

उसमें न तो मुद्रा० जैसी गत्यात्मकता है, न व्यापारान्विति ही है। यही नहीं, बल्कि इसका वस्तुविधान दोषपूर्ण है, शैली में कृत्रिमता तथा कलात्मक खिलवाड़ अधिक है तथा दृश्यात्मकता का अभाव है। भट्टनारायण ने इसमें मुख्यतः शैली के चमत्कार द्वारा वीर रस की उद्भावना करनी चाही है, पर जिस वीर की मुद्रा में उद्भावना हुई है। उसमें इसका सर्वथा अभाव है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से संस्कृत नाट्य-साहित्य में मृच्छ० को महत्त्व दिया जाता है। किन्तु हम स्पष्ट कर चुके हैं कि चरित्र-गत विविधता आदि की दृष्टि से मुद्रा० उससे किसी भी प्रकार कम नहीं है। बल्कि दूसरी ओर ओजस्वी एवं सशक्त शैली, गत्यात्मकता एवं प्रभावैक्य के कारण मुद्रा के चरित्र अधिक जीवन्त हैं।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में प्रतिज्ञायौगन्धरायण अवश्य ऐसा है जो वीर-प्रधान है, जिसमें स्त्री पात्र का अभाव है और जिसमें षड्यंत्र तथा कूटनीति का ही विलास है। किन्तु इसमें भी न तो ऐतिहासिक नाटकों की अनिवार्यता के अनुरूप उतना ओजस्विता है, न गत्यात्मकता है और न संघर्ष, घातप्रतिघात तथा अन्तर्द्वन्द्व से संपृक्त वातावरण है। अतः हम यही मानते हैं कि समस्त संस्कृत नाट्य-साहित्य तथा ऐतिहासिक नाटकों में मुद्रा० ही एक मात्र ऐसा नाटक है जो प्रणय के धरातल से संपृक्त विशुद्ध राजनैतिक तथा ऐतिहासिक वातावरण में विनयस्त है। जिसमें नाट्य-सुलभ नाटकीयता, प्रभावात्मकता, कार्यव्यापार की त्वरा एवं शैली में ओजस्विता, तीक्ष्णता तथा यथार्थता है। जिसकी शैली में गांभीर्य की गरिमा है, कथा धारा में समरसता तथा यथार्थपरकता है, एवं वस्तु के गठन में एक अद्भुत मौलिक व्यवस्था है।

अन्त में, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इसके ऐतिहासिक महत्त्व का मूल्यांकन करें तो वह अवश्य विवादास्पद ठहरता है। हरिकृष्णदेव ने इसे ऐतिहासिक मूर्खताओं से पूर्ण माना है,[१] तो कीथ महोदय इसे बहुत संदिग्ध मानते हैं।[२] जबकि श्री थामस इसे मौर्यवंश की स्थापना से सम्बधित घटनाओं की विहंगम रूपरेखा से युक्त मानते हैं।[३] यद्यपि हम इसकी ऐतिहासिकता पर विस्तार से विचार प्रकट कर चुके हैं और उससे स्पष्ट हो चुका है कि इसकी एकाधिक घटनायें न केवल विवादास्पद हैं, अपितु संदिग्ध भी हैं। किन्तु यह एक नाटक है तथा इसकी रचना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हुई है। अतः इसमें कितनी ऐतिहासिक घटनायें हैं इसकी अपेक्षा यह देखना अधिक महत्त्वपूर्ण है कि नाटककार ने इसमें इतिहास को भ्रष्ट तो नहीं किया है? हम सम-

---

१. संस्कृत ड्रामा, कीथ, पृ० २०५, फुटनोट,

२. इ० हि० क्वा, वाल्यूम ८ पृ० ४७६,

३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ४६७,

भते हैं कि विशाखदत्त ने इतिहास को भ्रष्ट नहीं किया है। यही नहीं, बल्कि उसने नन्दोन्मूलन की सुप्रसिद्ध ज्ञात घटना के भी आगे की अज्ञात घटनाओं को संभाव्यता एवं औचित्य के आधार पर यथार्थ एव सजीव रूप में विनयस्त करके भारतीय इतिहास में एक अध्याय जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, और यही इसकी उपलब्धि एवं सफलता है। अतः हम मुद्राराक्षस को इतिहास-रस से युक्त, ऐतिहासिकता से संपूरित उच्च कोटि का ऐतिहासिक नाटक स्वीकार करते हैं और हमारा विश्वास है कि इस प्रकार के सफल ऐतिहासिक नाटक न केवल संस्कृत में, अपितु अन्य भाषाओं में भी विरल है।

(आ) देवीचन्द्रगुप्तम् (अपखण्ड) :

देवीचन्द्रगुप्तम् नाटक अपखण्ड के रूप में प्राप्त हैं। पं० रामकृष्ण कवि ने "शृंगार प्रकाश" से दो उद्धरण खोजकर (विशाखदेव) विशाखदत्त की इस ऐतिहासिक कृति का प्राकट्य किया। सर्वप्रथम १६२३ में फ्रेंच विद्वान् सिलवाँलेवी ने "नाट्य दर्पण" से भी कुछ उद्धरण प्राप्त करके इस पर प्रकाश डाला, बाद में श्री बनर्जी ने भी प्रकाश डाला। इसी प्रकार 'नाटक लक्षणरत्नकोश,' अभिनवभारती आदि से कुछ उद्धरण मिले। इन सब के आधार पर नाटक की कुछ रूपरेखा निश्चित हुई, उन पर आधारित संभावित कथानक इस प्रकार है।

नाटक का कथानक :

रामगुप्त एक बार किसी शकपति से परास्त होकर इस प्रकार घिर गया क संधि की शर्तों को स्वीकार करने पर ही वह मुक्त हो सकता है। संधि की शर्तों के अनुसार उसे अपनी पत्नी ध्रुवदेवी शकपति को देनी है तथा अपने सरदारों की पत्नियाँ उसके सरदारों को। रामगुप्त ने इन शर्तों को स्वीकार कर लेता है। ध्रुवदेवी इस बात से बहुत दुःखी होती है। चन्द्रगुप्त उसकी इस अवस्था को देखकर छुटकारे का उपाय सोचने लगता है और वह वैताल-साधना का निश्चय करता है। किन्तु विदूषक आत्रेय के इस प्रश्न पर कि वह क्या रात्रि से बाहर जा सकेगा, उसका विचार जाता रहता है। तभी माधव सेना की दासी आती है और उसके जाने का समाचार कहकर तथा ध्रुवदेवी के वस्त्राभूषण वहीं छोड़कर ध्रुवदेवी को खोजने निकल जाती है। वस्त्राभूषणों को देखकर चन्द्रगुप्त के मन में छदम्वेश का विचार आता है। विदूषक अकेले शत्रुशिविर में जाने को तत्पर चन्द्रगुप्त से जब आशंकित होकर पूछता है, तब नायक चन्द्रगुप्त एकचारी सिंह से उदाहरण देता हुआ अपने पराक्रम, साहस तथा दृढ़ निश्चय को बतलाता है।—द्वितीय अंक के प्रारम्भ में प्रजा को आश्वासन देने के लिये ध्रुवदेवी को शत्रु को देने को प्रस्तुत रामगुप्त ध्रुवदेवी के वेश में शत्रुवध के इच्छुक चन्द्रगुप्त के प्रति मातृस्नेह प्रकट करता है। तभी

ध्रुवदेवी भी नेपथ्य में उपस्थित होकर उनकी बातें सुनती है तथा अन्य स्त्री की आशंका से मनोव्यथा व्यक्त करती है। अन्त में चन्द्रगुप्त स्त्रीवेश में शत्रु के वध के लिये शत्रु शिविर में चला जाता है–तृतीय में रामगुप्त के शिविर में कुछ साधारण पात्र चन्द्रगुप्त के साहस का बखान करते हैं, पर इसका कोई महत्त्वपूर्ण अंश प्राप्त नहीं है। इस अंक में शकवध हो जाता है। चतुर्थ अक में माधव सेना के प्रति चन्द्रगुप्त की आसक्ति व्यक्त होती है। पंचम में अपने अपाय की आशंका से चन्द्रगुप्त की कृतकोन्मत्त के रूप में अवतारणा है तथा वह जय शब्द के साथ राजकुल प्रवेश के संकल्प को व्यक्त करता है। यहाँ उन्मत्त वेश में उसके राजकुल प्रवेश की सूचना भी मिलती है। आगे का इतिवृत्त अज्ञात है।

देवी० के उपर्युक्त प्राप्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि यह नाटक ५ अंक से बड़ा रहा होगा, क्योंकि ५वें अक के उद्धरणों से नाटक का उपसहार प्रतीत नहीं होता। उपलब्ध उदाहरणों के आगे के वृत्त में रामगुप्त का वध हुआ होगा। शीर्षक के अनुसार अन्त में ध्रुव देवी का चन्द्रगुप्त के साथ परिणय आदि भी हुआ होगा। अतः कम से कम इसमें ६–७ अक रहे होंगे। प्रो० ध्रुव का भी यही मत है।[1]

देवचन्द्रगुप्त की ऐतिहासिकता :

प्रस्तुत नाटक में चन्द्रगुप्त तथा ध्रुवदेवी दोनों गुप्त इतिहास के सुप्रसिद्ध पात्र हैं। सूत्रधारिणी डा० राघवन् के अनुसार संभवतः मालविकाग्निमित्र की पंडिता कौशिकी जैसी है जो कि रानी के साथ रहती है।[2] माधवसेना गणिका है तथा आत्रेय विदूषक। डा० राघवन् के अनुसार यह प्रकरण है।[3] अतः इसका समस्त इतिवृत्त ऐतिहासिक नहीं हो सकता, तथापि नाटक के उपलब्ध अंश से यह स्पष्ट है कि इसमें नाटककार ने लोकसंश्रय के रूप में चन्द्रगुप्त, रामगुप्त, ध्रुवदेवी से संबंधित ऐतिहासिक वस्तु का मुख्यतः विनियोग किया है। किन्तु नाटक के दो अन्य पात्र रामगुप्त एवं शकपति तथा उनसे सम्बन्धित कथानक की ऐतिहासिकता विवादास्पद है। इनको अनैतिहासिक मानने वाले विद्वानों के अनुसार गुप्तवंश के लेखों से प्राप्त वंश वृक्ष में रामगुप्त का कहीं भी उल्लेख नहीं है। उसमें समुद्रगुप्त के पश्चात् चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। अतएव यह ऐतिहासिक नहीं है। किन्तु अन्य विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता के समर्थन में अनेक प्रमाण एकत्र किये हैं।

श्री गुलेरी ने (ना० प्र० पत्रिका में) "खसों के साथ ध्रुवस्वामिनी" शीर्षक

---

१. मुद्रा० भूमिका, ध्रुव, पृ० १५,

२. दि सोशल प्ले इन संस्कृत : राघवन्, पृ० ६,

३. वही, ११,

लेख में १०वीं सदी के राजशेखर की काव्यमीमांसा से एक उद्धरण दिया है। उससे ज्ञात होता है कि हिमालय के इतस्ततः कार्तिकेयनगर पर खसाधिपति द्वारा घेर लिये जाने पर खडित-साहस शर्मगुप्त ने उसे ध्रुवस्वामिनी[1] दी। डा० भंडारकर ने इस उद्धरण में उल्लिखत खस का शक ही परिवर्तित रूप माना है[2] तथा श्री उपाध्याय ने शर्म को राम का दूसरा नाम।[3] इस प्रकार इस उद्धरण से नाटक के कथानक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर प्रकाश पड़ता है। डा० सदाशिव अल्टेकर ने षष्ठ सदी के हर्षचरित से भी उद्धरण खोजा है। उसमें स्पष्टतः अरिपुर (शत्रुपुर) में स्त्रीवेश में में चन्द्रगुप्त कामुक-पति को कुचल डालने का संकेत है।[4] नवीं सदी के सुप्रसिद्ध टीकाकार शंकर की हर्षचरित की टीका में इसी उद्धरण को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शकपति ने चन्द्रगुप्त की भाभी ध्रुवदेवी की याचना की, तब चन्द्रगुप्त ने ध्रुवदेवी के वेश में स्त्रीवेश से युक्त अन्य लोगों के साथ उसे मार दिया।[5] इसी प्रकार चारक की १२वीं सदी की टीका "आयुर्वेद दीपिका" (४।१०) में चक्रपाणि ने चन्द्रगुप्त द्वारा उन्मत्त के व्याज में भ्रातादि के वध का संकेत दिया है।[6]

इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य भी उपलब्ध हैं। राष्ट्रकूट के अमोघवर्ष प्रथम के (८वीं सदी के) संजनताम्रपत्र के लेख से ज्ञात होता है कि किसी दानी गुप्तराजा ने अपने भाई को मारकर उसका राज्य तथा पत्नी का अपहरण कर लिया।[7] यद्यपि इसमें राजा का नामोल्लेख नहीं है, तब भी उसका स्पष्ट संकेत चन्द्रगुप्त की ओर है। इसी प्रकार १२वीं सदी के इतिहास ग्रंथ 'मुजमुलत्तवारीख"

---

१. दत्वारुद्धगति : खसधिमपतये देवी ध्रुवस्वामिनीम्,
यस्मात् खडितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो (सेन) नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालेय गुरुगुहाकोणात्क्वणत्किन्नरे
गीयन्ते तब कार्तिकेय नगरस्त्रीणां गणै : कीर्तयः ।। राजशेखर०,

२. मालवीय काम० वाल्यूम, पृ० १६४,

३ गुप्त सा० इति० : वासदेव उपाध्याय, भाग १, पृ० ७३,

४. अरिपुरे (गिरिपुरे) च परकलत्रकामुककामिनी वेषगुप्तो गुप्तश्चन्द्रगुप्त : शकपतिमघातयत्। हर्षचरित्,

५. शकानामाचार्य : शकाधिपति : चन्द्रगुप्तमातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमान : चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृतेन व्यापादित :।

६. लपेत्यधीयते——भ्राता विवधेन—— चन्द्रगुप्त इति।

७. हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद्देवीच्दीनस्तथा। लक्ष्यकोटिमलेखयत्किल कलौदाता स गुप्तान्वयः।

में राम का ख्याल तथा (चन्द्रगुप्त) विक्रमादित्य का बरकमारीस के रूप में उल्लेख करते हुए देवी० के कथानक से लगभग मिलती-जुलती कथा दी है।[1]

उपर्युक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि (१) रामगुप्त शक्तिहीन राजा था तथा उसे शकमुख्य ने घेर लिया था। (२) रामगुप्त चन्द्रगुप्त का बड़ा भाई था तथा ध्रुवदेवी उसकी परिणीता पत्नी। (३) संधि के रूप में ध्रुवदेवी की याचना करने पर चन्द्रगुप्त ने स्त्रीवेश में कामुक शकपति को मारा। (४) चन्द्रगुप्त ने ही उन्मत्त के वेश में भाई को भी मारा। इस प्रकार इन सब प्रमाणों से देवी० के पात्र रामगुप्त तथा शक से सम्बन्धित कथानक की ऐतिहासिकता प्रकट प्रकट हो जाती है। यद्यपि श्री उपाध्याय के अनुसार चन्द्रगुप्त ने संभवतः भाई की हत्या नहीं की, अपितु उसके प्रेरकों ने की होगी।[2] किन्तु नाटक से यही ध्वनित होता है कि अपाय की आशंका से स्वयं चन्द्रगुप्त ने ही उन्मत्त के वेश में हत्या की थी। इसके औचित्य का जहाँ तक सम्बन्ध है, वहाँ नाटक से यह स्पष्ट है कि दोनों भाइयों में पहिले घनिष्ठ प्रेम था,[3] पर शकराज की मृत्यु के बाद अवश्य मनोमालिन्य हुआ होगा।[4] डा० सहल के अनुसार इसका कारण यह है कि या तो रामगुप्त चन्द्रगुप्त को असाधारण सामर्थ्यशाली होने से अपने लिये खतरनाक समझने लगा हो, या चन्द्रगुप्त के हृदय में राज्यसिंहासन के लिये स्वभावतः महत्त्वाकांक्षा जागी हो।[5] श्री सहल ने आगे लिखा है कि राम जैसे निर्बल शासक को पाकर मंत्रियों के आत्मसम्मान को ठेस लगी होगी तथा प्रजा ने भी शक के संभावित आक्रमण से सुरक्षा के लिये योग्य शासक की आवश्यकता अनुभव की होगी। अतएव उन्होंने चन्द्रगुप्त का समर्थन किया होगा।[6] जो भी हो, यह तथ्य है कि रामगुप्त मारा गया। उसके राज्य का अधिकारी चन्द्रगुप्त ही था, अतः उसने राज्य को अधिकृत कर लिया।

इसी प्रकार नाटक से यह स्पष्ट है कि रामगुप्त तथा ध्रुवदेवी में पहिले पति-पत्नी सुलभ सामान्य सम्बन्ध था। किन्तु, रामगुप्त की मृत्यु के बाद चन्द्रगुप्त से ध्रुवदेवी का विवाह भी हुआ। आपाततः यह अवश्य अनुचित प्रतीत होता है, किन्तु यह उस समय प्रचलित नियोग प्रथा के सर्वथा अनुकूल था। मुख्यतः राम एक तो निर्बल

१. द्रष्टव्य : गुप्त सा० इति०, भाग १, पृ० ७०–७१,
२. गुप्त सा० इति०, भाग १, पृ० ७५,
३. द्रष्टव्य : समीक्षायण आदि,
४. जे० बी० ओ० आर० एस०, वाल्यूम, १४, १९२८, पृ० २३३,
५. देखिये समीक्षायण, डा० कन्हैया लाल सहल के लेख,
६. वही,

तथा विशाखदत्त के शब्दों में नपुंसक था। उसने ध्रुवदेवी का घोर तिरस्कार भी किया। दूसरे, बाद में वह मारा भी गया। अतः देवर चन्द्रगुप्त के साथ ध्रुवदेवी का परिणय न केवल शास्त्र-सम्मत था, अपितु व्यावहारिक भी।[1]

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर देवी० की ऐतिहासिकता सुव्यक्त होने पर भी रामगुप्त की मुद्रा आदि के अभाव के कारण उसे ऐतिहासिक न मानने वालों का समाधान करते हुए इतिहासकारों ने काच की मुद्राओं को राम की माना है।[2] अतएव श्री भंडारकर ने वास्तविक नाम काच माना है, राम उसका अशुद्ध।[3] श्री अल्तेकर तथा श्री उपाध्याय ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि शिलालेखों में प्रायः मुख्य वंशवृक्ष का ही उल्लेख है, जैसाकि चन्द्रगुप्त द्वितीय के बाद कुमारगुप्त प्रथम का उल्लेख है। किन्तु गोविन्द गुप्त का नहीं। जबकि उपलब्ध मुद्राओं के आधार पर उसकी ऐतिहासिकता निःसंदिग्ध है। यदि राम का भी कोई पुत्र होता तो उसका भी उल्लेख अवश्य होता। इसके अतिरिक्त एरण के लेख से यह स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त के कई पुत्र थे। अतः उनमें से एक राम ही रहा होगा। राम बड़ा था, पर कायर था अतः सम्भव है यह केवल किसी प्रान्त का शासक ही रहा होगा, जबकि पराक्रमी चन्द्रगुप्त समुद्रगुप्त को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय था अतएव उसे उत्तराधिकारी घोषित किया।[4] इस प्रकार डा० अल्तेकर, भंडारकर एव वासुदेव उपाध्याय आदि अनेक विद्वानों ने इसकी ऐतिहासिकता प्रमाणित की है।

किन्तु, यह शकमुख्य कौन था जिससे राम का युद्ध हुआ? श्री बनर्जी के अनुसार यह मथुरा का शासक था, पर अन्य विद्वान् इसे ठीक नहीं मानते।[5] डा० अल्टेकर के अनुसार यह पश्चिमी शक क्षत्रप था।[6] इसका शासन सौराष्ट्र में था। प्रो० ध्रुव के अनुसार भी नाटक में सौराष्ट्र विजय का निर्देश है।[7] नाटक में इस संघर्ष का स्थान अलिपुर लिखा है।[8] पहिले कुछ विद्वान् इसका शुद्ध रूप अरिपुत्र या

---

१. विशेष द्रष्टव्य : समीक्षायण : सहल : "क्या रामगुप्त और चन्द्रगुप्त परस्पर अनुरक्त थे।" गुप्त सा० इति० भाग १, पृ० ७५-७७,
२. गुप्त सा० इति० भाग १, पृ० ६६-६७, ७२-७३,
३. मालवीय काम० वाल्यूम, पृ० १२६,
४. द्रष्टव्य : जे. बी. ओ आर. एस. १५, १९२९, पृ० १३४-३६, गुप्त सा० इति०, भाग १, पृ० ७७,
५. गुप्त सा० इति०, भाग १ पृ० ७३,
६. जे. बी. ओ. आर. एस., भाग १४, पृ० २५,
७. मुद्रा० : ध्रुव, भूमिका, पृ० १५,
८. शत्रो स्कन्धावारं अलिपुर....।

नलिनपुर मानते थे तथा कुछ गिरिपुत्र या अलिपुर ही ।[१] इसकी स्थिति कुछ ने काठियावाड़ के जूनागढ़ में मानी है ।[२] किन्तु भंडारकर के अनुसार मजूलमूत्तवारीय से यह युद्ध पर्वत-प्रदेश पर हुआ प्रतीत होता है ।[३] राजशेखर के उद्धरण से भी यही ज्ञात होता है कि यह युद्ध हिमालय प्रदेश में हुआ था । उसमें इसका स्थान कार्तिकेय नगर लिखा है । इसे गोमती की घाटी के उत्तर में अल्मोड़ा जिले बैजनाथ ग्राम के पास स्थित माना जाता है ।[४] भंडारकर के अनुसार कार्तिकेय नगर कर्तृपुर प्रदेश में स्थित था जो कि समुद्रगुप्त का एक प्रत्यन्त प्रदेश था ।[५] जो भी हो, इससे इतना स्पष्ट है कि यह युद्ध पर्वत प्रदेश में हुआ । इसी आधार पर श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि पश्चिमी क्षत्रप कितने ही बल में क्यों न बढ़ गये हों पर यह सम्भव नहीं कि क्षत्रपों ने सौराष्ट्र से आकर हिमालय में राम का सामना किया हो उस समय पंजाब में छोटे कुषाणों का राज्य था, अतः यह अधिक सम्भव प्रतीत होता है कि पंजाब में शासन करने वाली किसी बाहरी जाति ने हिमालय के पर्वतीय प्रदेश में रामगुप्त से युद्ध किया हो ।[६] हम भी श्री उपाध्याय के मत से सहमत हैं । वस्तुतः नाटककार की असावधानी या साधारणतया बाहरी जाति के लिये एक शब्द प्रयुक्त होने के कारण ही नाटक में यह शब्द प्रयुक्त हो गया है । इसकी पुष्टि विशाख के दूसरे नाटक मुद्रा० से भी होती है । उसको भी व्यापक होने से शक शब्द का प्रयोग इसी प्रकार हुआ है ।

यही नहीं, बल्कि हाल ही में श्री कृष्णदत्त वाजपेयी ने रामगुप्त की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्यों का उद्घाटन किया है । उन्होंने लिखा है कि पूर्वी मालवा में मुख्यतः एरण तथा विदिशा में रामगुप्त की कुछ ताम्रमुद्रा प्राप्त हुई है, जिन पर गरुड तथा कुछ पर शेर उत्कीर्ण है ।[७] प्रो० वाजपेयी के अनुसार संभवतः रामगुप्त को एरण का शासक भी नियुक्त किया था। जैसे भी गुप्तों का एरण से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है । उन्होंने अनेक तर्कों के आधार पर इन मुद्राओं को गुप्तवंशी रामगुप्त भी माना है । उनकी संभावना है कि संभवतः देवी० की घटना भी विदिशा में घटी हो । उन्होंने सांची और एरण के शककुमार के शिलालेख तथा

---

१. देखो, इ० ए० १९२१, जुलाई, पृ० १८१—३, तथा मुद्रा० भूमिका, ध्रुव पृ० १६,
२. मुद्रा० वही, फुटनोट,
३. मालवीय काम० वाल्यूम, पृ० १९५,
४. वही, पृ० १९४,
५. वही, पृ० ५, १९६,
६. गुप्त, सा० इति० भाग० १, पृ० ७३—७४,
७. विशेष द्रष्टव्य : इ० हि० क्वा० वाल्यूम, ३८, न० १, १९६२, पृ० ८०—८५,

पश्चिमी क्षत्रप के सिक्कों के आधार पर इसे पुष्टि करने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने और भी संभावित प्रश्नों का समाधान करने की चेष्टा भी की है। वैसे इन नवीन खोज से यह पुनः प्रमाणित हो जाता है कि रामगुप्त ऐतिहासिक व्यक्ति है तथा देवी० का कथानक भी। पर जब तक इतिहासकार किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते, नाटक का ऐतिहासिक समालोचन असम्भव है। हमारा तो यह विश्वास है कि नाटक के सम्पूर्णरूप में उपलब्ध होने पर ही गुप्त इतिहास से सम्बन्धित और भी अधिक और निश्चित नई जानकारी हो सकेगी।

सामान्य समालोचन :

देवीचन्द्रगुप्तम्, जैसा कि हम लिख चुके हैं, एक प्रकरण है। यद्यपि यह शंका हो सकती है कि इसका नायक ब्राह्मण, वैश्य तथा मंत्री आदि न होकर एक राजा क्यों है ? डा० राघवन् ने अभिनवभारती का निर्देश देते हुए इसका समाधान किया है।[1] किन्तु हमारी मान्यता है कि नाटक में चित्रित चन्द्रगुप्त राजा नहीं है। अतः उसकी स्त्रीवेश में तथा उन्मत्तवेश में रंगमच पर अवतारणा की है और यही कारण है कि नाटककार ने उसे नायक बनाया है। इसकी एक नायिका कुलजा है, एक गणिका। यह मृच्छकटिक के समान अनेकविध घटना तथा चरित्रों से संकुल नहीं है।[2] डा० राघवन् के अनुसार इस प्रकार का कथा विन्यास करके भी यह अत्यन्त प्रभावशाली तथा अन्वितियों से युक्त है।[3] सुगठित योजना द्वारा इसने महान् सफलता ही प्राप्त नहीं की है, अपितु छद्मवेश, हत्या, वैतालसाधना तथा पागल के अभिनय द्वारा प्रकरण-सुलभ रोचकता की उद्भावना भी की है।[4] नाटक के उपलब्ध अंश से चन्द्रगुप्त के उदात्त तथा साहसी चरित्र पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार ध्रुवदेवी की सहिष्णुता पतिभक्ति तथा नारी सुलभ स्वाभिमान के साथ तत्कालीन स्त्रियों की दशा पर भी प्रकाश पड़ता है। निःसन्देह द्वितीय अंक का छद्मवेशी चन्द्रगुप्त, रामगुप्त तथा नेपथ्य में स्थित ध्रुवदेवी का सभाषण विशाखदत्त की नाट्य-कुशलता का सर्वोत्तम उदाहरण है। इस योजना में नाटककार ने मार्मिक मनोवैज्ञानिक स्पर्श किया है। डा० राघवन् ने कवि की सौन्दर्यात्मक तथा भावनात्मक अभिव्यक्ति को भी सराहा है।[5] वैसे यह भी मुद्रा० के समान युद्ध के बाद खुलता है,

---

१. **देखो, दि सोशल प्ले इन संस्कृत : राघवन, पृ० ११,**
२. **वही,**
३. **वही,**
४. **वही,**
५. **दि सोशल प्ले इन संस्कृत, राघवन् पृ० ११,**

तथा इसमें भी सर्वप्रथम स्वोक्ति के माध्यम से ही नायक की अवतारणा है। किन्तु यह उसकी अपेक्षा, यही नहीं अपितु शैली आदि की दृष्टि से अन्य राजनैतिक नाटकों की अपेक्षा अधिक अभिव्यंजनात्मक है। सम्पूर्ण रूप में इसकी उपलब्धि होने पर, हमारा विश्वास है कि मृच्छकटिक के समान सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से संस्कृत-नाटक-साहित्य का महत्त्व बढ़ने की पूरी-पूरी संभावना है।

तृतीय-खण्ड

संस्कृत के मध्यकालीन तथा
आधुनिक ऐतिहासिक नाटक

१०
कौमुदी महोत्सव एवं हम्मीरमदमर्दन

(१) कौमुदी-महोत्सव

सर्वप्रथम कौमुदी-महोत्सव नाटक को एक हस्त-प्रति के आधार पर श्री रामकृष्ण कवि ने १९२७ में "जनरल ऑफ दि आन्ध्र हिस्टोरिकल सोसायटी वाल्यूम २ व ३ में प्रकाशित करवाया था। इसके पश्चात् म० म० एस० के० रामनाथ शास्त्री के सहयोग से श्री रामकृष्ण कवि ने ही १९२९ में दक्षिण भारतीय ग्रन्थमाला सं० ४ से इसे "कौमुदी महोत्सव—एक ऐतिहासिक नाटक" शीर्षक से संपादित किया।

नाटक का नाम :

प्रस्तुत नाटक में अन्य नाटकों के समान प्रस्तावना में नाटक का नाम नहीं दिया है। सम्पादकों ने भूमिका में बतलाया है कि नाटक की हस्तप्रति के अन्त में लेखक ने "कौमुदी-महोत्सव" लिखा है तथा प्रस्तावना में "पुनरपरः प्रत्यासीदति कौमुदी-महोत्सवः" वाक्य मिलता है।[1] इसमें विशेष रूप से "पुनः, अपरः" शब्द से इसी नाम की ओर महत्त्वपूर्ण संकेत है। अतएव उन्होंने इसको "कौमुदी-महोत्सव" के नाम से प्रकाशित किया है। प्रस्तावना के अनुसार इसका अभिनय कल्याणवर्मन् के राज्याभिषेक के समय हुआ था।

नाटककार

नाटक की प्रस्तावना में लिखित लेखक के नाम के अक्षरों को कीड़ों द्वारा खा लेने के कारण नाटककार का नाम भी विवादास्पद है। मूल नाटक की प्रस्तावना में केवल अवशिष्ट दो शब्दों के साथ वाक्य पूरा हुआ है—"........कया निबद्धम्"। संपादकों के अनुसार 'कीटभुक्ता वशिष्ट' टुकड़ों के सूक्ष्म देखने से रिक्त स्थान पर "ज" अक्षर प्रतीत होता है। क्योंकि रिक्त स्थान को दो अक्षर अपेक्षित हैं और उन शब्दों से वह स्त्री प्रतीत होती है, अतः उनका अनुमान है कि वहाँ "विज्जि" या

---

१. कौ० म० भूमिका, पृ० १,

"विज्ज" होना चाहिए। इसी अनुमान पर वाक्य को "विज्जकया निबद्धम्" के रूप में पूर्ण किया गया है।[१] स्पष्ट है कि इसकी लेखिका स्त्री थी। उसका नाम विज्जिका या विज्जका था।

किन्तु, यह केवल अनुमान है। इसकी पुष्टि में उन्होंने लिखा है कि नाटक के चतुर्थ अंक में "विजया" नाम का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है।[२] किन्तु हमें विजया तथा विज्जा का कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता है। विज्जा विद्या का प्राकृत रूप प्रतीत होता है।[३] इसके अलावा, चतुर्थ अंक के उसी श्लोक में "श्रीमन्तौ भगवन्तावनन्त-नारायणौ" भी लिखा है। अनन्त-नारायण त्रिवेन्द्रम् के मुख्य देवता हैं। अतः अनुमानतः या तो इससे लेखिका के नाम की ओर संकेत है या विजया नाम की किसी भक्त रानी का संकेत है। दासगुप्ता के अनुसार चन्द्रादित्य की रानी विजय भट्टारिका इसकी लेखिका कदापि नहीं हो सकतीं। इसकी लेखिका दण्डी के पश्चात् होना चाहिए। श्री दासगुप्ता इसका तात्पर्य देवता से ही मानते हैं।[४] उनके अनुसार विज्जिका तथा विज्जा में से लेखिका कौन थी, यह भी निश्चय नहीं है। श्री चट्टोपाध्याय भी विजया या विजया भट्टारिका को लेखिका नहीं मानते।[५] विन्टर्निट्ज ने भी इसका विज्जका से साम्य स्वीकार किया है, विजया या भट्टारिका विजया से नहीं।[६] अतः सामान्यतः विज्जका या विज्जिका को इसकी लेखिन का मानी जाती है।

किन्तु, नाटक की प्रस्तावना मे ही "कृपीवलकिशोरिका" शब्द भी उल्लिखित है।[७] इसी उल्लेख को लक्ष्य करके श्री जायसवाल ने भंडारकर के अनुसार इसकी लेखिका किशोरिका तथा उसका पिता कृषीवल माना है।[८] इसी श्लोक के चतुर्थपाद में उल्लिखित शब्द "कलभमंजरीम्" का श्री जायसवाल कलम अर्थात् लेखिनी से तात्पर्य ग्रहण करते हैं। श्री भट्टोपाध्याय ने पर्याप्त अनुशीलन के पश्चात् श्री जायसवाल की मान्यता को निराधार तथा व्यर्थ ठहराया है।[९] विन्टर्निट्ज भी इस पक्ष में

---

१. वही, पृ० १—२,
२. कौ० म० : ४।१६,
३. वही, भूमिका, पृ० १,
४. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्० : दासगुप्ता, पृ० ४७७ तथा फुटनोट,
५. इ० हि० क्वा० १४, १६३८, पृ० ६०३,
६. कु० स्वा० वाल्यूम, पृ० ३६१, फुटनोट,
७. कौ० म० १।३,
८. द्रष्टव्य : एनाल्स० ३०—३१, वाल्यूम १२, पृ० ५०, तथा जे. बी. ओ. आर. एस. १६, १६३३, पृ० ११८,
९. इ० हि० क्वा० १६३८, १४, पृ० ५८३,

नहीं है ।[1] विज्जका नाम की लेखिका संस्कृत साहित्य मे प्रसिद्ध है । उसके अनेक पद्य सुभाषित ग्रन्थों में संग्रहीत हैं । राजशेखर ने भी उसकी प्रशंसा की है । किन्तु, किशोरिका का कहीं भी उल्लेख नही मिलता । इसके अतिरिक्त उस श्लोक से भी वह लेखिका प्रतीत नहीं होती । अतः हम भी यही स्वीकार करते हैं कि इसकी लेखिका किशोरिका नहीं है । मुख्यतः जब तक अन्य प्रति या अन्य साक्ष्य नहीं मिलता, निराधार कल्पना करना उचित प्रतीत नहीं होता ।

नाटककार का समय :

हम कौमुदी महोत्सव की लेखिका विज्जिका या विज्जका को ही स्वीकार करते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश उसके सम्बन्ध में नाम के अतिरिक्त अधिक और कुछ भी ज्ञात नहीं होता है । नाटक की कथावस्तु की ऐतिहासिकता भी पर्याप्त विवादास्पद है । अतः नाटक का समय निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है । तथापि अन्यान्य सभी अन्त. बाह्य साक्ष्यों के आधार पर इसका समय निर्धारित करने का प्रयास किया गया है ।

श्री जायसवाल ने कौमुदी-महोत्सव की समग्र कथावस्तु को ऐतिहासिक मान कर नाटक के पात्र चंडसेन का चन्द्रगुप्त प्रथम से साम्य स्वीकार किया है । अतः उनकी मान्यता है कि नाटक का रचना-काल गुप्तकाल से पूर्व नहीं हो सकता है । इसके अतिरिक्त नाटक की सामाजिक तथा सांस्कृतिक दशा, उन्नत चित्रकला, भास के प्रभाव तथा कालिदास के आधार पर भी वे इसे कालिदास के निकट स्वीकार करते हैं । श्री जायसवाल की मान्यता है कि नाटक उस समय की रचना है जबकि पाटलिपुत्र में दत्तक के सूत्र-ग्रन्थों को स्त्रियाँ पढ़ा करती थीं, वे परिव्राजिका हो जाती थीं । हिन्दू देवी-देवताओं की प्रबलता थी । वर्णाश्रम धर्म के प्रति निष्ठा थी । उदयन तथा अविभारक सुपरिचित थे । शौनक तथा बन्धुमति की कथा प्रचलित थी । इन सबसे इसका समय भास की अपेक्षा कालिदास के निकट ही अधिक बैठता है । शैली आदि साहित्यिक विशेषताओं के पर्यवेक्षण के पश्चात् वह इसका रचनाकाल गुप्तकाल में अर्थात् ३४० ई० मानते हैं ।[2] जायसवाल का मत अन्य अधिकांश विद्वानों को मान्य नहीं है । प्राच्य-पाश्चात्य अनेक विद्वानों ने अन्तः बाह्य साक्ष्य के आधार पर अपने-अपने पृथक् मत दिये हैं, उनका सर्वप्रमुख आधार इसकी ऐतिहासिकता कथा-वस्तु है । इसके सम्बन्ध में हम प्रकाश डालेंगे । किन्तु हमारी यह मान्यता है कि इसको वस्तु के आधार पर मत प्रतिपादन करना, तब तक अनुचित है, जब तक कि उसकी

१. कृ० स्वा० वाल्यूम, पृ० ३६१ फुटनोट,

२. द्रष्टव्य : एनाल्स० ३०–३१, भाग १२, पृ० ५१,

प्रामाणिकता सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत न हो जाय। अतः अन्यान्य साक्ष्यों के आधार पर ही तिथि-निर्णय करना उचित है।

कौमुदी-महोत्सव के अनेक स्थलों से इस पर कालिदास का प्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है। इसमें भास के अविमारक का उल्लेख है तथा उसकी कथा-वस्तु की ओर भी संकेत किया है। इसमें "शौनकामिव बन्धुमती" के रूप में दण्डी की अवन्ति-सुन्दरी का प्रभाव भी स्पष्ट है। इस प्रकार अनेक विद्वानों ने इस पर अनेक कवियों का प्रभाव खोज निकाला है।

डा० दशरथ शर्मा ने भाषा, भाव, छन्द आदि की दृष्टि से कालिदास के साथ साम्य देखा है। यद्यपि उन्होंने इसके समय का निर्देश नहीं किया है, तथापि उनकी मान्यता है कि कालिदास का प्रभाव स्वीकार करने पर इसका समय गुप्तकाल से पूर्व ही ठहरता है। क्योंकि ये जायसवाल के समान कालिदास को गुप्तकाल में नहीं मानते हैं।[1] प्रो० मनकड़ ने भी कालिदास का प्रभाव विस्तार स स्वीकार किया है। डा० शर्मा ने विन्टर्निट्ज की आलोचना करते हुए यह भी लिखा है कि अविमारक का उल्लेख करने से नाटक को बाद का नहीं माना जा सकता।[2] क्योंकि अविमारक का उल्लेख वात्स्यायन में भी है। इसी प्रकार वे अवन्ति सुन्दरी का प्रभाव भी स्वीकार नहीं करते। इनका कथन है कि अवन्ति सुन्दरी भी विशेष मौलिक न होकर विभिन्न स्रोतों से संग्रहीत है। इनकी मान्यता है कि कौमुदी-महोत्सव तथा अवन्ति-सुन्दरी दोनों ने ही समान स्रोतों से इस प्रसंग का संग्रह किया है। उनके अनुसार नाटक के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि लेखिका कुरंगी-अविमारक के समान ही शौनक-बिन्दुमती की प्रेमकथा से परिचित थी।[3]

डा० शर्मा इस पर मुद्राराक्षस के प्रभाव को भी स्वीकार नहीं करते, और न विट् के उल्लेख के कारण ही बाद का मानते हैं।[4] उनकी मान्यता है कि विट् का रूप प्राचीन नाटकों में भी खोजा जा सकता है। श्री शर्मा चंडसेन को चन्द्र प्रथम मानकर इसकी ऐतिहासिक कथावस्तु तथा प्रस्तावना से कल्याणवर्मन् के समय अभिनीत होने के उल्लेख के कारण गुप्त-कालीन तथा उससे भी पूर्व मानते हैं न कि बाद का। रामकृष्ण कवि ने कालिदास, भारवि, भास, दंडी आदि के प्रभाव की ओर संकेत किया है।[5] श्री चट्टोपाध्याय ने

---

१. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० २१०,
२. जे. बी. ओ. आर. एस. वाल्यूम २२, १९३६, पृ० २७८,
३. वही, पृ० २८०,
४. वही, पृ० २८१,
५. कौ० म० भूमिका, पृ० ३,

भी इसी प्रकार मुद्राराक्षस, नागानन्द, हर्षचरित, भवभूति, रत्नावली का प्रभाव खोजा है।[1] पर श्री चट्टोपाध्याय, जायसवाल द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिकता में श्रद्धा नहीं रखते।

श्री चट्टोपाध्याय के अनुसार नाटक के प्रथम अंक के प्रथम श्लोक आदि के स्थलों से लेखिका पर शंकराचार्य का प्रभाव परिलक्षित होता है।[2] इसके साथ ही मुद्राराक्षस के प्रभाव के कारण; (क्योंकि ये मुद्राराक्षस का समय अवन्तिवर्मन् के समय में मानकर षष्ठ शतक मानते हैं) कौमुदी महोत्सव को षष्ठ शतक की पश्चात्वर्ती रचना मानते हैं और दंडी के प्रभाव के कारण सप्तम शतक के पश्चात् मानते हैं। अतः इनके अनुसार यह सप्तम से पूर्व का नहीं हो सकता। दूसरी ओर श्री चट्टोपाध्याय के अनुसार राजशेखर ने विज्जका का उल्लेख किया है, अतः नवम् शतक इसकी अंतिम सीमा है किन्तु इनके अनुसार राजशेखर द्वारा उल्लिखित विज्जका से इसका साम्य असंभव है। अतः यह इसे मुद्राराक्षस तथा शंकराचार्य के बाद होने से सप्तम के बाद का मानते हैं, गुप्तकाल का नहीं।[3]

श्रीकृष्णमाचारियर कौमुदी महोत्सव के अनेक स्थलों से मुद्राराक्षस, रत्नावली, तथा बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह का साम्य स्वीकार करते हैं तथा कालिदास भास एवं दंडी आदि का प्रभाव मानते हैं, तथापि नाटक में दत्तक, गौनिकपुत्र, मूलदेव, आत्ययिक दूत जैसे प्राचीन शब्दों का प्रयोग है। अतः इसका समय चतुर्भाणी के समय अर्थात् पंचम तथा षष्ठ शतक मानते हैं।[4] डा० दासगुप्ता जायसवाल द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिकता में विश्वास नहीं करते और न नाटक में प्रयुक्त दत्तक, गौनिक आदि शब्दों को तिथि-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण मानते हैं। किन्तु वह कालिदास, भारवि, दंडी तथा भवभूति के प्रभाव के आधार पर इसका समय अष्टम शतक मानते हैं।[5] विन्टर्निट्ज भी भास, कालिदास, दण्डी तथा विशाखदत्त आदि का प्रभाव स्वीकार करते हैं। अत. इसे चतुर्थ शतक में न मानकर नाटक में दत्तक शब्द तथा विट के उल्लेख के आधार पर बहुत बाद का मानते हैं।[6]

निष्कर्ष—उपर्युक्त मतों का पर्यवेक्षण करने के बाद हम किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की चेष्टा भी कर सकते हैं। सर्वप्रथम, गुप्तकालीन या इससे भी पूर्व मानने वाले श्री जाय-

---

१. द्रष्टव्य : इ० हि० क्वा० १९३८ भाग १४, पृ० ५९६–६०५,
२. वही, पृ० ५९२–६०५,
३. वही,
४. हिस्ट्री ऑफ क्लासीकल संस्कृत लिट्०, पृ० ६००,
५. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्०, पृ० ४७७,
६. कृ० स्वा० वाल्यूम, पृ० ३६२,

सवाल तथा डा० शर्मा का प्रमुख आधार कथावस्तु की ऐतिहासिकता है। किन्तु, जैसाकि हम आगे स्पष्ट करेंगे, नाटक की कथावस्तु की ऐतिहासिकता का पूर्ण निश्चय बिना किसी अन्य सुदृढ़ साक्ष्य के नहीं हो सकता। अतः हम कथानक की ऐतिहासिकता के आधार पर गुप्तकालीन रचना मानने के पक्ष में नहीं हैं। दूसरे, डा० शर्मा ने विन्टर्निट्ज की समालोचना करते समय बिना किसी सुदृढ़ तर्क के खण्डन मात्र किया है, उससे हम आश्वस्त नहीं हैं। यदि हम अविमारक का उल्लेख मान भी लें, तो यह अविमारक भी तो भास की रचना है, और यह उसका भी प्रभाव सम्भव है। इसके अलावा यह भी कहा जा सकता है कि यह नाटक नाट्यशिल्प आदि की दृष्टि से भास के समकालीन है। किन्तु वास्तविकता यह है कि यह मालवार की कृति है। अतः उस पर लघु प्रस्तावना, नान्दी का अभाव तथा स्थापना आदि प्रादेशिक नाट्य-शिल्प का ही प्रभाव है। चौथे, डा० शर्मा ने खंडन करते समय संभावनाओं का ही आश्रय लिया है। किन्तु क्या, उनके प्रतिकूल स्वीकृति के लिए भी संभावनाओं का आश्रय लेना उचित नहीं है। वास्तविकता यही है कि कौमुदी-महोत्सव पर भास, कालिदास, भारवि, भवभूति, दंडी आदि का स्पष्ट प्रभाव है, कौमुदी-महोत्सव के शिल्प एवं सरलता के कारण इसकी प्राचीनता का आभास अवश्य होता है। पर वह इसकी प्रादेशिक विशेषता है।[1] नाटक की वस्तु-योजना इतनी शिथिल तथा विशृंखल है कि यह प्रतीत होता है मानो इसका किसी अवसर विशेष के लिए शीघ्रतावश रूप-विधान किया गया हो। अतः शिल्प-विधान के आधार पर इसे प्राचीन रचना मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

रचनाकाल के सम्बन्ध में श्री रामकृष्ण कवि ने नाटक की भूमिका में एक संकेत दिया है।[2] कौमुदी महोत्सव में भगवान अनन्तनारायण का उल्लेख है।[3] यह त्रिवेन्द्रम् के प्रमुख देवता हैं तथा चन्द्रिका-जनमेजय के लेखक भी हुए हैं पर इसमें द्विवचन होने के कारण कुछ विद्वान् इस शब्द के आधार पर कोई निष्कर्ष निकालने में आपत्ति करते हैं। इसी प्रकार भरतवाक्य में "नृत्तारम्भप्रविततशिखश्चेष्टताम् नीलकण्ठो" में नीलकंठ शब्द प्रयुक्त है। नीलकण्ठ कल्याण-सौगन्धिका का लेखक था। नीलकंठ का समय लगभग ८५० ई० है। इस आधार पर यह नाटक नवम् शतक का होना चाहिए, किन्तु श्री रामकृष्ण शैली तथा शिल्प के अन्तर के कारण यह समय मनाने को प्रस्तुत नहीं है। जो भी हो, पर उपर्युक्त समालोचना से इतना स्पष्ट है कि कथावस्तु की ऐतिहासिकता के आधार पर इसे गुप्तकालीन मानना

---

१. द्रष्टव्य, कौ० म० भूमिका, पृ० २,

२ वही,

३. वही, ५।१६,

कथमपि उचित नहीं है। मुख्यत: जबकि हमें इसकी ऐतिहासिकता में पर्याप्त सन्देह है। अत: कालिदास विशाखदत्त तथा दंडी आदि के प्रभाव के आधार पर इसे सप्तम के बाद की रचना मानना ही उचित प्रतीत होता है।

नाटक का कथानक

कौमुदी महोत्सव नाटक के कथानक में राजनैतिकता तथा शृंगारिकता का मिश्रण है। प्रथम तीन अंकों में शृंगारिक कथा है। चतुर्थ में राजनैतिक है। पंचम में पुन: शृंगारिक इतिवृत्त का उपसंहार है। संक्षेप में, अंक–क्रम में कथा निम्न-प्रकार है:

प्रथम अंक में स्थापना के अनन्तर मुनिशिष्य प्रवेश करके यह सूचना देता है कि विन्ध्य में पम्पासर के समीप परम्परागत मित्र कुंजरक के किष्किन्या नामक दुर्ग मे कुमार–कल्याण–वर्मा प्रच्छन्न रूप से निवास कर रहा है तथा वैरिवर्ग द्वारा अधिकृत राज्य की प्राप्ति के उपाय से मंत्रगुप्त पाटलिपुत्र गया हुआ है। इस संक्षिप्त सूचना के साथ ही विष्कम्भक समाप्त होता है। कुमार प्रवेश करके सखियों के साथ समीपस्था राजकुमारी कीर्तिमती को देखकर आकृष्ट होता है। पूछने पर कुमार को ज्ञात होता है कि कीर्तिमती शूरसेन के राजा कीर्तिसेन की पुत्री है जो यहाँ चण्डिकायतन में विन्ध्यवासिनी की आराधना के लिए आई हुई है। यहीं विदूषक आकर यह सूचना भी देता है कि शबर एवं पुलिन्दों के कुंजरक ने मंत्रगुप्त को सहयोग का आश्वासन दिया है।

द्वितीय अंक के प्रवेशक में मधु-मंजरिका तथा भामिनिका के संभाषण द्वारा राजकुमार के प्रति आसक्ति तथा उसके द्वारा पटान्त पर राजकुमार का चित्र बनाने की सूचना मिलती है। तत्पश्चात् योगसिद्धि प्रवेश करती है। उससे ज्ञात होता है कि स्वजनों के दिवंगत हो जाने पर निर्वेद के कारण यह प्रवृज्या ग्रहण करके राज्य-राज्य भटकती हुई स्वेच्छा से मथुरा आकर कीर्तिसेन की रानी राजन्वती के साथ रहने लगी और अब उसी की पुत्री को लेकर तपोवन आयी हुई है। जब तक उसको अनुरूप पति प्राप्त नहीं होता उसी के साथ रहेगी। इसी बीच आकाशगामी श्येन के पंजे से राजकुमारी द्वारा निर्मित चित्रपट गिरता है। परिव्राजिका उसे देख कर पूर्व स्मृति के जागने से मूर्छित हो जाती है। निपुणिका आकर उसे सान्त्वना देती है। विदूषक भी इस दृश्य को देख रहा है। परिव्राजिका सम्भावना करती है कि महादेवी ने पति लोक को जाते समय जो कल्वाणश्री मुझे सौंपा था, सम्भव है सुरक्षा के कारण वह इतना बड़ा हो गया हो। निपुणिका बतलाती है कि ऐसा ही

---

१. कौ० म० ५।३३,

राजकुमार राजकुमारी ने देखा, तभी उसने वह चित्र बनाया है। परिव्राजिका बतलाती है कि पहले सुन्दरवर्मा नाम का मगधेश्वर था। उसकी रानी मदिरावती थी। उसी की धात्री यह परिव्राजिका है। दुर्भाग्य से उस राजकुल के नष्ट होने पर प्रवृज्या लेकर मथुरा में आकर रहने लगी। तभी निपुणिका इस कुमार के प्रति राजकुमारी की आसक्ति का वृतान्त सुनाती है कि विदूषक आकर राजकुमारी की आसक्ति के संबंध में बतलाता है। इसे सुनकर परिव्राजिका अपनी गोद में बढ़े हुए इन दोनों के सम्मिलन कराने का संकल्प करती है और चित्रपट पर एक छन्द लिखकर उसे विदूषक को दे देती है।

तृतीय अंक में विरहातुर कुमार के पास विदूषक जाकर चित्रपट दिखाता है तथा योगसिद्धि के सम्बन्ध में बतलाता हुआ उससे भी चित्र बनवाता है।

चतुर्थ अंक में वर्द्धमानक तथा आर्यरक्षित आते हैं। दोनों के संभाषण से ज्ञात होता है कि पहले मगध के क्षत्रिय राजा सुन्दरवर्मन् के पुत्र होने से उसने चंडसेन को गोद ले लिया, किन्तु बाद में कल्याणवर्मन् पैदा हुआ। चण्डसेन ने राज्य-लोभ के मगधकुल के वैरी लिच्छवियों से संबध स्थापित करके उनकी सहायता से कुसुमपुर को घेर लिया, युद्ध हुआ, वृद्ध सुन्दरवर्मन् ने पुत्र होने के कारण चण्डसेन नहीं मारा और स्वय मारा गया। चंडसेन राजा बन बैठा। अनेक वृद्ध मंत्रियों ने आत्महत्या करली। अनेक स्त्रियाँ महारानी के साथ जल मरी। राजा का मन्त्री मंत्रगुप्त छिप कर राजकुमार को लेकर विनय-धर धात्री के साथ वन में भाग निकला और विन्ध्य की शरण ली। मंत्रगुप्त अन्य साथी सेनापति आदि के साथ चण्डसेन के राज्य को उलटने का प्रयत्न करते हुए उचित समय की प्रतिक्षा करता रहा। एक ओर उसने सीमावर्ती कुंजरक को साथ लिया दूसरी ओर प्रजा में सुन्दरवर्मन् के गुणों का अनुस्मरण करा के प्रजा को चण्डसेन के विरोध में कर दिया। एक बार सेना के सहित चंडसेन के नगर से बाहर चले जाने पर[1] सीमावर्ती शबरपुलिंदो के द्वारा राज्यक्रांति हुई और समर्थकों के सहयोग से कल्याणवर्मा को राज्य पर प्रतिष्ठित कर दिया गया। पचम अंक में चण्डसेन की मृत्यु होने के कारण तथा कल्याणवर्मन् के राज्यलाभ पर राज्याभिषेक का आयोजन होता है। तभी कुसुमपुर मे "महोत्सव" के आयोजन की घोषणा होती है। इसी समय कीर्तिमती का विवाह होता है तथा दोनों के मधुर-मिलन के साथ नाटक समाप्त होता है।

---

१. श्री जायसवाल का अनुमान है कि इस समय चन्द्रगुप्त सम्भवतः अमरकण्टक तथा रोहितास में कहीं विद्रोहियों को दबाने में लगा हुआ था। द्रष्टव्य जे. बी ओ. आर. एस. १९३३, भाग १९ पृ० ११८,

नाट्यरचना की परिस्थिति एवं नाटक का महत्त्व

प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र के कल्याणवर्मन् के नव-राज्याभिषेक के समय ही कौमुदीमहोत्सव के समय प्रस्तुत नाटक का अभिनय हुआ। इसमें कितना सत्य है, कुछ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि प्रस्तावना में स्पष्टतः नाटक के अभिनय का उल्लेख नहीं है। यहाँ "कौमुदी महोत्सवारम्भ" का ही निर्देश है किन्तु अनुमानतः अप्रत्यक्ष रूप से लेखिका का अभिप्राय यहाँ नाटक के अभिनय से ही है। यदि यह ठीक है तो कुछ आश्चर्यजनक भी प्रतीत होता है। जिस पात्र को लेकर, जिन घटनाओं को सँजोकर नाट्य-रूप दिया गया है, उस नाटक का उसी घटना के समय अभिनय किया जा सकना सर्वथा असम्भव सा ही प्रतीत होता है और यदि यह संभव है तथा सत्य के निकट है तो निःसन्देह किसी कुशाग्रबुद्धि लेखिका की समधिक सफलता है जिसने अभिषेक तक की घटनाओं को रूपान्वित कर इसे राज्याभिषेक के समय ही अभिनेताओं को प्रस्तुत किया। नाटक के कलेवर तथा वस्तुयोजना पर यदि सूक्ष्म-दृष्टिपात करें तो प्रस्तावना का वक्तव्य सत्य प्रतीत होता है।

नाटक की वस्तु-योजना से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका विन्यास अत्यधिक शीघ्रता में किया गया है।[1] यही कारण है कि नाट्य-योजना बहुत शिथिल एवं विशृंखल है। कहीं प्रेम कथा की थेकली लगायी गयी है तो कहीं सांकेतिक राजनैतिक घटनाओं की। न कोई रस उभर पाया है, न किसी पात्र का चरित्र। न भाषा में शक्ति है न घटनाओं में गत्यात्मकता। केवल यह इसी शीघ्रतावश बेडोल सा नाटक भर बन गया है। यही नहीं, बल्कि इसी कारण लेखिका ने बहुलतः भास, कालिदास, भव ति, दंडी आदि से भाव, भाषा छन्द, आदि को ज्यों का त्यों ही ले लिया है। यही कारण है कि इसमें साहित्यिक दृष्टि से कोई विशेषता परिलक्षित नहीं होती। नाटक में सरलता तथा प्राचीन परिपाटी के अनुरूप शिल्प-प्रयोग होने के कारण कुछ विद्वान् इसे प्राचीन मानकर वैदर्भी एवं पांचाली रीति, प्रसाद गुण आदि अनेक विशेषताओं का आरोप करने का प्रयास करते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रस्तुत नाटक मालवार की प्रादेशिक विशेषताओं के कारण तद्देशीय शिल्प से संयुक्त है तथा अभिनेताओं के लिए विशेष-रूप से लिखित होने से इसमें सारल्य है। भाषा की स्वाभाविकता है, किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से नाटकीय यथार्थता, वस्तु-संविधान की परिपक्वता, चरित्र-गत विशेषता, घटनीयता, गत्यात्मकता तथा काव्यात्मकता आदि के अभाव के कारण इसका साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है।

---

१. श्री जायसवाल ने भी यह स्वीकार कर लिया है कि इसकी रचना आवश्यकता पड़ने पर कुछेक सप्ताह के अत्यन्त सीमित समय में हुई प्रतीत होती है। द्रष्टव्य एनाल्स० ३०–३१ वाल्यूम, १२, पृ० ५१,

निःसन्देह कौमुदी-महोत्सव का महत्त्व ऐतिहासिक उपादेयता के कारण माना जा सकता है। किन्तु इसके इतिवृत्त की ऐतिहासिकता के संबंध में पर्याप्त विवाद है। जो भी हो, इसके सम्पादक ने इसे "एक ऐतिहासिक नाटक" के रूप में संपादित किया है। लेखक ने इसका रूप-विधान राजनैतिक पृष्ठभूमि में किया गया है। इसके पात्रों को ऐतिहासिक रंग से रंगा गया है। ऐतिहासिक स्थान आदि के विनियोग से ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि की गयी है, अतः इसका ऐतिहासिक विश्लेषण करना आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण है।

कौमुदी महोत्सव की ऐतिहासिकता तथा काल्पनिकता :

कौमुदीमहोत्सव नाटक का कथासूत्र दो भागों में उपनिबद्ध है। प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा पंचम अंक में कुमार कल्याणवर्मन् तथा कीर्तिमती की प्रेमकथा उपनिबद्ध है। चतुर्थ में राज्यापहरण तथा राज्य-क्रान्ति आदि से संबंधित राजनैतिक कथा वर्णित है। प्रथम भाग की प्रेम-कथा तथा प्रणय-मिलन का कोई भी ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नहीं है। द्वितीय भाग के रूप में चतुर्थ अंक में वर्णित राजनैतिकता की ऐतिहासिकता के संबंध में पर्याप्त विवाद है। न कथासूत्र की ऐतिहासिकता का निश्चय है, न पात्रों की ऐतिहासिकता का। राजनैतिक कथांश की ऐतिहासिकता की खोज मिलने पर, उसी से सम्बन्धित प्रेमकथा का भी यत्किंचित् ऐतिहासिकता प्रकट हो सकती है। अतः यहाँ मूलतः उसी पर विचार करना आवश्यक है।

सामान्यतः कौमुदी महोत्सव के प्रकाशन के साथ ही भारतीय एवं पाश्चात्य इतिहासकारों ने इसकी ऐतिहासिकता पर विचार प्रकट करना प्रारम्भ किया। कुछ ने ऐतिहासिकता के समर्थन में अनेक तर्कों का प्रस्थापन किया है तो कुछ ने उनका निरास किया। तभी से आज तक निरन्तर यह समस्या अधिकाधिक उलझती ही गई है, और आज भी इसकी ऐतिहासिकता एक समस्या के रूप में विचारकों के सम्मुख उपस्थित है। यहाँ संक्षेप में हम सभी मतों का निर्देश देकर कुछ निष्कर्ष निकालने की चेष्टा करेंगे।

डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने प्रारम्भ से ही अनेक पत्र-पत्रिकाओं में इसकी ऐतिहासिकता के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत किए तथा उसी अपने मंतव्य के अनुसार अपने "भारतवर्ष के इतिहास" में इसका संशोधित रूप से उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त डा० दशरथ शर्मा आदि ने भी श्री जायसवाल के समर्थन में अनेकशः पत्र-पत्रिकाओं में लेख लिखकर ऐतिहासिकता की पुष्टि की है।[1] संक्षेप में इनके तर्क इस प्रकार हैं:—

---

१. द्रष्टव्य : जायसवाल–जे० बी० ओ० आर० एस०, वाल्यूम १९, पृ० ११३–२१, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया : ई० १५०–३५० ई०, एनाल्स ३०–३१ वाल्यूम १२, पृ० ५१-५५ आदि; डा० दशरथ शर्मा को–जे. बी. ओ आर. एस. भाग २१, पृ० ७७; वही, भाग २२, पृ० १७९–१७८; तथा मनकड को–ए. बी. ओ. आर. आइ, वाल्यूम, १६, पृ० १५५, आदि,

नाटक के अनुसार जिस समय कल्याणवर्मन छोटा था उसका वृद्ध पिता सुन्दरवर्मन् लिच्छवियों की सहायता लेकर आक्रमण करने वाले चण्डसेन द्वारा पाटलिपुत्र की रक्षा करता हुआ मार दिया गया।[1] नाटक में सुन्दरवर्मन् को मगधकुल का बतलाया है, किन्तु स्पष्टतः उसके वंश का उल्लेख नहीं है। अतः जायसवाल का अनुमान है कि वह किसी लोक-परिवार (लोक फेमिली) का था।[2] नाटक के अनुसार चण्डसेन को (पुत्राभाव के कारण) सुन्दरवर्मा ने गोद लिया था किन्तु बाद में (कल्याण के उत्पन्न होने पर) स्वयं को मगधकुल का मानकर मगधकुल के वैरी लिच्छवियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके कुसुमपुर पर आक्रमण कर दिया।[3] इस अंश से भी जायसवाल ने तात्पर्य निकाला है कि गोद जाने पर ही चण्डसेन मगध से संबन्धित हुआ। किन्तु बाद में उसने स्वयं को मगध-कुल का व्यपदेश करके मगध-कुल द्रोही लिच्छवियों से, जिन्हें नाटक में म्लेच्छ कहा है, सहायता प्राप्त कर पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। इससे स्पष्ट होता है कि वास्तव में चण्डसेन अन्य परिवार का था। उसने पुत्रकृत होने पर ही स्वयं को मगध-कुल का व्यपदेश किया।[4] नाटक में ही स्पष्टतः चण्डसेन को राजाओं में कारस्कर कहा है।[5] कारस्कर के सम्बन्ध में नाटक में वर्द्धमानक द्वारा यह भी कहलाया है कि "ऐसी जाति वाले को राज्यलक्ष्मी क्यों दी गयी।[6]" इससे स्पष्ट होता है कि वह निम्नवर्ण का था। बोधायन धर्मसूत्र के आधार पर श्री जायसवाल ने कारस्कर को निम्न जाति का बतलाया है।[7] डा० शर्मा ने भी इसका समर्थन करते हुए कारस्करों को बीकानेर का धारणीय जाट माना है।[8] जायसवाल इन्हें पंजाब के कक्कर-जाट मानते हैं जो आज भी पाए जाते हैं।[9] प्रभावती गुप्ता के एक शिलालेख में धारण-गोत्र का भी उल्लेख है।[10] श्री जायसवाल इसी धारण गोत्र की आधुनिक धारण गोत्र वाले जाटों से समानता

---

१. कौ० म० पृ० १९, ३०, ३१,
२. वही, पृ० ३०,
३. एनाल्स १२, पृ० ५२ ५३,
४. देखिये, कौ० म०, पृ० ३०,
५. एनाल्स० भाग १२, पृ० ५३,
६. कौ० म० ४।६,
७. वही, पृ० ३०,
८. एनाल्स० भाग १२, पृ० ५३,
९. जे० बी० ओ० आर० एस० भाग २२, १९३६, पृ० २७८,
१०. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया पृ० ११६,
१०. गुप्त० सा० इति० भाग १, वासुदेव उपाध्याय, पृ० १९,

बतलाते हैं। इनके मतानुसार गुप्त लोग पंजाब छोड़कर भारशिवों की आधीनता में कोशाम्बी के समीप चले गए। इस प्रकार जायसवाल गुप्तों को शूद्र मानते हैं और चण्डसेन का चन्द्रगुप्त से साम्य मानते हैं।

श्री जायसवाल ने यह भी लिखा है कि कौमुदी महोत्सव के अनुसार चन्द्रसेन ने प्रजापीड़न किया, पितृतुल्य सुन्दरवर्मन् को मारा तथा वह क्षत्रिय नहीं है।[१] उसने मगध-शत्रु लिच्छवियों से सम्बन्ध किया है, अतएव उसे "हतक" कहा गया है।[२] अल्बरूनी के आधार पर भी ये गुप्तों को निर्दयी, दुष्ट-प्रकृति के स्वीकार करते हुए कहते हैं कि हिन्दू धर्मशास्त्र में ऐसे पितृहन्ता राजा की पदच्युति का विधान है, अतः इसी परिप्रेक्ष्य में वाकाटकों के सहयोग से चन्द्रसेन को पदच्युत करके पाटलिपुत्र का राजा बनाया। इसी कारण नाटक में वर्णाश्रम धर्म के उन्मूलक चण्डसेन का उन्मूलन करके कल्याणवर्मन् के प्रति श्रद्धा प्रकट की है।[३] इनका यह भी अनुमान है कि इसी से लेखिका ने राजाओं को न कहने लायक शब्दों में लिच्छवियों को म्लेच्छ तथा चण्डसेन को कारस्कर कहा है।[४]

श्री जायसवाल का यह भी अनुमान है कि चण्डसेन, चन्द्रगुप्त प्रथम से अभिन्न था। उनका कथन है कि चन्द्रगुप्त उसका प्रादेशिक नाम था, चण्डसेन वास्तविक नाम।[५] उनकी मान्यता है कि गुप्त मगध में २७५ ई० में उदित हुए। प्रथम गुप्त राजा था बाद में घटोत्कच हुआ। चन्द्रगुप्त के पिता घटोत्कच ने अपने नाम के साथ "गुप्त" नहीं लगाया था। चन्द्रगुप्त भी अपने प्रारम्भिक उत्थान काल में (प्राकृत) चण्डसेन नाम से प्रसिद्ध था जैसाकि नाटक में है।[६] किन्तु चन्द्रगुप्त ने वंश-प्रवर्तन की भावना से "सेन" हटाकर "गुप्त" जोड़ दिया।[७] इसी के उदाहरण में अपने इतिहास में जायसवाल ने बसन्तदेव और बसन्तसेन को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है।[८] इसी मान्यता की पुष्टि में वह नाटक में उल्लिखित लिच्छवियों से सम्बन्ध करने के प्रसंग

---

१. जे० बी० ओ० आर० एस० १९, १९३३, पृ० ११७,
२. कौ० म० पृ० ३०,
३. जे० बी० ओ० आर० एस० भाग १९, १९३३, पृ० ११८,
४. कौ० म० पृ० २६, ५।१,
५. जे० बी० ओ० आर० एस० १९, १९३३, पृ० ११४,
६. एनाल्स० भाग १२, ३०—३१, पृ० ५४,
७. जे० बी० ओ० आर० एस० भाग १९, १९३३, पृ० ११३,
८. एनाल्स० भाग १२, पृ० ५४,
९. हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० ११३—१४,

को उपस्थित करते हैं।[1] डा० दशरथ शर्मा भी इसका समर्थन करते हैं।[2] गुप्तलेखों तथा सिक्कों से लिच्छवियों के साथ विवाहसम्बन्ध की पुष्टि होती है। उनसे यह भी स्पष्ट है कि लिच्छवियों के सहयोग से ही गुप्तों ने राज्योन्नति की।

कल्याण-वर्मन् ने यद्यपि चन्द्रसेन से राज्य छीन लिया था तथा नाटक में उसके मरने का भी उल्लेख है किन्तु नाटक में यह नहीं लिखा है कि वह समर्थकों ने मारा या सीमावर्ती लोगों ने। जो भी हो, नाटक से स्पष्ट है कि वह मर गया था, किन्तु जायसवाल की मान्यता है कि कल्याणवर्मन् भी ज्यादा समय राज्य पर आसीन नहीं रहा। लिच्छवियों ने अपने दोहित्र समुद्रगुप्त की उपेक्षा नहीं की होगी और अंत में समुद्रगुप्त ने कल्याणवर्मन् को अपदस्थ कर दिया होगा।[3] डा० शर्मा भी श्री जायसवाल के समर्थन में लिखते हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम के अतिरिक्त चण्डसेन और कोई नहीं हो सकता। यह वही चण्डसेन चन्द्रगुप्त था जिसने पितामह के नाम पर गुप्त वंश चलाया तथा पाटलिपुत्र पर शासन किया है। यह इतिहाससिद्ध है। इनका प्रमुख तर्क है कि चण्डसेन तथा चन्द्रगुप्त में शाब्दिक साम्य है। चण्डसेन चन्द्रगुप्त का प्राकृत रूप है।[4] इन्होंने इस प्राकृत रूप के लिए सातवाहन राजाओं के शिलालेख को प्रस्तुत किया है, तथा चण्डसेन और चन्द्रसिंह के साम्य को क्षेमेन्द्र का उदाहरण दिया है।[5] इसके अतिरिक्त अन्तः साक्ष्य के रूप में लिखा है कि नाटक (४।२) में प्राकृत रूप "चंदव्व" का सस्कृत रूप चन्द्र इव लिखा है अतः अनुमानतः चन्द्र का चण्ड ही प्राकृत रूप है। शर्मा ने इसी श्लोक में राजा की ओर छिपे अर्थ को भी खोजा है, "सधुमुखनिर्वातितमुदयरागम्" में उदय तथा निर्वतित शब्द से लिच्छवि-कुमारी के विवाह से हुए उदय से सम्बन्ध जोड़ते हैं।[6]

जायसवाल ने यह स्वीकार किया है कि नाटक से कल्याणवर्मन् के जीवन की कथा के सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं होती है और न तत्कालीन मंत्रगुप्त आदि के सम्बन्ध में ही।[7] तथापि इन्होंने यह माना है कि नाटक में कल्याणवर्मन् के पिता ने अपने को मगधकुल का कहा है। उसी का समुद्रगुप्त द्वारा उल्लिखित "कोटकुल" शब्दसाम्य है। इसके संस्थापक का नाम कोट प्रतीत होता है। संभवतः कोट के

---

१. कौ० म० पृ० ३०,
२. जे० बी० ओ० आर० एस० भाग २२, पृ० २७८,
३. द्रष्टव्य, एनाल्स भाग १२, पृ० ५४,
४. जे० बी० ओ० आर० एस० भाग २२, पृ० २७५,
५. वही, पृ० २७६,
६. जे० बी० ओ० आर० एस० भाग २२, पृ० २७५, तथा भाग २०, पृ० ७७,
७. एनाल्स० ३०—३१, भाग १२, पृ० ५२,

उत्तराधिकारी समुद्रगेन के समकालीन थे। इलाहाबाद के शिलालेख में वास्तव में "कोटकुलराज" ही शब्द है। इन्हीं मगधराजाओं के अन्त में "वर्मन्" लगता था। इनका अनुमान है कि यह परिवार निश्चित रूप से २००–२५० ई० पू० में रहा होगा।[१] उनकी यह भी मान्यता है कि पुराणों में सुन्दरवर्मन् का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि यह कोई छोटा परिवार था तथा इतने महत्व का न था कि उल्लेखनीय समझा हो।[२] कीर्तिसेन के सम्बन्ध में जायसवाल का मत है कि इसका नाम अन्यत्र नहीं मिलता। अत: यह शीघ्र ही मर गया होगा।[३]

श्री जायसवाल तथा डा० शर्मा के उपर्युक्त मत को अन्य अनेक विद्वानों ने निःसार ठहराया है। उनमें प्रमुख है विन्टरनिट्ज ए० एस० अल्तेकर, के० सी० चट्टोपाध्याय, कु० शकुन्तलाराव, तथा मजूमदार आदि।[४] हम भी उनके मत में श्रद्धा नहीं रखते। संक्षेप में हम यहाँ उपर्युक्त मान्यताओं के निरास करने वाले तर्कों का निर्देश करना उचित मानते हैं :—

श्री विन्टरनिट्ज का कथन है कि नाटक राजनैतिक पृष्ठभूमि पर रचित अवश्य है किन्तु यह गुप्तकाल की समकालीन ऐतिहासिक रचना कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि इतिहास में चण्डसेन, सुन्दरवर्मन्, कल्याणवर्मन्, कीर्तिसेन आदि किसी का नाम तक प्राप्त नहीं होता।[५] श्री जायसवाल तथा श्री शर्मा लिच्छवियों के सम्बन्ध को मुख्य आधार मानते हैं। इनके मत में वह भी गलत है। विन्टरनिट्ज ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त प्रथम, जिसका पिता घटोत्कच स्वयं मगध का शासक था। पाटलिपुत्र की राजधानी से शासन करता था। इसके अतिरिक्त यह भी प्रकट है कि चन्द्रगुप्त गुप्त-वंश में तीसरी पीढ़ी पर था और एक महाराजाधिराज था। अत: यह कैसे सम्भव है कि उसका विश्वासघाती, परराज्यापहर्ता, निंद्य चण्डसेन से साम्य हो सके।[६] श्री चट्टोपाध्याय ने लिखा है कि कौमुदीमहोत्सव को ऐतिहासिक मानने के लिए मुद्रा,

---

१. एनाल्स० ३०–३१, भाग १२, पृ० ५२–५३ तथा जे० बी० ओ० आर० एस० भाग १९ पृ० ११३,

२. एनाल्स० १२, पृ० ५५,

३. वही,

४. विशेष द्रष्टव्य, कु० स्वामी वाल्यूम, पृ० ३५९–६२, इ० कल्चर भाग ६, पृ० १००–१, इ० हि० क्वा० भाग १४, १९३९, पृ० ५८२–६०८, ई० कल्चर, वाल्यूम, १० पृ० २९–१०, वही वाल्यूम ११, पृ० ८६ और वाल्यूम ६, पृ० ४२–४३; थामस वाल्यूम १९३९, पृ० ११५–२० आदि,

५. कु० स्वामी वाल्यूम, पृ० ३६२,

६. वही,

शिलालेख, तथा अन्य कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। श्री जायसवाल लिच्छवियों के "सम्बन्ध" शब्द के आधार पर ऐतिहासिक मानकर चन्द्रगुप्त प्रथम से सम्बन्ध जोड़ते हैं किन्तु, चट्टोपाध्याय के अनुसार नाटक में केवल लिच्छवियों के साथ सम्बन्ध का ही उल्लेख है,[1] न कि लिच्छवियों के साथ विवाह का।[2]

श्री चट्टोपाध्याय ने यह भी कहा है कि विशुद्ध पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर इतिहास जबकि यह स्वीकार करता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम का पिता घटोत्कच स्वयं एक महाराज था, तब चन्द्रगुप्त का कृतकपुत्र चण्डसेन से साम्य मानना उचित नहीं है। अनेक पुरातात्विक प्रमाणों से घटोत्कच के बाद चन्द्रगुप्त का महाराजाधिराज होना सिद्ध होता है जबकि नाटक में चण्डसेन का राज्यकाल सुन्दरवर्मन् के राज्य के अपहरण के पश्चात् ही प्रारम्भ होता है।[3] इसके अतिरिक्त नाटक में स्पष्टतः यह उल्लेख है कि चण्डसेन के मरने पर कल्याणवर्मन् का राज्याभिषेक हुआ।[4] साथ ही नाटक में चण्डसेन के वंश के समूलोन्मूलन का भी संकेत है।[5] विद्वानों के अनुसार इसका तात्पर्य स्वयं चण्डसेन का अपने परिवार के उत्तराधिकारियों सहित नष्ट हो जाना है।[6] जबकि ज्ञात इतिहास के अनुसार चन्द्रगुप्त प्रथम अपनें अन्तिम समय तक शांति के साथ रहा तथा उसके कई पुत्र भी थे। अगर चन्द्रगुप्त प्रथम तथा चण्डसेन को एक भी मानें तो भी इलाहाबाद के अभिलेख तथा कौमुदी-महोत्सव का परस्पर प्रबल विरोध प्रकट है।[7]

श्री चट्टोपाध्याय ने कौमुदी महोत्सव से इलाहाबाद के शिलालेख के साथ अनेक विरोधों का उल्लेख किया है। जैसे यदि चण्डसेन चन्द्रगुप्त को एक ही माने तो इलाहाबाद के शिलालेख में वर्णित चण्डसेन के आँसू प्रेम के प्रमाणित न होकर मृत्यु के समय के होने से दुःख के ही सिद्ध होगे।[8] दूसरे, शिलालेखों से चन्द्रगुप्त की समृद्धि का ज्ञान होता है, न कि राज्यापहरण होने पर युद्ध में घायल होने का तथा घायल अवस्था में पुत्र से समस्त पृथ्वी-पालन करने के लिए कहने का। जैसाकि

---

१. कौ० म० पृ० ३०,
२. इं० हि० क्वा० भाग १४, १९३८, पृ० ५८६,
३. वही
४. कौ० म० ५।१,
५. वही, पृ० ३६,
६. थामस वाल्यूम, पृ० ११६,
७. वही, पृ० ११८ तथा इ० हि० क्वा० १४, १९३८—पृ० ५८७,
८. इ० हि० क्वा० १४, १९३८, पृ० ५८८,

श्री जायसवाल मानते हैं। ऐसे ही अनेक कारणों से दोनों का साम्य असंभव है। शिला-लेख में उत्तराधिकारियों तथा उसके जीवन की शांतिपूर्ण दशा का उल्लेख है, किन्तु जायसवाल ने अपने इतिहास में उनका भिन्न ही अर्थ किया है, जोकि सर्वथा अस्वा-भाविक है। वास्तव में शिलालेख के उल्लेख के आधार पर चन्द्रगुप्त प्रथम से चण्डसेन का साम्य सर्वथा असंभव है।[१]

श्री चट्टोपाध्याय ने श्री जायसवाल तथा डा० शर्मा द्वारा चण्डसेन तथा चन्द्रसेन शब्द के साम्य का भी निरास किया है।[२] संस्कृत का चन्द्र प्राकृत में चंड कदापि नहीं बन सकता। कुमारी शकुन्तलाराव ने भी इसका विरोध किया है।[३] नाटक में प्राकृत रूप चंदव्व का संस्कृत रूप चन्द्रद्व लिखा है,[४] जबकि अन्यत्र नाटक में संस्कृत में ही नायक को चण्डसेन लिखा है। अन्य विद्वान् भी इस साम्य को स्वीकार नहीं करते।[५]

श्री चट्टोपाध्याय के अनुसार चण्डसेन का चन्द्रगुप्त के साथ साम्य मानकर, कारस्कर (धारिणी जाट) मानना भी उचित नहीं है, तथा चण्डसेन को जन्म से कारस्कर मानना भी कौमुदी-महोत्सव के साथ न्याय्य नहीं है। नाटक से यह ज्ञात होता है कि लेखिका का अभिप्रायः वहाँ यही है कि चण्डसेन अब राजाओं में कारस्कर हो गया है।[६] नाटक में कारस्कर का तात्पर्य राजाओं के बीच विषवृक्ष के समान ही है। श्री चट्टोपाध्याय ने पाणिनि, भागवत और राजनिघटु के उल्लेख के आधार पर यही अर्थ ठीक माना है।[७] नाटक में आर्यरक्षित ने उसे "विषतरुरिव पुत्रीकृतः" कहा है तथा उसके "शीलापराध" का उल्लेख[८] किया है। स्पष्ट है कि जनता में वह अप्रिय था। अतएव यह शब्द प्रयोग किया।

कुमारी शकुन्तलाराव ने यह भी लिखा है कि कारस्कर धर्मशास्त्र के अनुसार नीच वर्ण के थे, जैसाकि नाटक में वर्धमानक के "कुत्रेदृशवर्णस्य राजश्री" शब्द से

---

१. इं०हि० क्वा०, पृ० ५८६ तथा थामस वाल्यूम, पृ० ११७,
२. इं० हि० क्वा० १४, १६३८, पृ० ५८६—६१,
३. इं० कलचर, भाग ६, ४२—४३ पृ० २३२—३३,
४. कौ० म० ४।२,
५. थामस वाल्यूम, पृ० ११६,
६. कौ० म० ४।६,
७. इं० हि० क्वा० भाग १४, १६३८, पृ० ५६१, श्री चट्टोपाध्याय कारस्करों को दक्षिण का मानते हैं।
८. कौ० म० पृ० ३०,

स्पष्ट होता है। किन्तु इतिहास से चन्द्रगुप्त कहीं भी नीच प्रतीत नहीं होता। इतिहास के अनुसार वह घटोत्कच का उत्तराधिकारी था।[१]

श्री वासुदेव उपाध्याय ने गुप्तों के लिए प्रयुक्त कारस्कर शब्द की अपनी पुस्तक "गुप्त साम्राज्य के इतिहास भाग १" में चर्चा की है। उन्होंने गुप्तों को कारस्कर के आधार पर शूद्र मानने के सभी तर्कों का विस्तार से खंडन किया है। उपाध्याय ने लिखा है कि वास्तव में इस शब्द का शब्दार्थ कोई महत्त्व नहीं रखता। नाटक में प्रयुक्त यह शब्द चण्डसेन की जाति का सूचक नहीं है, अपितु इसे चण्डसेन के स्वामीद्रोह, देश-द्रोह तथा शीलापराध जैसे पापों के लिए प्राप्त उपाधि ही मानना चाहिए।[२]

धारण गोत्र के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण का प्रमाण देते हुए उन्होंने लिखा है कि प्राचीन तथा अर्वाचीन समय में ब्राह्मणेत्तर जातियाँ अपने पुरोहितों के गोत्र को ही अपना लिया करती थीं, तथा अपने गोत्र का नामकरण पुरोहित के गोत्र के नाम पर ही कर लिया करती थी। अतः यह सम्भव है कि यह धारण गोत्र पुरोहित के गोत्र से लिया गया हो। अतएव इस शब्द के आधार पर जाटों से समता ठहराना महत्त्वहीन है।[३]

श्री उपाध्याय की मान्यता है कि सुन्दरवर्मन् क्षत्रिय था। धर्म-शास्त्र के आधार पर समान जाति को ही गोद लेने का विधान है। अतः चण्डसेन भी क्षत्रिय ठहरता है,[४] न कि शूद्र, जैसाकि जायसवाल मानते हैं।

उपाध्याय ने सिरपुर (रायपुर) मध्य प्रदेश की गुप्त राजा की एक प्रशस्ति को उद्धृत किया है, उसमें गुप्त लिखा है, जिसके आधार पर गुप्त चन्द्रवंशी ही ठहरते हैं।[५] उपाध्याय ने "मंजु-श्रीमूलकल्प" आदि ग्रन्थों के आधार पर भी यह प्रमाणित किया है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को सोमवंशी क्षत्रिय कहा गया है।[६] उपाध्याय की यह भी मान्यता है कि जैन, बौद्ध (तथा ब्राह्मण) प्रमाणों के आधार पर लिच्छवि भी क्षत्रिय सिद्ध होते हैं।[७] समुद्रगुप्त "लिच्छवि दौहित्र" था, अतः वह भी क्षत्रिय

---

१. इं० कल्चर, वाल्यूम ६, पृ० २३४,
२. गुप्त सा० इति० उपाध्याय भाग १, पृ० २०,
३. वही, पृ० २०–२१,
४. वही, पृ० २१,
५. वही,
६. वही,
७. वही, पृ० २२–२३,

था। इससे प्रकट है कि गुप्त क्षत्रिय थे, शूद्र नहीं।[१] और भी अन्यान्य प्रमाणों के आधार पर गुप्त क्षत्रिय सिद्ध होते हैं। गुप्त नाम केवल दासात्मक है "गुप्त-दासात्मकं नाम"।[२] अत गुप्तों को शूद्र मानने की धारणा नितांत निराधार है।

उपर्युक्त परिशीलन से स्पष्ट है कि कौमुदी महोत्सव की ऐतिहासिकता का मुख्य आधारभूत पात्र चण्डसेन इतिहास-सम्मत न होने पर भी ऐतिहासिकता का भ्रम उत्पन्न करता है। चण्डसेन से सम्बन्धित इतिवृत्त पर्याप्त विवादास्पद है तथा कल्पना पर आधारित है।

सुन्दरवर्मन्, कल्याणवर्मन्, कीर्तिवर्मन् तथा मंत्रगुप्त आदि की अनैतिहासिकता :

विन्टर्निट्ज, तथा श्री चट्टोपाध्याय आदि की मान्यता है कि इतिहास में चण्डसेन, सुन्दरवर्मन्, कल्याणवर्मन्, कीर्तिसेन, मंत्रगुप्त आदि किसी के भी नाम तक का उल्लेख नही है। अतः इनसे सम्बन्धित घटनाओं को ऐतिहासिक मानना उचित नहीं है।[३] वास्तव में यदि कल्याणवर्मन् को ऐतिहासिक मान भी लें, तो उसके साथ चंडसेन तथा समुद्रगुप्त ने भी लिच्छवियों के युद्ध में कीर्तिसेन के एक सम्बन्धी होने से अवश्य भाग लिया होगा, किन्तु इलाहाबाद-लेख में उसका भी नाम नहीं है।[४] इसी प्रकार वहाँ न सुन्दरवर्मन् का उल्लेख है न कीर्तिसेन का। यद्यपि जैसाकि हम लिख चुके हैं श्री जायसवाल ने सुन्दरवर्मन् के उल्लेखाभाव का कारण छोटे तथा महत्त्वहीन परिवार से सम्बन्ध बतलाया है तथा कीर्तिसेन के उल्लेखाभाव का कारण उसकी शीघ्र मृत्यु। पर, ये दोनों ही कारण आनुमानिक तथा अस्वाभाविक हैं। ऐसे अनुमान के आधार पर इतिहास को झुठलाया जाना असंभव है। इसके अतिरिक्त जायसवाल ने मंत्रगुप्त तथा कल्याणवर्मन् के उल्लेखाभाव का कारण ही कोई नहीं बतलाया। किसी भी आधार पर कल्याणवर्मन् जैसे नाटक के प्रमुख पात्र को समुद्रगुप्त के समकालीन नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त नाटक में चंडसेन के विरुद्ध राज्यक्रांति में सक्रिय भाग लेने वाले शबर, पुलिन्द आदि का उल्लेख है। चण्डसेन के बाद कल्याणवर्मन् से राज्य अधिकृत करने पर संभवतः उसे इनके विरोध का सामना करना पड़ा होगा

---

१. गुप्त सा० इति० भाग १;
२. वही, पृ० २४,
३. कृ० स्वामी वाल्यूम, पृ० ३६२, इं० हि० क्वा० १६, १६३८, पृ० ६१, थामस वाल्यूम पृ० ११६,
४. थामस वाल्यूम, पृ० ११६,

तथा इनको प्रतिशोध रूप में युद्ध करके दंड दिया होगा, किन्तु इलाहाबाद-लेख आदि में इनका कहीं भी उल्लेख नहीं है।[1]

इसके अतिरिक्त विद्वानों के अनुसार नाटक में अनेकशः कीर्तिसेन को यादव-वंशी तथा मथुरा का शासक कहा है, किन्तु इतिहास से ज्ञात होता है कि गुप्तों से पूर्व मथुरा कुशानों के अधिकार में थी। उनकी संभावना है कि कुशानों से नागों के अधिकार में चाहे चली गई हो पर यादवों के अधिकार में न थी।[2] यदि सुदूर भूत की घटना के आधार पर मथुरा का शासक यादवों को कहा है तो वह भी इतिहास-विरुद्ध है। यद्यपि मिस्टर एडवर्ड पेरिस ने लिखा है कि चण्डसेन के बाद कल्याणवर्मन् राज्य पर अधिष्ठित हुआ, किन्तु लिच्छवियों ने कल्याणवर्मन् को ज्यादा समय राज्यासीन नहीं रहने दिया होगा। उन्होंने अपने दौहित्र समुद्रगुप्त पर शीघ्र ध्यान दिया होगा। अतः या तो वह शीघ्र मारा गया या अपदस्थ कर दिया गया। यही कारण है कि समुद्रगुप्त ने कल्याणवर्मन् का विशेष महत्त्व नहीं समझा। अतएव प्रशस्ति में उल्लेख नहीं हुआ,[3] किन्तु श्री जगन्नाथ ने इस अनुमान को निःसार बतलाया है। जगन्नाथ ने लिखा है कि समुद्रगुप्त के साथ कल्याणवर्मन् का सीधे संघर्ष न होने आदि की कल्पना करना महत्त्वहीन है। जबकि समुद्रगुप्त-प्रशस्ति में अन्य अनेक विरोधियों का उल्लेख हुआ है तब कल्याणवर्मन् का न होना अनैतिहासिकता का ही कारण है। वास्तव में कल्याणवर्मन् जिससे कि चण्डसेन का सामना अवश्य हुआ था, और सम्भव है, तथाकथित लिच्छवियों के युद्ध का भी ज्ञान समुद्रगुप्त को अवश्य होगा। किन्तु इलाहाबाद-शिलालेख में इस सम्बन्ध में कोई उल्लेख न होना इस बात का प्रमाण है कि कल्याणवर्मन् गुप्तों के समकालीन नहीं था।[4] संक्षेप में उपर्युक्त अनुशीलन से स्पष्ट है कि जायसवाल आदि विद्वानों ने लिच्छवियों से सम्बन्धित भ्रामक कल्पना तथा कारस्कर आदि के कल्पित अर्थ के कारण ही नाटक के कथानक को ऐतिहासिक माना है, अन्यथा इनका सूक्ष्म अध्ययन करने पर तथा अन्य अनेक पुरातात्त्विक विरोध एवं पात्रों के नाम साम्य के अभाव आदि के कारण यह अनैतिहासिक ही ठहरता है।

कुछ अन्य विद्वानों ने भी कौमुदी-महोत्सव की कथावस्तु तथा पात्रों को अपने-अपने प्रकार से ऐतिहासिक मानने का प्रयास किया है—

---

१. थामस वाल्यूम, पृ० ११८,
२. वही, पृ० १२०,
३. दि मौखरीज़, पृ० ३८–३६,
४. थामस वाल्यूम, पृ० ११६,

(१) मिस्टर एडवर्ड पेरिस ने नाम के अन्त में वर्मन् होने के कारण शब्द-साम्य के आधार पर सुन्दरवर्मन् तथा कल्याणवर्मन् को मोखरीवंश का स्वीकार किया है।[१] किन्तु भारत में वर्मन् नामान्त अनेक राजा हुए हैं। सातवाहन के उत्तरकालीन अनेक राजाओं के नाम इसी प्रकार के थे। अतः नाम के एक भाग मात्र की समानता के आधार पर वंश निर्धारित करना उचित नहीं माना जा सकता।

(२) श्री कैलाश चन्द्र ओझा ने महरौली के चन्द्रगुप्त के लौहस्तम्भ के अभिलेख के आधार पर कौमुदीमहोत्सव के चण्डसेन से उसका साम्य स्वीकार किया है।[२] शिलालेख में चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में उल्लेख है कि उसने अपनी शक्ति के बल पर ही विशाल साम्राज्य प्राप्त किया। अतः श्री ओझा का अनुमान है कि चण्डसेन के समान ही उसने अपनी सैनिक योग्यता तथा उपलब्धि के आधार पर ऐसा किया होगा।

शिलालेख में पंजाब तथा दक्षिणी समुद्र तक चन्द्रगुप्त की विजय का उल्लेख है। इसी के आधार पर श्री ओझा का अनुमान है कि चन्द्रसेन के समान चन्द्रगुप्त ने भी लगभग समस्त उत्तर भारत पर अधिकार कर लिया होगा। महरौली का शिलालेख चन्द्रगुप्त के पूर्व-पुरुषों के सम्बन्ध में तथा उत्तराधिकारी के सम्बन्ध में पूर्णतः मौन है। अतः सम्भव है कि चन्द्रगुप्त ही अपने वंश का प्रथम संस्थापक था तथा वही अन्तिम भी। महरौली के शिलालेख के अध्ययन के बाद कुछ विद्वानों ने यह भी बतलाया है कि चन्द्रगुप्त ने अपने अंतिम समय में साम्राज्य खो दिया था। इस आधार पर चण्डसेन की चन्द्रगुप्त से समानता सुप्रकट है।

यद्यपि उपर्युक्त प्रकार से चन्द्रगुप्त-चण्डसेन का साम्य बतलाने की चेष्टा अवश्य की है किन्तु यह सभी तर्क बहुत हलके हैं। स्वयं श्री ओझा एक ओर महरौली के चन्द्रगुप्त से चण्डसेन का साम्य खोजते हैं तो दूसरी ओर वह यह कहते हैं कि चन्द्रगुप्त प्रथम कुछ इतिहासकारों के अनुसार दक्षिण के किसी राजा के अधीनस्थ रहा था। यद्यपि वह चन्द्रगुप्त प्रथम के साथ चण्डसेन का साम्य बतलाना चाहते हैं, पर जान पड़ता है कि उनका स्वयं का अपना कोई मत नहीं है। वस्तुतः चन्द्रगुप्त प्रथम से साम्य तो सम्भव ही नहीं है। यद्यपि महरौली के स्तम्भ के चन्द्रगुप्त के साम्य में बहुत समय तक विवाद रहा है किन्तु अब सामान्यतः उसका साम्य चन्द्रगुप्त द्वितीय से माना जाने लगा है।[३]

---

१. द्रष्टव्य : दि मौखरिज् : इ० ए० पेरिस, पृ० १७, तथा २३–४१,
२. द्रष्टव्य : इं० हि० वाल्यूम ३२, जून तथा सितम्बर १९५७, पृ० ४२७,
३. दि गुप्ता एम्पायर, मुकर्जी, तृ० सं०, पृ० ६६–६९,

यदि चंडसेन के साथ साम्य पर विचार भी करे तो विजय, साम्राज्यवृद्धि तथा वंशोल्लेख के अभाव के कारण चन्द्रगुप्त से चण्डसेन की समानता नहीं मानी जा सकती। चण्डसेन से समानता के लिए देखना यह है कि कौमुदी महोत्सव के चण्डसेन से किसी के चरित्र तथा तत्सम्बन्धित घटनाओं में समानता है या नहीं तथा कौमुदी-महोत्सव में उल्लिखित अन्य पात्रों का उल्लेख है या नहीं। किन्तु इस सम्बन्ध में भी महरोली का शिलालेख पूर्णत: मौन है। इसके अतिरिक्त जबकि विभिन्न इतिहासकार विद्वानों ने चन्द्रगुप्त तथा चण्डसेन का शाब्दिक साम्य तक अस्वीकृत तथा त्रुटिपूर्ण सिद्ध कर दिया है, तो दोनों में साम्य मानना सर्वथा अस्वाभाविक होगा।

सभी विद्वानों के मतों के अनुशीलन तथा नाटक के परिशीलन के पश्चात् हमें यही स्वीकार करना पड़ता है कि कौमुदीमहोत्सव की रचना राजनैतिक पृष्ठभूमि में अवश्य हुई है किन्तु इसे विशुद्ध ऐतिहासिक स्वीकार नहीं किया जा सकता है। नाटक के किसी भी पात्र तथा घटना की ऐतिहासिकता इतिहास से प्रमाणित नहीं होती। वास्तविकता यही है कि नाटक की लेखिका ने इसको किसी विशेष प्रयोजन तथा विशेष परिस्थिति में लिखा है। अत यदि इसकी रचना की पृष्ठभूमि की खोज पा लें तो इसके सभी विवादास्पद रहस्य स्वत: खुलते चले जाएंगे।

इस नाट्य-रचना की परिस्थिति के पर्यालोचन के प्रसंग में दो बातें मुख्य रूप से उल्लेख कर चुके हैं :

(१) इसकी रचना प्रस्तावना के अनुसार नाटक के प्रमुख पात्र कल्याणवर्मन् के राज्याभिषेक के समय अभिनय के लिए की गई थी।

(२) कल्याणवर्मन् को सम्बन्धित समग्र घटनाओं में प्रमुख रूप से अवतरित करने की एक मात्र आकांक्षा से स्वल्प समय में शीघ्रता से ही नाट्य-योजना की गई थी।

उपर्युक्त दोनों परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखने से स्पष्ट होता है कि लेखिका ने शीघ्रतावश जिस प्रकार अपने पूर्ववर्ती अनेक भास, कालिदास, दंडी आदि कवियों तथा नाटककारों से भाषा, भाव, छन्द, शिल्प आदि ग्रहण किया है, उसी प्रकार कथावस्तु की दृष्टि से भी लेखिका ने अनेक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटनाओं के सूत्र सँजोकर कल्याणवर्मन् से सम्बन्धित प्रणय तथा विजयकथा के ताने बाने से नाटक का कथापट बुन दिया है। लेखिका शीघ्रतावश जिस तरह पूर्ववर्ती कवियों तथा नाटककारों से संग्रहीत सामग्री को आत्मसात् नहीं कर पाई है, उसी प्रकार इधर-उधर से संग्रहीत ऐतिहासिक घटनाओं को भी संतुलित रूप में संस्कार-परिष्कार करके विन्यस्त करने में असफल रही है। फलत: जिस प्रकार नाट्य-कला की दृष्टि से प्रांजलता तथा नाटकीयता आदि के अभाव में रसप्रवण नाट्यरूप का निर्माण न

होकर यह भौंड़ी सी रचना बनकर रह गई है। उसी प्रकार यद्यपि इसमें राजनैतिक वातावरण का सृजन हुआ है, राजनैतिक पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ है किन्तु ऐतिहासिकता में व्यवस्था का अभाव रह गया है और पुनश्च हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि कौमुदीमहोत्सव में ऐतिहासिक विशुद्धता का अभाव इसी कारण है कि इसकी रचना किसी व्यवस्थित ऐतिहासिक घटना के आधार पर नहीं की गई है। यही कारण है कि इसके कथाविन्यास में दैशिक तथा कालिक एकता के अभाव का सर्वप्रमुख दोष है। तथापि, विश्रृंखल रूप में उपन्यस्त कौमुदीमहोत्सव के कथासूत्र को अनुमानिक रूप से खोजा जा सकता है।

(१) भारतवर्ष में प्राचीनकाल से मगध राज्य तथा उसकी राजधानी पाटलिपुत्र का राजनैतिक तथा ऐतिहासिक महत्त्व रहा है। इसी पाटलिपुत्र (या मगध) पर कई चन्द्रगुप्त नाम के ऐतिहासिक राजा अधिष्ठित हुए हैं। विशेष रूप से मगध के पड़ौसी लिच्छवी प्रतापी रहे हैं तथा इनके साथ मगध के राजाओं का (वैवाहिक) सम्बन्ध भी स्थापित हुआ है तथा इन्हीं की सहायता से मगध के अभ्युदय की कथा भी प्रसिद्ध है। अनुमान होता है कि इन्हीं प्रसिद्ध कथाओं के आधार पर लेखिका ने चण्डसेन नामक पात्र की कल्पना की है तथा उसे उसी प्रकार की परिस्थितियों में चित्रित कर दिया है। इसके अतिरिक्त लेखिका चन्द्रगुप्त नामक पात्र का प्रयोग भी कर सकती थी, जिस तरह कि अन्य शुद्ध नाम वाले कीर्तिसेन आदि पात्रों का प्रयोग किया है किन्तु वैसा नहीं किया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त के स्थान पर उसने कथानक के चरित्र के अनुरूप उग्रता भयंकरता, पौरुषता आदि हेय भावों की अभिव्यक्ति के अभिप्राय से ही चण्डसेन नाम प्रयुक्त किया है। हमारा यह भी अनुमान है कि वास्तव में कल्याणवर्मन् का किसी चन्द्रगुप्त के झगड़ा नहीं था, बल्कि किसी 'सेन' राजा के साथ ही कल्याणवर्मन् की अनबन थी। अतएव चन्द्रगुप्त को चण्डसेन बनाकर अभीष्ट शत्रु की ओर इंगित किया गया है। इसी कीर्तिसेन की भी "सेन" राजा के रूप में अवतारणा की है, तथा उसे चण्डसेन के सहायक के रूप में चित्रित किया गया है।

(२) शूरसेन की मथुरा इतिहास में प्रसिद्ध है। मथुरा पर यादवों का प्राचीन प्राचीनकाल में आधिपत्य रहा है। इसी आधार पर मथुरा में यादव राजा कीर्तिसेन की कल्पना की गई है। संभवतः किसी "सेन" राजा की पुत्री का मगध के राजा से सम्बन्ध हुआ हो। इसी आधार पर मगध तथा मथुरा में सम्बन्ध की योजना है। कारण कीर्तिमती पूर्णतः कल्पित तथा प्रतीकात्मक पात्र है। कीर्तिसेन के नाम पर ही कीर्तिमती की कल्पना कर ली गई है।

(३) इतिहास से उत्तरी भारत में अनेक वर्मन् नामान्त वाले राजाओं का ज्ञान होता है। मोखरी एवं आन्ध्रवंश के राजाओं के अन्त में भी "वर्मन्" जुड़ा हुआ

मिलता है। अतः सुन्दरवर्मन् तथा कल्याणवर्मन् पात्रों के अस्तित्व पर विश्वास होता है। हमारा विश्वास है कि लेखिका निश्चित रूप से किसी कल्याणवर्मन् के आश्रित लेखिका थी। कुमारी शकुन्तलाराव शास्त्री ने यह लिखा है कि लिच्छवी नेपाल में शासन करते थे, अतः सम्भव है नाटक में उसी भूमि का इतिहास लिखा गया है।[1] जो भी हो, यह निश्चित है किसी न किसी रूप में यह सभी घटनाएं उत्तरी भारत से सम्बन्धित हैं।

इस प्रकार हमारा विश्वास है कि लेखिका ने अपने पूर्ववर्ती इतिहास की कुछ प्रसिद्ध घटनाओं से आधार ग्रहण करके कल्पना द्वारा ऐतिहासिकता के आरोप करके कथानक गढ़ लिया है। पात्रों को भी इतिहास के रंग से अनुरंजित करके मांसल तथा सजीव बनाने की सफल चेष्टा की है। नाटक के समग्र कथानक को हम ऐतिहासिक नहीं मान सकते। हमारा अनुमान है कि लेखिका ने अपने आश्रयदाता या सुपरिचित सम्बन्धित कल्याणवर्मन् के चरित्र से सम्बन्धित प्रणय-कथा से राजनैतिक कथा को संयुक्त करके नाट्यबद्ध कर दिया है। तथापि नाटक में लेखिका ने यह निर्देश दिया है कि यह मगध-राजा के अन्तःपुर से सम्बन्धित घटनाओं का नाट्य-रूप है। नाटक में पाटलिपुत्र तथा लिच्छवियों के सम्बन्ध आदि का ऐतिहासिक उल्लेख है। पात्र भी भी ऐतिहासिक नामों के रूप में प्रयुक्त हैं। अत हम इसे विशुद्ध ऐतिहासिक नाटक नहीं मान सकते। लेखि ा ने अपनी लेखिनी द्वारा सफल राजनैतिक वातावरण की अभिसृष्टि की है। पात्र तथा घटनाओं पर ऐतिहासिकता का आरोप किया है। घात-प्रतिघात के द्वारा कथानक को गति देने की चेष्टा की है। अत हम इसे राजनैतिक पृष्ठभूमि पर आश्रित कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक नाटक ही मान सकते हैं।

हमें यह मानने में संकोच नहीं कि कौमुदी महोत्सव की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है। एकाधिक घटनाएं भी सुज्ञात इतिहास की ओर संकेत करती हैं। नाटक के पात्रों का चरित्र भी ऐतिहासिक चरित्रों के अनुरूप चित्रित किया गया है किन्तु कथानक का सूत्र तथा पात्र इतिहास सम्मत तथा क्रमपूर्ण न होने के कारण इसकी ऐतिहासिकता विवादास्पद है। कौमुदी-महोत्सव में विशुद्ध राजनैतिक घटनाचक्र न होकर राजनैतिक षडयंत्र तथा शृंगारिक घटनाओं का चित्रण है। यह चित्रण भी असंतुलित है। यहाँ न राजनैतिक घटनाओं का ही विकास हुआ है न प्रणयकथा का ही। किन्तु यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि लेखिका ने इधर-उधर की घटनाओं तथा पात्रों को एकत्र करके भी ऐतिहासिकता की सृष्टि बड़ी सफलता से की है। राजनैतिक घात-प्रतिघात के वर्णनमात्र से कथानक में जीवन डालने की चेष्टा की है। वातावरण में ऐतिहासिकता तथा सरसता का संचार किया है।

---

१. द्रष्टव्यः इ० कल्चर, वाल्यूम, ११, पृ० ८८,

निःसदेह अंत में, हमें यही स्वीकार करना पड़ता है कि कौमुदी महोत्सव ऐतिहासिक शैली में लिखा गया सामान्य नाटक है, जिसे हम कल्पना प्रधान ऐतिहासिक नाटकों की श्रेणी में रखना ही उचित मानते हैं। किन्तु इस नाटक की विशेषता यह है कि यह नाटक काल्पनिक इतिहास पर आधारित होने पर भी सशक्त ऐतिहासिक नाटक की शैली में रचित है। अतः यह ऐतिहासिक नाटक होने का भ्रम उत्पन्न करने में सर्वथा समर्थ है, और ऐतिहासिक वातावरण से आपूरित होने से इतिहासरस का आस्वाद कराने में भी सफल ठहरता है।

(२) हम्मीरमदमर्दन

"हम्मीरमद-मर्दन" नाटक मध्यकालीन ऐतिहासिक नाटकों में विशेष महत्त्व-पूर्ण है। इस नाटक से १३वीं सदी के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। मुख्यतः यह क्योंकि समकालीन रचना है तथा इसकी रचना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से, ऐतिहासिक शैली में ही की गई है। अतः इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है।

रचनाकाल एवं रचनाकार :

इस नाटक के अन्त में "सम्वत् १२८६ वर्षे आषाढ अदि ९ शनि हम्मीरमर्दनं नाम नाटकम्" लिखा है। अतः इसका समय १२७६–१२८६ के बीच अर्थात् सन् १२१९ से १२२९ के बीच माना गया है।[1] हम्मीरमदमर्दन की रचना जयसिंह सूरी ने की है। वैसे, जयसिंह सूरि नाम के एकाधिक विद्वान् हुआ है[2] किन्तु नाटक का लेखक जयसिंह सूरी वीर सूरी का शिष्य तथा खम्बात के मुनि सुव्रत के मन्दिर का आचार्य था। नाटक की प्रस्तावना में वस्तुपाल तेजपाल प्रशस्ति तथा प्रस्तुत नाटक की रचना परिस्थितियों तथा कारणों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उससे ज्ञात होता है कि वस्तुपाल के पुत्र जयसिंह की प्रसन्नता के लिए स्तम्भ-तीर्थ में भीमेश्वर के यात्रा-महोत्सव के समय प्रदर्शन के उद्देश्य से यह नाटक लिखा गया था। इसकी रचना स्वय जयन्तसिंह ने करवायी थी। प्रस्तावना में इस नाटक को वीरधवल के साक्षात् शरीरी-यश के रूप में उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि इस नाटक में वीर धवल तथा उसके मंत्रि वस्तुपाल एवं तेजपाल से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं को नाट्यबद्ध किया गया है।

नाटक का संक्षिप्त कथानक :

प्रस्तावना के अनन्तर वीरधवल तेजपाल के साथ वस्तुपाल की नीतिज्ञता की प्रशंसा करता हुआ प्रवेश करके बतलाता है कि जिस समय वह यदुमहीपाल सिंहण

---

१. संस्कृत ड्रामा : कीथ, पृ० २४८,

२. विशेष देखो हम्मीर०, नोट्स पृ० २, तथा रासमाला (हिन्दी), पृ० २५२,

के आक्रमण से डर रहा था, तथा मालवराज से सहायता-प्राप्ति की सभी आशा क्षीण हो गयी थीं, तब वस्तुपाल के द्वारा ही कृतकरिपु लाट देश के राजा श्रीसिंह ने मेरी मित्रता प्राप्त की। इसी प्रकार पहले मरुनरेन्द्र के निग्रह-विग्रह में व्यग्र होने पर वस्तुपाल द्वारा प्रदर्शित नीतिज्ञता का प्रशंसा करता हुआ वर्तमान गम्भीर स्थिति के संबंध बतलाता है कि अब पुनः सिंहण, तुरुष्क वीर तथा मालव के राजा ने आक्रमण करने का उपक्रम किया है और वस्तुपाल ही इसे विघटित कर सकता है। तभी वस्तुपाल तेजपाल के पुत्र लावण्यसिंह के द्वारा नियुक्त गुप्तचरों की सफलता के सम्बन्ध में बतलाता है। तेजपाल पंचग्राम में युद्धक्षेत्र में प्रदर्शित वीरधवल के पराक्रम की प्रशंसा करता है। वीरधवल के द्वारा हम्मीर पर प्रयाण के सम्बन्ध में परामर्श करने पर वस्तुपाल इस आक्रमण से संभावित कठिनाइयों को बतलाता हुआ भावी संकट के प्रति चेतावनी देता है तथा पहले मारवाड़ के राजाओं को जीतने तथा अपने पक्ष में मिलाने का परामर्श देता है। द्वितीय अंक में लावण्यसिंह म्लेच्छराज के आक्रमण के समय वस्तुपाल की कूटनीति के कारण वीरधवल के आक्रमण की आशंका से आ मिले सोमसिंह, उदयसिंह तथा धारवर्ष से युक्त वीरधवल की शक्ति की प्रशंसा करता है। इसी प्रकार वह आ मिलने को उत्सुक भीमसिंह, विक्रमादित्य तथा सहजपाल के सम्बन्ध में तथा अनेक छोटे-बड़े राजाओं की आ मिली सेनाओं के सम्बन्ध में बताता है। तभी निपुणक लावण्यसिंह से सिंहणदेव के स्कंधावार का समाचार कहता है कि कुशलक ने देवपाल के घोड़े को चुराकर सिंहण के सेना संचालक सग्रामसिंह को दे दिया है।

शीघ्रक ने भी सिंहण के पास पहुँच कर, हम्मीर के सेनाओं द्वारा गुर्जर सेना के नष्ट करने का समाचार कहा एवं वीरधवल द्वारा उसके विरुद्ध अभी अभी छिड़ने वाले युद्ध का समाचार कह कर, प्रयाणोत्सक सिंहण को ताप्ती के तट पर रोका। तभी सुवेग वहाँ तापसवेग में पहुँचा तथा सिंहण में आने पर भगने के कारण गुप्तचर की आशंका से फड़वा लिया। उसकी जटाओं में गुप्त लिपि में लिखित लेख था। उसमें देवपाल ने संग्रामसिंह को लिखा था कि हमने तुम्हें विजय के उद्देश्य से अश्व भेजा था। तुम्हें वहीं कटक में रहना चाहिए और जब हम गुर्जरों की भूमि पर प्रवेश करते हुए आक्रमण करें तब तुम्हें अपनी तलवार द्वारा अपने पिता के वैरी के उऋण होना चाहिए। "दूसरी ओर निपुणक ने कुशलक द्वारा सग्रामसिंह को कहलवा दिया कि राजा तुझ पर क्रुद्ध है। इसको सुनकर भयभीत संग्रामसिंह भाग गया। सिंहण भी मालवों की ओर क्रुद्ध होकर चला। देवपाल भी सामने आ गया, और दोनों में भयकर विग्रह हो गया। इस विषकम्भक के बाद, वस्तुपाल राजा की वीरता तथा संग्रामसिंह के चरित्र एवं उसकी सिंहण पर विजय की प्रशंसा करता हुआ प्रवेश करता हुआ प्रवेश करता है। उसी से ज्ञात होता है कि संग्रामसिंह ने भी हमसे मित्रता पाने

के लिए अपने प्रधान भुवनक को भेजा है। तभी कुशलक आकर बतलाता है कि सिन्धुराज प्रधानपुरुष के भेजने के रूप में विप्रतारणा करके आकस्मिक आक्रमण द्वारा स्तम्भपुरी को अधिकृत करके पूर्व-कलुषित अपने यश को विशद करना चाहता है। तभी वस्तुपाल स्तम्भ तीर्थ की रक्षा के लिए सैन्य भेजता है तथा संग्रामसिंह के प्रधान को बुलाकर पूछता है तथा उसे असत्य बोलने पर निकाल देता है। निपुणक द्वारा यह जानकर कि संग्रामसिंह मही नदी को पार करने को उद्यत है, वस्तुपाल धवलकपुरी की सुरक्षा का प्रबन्ध करके शीघ्र स्वयं स्तम्भतीर्थ चला जाता है।

तृतीय अंक में कमलक हम्मीर वीरों द्वारा मारवाड़ के भयंकर नाश का विस्तार से वर्णन करता हुआ बतलाता है कि मारवाड़ के राजा ने उनसे युद्ध नहीं किया और न कोई क्षत्रिय प्रजारक्षण को सामने आया। फलत. प्रजाजन आग में जलकर, कुएं में गिर कर आत्महत्या करने लगे तथा कुछ शत्रु पर टूट पड़े। तब कमलक ने लोगों से रक्षा के लिए वीरधवल के आने की बात को चिल्लाकर कहा तो शत्रु भाग खड़े हुए। वीरधवल इसको भी वस्तुपाल की बुद्धि का माहात्म्य बताता है पर हम्मीर द्वारा भय व्यक्त करने पर तेजपाल हम्मीर के भय को भी व्यर्थ बताता है, और वीरधवल समस्त राजवर्ग के साथ शत्रु को निरस्त करने को प्रयाण करता है। चतुर्थ में कुवलयक तथा शीघ्रक दो गुप्तचर तुरुष्क-वेश में आते हैं। शीघ्रक बतलाता है कि तेजपाल ने उसे बगदाद के खलीफा के पास खर्परखान के दूत के रूप में भेजा है। वहाँ जाकर उसने भी मीलच्छीकार के गर्विष्ठ होने तथा आज्ञा न मानने की बात कही, जिससे क्रुद्ध खलीफा ने खर्परखान द्वारा उसे बाँध मँगाया। उधर कुवलयक ने धूरपाल तथा प्रतापसिंह आदि गुर्जर मंडलेश्वर समूह को यह कह कर कि वीरधवल तुम्हें मारे गये तुरुष्क के समस्त देश को दे देगा, अतः तुम्हें युद्ध के समय नहीं लड़ना चाहिये, फोड़ दिया। बाद में चिंतित मीलच्छीकार बतलाता है कि मुझे बहुत समय से शत्रुओं के साथ उलझा जानकर छल के साथ खर्परखान ने मथुरा जनपद को ग्रस्त कर दिया है। उधर गुर्जर राजा भी खर्परखान के प्रयाण को जानकर उससे मिलने जा रहा है। तुर्कराजा अपने प्रधान को यह भी बतलाता है कि उसने चर के द्वारा आक्रमण की सूचना पाने के बाद कुपित बगदाद के राजा को प्रसन्नता के लिए रादी कादी नामक के गुरुजनों को भेजा है। प्रधान के द्वारा खर्पर-खान से युद्ध का परामर्श देने पर तुरुष्कवीर रुष्ट होता है, पर तभी वीरधवल की सेना आक्रमण करती है और वह भाग जाता है।

पंचम अंक में विरहित रानी जयतल्ल देवी के विनोद के उपायों को सोचता हुआ कंचुकी आकर आकाशभाषित के रूप में हम्मीर के पलायन से प्रसन्न वीरधवल के धवलक के प्रमाण की सूचना देकर देवी के पास जाता है। तभी वीरधवल तथा

तेजपाल धवलक के मार्ग पर आने वाले स्थलों का वर्णन करते हुए धवलक पहुँचते हैं एवं उद्यान में वीरधवल रानी से मिलता है। वस्तुपाल आदि भी उनसे मिलते हैं और वीरधवल वस्तुपाल, पिता लावण्य प्रसाद तथा माता मदनदेवी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। वस्तुपाल वीरधवल को सूचित करता है कि मीलच्छीकार के गुरु रादी कादी अपने मुख्य अधिकारी बध्रदीन के साथ समुद्र के रास्ते खल्लीपा से राज्य स्थापना रूपी प्रसन्नता को प्राप्त करके आ रहे थे, उन्हें पकड़वा लिया है और अबवे स्तम्भ-तीर्थ में बन्दी हैं। मीलच्छीकार उनकी मुक्ति के लिए प्रायः मंत्रियों को भेजता रहता है। इसी प्रकार मीलच्छीकार के साथ आजन्म के लिए शांति की सन्धि करली है। इसके पश्चात् वह नगर में प्रवेश करता है और महल में पहुँचकर, शिवजी के मन्दिर में जाता है जहाँ भक्तिपूर्वक स्तुती करता है। शिवजी वरदान मांगने को कहते हैं। वह वस्तुपाल तथा तेजपाल के द्वारा सभी उपलब्ध होने से संतुष्ट कहलाता है, अन्त में आशीः रूप भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

हम्मीर मदमर्दन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :

हम्मीर मद-मर्दन नाटक की घटनाएँ प्रायः ऐतिहासिक हैं। इसमें गुजरात के चालुक्यों के समकालीन इतिवृत्त को आधिकारिक कथा के रूप में उपजीव्य बनाया है। गुजरात के इतिहास में भीम द्वितीय एक सुप्रसिद्ध राजा हुआ है। भीमसिंह द्वितीय ने ११७८-१२४१ ई० अर्थात् ६३ वर्ष राज्य किया।[1] जिस समय भीम राज्य पर बैठा, वह निरा बालक था। अतः भीम के राज्यारोहण के समय परिस्थिति का लाभ उठाकर उसके माडलिक शासकों ने विद्रोह कर दिया, किन्तु उस समय अर्णोराज ने, जो कि कुमार-पाल का सामन्त रहा था, विद्रोहियों से लड़ते लड़ते प्राणों का बलिदान करके भी गुर्जर सत्ता को मुक्ति दिलायी। अर्णोराज के बलिदान की इस महान घटना के फलस्वरूप ही वाघेला वंश का भविष्य उज्ज्वल हुआ। वाघेला वंश के संस्थापक अर्णोराज के पुत्र लावण्यप्रसाद (लावण्यसिंह व लवणप्रसाद) तथा उसके पौत्र वीर-धवल ने ही वाघेला वंश के उज्जवल भविष्य का निर्माण किया।[2] भीम के समय में ही लवण्य प्रसाद तथा वीर-धवल स्वामिभक्ति के साथ गुजरात के राज्य को व्यवस्थित करने में जुट गए। वीरधवल ने अनेक प्रदेश जीतकर अपने पराक्रम का परिचय दिया।[3] इसी वीरधवल से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं का इस नाटक से वर्णन है। स्पष्ट है कि वीरधवल भीम के प्रधान लवण्यप्रसाद का पुत्र था। वीरधवल की माँ का नाम मदनराज्ञी था। इसका नाटक में भी उल्लेख है। इनके अधिकार में व्याघ्रपल्ली (वाघेल) और धवलगढ़ या धौलक थे।[4] आबू के तेजपाल

---

१. श्लो० गु० : मुंशी पृ० १६८,
२. चा० गु० मजूमदार, पृ० १३६ तथा १६२ भी,
३. रासमाला (हिन्दी), पृ० २७४, फुटनोट,
४. वही, पृ० ३१६,

द्वारा निर्मित मंदिर के एक लेख में वीरधवल को महामण्डलेश्वर तथा राणा लिखा है ।[१] श्री के एम. मुशी के वीरधवल का जन्म ११८० में हुआ था तथा इसने सम्वत् १२७६–१२९५ अर्थात् सन् १२१९–२० से १२३८–३९ तक राज्य किया ।[२]

हम्मीरमदमर्दन से ज्ञात होता है कि वीरधवल का शासनकाल संघर्ष का काल था । चालुक्यों को बारम्बार मारवाड़, मालवा, यादव तथा अनेक मुसलमानों के अनेक आक्रमणों का सामना करना पड़ता था । मुख्यतः पड़ौसी परमार तथा यादवों के खतरनाक आक्रमणों ने गुजरात की राजनैतिक स्थिति को विशृंखलित कर दिया था, किन्तु वीरधवल के अत्यन्त नीतिज्ञ स्वामीभक्त मंत्री वस्तुपाल तथा तेजपाल ने वीरधवल के राज्य की एक ढाल के समान रक्षा की । प्रस्तुत नाटक में वस्तुपाल तथा तेजपाल की नीति-कुशलता की पृष्ठभूमि में ही वीरधवल से संबंधित मुख्य राजनैतिक घटनाओं का उल्लेख किया गया है ।

हम्मीरमदमर्दन ऐतिहासिकता :

हम्मीरमदमर्दन के कथानक से स्पष्ट है कि जयसिंह सूरि का दृष्टिकोण अन्य प्रशस्तियों की रचना के समान ही, इस नाटक में ऐतिहासिक प्रशस्तिपरक रहा है, अतः इस नाटक को भी हम "नाट्य-रूपात्मक प्रशस्ति" कह सकते हैं । पश्चात्वर्ती अनेक नाटककारों ने ऐसे नाटक रचे हैं । मुख्यत. ऐसी रचनाएं समकालीन इतिवृत्त को लेकर लिखी गई है । इनका उद्देश्य तत्कालीन राजनैतिक घटनाओं पर आश्रित नाटक का तत्कालीन समाज के सम्मुख अभिनय कराने का कर रहा है । इनमें किंचित अतिरंजना भले ही हो, किन्तु निराधार घटनाओं के विनियोग की सम्भावना कम रहती है । मुख्यतः हम्मीर-मद-मर्दन में ऐतिहासिक उद्देश्य ही प्रधान रहा है । कल्पना-प्रयोग इतिहास की घटनाओं को ऐतिहासिक रूप प्रदान करने, घटनाओं में क्रम-बद्धता लाने, नाट्यरूप में रंग भरने तथा प्रभाव एवं प्रवाह की अभिवृद्धि के ही लिए हुआ है, निरर्गल तथा निरर्थक नहीं । इसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि नाटक में गुप्तचर आदि को छोड़ कर समस्त प्रमुख पात्र ऐतिहासिक है ।

इसमें वर्णित ऐतिहासिक घटनायें परस्पर गुंथी हुई हैं । अतः निरपेक्ष रूप से उन पर विचार करना असम्भव सा है । इसकी कुछ घटनायें भूतकालीन हैं तथा कुछ वर्तमानकालीन ।

इतिहास से प्रकट है कि उस समय यादवों ने बारम्बार लाट पर आक्रमण किये, चालुक्यों ने अपने लुप्त-प्रदेशों को प्राप्त करने के प्रयत्न किये, इस प्रकार देश

१. **रासमाला, पृ० ३१६,**
२. **वही, पृ० ३१५, विद्वान् वीरधवल का राज्यकाल २२ वर्ष ही मानते हैं, देखो, वही, पृ० ३४४ की टिप्पणी,**

कई शताब्दी तक युद्धक्षेत्र बना रहा।[1] नाटक से ज्ञात होता है कि सिंह यादवों तथा मालवों से अधिक बलिष्ठ था।[2] डा० मजूमदार ने इसी आधार पर यह भी लिखा है कि इस समय देश चौहान सिंहों के अधिकार में आ गया था,[3] किन्तु उसे भी अनेक आक्रमणों का सामना करना पड़ा तथा सन्धि-विग्रह करने पड़े। नाटक में एक ऐसी ही घटना का वर्णन प्राप्त है। इसमें प्रस्तावना के अनन्तर वीरधवल वस्तुपाल की नीति-चातुरी की प्रशंसा करता हुआ बतलाता है कि जिस समय वह सिंहण के आक्रमण से डर रहा था तथा मालवराज से सहायता प्राप्ति की सभी आशा क्षीण हो गयी थीं, उस समय वस्तुपाल के द्वारा ही कृतकरिपु लाट देश के राजा सिंहण ने मेरी मित्रता प्राप्त की।[4] यादवराज सिंहण जैतुगी का पुत्र था। देवगिरि पर इसने ११९९ से १२४७ तक राज्य किया।[5] पड़ोसी राजाओं के प्रति इसका व्यवहार अत्यन्त कठोर था तथा उसके सेनापति एवं पुत्र ने भी गुजरात पर आक्रमण किये थे[6] तथा उस समय के प्रतापी राजा चौहान सिंहों से भी विग्रह होते रहते थे। नाटक में उसके तेज तथा प्रज्ञा की प्रशंसा की है। मालव राजाओं के साथ भी सिंह के मित्रतापूर्ण सम्बन्ध थे,[7] किन्तु सिंहण ने जिस समय उस पर आक्रमण किया और उसे मालवा से सहायता प्राप्त न हो सकी तब विवश होकर आपदशा में उसे वीरधवल (गुर्जर चालुक्य) से मित्रता करनी पड़ी।

नाटक से यह ज्ञात होता है कि कुछ समय पश्चात् सिंह के भतीजे संग्रामसिंह ने सिंहण को पराजय के रूप में दण्ड दिया था।[8] नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि सिंहण ने गुर्जरों के शत्रु संग्रामसिंह को वीरधवल के विरुद्ध सहायता दी थी।[9] संग्रामसिंह सिन्धुराज का पुत्र तथा सिंह का भतीजा था। नाटक में इसे देवपाल का महामण्डलेश्वर कहा है।[10] वसन्तविलास तथा कीर्ति-कौमुदी में इसे शंख कहा है। किन्तु इन तीनों में समान रूप से इसे सिन्धुराज कहा है।[11] वस्तुपालचरित्र में लिखा

---

१. चा० गु० अशोक कुमार मजूमदार, पृ० १४९,
२. हम्मीर, १।१३,
३. चा० गु० : मजूमदार, पृ० १४९,
४. हम्मीर० १।१३,
५. श्री मुंशी १२०९ ई० से राज्य करना मानते है : ग्लो० गु० पृ० २१४,
६. चा० गु० मजूमदार, पृ० १५०,
७. ग्लो० गु० मुंशी, पृ० २१४,
८. हम्मीर० २।३२,
९. वही, १।१७–१८,
१०. वही २।१५–१६, पृ० १७,
११. चा० गु० मजूमदार, पृ० १५३,

है कि सिंह भट के भाई सिन्धुराज का पुत्र शंख था, जिसे वस्तुपाल ने जीता।[1] सुकृतकीर्तिकल्लोलनी में तो स्पष्टतः शंख को संग्रामसिंह लिखा है।[2] वसन्त-विलास में शंख को चाहमान भी लिखा है[3] कीर्तिकौमुदी में इसके पूर्वजों के परंपरागत सम्बन्ध स्तम्भ-तीर्थ से बतलाया है।[4] सिन्धुराज की भी वीरधवल से शत्रुता थी। नाटक में संग्रामसिंह को अपने पिता के वैरी होने के कारण वीरधवल के प्रति क्रुद्ध बतलाया है। संभवतः पिता के वैर के कारण ही संग्रामसिंह की यह शत्रुता थी,[5] और वह अपने पिता के वैर का प्रतिशोध लेने के लिए ही मौके की ताक में रहता था। नाटक से प्रकट है कि जब वीरधवल मरुनरेन्द्र के साथ व्यग्र था अर्थात् मेवाड़ के राजाओं के विद्रोह को दबाने के लिए मेवाड़ गया हुआ था, उसकी अनुपस्थिति में संग्रामसिंह ने आक्रमण की योजना बनाई[6] और सिंहण की सेना को भी साथ मिला लिया। मजूमदार ने कीर्ति-कौमुदी आदि साक्ष्यों के आधार पर लिखा है कि लगभग १४वीं सदी के प्रारम्भ में संग्रामसिंह तथा सिंहण के इशारे पर यादवों ने लाट पर आक्रमण किया था, और जब लावण्यप्रसाद तथा वीरधवल ने यादवों का प्रतिकार किया तो मारवाड़ के राजाओं ने सर उठाया और उनका सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप लावण्यप्रसाद को सिंहण से सन्धि करनी ही पड़ी और इसी समय जब लावण्यप्रसाद उत्तर मारवाड़ को अपने पुत्र के साथ गया हुआ था संग्रामसिंह ने उसकी अनुपस्थिति में स्तम्भतीर्थ पर आक्रमण कर दिया किन्तु वस्तुपाल के बुद्धि-चातुर्य से संग्रामसिंह को मुँह की खानी पड़ी।[7] न तो सिंहण को प्रतिशोध का अवसर मिल सका और न संग्रामसिंह को ही। किन्तु संग्रामसिंह इस घटना के बाद भी शांत न बैठा।

नाटक से ज्ञात होता है कि वस्तुपाल से पराजित होने के कारण विरोध की परिबद्ध-भावना से उसने पुनः सिंहण को आक्रमण के लिए प्रोत्साहित किया।[8] इस बार शत्रुओं के साथ एक आक्रमण को उद्यत होने के कारण वीरधवल की स्थिति चिन्ताजनक थी। एक ओर मारवाड़ के राजाओं ने पुनः बगावत शुरू करदी थी और

१. वस्तुपाल चरित्र ५।२३४,
२. सुकृत० १३६,
३. वसन्त० ५।२५–२६,
४. कीर्ति० ४।७५, ८७,
५. हम्मीर० १।१७–१८,
६. चा० गु० पृ० १४६,
७. चा० गु० मजूमदार, पृ० १४६,
८. हम्मीर० १।१८–१६,

परमार देवपाल भी आक्रमण का उपक्रम कर चुका था। दूसरी ओर मुसलमान तुर्क वीर के आक्रमण की भी आशंका थी।[1] श्री के. एम. मुंशी ने लिखा है कि संग्राम में पहली पराजय के बाद कुछ महीनों में ही सिंहण ने देवपाल के साथ स्तम्भतीर्थ पर आक्रमण कर दिया।[2] किन्तु वीरधवल के महामात्य वस्तुपाल तेजपाल तथा उसके पुत्र लावण्यसिंह ने अपनी कूटनीति द्वारा इस स्थिति का सामना किया और भेद-नीति द्वारा शत्रुओं को न केवल छिन्न-भिन्न कर दिया, अपितु संग्रामसिंह को[3] तथा मारवाड़ के राजाओं को[4] समर्पण भी करना पड़ा।

द्वितीय अंक में सुवेग तथा निपुणक द्वारा क्रियान्वित की गई वस्तुपाल की भेदनीति का विस्तार से वर्णन है। डा० मजूमदार ने लिखा है कि चालुक्यों के लिए पड़ौसी शक्तिशाली यादवों के आक्रमण अत्यन्त भयंकर थे।[5] यादवों ने चालुक्यों पर अनेक आक्रमण किए थे। विद्वान् अम्बेम के शिलालेख के आधार पर दो प्रमुख आक्रमण मानते हैं। पर डा० राय, फ्लीट, भंडारकर तथा मजूमदार में इन आक्रमणों के सम्बन्ध में मतभेद है।[6] अनुमानतः राग ने इस आक्रमण का नेतृत्व किया था।[7] प्रथम आक्रमण का वर्णन विस्तार से कीर्ति कौमुदी में भी प्राप्त है।[8] मजूमदार नाटक के आधार पर प्रथम आक्रमण का समय सं० १२८६ से पूर्व मानते हैं। नाटक में वस्तुपाल संग्रामसिंह के चरित्र की प्रशंसा करता हुआ उसकी सिंहण पर विजय का भी उल्लेख करता है।[9] नाटक से ज्ञात होता है कि संग्रामसिंह के पिता सिन्धुराज का अन्त यादवों के हाथों हुआ था, अतः वह भी इनसे प्रतिशोध लेना चाहता था। इसी के फलस्वरूप संभवतः बाद में संग्रामसिंह ने सिंहण को भी पराजित किया था। नाटक के अनुसार संग्रामसिंह ने स्तम्भपुरी को अधिकृत करके पूर्व-कलुषित यश को विशद करने की आकांक्षा से वीरधवल के साथ छल-मैत्री के षड़यंत्र द्वारा धोका देकर आक्रमण किया, किन्तु वस्तुपाल के गुप्तचरों ने मौके पर ही भेद की सूचना पा ली। फलतः संग्रामसिंह को मही नदी के पार करने से पूर्व ही वस्तुपाल स्तम्भपुरी

---

१. ग्लो० गु० मुंशी, पृ० २१७, देखो 'सुकृत कीर्तिकल्लोलनी", १३८–४०,
२. हम्मीर० २।३८–३६,
३. वही २।७–६,
४. वही,
५. चा० गु० मजूमदार, पृ० १५०,
६. वही,
७. देखो वही, पृ० १५१,
८. वही, पृ० १५२,
९. हम्मीर० २।११–१२,
१०. वही, २।१५–१६,

की रक्षा के लिए पहुँच गया। संभवतः इस युद्ध में भी संग्रामसिंह को पराजय का मुंह देखना पड़ा।[1] इसके बाद इसके वृत्तान्त की जानकारी नहीं होना।

नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि वीरधवल वस्तुपाल के बुद्धि-चातुर्य से मारवाड़ के राजाओं को भी निरस्त करने में सफल हुआ। कीर्तिकौमुदी आदि के साक्ष्य के आधार पर इसकी ऐतिहासिकता प्रकट है। नाटक में इसका विस्तार में उल्लेख है। नाटक के अनुसार इन राजाओं के आ मिलने से वीरधवल की शक्ति और भी बढ़ गयी। इतिहासकारों के अनुसार मारवाड़ के इन राजाओं के साथ गुजरात की रक्षा की दृष्टि से वीरधवल के साथ सैनिक गठबन्धन हुआ था। जयसिंह ने इस समन्वित शक्ति को आठ दिशाओं को जीतने में समर्थ आठ भुजाएँ कहा। हमारा विश्वास है कि इन सभी राजाओं ने हम्मीर के आक्रमण के समय वीरधवल की सहायता की थी। मारवाड़ के इन राजाओं का नाटक में क्रमशः इस प्रकार उल्लेख है :[2]

सोमसिंह—डा० मजूमदार ने (गोंवाद जिले से प्राप्त) एक शिलालेख के अनुसार यह लिखा है कि संभवतः यह महाराजाधिराज था।[3] रासमाला के अनुसार यह यशोधवल का पुत्र था, तथा इसका महामंडलेश्वर के रूप में भी उल्लेख है[4] किन्तु के. एम. मुंशी ने सोमसिंह को धारवर्ष का पुत्र[6] तथा इसका राज्यकाल १२३०–३६ माना है।[5]

उदयसिंह—डा० मजूमदार के अनुसार कीर्तिपाल के पुत्र जबलीपुर चाहमान के साथ इसका साम्य है, जिसके सम्बन्ध में सुन्ध के शिलालेख में लिखा है कि उसने (उदयराल ने) तुरुष्कों के अभिमान को नीचा कर दिया तथा सिन्धुराज का अन्त कर दिया था।[7] डा० दशरथ शर्मा ने बतलाया है कि यह समरसिंह का उत्तराधिकारी था तथा इसने ५२ वर्ष के लगभग राज्य किया था। डा० शर्माजी भी इसकी राजधानी जबलपुर या जालौर का उल्लेख करते हैं।[8] डा० शर्मा ने यह भी लिखा

१. हम्मीर० २।३४–३६,
२. वही, २।८–६,
३. चा० गु० मजूमदार, पृ० १५६,
४. रासमाला, पृ० ३४०,
५. ग्लो० गु० मुंशी, पृ० २१६,
६. वही, पृ० २१३,
७. चा० गु० मजूमदार, पृ० १५६,
८. अ० चौ० हि० शर्मा, पृ० १४८,

है कि उदयराज तथा वीरधवल में सन्धि भी थी, तथा उदयराज ने वीरधवल के बड़े लड़के वीरम के साथ अपनी लड़की का विवाह किया।[१] सम्भवत: इसी सम्बन्ध के कारण इसने हम्मीर के आक्रमण के समय वीरधवल को सहायता की थी। श्री के. एम. मुंशी उसका समय १२०५ से १२४९ मानते हैं।[२]

धारवर्ष:—डा० मजूमदार के अनुसार आबू के परमारों के प्रधान का नाम धारवर्ष है। इसके अनुसार इसका साम्य चन्द्रावती के राजा से संभव है, जिसे अर्णोराज ने हराया था।[३] श्री मुंशी ने उसे चन्द्रावती का मांडलिक राजा माना है।[४]

जयतल्ल:—नाटक में उपर्युक्त मारवाड़ के राजाओं के अतिरिक्त जयतल्ल का भी उल्लेख है।[५] जयतल्ल ने हम्मीर के आक्रमण के समय अपनी तलवार की शक्ति के गर्व के कारण वीरधवल से मित्रता नहीं की और अन्त में हम्मीर ने इसे बुरी तरह कुचल दिया। मजूमदार ने इसका साम्य मेवाड़ के गुहिलोत राजा जेत्रसिंह के साथ माना है जिसका समय १२१३–१२५६ ई० था।[६] श्री मुंशी ने इसे मेदपाट का राजा तथा इसका समय १२१३–१२५२ लिखा है।[७] जेत्रसिंह बप्पारावल की २७वीं पीढ़ी में हुआ।[८] अघतपुर से प्राप्त हस्तलिखित सामग्री के आधार पर मजूमदार ने इसे महाराजाधिराज लिखा है।[९] श्री मुंशी ने यह भी लिखा है कि इस आक्रमण को इसने बाद में पीछे धकेल दिया।[१०]

सोराष्ट्र का भीमसिंह:—नाटक में एक अन्य राजा भीमसिंह का भी उल्लेख है, जिसने कि उस समय वीरधवल से मित्रता की।[११] नाटक में इसे "सुराष्ट्र सीमन्त-मणि" लिखा है। मजूमदार नाटक के उल्लेख के आधार पर इसे एक करद होने की सम्भावना करते है,[१२] किन्तु नाटक से कुछ ऐसा आभास नहीं होता। सुकृतकीर्ति-

---

१. अ० चौ० हि० : दशरथ शर्मा, पृ० १५०,
२. ग्लो० गु० मुंशी २१६,
३. चा० गु० पृ० १५६,
४. ग्लो० गु० पृ० १९९,
५. हम्मीर, पृ० २७५,
६. चा० गु० मजूमदार, पृ० १५६,
७. ग्लो० गु० पृ० २१६,
८. रासमाला, पृ० २३३, फुटनोट,
९. द्रष्टव्य चा० गु० पृ० १५६,
१०. देखो, ग्लो० गु० पृ० २१६, फुटनोट,
११. हम्मीर० पृ० ११,
१२. चा० गु० पृ० १५६,

कल्लोलनी में उल्लिखित भीमसिंह से साम्य की भी डा० मजूमदार ने संभावना की है।[1] इसके अलावा मजूमदार सौराष्ट्र से सेनापति के रूप में मरुस्थली आने वाले लूनिग (Luniga) के पुत्र भीमसिंह से भी साम्य की सम्भावना करते हैं। के. एम. मुंशी इसका साम्य भीम द्वितीय से मानते है।[2] पर निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

लाट-देश के राजा विक्रमादित्य तथा सहजपाल:—नाटक में उपर्युक्त घटनाओं के प्रसंग में ही लिखा है कि विक्रमादित्य तथा सहजपाल घनिष्ट मित्र थे, पर इनमें भेद करा देने के कारण इन दोनों ने परस्पर स्पर्धा के साथ वीरधवल से मैत्री की।[3] श्री एस० आर० भंडारकर की मान्यता है कि सिंह और सहजपाल में समानता है।[4] मजूमदार का मत है कि नाटक में शंख को लाट का राजा नहीं कहा है तथा बसन्त-विलास और कीर्ति-कौमुदी के साक्ष्य के आधार पर यह मानना पड़ता है कि लाट दो भागों में विभक्त था। एक पर भडोंच से शंख शासन करता था, दूसरे पर सहजपाल, जो कि संभवतः शंख का चाचा सिंह हो सकता है या उसका चचेरा लड़का।[5]

पंचग्राम संग्राम—नाटक के प्रथम अंक में तेजपाल पंचग्राम संकट के समय आँखों देखे वीरधवल के पराक्रम का संकेत करता है।[6] इस बारे में नाटक से विशेष ज्ञात नहीं होता। चतुर्विंशतिप्रबन्ध के वस्तुपालप्रबन्ध में इसके संबंध में बहुत विस्तार से वर्णन किया है।[7] प्रबन्धचिन्तामणी के अनुसार पिता के सामने पुत्र को २१ बार घायल होकर गिरना पड़ा, किन्तु समस्त शत्रुओं का समूलोन्मूलन कर दिया।

तुर्क वीर हम्मीर का आक्रमण—नाटक के प्रथम अंक में ही तुरुष्क वीर के आक्रमण का उल्लेख है। उसके संदर्भ में स्पष्ट है कि यह आक्रमण सिंहण तथा सिंह के द्वितीय आक्रमण के समय ही हुआ था।[8] नाटक में वीरधवल द्वारा तुरुष्क के प्रतिशोध का विस्तार से वर्णन किया गया है।

---

१. चा० गु०मजूमदार पृ० १४०,
२. ग्लो० गु० पृ० २१३,
३. हम्मीर, पृ० ११,
४. चा० गु० मजुमदार, पृ० १५४,
५. वही, पृ० १५४.
६. हम्मीर० पृ० ११,
७. द्रष्टव्य, वही. नोट्स पृ० ३–८. तथा रासमाला, पृ० ३२०,
८. चा० गु० मजूमदार पृ० १५६,

नाटक में उल्लिखित ये घटना पर्याप्त ऐतिहासिक है। प्रबन्धचिन्तामणी में मेरुतुंग ने उपर्युक्त घटना के एक अंश का उल्लेख किया।[1] उसमें भी म्लेच्छ राजा के गुरु के पकड़े जाने आदि का उल्लेख है, किन्तु नाटक की घटना से उसमें अन्तर है। राजशेखर ने प्रबन्धकोश में प्रकारान्तर से उपर्युक्त घटना का उल्लेख किया है।[2] प्रबन्धचिन्तामणि तथा प्रबन्धकोश की अपेक्षा हम्मीर-मद-मर्दन ही एकमात्र समकालीन रचना है। इनकी घटनाओं में अन्तर केवल उपनिबद्ध करने के दृष्टिकोण का है।[3] राजशेखर ने भी सुल्तान के संबंधियों के बन्दी बनाने के कारण वस्तुपाल से सुल्तान के रुष्ट होने की घटना का उल्लेख किया है।[4] मजूमदार का मत है कि इस बन्धक की घटना पर विश्वास करना कठिन है, किन्तु यह अवश्य संभव है कि दिल्ली के सुलतान तथा इनके मित्रतापूर्ण सम्बन्ध हो गये हों।[5] रासमाला के अनुसार सुलतान के आलिम (गुरु) को मक्का-यात्रा के समय वीरधवल ने कैद कर लिया, तब तेजपाल ने उसे मुक्त कराया था। फलतः वस्तुपाल तथा तेजपाल पर सुल्तान की कृपा हो गयी थी।[6] इससे स्पष्ट होता है कि नाटक की यह घटना भी निर्मूल नहीं है।

किन्तु, म्लेच्छ-राज के नाम-साम्य के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। एस. आर. भंडारकर शाब्दिक आधार पर मीलच्छीकार का साम्य इल्तुमिश से मानते हैं जोकि कुतुबुद्दीन का 'अमीर-इ-शिकार' शिकार के अधिकारी के पद पर था।[8] श्री ओझा का भी यही मत है। किन्तु[7] मजूमदार शाब्दिक आधार इल्तुतमश तथा मीलच्छीकार का साम्य स्वीकार नही करते, अपितु अन्य आधारों पर जैसे हम्मीर-मद-मर्दन नाटक में खर्परखान के वर्णन आदि के आधार पर साम्य स्वीकार करते हैं।[9] डा० बार्नेट तथा एच० सी० राय की भी को भी इस साम्य पर आपत्ति है। उनका मत है कि अमीर-ए-शिकार का संस्कृत रूप मीलच्छीकार नहीं हो सकता।[10] दशरथ शर्मा का मत है कि मीलच्छीकार अमीर-ए-शिकार का संस्कृत रूप नहीं है, अपितु

---

१. द्रष्टव्य, चा० गु० मजूमदार, पृ० १५७,
२. वही,
३. वही, पृ० १५६,
४. वही,
५. वही,
६. रासमाला, पृ० ३१६–२०, टिप्पणी भी,
७. चा० गु० पृ० १५६,
८. देखो, अ० चो० हि० दशरथ शर्मा, पृ० १५२, फुटनोट
९. चा० गु० पृ० १५६,
१०. अ० चो० हि० शर्मा, १५२, फुटनोट,

पैशाची रूप है। क्योंकि नाटक में भी दोनों शासक तथा मंत्री पैशाची में ही बातें करते भी हैं।[१] डा० मजूमदार ने बतलाया है कि किसी भी मुसलमान इतिहासकार ने राजपूतों के बंदी होने का उल्लेख नहीं किया है। और मेरुतुंग ने भी वस्तुपाल द्वारा सुलतान के गुरुजनों को बचाने की ही बात लिखी है। अतः वे नाटक में इसे बंदी बनाने की घटना को अविश्वस्त मानते हैं।[२] वह यह अवश्य मानते हैं कि खलीफा का दूत इस समय गुजरात में होकर ही गुजरा होगा।[३] पर बिना साक्ष्य के इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता, तथापि नाटककार ने इस घटना का उल्लेख अत्यन्त स्वाभाविक रूप से किया है। मजूमदार के अनुसार भी संभवतः इल्तुतमश के गुजरात पर आक्रमण के समय में घटित घटनाओं में से कोई ऐसी इतनी छोटी घटना हुई होगी जिसका जयसिंह को तो ज्ञान था, पर जिसका कोई मुस्लिम इतिहासकार उल्लेख नहीं कर पाया।[४] जो भी हो, नाटक के वर्णन से इतना स्पष्ट है कि यह इल्तुतमश का संभवतः दूसरा आक्रमण था। डा० शर्मा का अभिमत है कि यह आक्रमण इल्तुतमश ने लगभग विक्रम १२७८ के किया था।[५] शर्मा ने नाटकीय नटनाओं के आधार पर लिखा है कि इस समय मारवाड़ आदि के राजाओं ने वीरधवल के साथ मिलकर संघ का निर्माण किया था। और इल्तुतमश संभवतः धारवर्ष उदयसिंह, सोमसिंह तथा गुजरात की इस संगठित शक्ति से संभावित कठिनाई से अवगत हो गया था। तथा दूसरी ओर खलीफा को उससे फोड़ देने से खर्परखान ने उस पर आक्रमण कर दिया था और जब उसके सामने उसकी अपनी सीमा पर खर्परखान के आते हुए भय से वह विचिकित्सा में पड़ गया था और इन्हीं कारणों से उसे बिना आक्रमण के ही लौटना पड़ा या लौटने के लिए विवश होना पड़ा।[६]

नाटक की घटना से स्पष्ट है कि लावण्यप्रसाद के पुत्र वीरधवल ने गुजरात इतिहास में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। भीम द्वितीय के समय वीरधवल ने अनेक प्रदेश जीते तथा पराक्रम दिखाया। इसके उपलक्ष्य में जनता ने उसे अणहिलवाड़ा के महाराजाधिराज का पद ग्रहण करने का अनुरोध किया पर उसने भीम के प्रति

---

१. अ० चौ० हि० : दशरथ शर्मा पृ० १५२,
२. चा० गु० पृ० १५६,
३. वही,
४. वही,
५. अ० चौ० हि० शर्मा, पृ० १५२,
६. वही,

कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए अस्वीकार कर दिया, तथा आजीवन राजा ही बना रहा।[1] आबू के प्राप्त शिलालेख में राजा के साथ इसे महामंडलेश्वर भी लिखा है ।[2] वास्तव में वीरधवल की सफलता के कारण उसके दोनों मंत्री थे। इनके सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों में प्रामाणिक उल्लेख प्राप्त हैं ।[3]

नाटक में उदयसिंह के सचिव, उदयनपुत्र यशोवीर का भी उल्लेख है ।[4] रासमाला के अनुसार यह जाति का वैश्य तथा जाबलिपुर के चौहानराजा का मंत्री था ।[5] डा० शर्मा के अनुसार जालोर में इसने लगभग वि० सं० १२४८ से १२७८ तक शासन कार्य किया ।[6] नाटक मे भी वस्तुपाल इसका बड़े भाई के समान आदर करता था ।[7] यहाँ वस्तुपाल के बड़े भाई मल्लदेव का भी निर्देश हुआ है । नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि तेजपाल के पुत्र लावण्यसिंह ने भी वीरधवल के राज्यकाल में सक्रिय भाग लिया था । वस्तुपाल लावण्यसिंह की नीतिकुशलता की भूरि भूरि प्रशंसा करता है । नाटक की प्रस्तावना में वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिंह का भी उल्लेख है ।[8] इसी के आदेश पर जयसिंह ने भीमेश्वर की यात्रा पर अभिनय के लिए प्रस्तुत नाटक लिखा । जयन्तसिंह का नाम जैत्रसिंह भी मिलता है । यह वस्तुपाल की प्रथम पत्नी ललता देवी का एक मात्र पुत्र था तथा वह १२७९ में खम्बात का गवर्नर था ।[9]

वीरधवल अत्यधिक लोकप्रिय राजा था । रासमाला में लिखा है कि उसकी मृत्यु पर १८२ नौकर भी उसके साथ जल गए थे । तेजपाल ने सेना की सहायता से इस क्रम को रोका ।[10] वीरधवल का जन्म ११७० या ११८० या १२३७ ईस्वी तक

---

१. रासमाला, पृ० २७४, फुटनोट.
२. वही, पृ० ३१६,
३. विशेष द्रष्टव्य, वसन्तविलास ३।३५–९२, सुकृत-संकीर्तन २।५१, ३।१–६२, वस्तुपाल-तेजपाल-प्रशस्ति ३५–५१, रासमाला, पृ० ३२२–४६, तथा हम्मीर० नोट्स आदि ।
४. हम्मीर पृ० ४४,
५. रासमाला, पृ० ३४९,
६ अ० चौ० हि० पृ० १५४,
७. हम्मीर० पृ० ५४, ५।४८,
८. वही पृ० १,
९. द्रष्टव्य, हम्मीर० नोट्स, पृ० १,
१०. रासमाला, पृ० ३२१,

माना जाता है।[1] नाटक के अन्त में अपने लालन-पालन के लिए माता मदनदेवी तथा पिता अर्णोराजसूनु अर्थात् लवणप्रसाद के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन है।[2] रासमाला में मदनदेवी के सम्बन्ध में तथा वीरधवल के बाल्यकाल के सम्बन्ध में कई कथा दी है।[3] नाटक से यह प्रकट है कि अपने पिता तथा माता के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ था, और इसी प्रकार वस्तुपाल के प्रति भी।

नाटक के पंचम अंक में धवलक को जाते हुए अत्यन्त संक्षेप में उसकी पत्नी जयतल्ल देवी के मिलन, नगर प्रवेश के समय स्वागत आदि का भी वर्णन है, वह अत्यन्त स्वाभाविक है। विश्वास होता है कि जयसिंह ने इसका उल्लेख घटित घटना के आधार ही किया होगा। जो भी हो, प्रस्तुत नाटक में प्रारम्भ से अन्त तक ऐतिहासिक घटनाओं की ही भरमार है। कल्पना का प्रयोग लेखक ने बहुत ही स्वल्प, विभातशेषा विभावरी (तृतीय अंक का प्रारम्भ) आदि सायंकालीन प्राकृतिक सुषमा के (द्वितीय अंक) वर्णन आदि में किया है, और वह भी साभिप्राय है। पंचम अंक में धवलक का प्रयोग करते समय मार्ग के ऐतिहासिक धार्मिक स्थानों का वर्णन भी काव्यात्मकता के लिए नहीं किया है। इनका भी अभिप्राय ऐतिहासिक घटनाओं की ओर संकेत करना है।

मुख्य रूप से इसमें ऐतिहासिक घटनाओं की ऐतिहासिक पुरुषों की प्रशंसा ही की गई है। अतः यह कभी कभी ऐतिहासिक प्रशस्ति सा प्रतीत होता है। वास्तव में इसमें सभी प्रमुखतः ऐतिहासिक घटनाएं हैं तथा उन घटनाओं को लेखक ने नाट्य रूप तो दे दिया है, किन्तु इतिहास तथा नाट्यकला का संतुलन नहीं हुआ है, अतः सर्वत्र इतिहास से बोझिल सा प्रतीत होता है। यही कारण है कि नाटकीयता तथा गत्यात्मकता का अभाव है। संवादात्मक रूप से घटनाओं का वर्णन ही कर दिया गया है, नाट्यकला का मंजुल विनियोग नहीं है। अतएव हम इसे इतिहास प्रधान ऐतिहासिक नाटकों की श्रेणी में रखना ठीक समझते हैं। वास्तव में यहाँ जयसिंह सूरि का मुख्य प्रयोजन वीरधवल से सम्बन्धित ऐतिहासिक घटनाओं को प्रशस्ति परक ढंग से नाट्य-रूप में उपनिबद्ध कर देना भर है, इससे अधिक कुछ नहीं। इस सबके होने पर यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इस नाटक में तत्कालीन राजाओं की जोड़ तोड़, तथा राजनीति का अच्छा चित्रण है। कम से कम गुप्तचरों के षड्यंत्र तथा सन्धिविग्रह में सक्रियता का पता चलता है। अतः कीथ का यह कथन

---

१. श्लो० गु० पृ० १६८, २०१,

२. हम्मीर, पृ० ५४,

३. रासमाला, पृ० ३१७,

कि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्त्व नहीं है,[1] उचित नहीं है। वास्तव में १२वीं सदी के चौहान इतिहास को तथा गुजरात के इतिहास के लिये इसकी समधिक उपादेयता है। अतः इतिहासकारों ने इतिहास के संस्कार, परिष्कार के लिए इसका उपयोग किया है।

सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पर्यवेक्षण—सांस्कृतिक चित्रण की दृष्टि से भी हम्मीर-मद-मर्दन का महत्त्व है। प्रस्तावना में भीमेश्वर की यात्रा का उल्लेख है तथा पंचम अंक में धवलक के मार्गवर्णन में माउण्ट आबू, अचलेश्वर पीठ, वशिष्ठाश्रम, चन्द्रावती, कर्णावती आदि के वर्णन का ऐतिहासिक तथा धार्मिक महत्त्व है। सरस्वती-महानदी, महाकाल आदि का भी वर्णन अत्यन्त उपयोगी है, किन्तु इन सबका संकेत मात्र हैं तथा ये इतिहास-प्रसिद्ध हैं। रासमाला में भी विस्तार से इनका वर्णन किया है।[2] अतः हम इनका उल्लेख उचित नहीं समझते।

हम्मीर-मद-मर्दन ह्रासकालीन नाटक है। साहित्यिक दृष्टि से हम्मीर-मद-मर्दन का यही महत्त्व है कि यह एक मध्यकालीन ऐतिहासिक नाटक है। नाट्यकला तथा काव्यात्मकता का इसमें सफल निर्वाह नहीं है। वस्तु-विन्यास असंतुलित है। पात्रों के चरित्रों पर वर्णन द्वारा प्रकाश डाला गया है। चरित्रगत विशेषताऐं कहीं भी स्वाभाविक रूप से नहीं उभर सकी है। नाट्य-योजना की अस्वाभाविक के कारण ही नाट्यरस का उन्मेष नहीं हो पाया है। इसलिये वस्तुतः हम्मीर-मद-मर्दन को वर्णनप्रधान नाट्यप्रबन्ध भी कहा जा सकता है। प्रस्तावना में यह निर्देश अवश्य है कि यह अभिनय के लिए रचा गया है, किन्तु इसके रूप-विधान से रंगमंच पर इसका रूपायित होना सर्वथा असम्भव प्रतीत होता है। भाषा जटिल, समस्त तथा भारी भरकम वाक्य बड़े २ तथा श्लोकों की बहुलता है। वर्णन विषयानुकूल तथा परिस्थिति के द्योतक होने पर भी लम्बे लम्बे अस्वाभाविक तथा जटिल हैं। अनुपयुक्त अलंकारों के आधिक्य से भाषा भी आत्मा दब गयी है। फलतः यह मात्र एक नीरस नाटक रह गया है। कीथ ने लिखा है कि इस नाटक का मुख्य उद्देश्य वस्तुपाल तथा तेजपाल की स्तुति-प्रशंसा मात्र है तथा उस वीरधवल की भी, जिसे ऐसे स्वामिभक्त सेवक प्राप्त हुए।[3] इसके अतिरिक्त यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि लेखक को इस स्तुति-प्रशंसा में भी उतनी सफलता नहीं मिली है जितनी कि तत्कालीन राजनीति के स्फुट चित्रण में। अतः निष्कर्ष रूप में हम यह मानते हैं कि हम्मीर-मद-मर्दन नाटक दृश्य काव्य की दृष्टि ने ह्रासकालीन, अतश्च सफल न होने पर भी ऐतिहासिक नाटक की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

---

१. संस्कृत ड्रामा, पृ० २५०,
२. रासमाला, पृ० ३२२–३३६,
३. संस्कृत ड्रामा, पृ० २५०,

११

अन्य मध्यकालीन ऐतिहासिक नाटक

(१) प्रतिज्ञाचाणक्य (अपखंड: उल्लेखप्राप्त)

अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में इस नाटक का दो बार उल्लेख किया है। प्रथम उल्लेख में नाटक का नाम प्रतिज्ञाचाणक्य तथा रचयिता का नाम महाकवि भीम का निर्देश दिया है। द्वितीय उल्लेख में प्रतिभाचाणक्य है :

(१) "प्रतिज्ञाचाणक्ये तन्महाकविना भीमेन राजापि विन्ध्यकेतुः शकार इति भूयसा व्यवहृतः।"[1]

कहीं कहीं—"भवतु ननयं लोके जातापशब्दपरंपरा,
परिचयमयी वार्ता कीर्तिनिकुष्य निकेतनी।"[2]

इतिमहाकविना भीमेन राजापि विन्ध्यकेतुः भूयसा व्यवहृत.।[2]

(२) "तथाभिधानयुक्तश्च प्रवेशको बाहुल्येन तापसवत्सराजप्रतिभाचाणक्य मुद्राराक्षसादिषु।"............[3]

कहीं-कहीं "प्रवेशकबाहुल्येन तावत्तापसवत्सराजप्रतिभाचाणक्यमुद्राराक्षसादिषु"[4]

उपर्युक्त उद्धरणों से कुछ निष्कर्ष निकलते हैं—(१) यह नाटक प्रतिज्ञाचाणक्य तथा प्रतिभाचाणक्य दो नामों से प्रसिद्ध था। (२) इसका प्रमुख पात्र चाणक्य था तथा दूसरा पात्र विन्ध्यकेतु भी था। अतः कथावस्तु मुद्रा० के

---

१. नाट्यशास्त्र: अभिनवभारती: सं० रामकृष्णकवि, बड़ौदा, वाल्यूम, २, १९३४ पृ० १६१,

२. देखो, प्रोसीडिंग्स फिफ्थ इंडियन ओरियन्टल कान्फ्रेन्स, वाल्यूम १, १९३०, पृ० ७८९,

३. अभिनवभारती: सं० रामकृष्ण कवि, २, १९३४, पृ० ४२५,

४. देखो, प्रोसीडिंग्स फिफ्थ० (उपर्युक्त) पृ० ७८९,

समान राजनैतिक होगी। (३) प्रवेशक-बाहुल्य के कारण यह नाटक अभिनेय रहा होगा। (४) इसका रचियता "भीम" महाकवि था।

उपर्युक्त उद्धरणों के अतिरिक्त "सुभाषितावली" तथा 'सूक्तिमुक्तावली" में भी "भीम" के नाम से कुल श्लोक प्राप्त हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये श्लोक नाटक से ही लिये गये हैं। विशेष रूप से सूक्तिमुक्तावली में उद्धृत "स्मेरास्सन्तु सभासदः........" इत्यादि श्लोक के सम्बन्ध में धारणा है कि ये प्रतिज्ञाचाणक्य की प्रस्तावना का प्रतीत होता है।[1] श्लोकों के अभिप्राय के आधार पर यह सम्भव अवश्य है, किन्तु बिना साक्ष्य के इस सम्बन्ध में दृढ़ता से कुछ नहीं कहा जा सकता।

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर कुछ विद्वानों का अनुमान है कि प्रतिज्ञा-चाणक्य की कथावस्तु मुद्रा० के समान होगी तथा मुद्रा० में प्रदर्शित राक्षस के चरित्र के विपरीत इसमें चाणक्य के चरित्र को प्रदर्शित किया होगा। अतः विश्वास किया जाता है कि भीम ने यह नाटक मुद्रा० की प्रतिस्पर्धी (प्रतियोगी) रचना के रूप में लिखा। किन्तु हमारा मत कुछ भिन्न है। यह तो अवश्य है[1] कि इसका कथानक राजनैतिक होगा तथा इसमें चाणक्य तथा मलयकेतु के समान विन्ध्यकेतु जैसे पात्रों का प्रयोग हुआ है। अतः भीम ने मुद्रा० से तो प्रेरणा ली होगी किन्तु हमारा यह भी अनुमान है कि प्रतिज्ञाचाणक्य की नाट्यपोजना भीम ने भास के प्रतिज्ञा-यौगन्ध-रायण के अनुकरण पर की होगी। इन दोनों नाटकों में नाम साम्य से यह ध्वनित होता है कि प्रतिज्ञायौगन्धरायण के समान प्रतिज्ञाचाणक्य में भीम का उद्देश्य चाणक्य के चरित्र को और भी सफलता से प्रदर्शित करना रहा होगा। इस सम्बन्ध में राजशेखर के एक श्लोक की ओर भी विद्वानों ने ध्यान आकृष्ट किया है। राजशेखर ने एक श्लोक में कालिंजर-नरेश भीमट की प्रशंसा की है :

कालिञ्जरपतिश्चक्रे भीमटः पंचनाटकीम्।
तेषु प्रबन्धराजत्वं प्राप्त स्वप्नदशाननम् ॥[2]

इस श्लोक के आधार पर निष्कर्ष निकाले गये हैं कि भीम और भीमट एक ही व्यक्ति हो सकते हैं। (२) यदि दोनों एक हों तो कालिंजर के राजा भीमट का समय इतिहास के अनुसार दशम सदी के पहिले था। (३) अभिनवगुप्त ने भीम को महाकवि कहा है। राजशेखर ने उसके ५ नाटकों का संकेत दिया है। अतः सम्भव है कि भीम ५ नाटकों का ही रचयिता था, उनमें से दो नाटक प्रतिज्ञा (प्रतिभा)

१. देखो, प्रोसीडिंग्स, फिफ्थ० पृ० ७८९,
२. प्रोसीडिंग्स ऑफ फिफ्थ इंडियन ओरियन्टल कान्फ्रेन्स, भाग १, १९३०, पृ० ७९०,

चाणक्य तथा स्वप्नदशानन अत्यधिक प्रसिद्ध थे। पर भीम तथा भीमट को निश्चित रूप से एक मानना असंभव है। कीथ के अनुसार इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी कहने का कोई दृढ़ आधार नहीं है[१] इससे अधिक भीम के सम्बन्ध में अधिक कुछ भी ज्ञात नहीं है। उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर भीम का समय भी निश्चित किया गया है। अभिनवगुप्त ने भीम को उद्धृत किया है अतः अभिनवगुप्त का समय अर्थात् १०वीं सदी (उत्तरार्ध) भीम की अन्तिम सीमा है। इसके पहले की सीमा के सम्बन्ध में मुद्रा० का समय माना जा सकता है। अतः यह अष्टम सदी के बाद की रचना है। और यदि राजशेखर का उद्धरण सही है, तो इस आधार पर कि चन्देलों का इतिहास ९वीं में शुरू हुआ है तथा चन्देलों के समय कालिंजर का पतन हो गया था[२] अतः भीम (भीमट) नवम् सदी के प्रारम्भ के या कुछ ही पूर्व रहा होगा। इस प्रकार अष्टम तथा नवम् के मध्य में भीम का समय माना जा सकता है।

(२) "ललित-विग्रह-राज" (अपखंड) :

परिचय:—श्री सोमदेव रचित "ललितविग्रहराज" नाटक शिलालेख के रूप में उपलब्ध पहला ऐतिहासिक नाटक है। महाकवि सोमदेव ने ललितविग्रहराज की रचना शाकम्भरी चौहान राजा विग्रहराज "चतुर्थ", जो कि बीसलदेव के नाम से प्रसिद्ध है, के सम्मान में की थी। सन् १८७५–७६ में अजमेर के "ढाई दिन के झोंपड़ा" नामक स्थान से एकाधिक अन्य शिलालेखों के साथ दो नाट्यलेख भी खोजे गये थे, उनमें "ललितविग्रहराज" अन्यतम है।[३]

नाटक का समय—इस नाटक की रचना पुरातत्वविदों के अनुसार ११५३ ई० के लगभग हुई थी।[४] आज भी राजपूताना म्यूजियम, अजमेर में म्यूजियम भवन के पूर्व भाग के प्रकोष्ठ में नं० २५४ में यह नाट्यअभिलेख रखा हुआ है। डा० कीलहार्न ने इसे १८९१ ई० में इण्डियन एन्टीक्विटी, भाग २० में संपादित भी किया था।[५] किन्तु देवनागरी लिपि में आज तक यह संपादित नहीं हुआ है।

---

१. संस्कृत ड्रामा, पृ० २३९,
२. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० २७९,
३. विशेष द्रष्टव्यः अजमेर: हिस्टारिकल एंड डेस्क्रिप्टिवः दीवान बहादुर हरविलास शारदा, पृ० ६९–७५,
४. वही, पृ० ७५ तथा राजपूताना म्यूजियम, अजमेर में स्थापित शिलालेख।
५. देखो, इं० ए० १८९१, भाग २०, पृ० २०१,

नाटक का कथानक— ललितविग्रहराज नाटक के इस अपखंड में तृतीय तथा चतुर्थ अंकों का अधिकांश भाग उपलब्ध है। प्राप्त नाटक शशिप्रभा तथा विग्रहराज के वार्तालाप के साथ शुरू होता है—शशिप्रभा की उक्ति से ज्ञात होता है कि दो प्रेमी विग्रहराज तथा देसलदेवी परस्पर अनुरक्त हैं। राजा को स्वप्नसमागम भी हुआ है कि वह प्रियाविरह से दुःखी है। देसलदेवी ने राजा के भावों को जानने लिये विश्वासपात्र सखी शशिप्रभा को भेजती है। शशिप्रभा देसलदेवी के समान ही राजा विग्रहराज को भी अत्यधिक अनुरक्त तथा विरहाकुल अवस्था में पाती है, और राजा के अनुराग तथा स्वप्नवृत्तान्त से देवलदेवी को आश्वस्त करने को लौटना ही चाहती है कि राजा विरह की अतिशयता के कारण तथा अपने जीवन के प्रति भाशंकित होने के कारण, प्रिया समागम होने तक के लिये उसे रोक लेता है, तथा उसके स्थान पर अपनी विश्वासपात्र कल्याणवती द्वारा यह समाचार भेजता है कि तुरुष्केन्द्र ने हमारे विरुद्ध आक्रमण के लिये प्रस्थान कर दिया है, ऐसा सुना जाता है। इस तुरुष्क के विरुद्ध युद्ध के प्रसंग से मै शीघ्र ही जाकर देवी को प्रसन्न करूंगा। "राजा शशिप्रभा के निवास आदि की उचित व्यवस्था करने के लिये चला जाता है। यहीं तृतीय अंक समाप्त होता है।

चतुर्थ अंक शकम्भरी विग्रहराज के शिविर से प्रारम्भ होता है। दो तुरुष्क बंदी प्रवेश करते हैं। वे एक उस चर से मिलने पर राजकुल के सम्बन्ध में पूछताछ करते हैं, जिससे तुरुष्क ने शकम्भरी के शिविर में भेजा है। वह शिविर में प्रवेश करने तथा अन्य देखे गये वृत्तान्त के सम्बन्ध में कहता है कि सोमेश्वर देव के दर्शन के लिये जाने वाले सार्थ के साथ उसने प्रवेश किया तथा यहाँ भिक्षाटन करता रहा। वह यह भी बतलाता है कि चाहमान की सेना में एक हजार हाथी, एक लाख घोड़े तथा दस लाख लड़ाकू पैदल हैं। वह यहभी बतलाता है कि उसकी सेना इतनी अधिक है कि पास में स्थित सागर भी सूख जाय। इसके पश्चात् वह राजकुल को बतलाकर चला जाता है। तब बंदी राजकुल में वहाँ पहुँचते हैं जहाँ कि राजा उस चर की प्रतिक्षा कर रहा है, जिसे कि उसने तुरुष्क हम्मीर के शिविर में भेजा है। इसी बीच चर भी लौट जाता है और राजा को शत्रु की सेना तथा कार्यों के सम्बन्ध में सूचना देता है। वह यह भी बतलाता है कि शत्रु की सेना में असमख्य हाथी, रथ, घोडे तथा पैदल हैं। शत्रु के शिविर में अनेक प्रवेश-निर्गमन के मार्ग हैं, तथा शत्रु-शिविर पूर्णतः सुरक्षित है। वह यह भी बतलाता है कि पहिले वह तव्वर से तीन योजन दूर था, किन्तु अब एक योजन ही रह गया है, तथा वहाँ यह किवदन्ती है कि युद्ध के लिए समस्त सेना को तैयार करके हम्मीरसेन यहाँ दूत भेजेगा। राजा समाचार सुनने के बाद चर को भेज देता है तथा मामा सिहवल को बुलाता है। सिंहबल तथा मंत्री श्रीधर के साथ परामर्श करता हुआ सिंहवल से अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में पूछता

है। सिंहबल शत्रु शिविर पर शीघ्र ही आक्रमण का परामर्श देता है, तथा मंत्री अर्थशास्त्र आदि के साक्ष्य के अनुसार बलवान शत्रु से न लड़ने का परामर्श देते हैं। किन्तु राजा मित्रों की रक्षा के अपने कर्तव्य के कारण स्वाभिमान के साथ युद्ध का निश्चय करता है। सिंहबल भी उसे प्रोत्साहित करता है। इसी बीच हम्मीर का दूत आ पहुँचता है। दूत राजकुल में प्रवेश करता हुआ विग्रहराज के प्रताप, प्रभाव, ऐश्वर्य तथा वैभव का वर्णन करता हुआ अत्यधिक पर्याकुल हो जाता है तथा अपने को कर्तव्यपालन में असमर्थ सा पाता है—"यहीं शिलालेख पर उत्कीर्ण नाटक समाप्त हो जाता है।

साहित्यिक समालोचन— ललितविग्रहराज नाटक के उपर्युक्त कथानक पर निबद्ध दो अंकों के अपखण्ड ही उत्कीर्ण रूप में प्राप्त है। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि समग्र नाटक मे कितने अंक रहे होंगे। अनुमानतः यह नाटक ५ अंकों से कम का नहीं होगा। किन्तु उपलब्ध दोनों अपखंड बीच के हैं जहां कि कथानक का विन्यास प्रयत्न के पश्चात् प्राप्त्याशा तथा नियताप्ति के रूप में चरम उत्कर्ष पर है। इसी अपूर्णता के कारण इसका साहित्यिक तथा ऐतिहासिक मूल्यांकन किसी सीमा तक भले ही सम्भव हो, किन्तु सर्वांगीण विवेचन सर्वथा असंभव होगा।

साहित्यिक दृष्टि से ललितविग्रहराज नाटक १२वीं सदीकी उत्कृष्ट रचनाओं में से एक है। नाट्यकला के परिप्रेक्ष्य से अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि नाटककार नाट्यकला में सिद्धहस्त है। प्रणयप्रधान कथानक को समकालीन राजनैतिक कथानक से सश्लिष्ट करके इस प्रकार उपन्यस्त किया है कि दोनों में अत्यधिक तादात्म्य होने के कारण कहीं भी शिथिलता का आभास नहीं होता है। नाटककार का भाषा पर पूर्ण अधिकार है। संस्कृत प्राकृत दोनों का ही समान अधिकार से प्रयोग किया गया है। नाटक के प्राप्त अंश में पद्य गद्य से कुछ कम हैं, सभी पद्यों का विनियोग औचित्यपूर्वक कथा के अंग के रूप में ही किया गया है। निष्प्रयोजन पद्यों की थेकली कहीं नहीं लगाई गयी है। राजा की उक्ति के रूप में निबद्ध कुछ पद लालित्य की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन पड़े हैं। भाषा में लोच, स्निग्धता, सुकुमारता तथा शालीनता है। संवादों के द्वारा ही कथा-भाग को आगे बढ़ाया गया है। संवाद छोटे-छोटे तथा नाटक में प्रवाहोत्पादक और प्रभावोत्पादक हैं निःसन्देह सोमनाथ ने ललितविग्रहराज की रचना करके न केवल अपने आश्रयदाता वीसलदेव के वंश को अमर बनाया है, अपित अपनी नाट्यकला की सफलता के द्वारा वह स्वयं भी अमर हो गया है।

ऐतिहासिक समालोचन—ललितविग्रहराज नाटक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। विग्रहराज वीसलदेव सुप्रसिद्ध चौहान शासक था। यह अर्णोराज के

बाद जुगदेव को अपदस्थ करके लगभग ११५२ ई० में राज्य पर बैठा तथा इसने लगभग ११६४ ई० तक शासन किया।[1] विग्रहराज तथा देसलदेवी की प्रणयकथा ही नाटक में आधिकारिक कथा के रूप में वर्णित है। सोमदेव के अनुसार देसलदेवी वसन्तपाल की पुत्री थी।[2] वसन्तपाल इन्द्रपुर का शासक बतलाया जाता है। किन्तु डा० कीलहार्न का वसंतपाल दिल्ली के तोमरों से सम्बन्धित होने की संभावना करते हैं। सिंहबल तथा श्रीधर भी ऐतिहासिक पात्र प्रतीत होते हैं। अन्य पात्र कल्पित हैं।

ललितराजविग्रह के उपलब्ध अपखंड में नायक-नायिका से सम्बन्धित प्रणय-कथा आधिकारिक होने पर भी स्वल्प मात्र हैं। यहाँ प्रासंगिक कथा ही अधिक मात्रा में है। इस नाटक में तुरुष्क हमीर के आक्रमण तथा युद्ध की परिस्थिति का तो चित्रण है, किन्तु जिस प्रकार नाटक समाप्त होता है, उससे यही ज्ञात होता है कि विग्रहराज तथा हम्मीर में युद्ध नहीं हुआ होगा। किन्तु देहली के सुप्रसिद्ध शिवालिक स्तम्भ के अभिलेख (११६४ ई०) से ज्ञात होता है कि विग्रहराज ने मुसलमानों के विरुद्ध सफल युद्ध लड़े थे तथा उन्हें हिन्तुस्तान के बाहर खदेड़ दिया था। शिवालिक के अभिलेख के अनुसार विग्रहराज ने विंध्य तथा हिमाल के बीच के प्रदेश (आर्यावर्त) को मुसलमानों से विहीन करके, सच्चे अर्थ में आर्य भूमि बना दिया था।[3] संभव है इस उल्लेख में कुछ अतिरंजना भी हो, तथापि, यह तो अनेक, सुदृढ़ साक्ष्यों से प्रकट है कि वह अत्यधिक पराक्रमी शासक था। विग्रहराज ने आसपास के जालौर, पाली आदि अनेक स्थानों को जीता तथा आक्रमण करके ११५५ और ११६३ बीच में दिल्ली को जीता था[4]। डा० त्रिपाठी का अनुमान है कि यह उसने विजयचन्द्र गाहडवाल से[5] जीती होगी।

ललितविग्रहराज नाटक के विभिन्न उल्लेखों से भी यह प्रकट होता है कि विग्रहराज वीसलदेव प्रतापी शासक था। नाटक में जिस समय मंत्री श्रीधर अर्थशास्त्र

---

१. अजमेर : हिस्टारिकल ऐंड डेस्क्रिप्टिव : शारदा, पृ० १४४, प्रा० भा० इति० त्रिपाठी, पृ० २५०,

२. राजा-कल्याणपति, अजस्व अवनिपते : वसन्तपालस्य पुत्रीमस्मद्‌वचनादनु मोदयितुम्",

३. इ० ए० वाल्यूम २०, पृ० २०१, फुटनोट,

४. अजमेर० हर विलास शारदा, पृ० १४४,

५. वही,

६. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी पृ० २५०,

के साक्ष्य को प्रस्तुत करते हुये बलशाली शत्रु से युद्ध को अनुपाय बतलाता है, तो विग्रहराज उसके परामर्श को कायरता का द्योतक मानकर उसकी अवहेलना करता है, तथा सिंहबल के परामर्श के अनुसार युद्ध को सन्नद्ध होता है। वह कर्तव्य के पीछे प्राणों के बलिदान को भी कुछ महत्व नहीं देता।[1] हम्मीर के दूत के प्रवेश के समय के वर्णनों से भी विग्रहराज का प्रताप तथा प्रभाव स्फुट रूप में व्यक्त होता है।

इसी प्रकार नाटक मे हम्मीर तथा विग्रहराज की सैन्यशक्ति का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। नाटक में परिगणित संख्या को यद्यपि विश्वस्त नहीं माना जा सकता, तथापि उससे सेना की विशालता का अनुमान अवश्य लग जाता है। इसी प्रकार नाटक से यह भी स्पष्ट होता है कि शिविरों में सुरक्षा की दृष्टि से प्रवेश-निर्गमन के अनेक मार्ग होते थे तथा गुप्तचरों का भी प्रयोग होता था। इतिहासकारों की मान्यता है कि भारतीय इतिहास में विग्रहराज ही सर्वप्रथम पराक्रमी चौहान था, जिसका न केवल राजस्थान या चौहानों के इतिहास में, अपितु समस्त भारतीय इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान है। विग्रहराज के पश्चात् ही दूसरा चौहान पृथ्वीराज हुआ, जिसने भारतीय इतिहास को प्रभावित किया।[2] नाटक से यह भी प्रकट है कि विग्रहराज वीशलदेव पराक्रमी शासक ही नहीं था, वह सहृदय प्रेमी भी था तथा सोमदेव जैसे कवियों का आश्रयदाता भी। इसके अतिरिक्त उसी के द्वारा रचित "हरकेलि नाटक" से यह भी प्रकट है कि वह स्वयं कवि था।[3] डा० कीलहार्न ने विग्रहराज की इस नाट्यरचना को कालिदास और भवभूति की काव्यकीर्ति की प्रतिस्पर्धा बतलाते हुए लिखा है—

Actual and undoubted Proof is here offerded to us of the fact that powerful Hindu rulers of the past were eager to compete with Kalidas and Bhavabhuti fo poetical fame.[4]

(७) **कर्णसुन्दरी**—यह बिल्हण रचित सुप्रसिद्ध नाटिका है। इसका रचना काल लगभग १०८०–९० ई. है। इस चार अंक की नाटिका में अपने आश्रयदाता गुजरात स्थित अणहिलवाड़[5] के चौलुक्य राजा कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (१०६४–९४) का कर्णाटक के राजा जयकेशिन् की कन्या के साथ वृद्धावस्था में हुए विवाह के वृत्त को उदात्तशैली में नाट्यबद्ध किया गया है। बिल्हण एवं उसकी कृतियों का

---

१. ललितविग्रहराज, चतुर्थ अंक,
२. अजमेर० शारदा पृ० १४४–४५,
३. वही, पृ० ७८, १४५,
४. इ० ए० भाग २०, १८९१, पृ० २०१,
५. आधुनिक 'पाटन',

ऐतिहासिक तथा साहित्यिक परिशीलन अनेकशः विस्तार से हो चुका है, अतः यहाँ स्थानाभाव के कारण परिचय मात्र देना ही उचित समझते हैं, पिष्टपेषण करना नहीं।

(४) "**पारिजात मंत्री**" "(अपूर्ण)" पारिजात मंजरी सर्वप्रथम स्वर्गीय श्री काशीनाथ कृष्ण लेले को नवम्बर १९०३ में, मालव नरेशों की प्राचीन राजधानी "धार" की भग्नावशेष भोजशाला से एक शिलाखंड के रूप में प्राप्त हुई। परिजात मंजरी के समग्र ४ अंक दो काले रंग के शिलाखंडों पर उत्कीर्ण थे, किन्तु उनमें से आज एक ही शिलाखंड प्राप्त है तथा उस पर प्रारम्भ के दो अंक उत्कीर्ण हैं। दूसरा शिलाखड आज भी टुकड़ों के रूप मे प्रायः नष्ट भ्रष्ट होकर फर्श में इतस्ततः लगा हुआ प्रतीत होता है। अतः पारिजात मजरी हमें केवल दो अंकों में उपलब्ध है। इसे हुल्ट्ज ने सर्वप्रथम "एपिग्राफिआ इंडिका" वाल्यूम ८ में विस्तृत भूमिका के साथ पृष्ठ ९६–१२२ में सम्पादित किया तथा १९०६ में पुस्तकाकार भी। बाद ये विक्रम-स्मारक समिति ने भी मूलरूप में इसे प्रकाशित किया है। और अब भोज-प्रकाशन, धार, से यह १९५२ में प्रकाशित हो चुकी है।[१]

प्रो० हुल्टज ने परिजात मंजरी के अतिरिक्त इसको "धार-प्रशस्ति" के रूप में उल्लेख किया है, किन्तु इसकी प्रस्तावना में इसका दूसरा नाम "विजयश्री" भी लिखा है।[२] नाम्ना "विजयश्री" पारिजातमंजरी का रूपान्तर है। अतः दोनों एक ही हैं। अतश्च यह पारिजातमजरी तथा विजयश्री दोनों नामों से प्रसिद्ध है।

नाटिका का रचीयता तथा समय—पारिजातमंत्री के रचीयता राजगुरु श्री मदन है। मदन कवि प्रसिद्ध जैन विद्वान् आशाधर के शिष्य थे। प्रस्तावना में इन्हें गौड़वंशी (गौड देश के गौड ब्राह्मण) गंगाधर का वंशज कहा है।[३] मदन कवि अर्जुन वर्मा के आश्रित राजगुरु थे। अर्जुनवर्मा के तीन ताम्रपत्र भी प्राप्त हैं, जिनका समय क्रमशः १२११, १२१३, तथा १२१५ है।[४] इन सभी ताम्रपत्रों के रचियता भी मदनदेव हैं। यही मदनदेव नाटककार हैं। अतः स्पष्ट है कि पारिजातमंजरी एक समकालीन रचना है और इसका रचनाकाल १२१३ या १२१५ माना जा सकता

---

१. द्रष्टव्यः पारिजातमजरी, भूमिका, पृ० १, हमने यहाँ इसी संस्करण का प्रयोग किया है :

२. पारिजातमंजरी, पृ० २,

३. वही पृ० २,

४. ए० इ० वाल्यूम, ७, पृ० ९८,

है।[1] मदनकवि केवल राजगुरु ही नहीं थे, अपितु अर्जुनवर्मा के उपाध्याय अर्थात् शिक्षक भी थे। अपनी विद्वता के कारण इन्हें "बाल सरस्वती" भी कहा जाता था।[2] अर्जुनवर्मा ने अमरुशतक की अपनी टीका रसिक-संजीवनी में अपने (गुरु) उपाध्याय मदन का एक शार्दूलविक्रीडित भी उद्धृत किया है तथा इन्हें कई अन्य श्लोकों का लेखक भी कहा है। स्पष्ट है कि इसने पारिजातमंजरी के अतिरिक्त और भी काव्य आदि लिखे होंगे प्रस्तावना में इसे अभिनव कृत्ति लिखने से भी यही प्रकट होता है।[3]

नाटक का कथानक—गुजरात के राजा जयसिंह के साथ युद्ध करते समय परमार राजा अर्जुनवर्मन् के पराक्रम से आश्चर्यचकित होकर देवताओं के द्वारा पुष्प-वृष्टि करते समय एक पारिजातमंजरी अर्जुनवर्मा के वक्षस्थल पर गिरि, और एक कामिनी के रूप में परिणत हो गयी, तभी आकाशवाणी से इस कल्याणी विजयश्री के उपभोग का आदेश हुआ। वास्तव में यह कोई स्वर्गीय घटना नहीं थी, अपितु चालुक्य राजा के एक जयश्री नाम की कन्या थी, वह अभीष्ट वर प्राप्त न होने के कारण मर गई थी। पुनः उसी का पारिजातमंजरी के रूप में आविर्भाव हुआ और वही इस स्त्रीरूप में परिवर्तित हो गई। राजा अर्जुनवर्मा ने लोक लज्जा आदि के कारण (या पटरानी सर्वकला की आँखों से दूर रखने के उद्देश्य से) उस (विजयश्री) पारिजात मंजरी को उद्यानपाल कुसुमाकर को तथा कुसुमाकर ने अपनी पत्नी वसन्त-लीला को दे दिया। इस प्रकार वह धारागिरि के लीलोद्यान में पहुँच गई जहाँ उसके रहने-सहने की समस्त व्यवस्था कर दी। इसके पश्चात् सपरिजन राजा रानी के बसन्तोत्सव मनाने के विस्तृत वर्णन के साथ वसन्तोत्सव नामक प्रथम अंक समाप्त होता है।

द्वितीय में धारागिरि लीलोद्यान में ही रानी सर्वकला के आम्रवृक्ष तथा माधवीलता के विवाह का आयोजन किया। सेवक-सेविकाओं ने इस अवसर पर विरहिणी परिजात-मंजरी के साथ विरही राजा के गुप्तमिलन की व्यवस्था की। बसन्तसेना ने वृक्ष-पल्लवों में परिजातमजरी को इस प्रकार छिपाया कि रानी के "ताडंक" नामक कर्णकुण्डल में प्रतिविम्बित परिजातमंजरी को राजा ने देखा। फ़लतः राजा प्रसन्न हुआ, किन्तु पल्लवों में उसके छिप जाने पर प्रतिबिम्बित न देख पाने से से कभी-कभी निराश भी। रानी को राजा की ऐसी दशा देखकर सन्देह हुआ और वह सब रहस्य को समझ कर तिरस्कार की भावना से कनकलेखा के साथ निकल

---

१. इ० ए० वाल्यूम ३५, १९०६, पृ० २३५,
२. पारिजातमंजरी, इन्ट्रोडक्शन पृ० २,
३. पारिजातमजरी, पृ० २,

गई। इस घटना से अप्रसन्न होकर पारिजातमंजरी भी वसन्तलीला के साथ निकलने को उद्यत हुई। उसके साथ राजा ने प्रणयाभिसार किया। तभी कनकलेखा रानी के कर्णाभूषणों को लेकर आयी और राजा को व्यंग्यात्मक संदेश दिया। राजा भी रानी के क्रोध के कारण को समझ कर एवं विवश होकर पारिजात-मंजरी को सकरुण सान्त्वना देकर चला गया। परिजात-मंजरी ने दुखित होकर आत्मघात का निश्चय किया, किन्तु वसन्तलीला ने उसे बचाने का निश्चय किया। इस प्रकार ताडंक दर्पण नामक यह अंक समाप्त होता है।

कथानक की ऐतिहासिक—पारिजातमंजरी की प्रस्तावना के अनुसार इसका सर्वप्रथम अभिनय वसन्तोत्सव पर धार के सरस्वती मंदिर में, जिसे शारदाभवन तथा भारतीभवन कहा जाता था, हुआ।[1] प्रस्तुत नाटिका वास्तव में एक "प्रशस्ति" है। नाटिका के प्रथम श्लोक में लेखक इस ओर संकेत करता हुआ लिखता है कि भोज के गुण प्रभाव को लिखकर वर्णन करना कठिन है। तब भी अर्जुनवर्मा के रूप में भोज के ही अवतार लेने के कारण, उसके गुण-प्रभाव का आस्वाद लिया जा सकता है। इसी कारण उनको इन दो शिलाओं में अंकित किया जा रहा है।[2] प्रकट है कि मदनकवि ने अर्जुनवर्मा के गुणमहात्म्य-वर्णन के लिए ही प्रस्तुत नाटिका की रचना की थी, तथा शिलाओं पर उत्कीर्ण कराया गया था। इससे यह भी अनुमान होता है कि इस नाट्य-प्रशस्ति का प्रदर्शन तथा शिलांकन इसके नायक अर्जुनवर्मा के समय में ही हुआ होगा।[3] यही कारण है कि इसका ऐतिहासिक महत्त्व भी बढ़ जाता है। उपलब्ध शिला पर उत्कीर्ण द्वितीय अंक के अन्तिम श्लोक से हमें यह भी ज्ञात होता है कि "सीहाक नामक सुप्रसिद्ध शिल्पी के पुत्र रामदेव ने इस प्रशस्ति को शिला पर अंकित किया है।"[4]

पारिजातमंजरी एक नाटिका है। इसके कुसुमाकर, वसन्तलीला आदि अन्य अधिकांश पात्र काल्पनिक हैं अतः इससे ऐतिहासिक तत्वोलब्धि की विशेष आशा नहीं की जा सकती। पर, इसके नायक-नायिका दोनों ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। प्रशस्तिकार ने प्रसंगवश अर्जुनवर्मा से सम्बन्धित तथा कुछ अन्य ऐतिहासिक घटनाओं का भी उल्लेख किया है।

---

१. पारिजातमंजरी, पृ० २
२ वही, १।१,
३. ए० ई० वाल्यूम ८, पृ० ६८,
४. पारिजातमंजरी २।७६,

नाट्य-प्रशस्तिकार ने नायक का नाम अर्जुन तथा अर्जुनवर्मा लिखा है। यह धारा का परमारवंशी तथा धारा-नरेश भोज का वंशज राजा था।[१] नाटक में इसे सुभटवर्मा का पुत्र कहा है।[२] यह तथ्य ताम्रपत्रों से भी स्पष्ट होता है।[३] सुभटवर्मा के पश्चात् अर्जुनवर्मा १२१० ई० में गद्दी पर बैठा अतः यह भोज की ८वीं पीढ़ी में हुआ।[४] मदनकवि ने अर्जुनवर्मा को भोजदेव के समान ही लिखा है एवं अवतार भी माना है।[५] नाटिका में भोज का कृष्ण के साथ तथा अर्जुनवर्मा का अर्जुन के साथ साम्य बतलाया है।[६] नाटिका में यह भी बतलाया है कि भोजदेव ने कलचुरी के गांगेयदेव को पराजित किया था, तथा अर्जुनवर्मा ने गुर्जरपति जयसिंह को पराजित किया।[७]

नाटिका की कनिष्ठा नायिका है। इसकी उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रारम्भिक वर्णन से यह काल्पनिक प्रतीत होती है। आलंकारिक तथा प्रतीकात्मक वर्णन से वास्तविकता का सहज ही ज्ञान नहीं होता है तथापि "चौलुक्यमहीमहेन्द्रदुहिता" के रूप में उल्लेख करने से ही इसकी ऐतिहासिकता में विश्वास होता है।[८] पर, प्रो० हुल्ट्ज ने विजयश्री को कल्पित पात्र माना है, राजवंश से सम्बन्धित नहीं।[९] स्टेनकोनो नाटिका के वस्तु-तत्त्व के आधार पर उसे निम्न-वर्गीय पात्र मानते हैं।[१०] उनकी मान्यता है कि नाटिका में एक मुख्य राजवंश की नायिका चाहिए और यह सर्वकलाहै। स्टेनकोनो ने नाटिका में उल्लिखत पारिजातमंजरी के जन्म से सम्बन्धित कल्पित कथा के आधार पर अनुमान किया है कि लेखक का अभिप्राय यहाँ उसे राज्यवंश से निम्न बतलाने का है। किन्तु ये दोनों मत भ्रामक हैं। दशरूपक में कनिष्ठा के सम्बन्ध में यह नहीं लिखा कि वह हीनवर्णा होती है, अपितु वहाँ कनिष्ठा नायिका को भी ज्येष्ठा के समान नृपवंशजा, मुग्धा, दिव्या तथा अतिमनोहरा का विधान है।[११] इसके अतिरिक्त विजयश्री

---

१. पारिजातमंजरी १।१, ३, ६ तथा ४—५,
२. वही, १।१०,
३. ए० ई० ८, पृ० ९८,
४. दि परमार ऑफ धार एण्ड मालवा, पृ० ३८—३९,
५. पारिजात मंजरी, १।१, ३, ६,
६. वही १।३,
७. वही,
८. द्रष्टव्य, वही १।६, ७, कुछ इसका नाम पद्मावती भी बताते हैं।
९. ए० इ० ८, पृ० १०१,
१०. इ० ए० ३५, पृ० २३६,
११. दशरूपक ३।४५—४६,

के लिए लेखक द्वारा प्रयुक्त नायिका शब्द से उसकी कुलीनता का ही संकेत है। श्री के. एम. मुंशी के अनुसार भी पारिजातमंजरी या विजयश्री गुजरात के राजा जयसिंह की ही पुत्री थी।[1] उनका अनुमान है कि क्योंकि नाटिका के उपलब्ध २ अंक विजयश्री के प्रणय-प्रसंग में ही समाप्त हो जाते हैं, इससे प्रतीत होता है कि नाटिका के अन्त में विजयश्री का राजा के साथ विवाह किया जा सकना संभव है। इससे पुनः यह भी प्रकट होता है कि १२१० ईस्वी से पहिले जयसिंह गुजरात पर पूर्णतः अधिष्ठित हो चुका था।[2]

प्रस्तुत नाट्य प्रशस्ति में उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त अन्य पात्र तथा घटनायें कल्पित हैं। प्रो० हुल्ट्ज ने विजयश्री आदि कल्पित पात्रों के कारण इसे प्रशस्ति के रूप में असफल (Poor Panagysic) कहा है,[3] यद्यपि हम विजयश्री को ऐतिहासिक मानते हैं, तथापि यह सर्वप्रथम एक नाट्यरचना है, बाद में प्रशस्ति। अतः यहाँ विशुद्ध प्रशस्ति की आकांक्षा करना सर्वथा अस्वाभाविक है। नाटिका होने के कारण कवि को इसमें कल्पना-प्रयोग का पर्याप्त अवसर प्राप्त है। अतएव यह सर्वांश में प्रशस्ति नहीं बन पाई है तथापि प्रारम्भ में जिन ऐतिहासिक घटनाओं का जिस प्रकार निर्देश किया है, उनसे प्रशस्ति का रूप भी अक्षुण्ण रहा है। स्टेनकोना के अनुसार इसमें अनेक सुन्दर स्थल होने पर भी इसका काव्यात्मक महत्त्व अधिक नहीं है। सबसे प्रमुख बात यही है कि इसकी रचना जीवित, समकालीन राजा को नायक के रूप में विनियोग करके एक प्रशस्ति के रूप में हुई हैं।[4] अतः इसका ऐतिहासिक नाट्य-प्रशस्ति के रूप में महत्त्व कम नहीं है।

परमार नरेश भोजदेव ११वीं सदी के पूर्वार्ध में हुए थे। उत्तरी भारत में उस समय त्रिपुरा के कलचुरी राजा गांगेय विक्रमादित्य (१०१०–१०४१) दिनोंदिन प्रभुत्व की ओर बढ़ते हुए भोज से संतुष्ट न था। फलतः भोज ने गांगेय पर आक्रमण करके उसकी राजधानी त्रिपुरा को अधिकृत कर लिया था।[5] अर्जुनवर्मा द्वारा जयसिंह को पराजित करने की घटना भी ऐतिहासिक है। अर्जुनवर्मा के ताम्रपत्रों से भी यह ज्ञात होता है।[6] सन् १२०९ में चालुक्य राजा जयन्तसिंह या जयसिंह ने देश को अपने अधिकार में कर लिया था। फरवरी सन् १२१० में सुभटवर्मन् का

---

१. ग्लो० गु० मुंशी० पृ० २११,
२. वही पृ० २१२,
३. ए० इ० ८, पृ० १०१,
४. इं० ए०, ३५. पृ० २३६,
५. ग्लो० गु० मुंशी, पृ० १४३,
६. ऐ० इ० ८, पृ० ९९,

पुत्र अर्जुनवर्मन् गद्दी पर बैठा।[1] इसके शीघ्र बाद ही उसने जयसिंह को पर्वपर्वत के निकट हराया।[2] सन् १२३१ के उसके शिलालेख से स्पष्ट है कि जयसिंह पटना की गद्दी पर था।[3] उसने स्वयं को गुर्जरदेश को बचाने वाला लिखा है। नाटिका में उसे गुर्जरपति लिखा है।[4] नाटिका से अर्जुनवर्मा तथा जयसिंह के परस्पर युद्ध की भी झलक मिल जाती है। इसके अनुसार जयसिंह के साथ अर्जुनवर्मा का युद्ध पर्व-पर्वत के निकट हुआ था।[5] संभवतः पर्वपर्वत की उपत्यका दोनों राज्यों की सीमा थी।[6] इतिहासकार पर्वपर्वत को मालवा तथा गुजरात के बीच में स्थित मानते हैं।[7] प्रशस्तिकार ने जयसिंह तथा अर्जुनवर्मा के युद्ध की तुलना हिरण्यकश्यप के साथ विष्णु के युद्ध से की है।[8] इसमें दोनों की चतुरंग सेनाओं का आलंकारिक वर्णन किया है।[9] गुर्जर राजा की गजसेना का दमन, शत्रुस्त्रियों का अपहरण, गुर्जरेन्द्र की रमणियों को सौभाग्य सिन्दूर के अवलेपन तथा शत्रु समुदाय को अबला बना देने के वर्णन से उस युद्ध की भयंकरता तथा अर्जुनवर्मा के शौर्य का आभास होता है।[10]

नाटक में अर्जुनवर्मा को "त्रिविध-वीर चूडामणि" लिखा है।[11] यह इसकी उपाधि थी। ताम्रपत्रों में इसे त्रिविधवीर, तथा रसिक संजीवनी टीका में "वीर चूड़ामणि" उल्लेख है।[12]

नाटिका से नारायण नाम के प्रधान का ज्ञान होता है।[13] नाटिका में अर्जुन की प्रमुख रानी सर्वकला का भी उल्लेख है। इसे 'कुन्तलेन्द्रसुता" कहा है, अतः यह कुन्तल राजा की पुत्री थी।[14] प्रो० हुल्ट्ज ने कुन्तलेन्द्र का साम्य वीरमल्ल द्वितीय से

---

१. ग्लो० गु० मुंशी, पृ० २१०,
२. वही,
३. वही,
४. पारिजातमंजरी, १।७, १०, १८,
५. वही, १।४–५,
६. ऐ० इ० ८, पृ० ९९,
७. द परमार ऑफ धार एण्ड मालवा, पृ० ३९,
८. पारिजातमंजरी, १।४–५,
९. वही,
१०. द्रष्टव्य, वही तथा १।७, १०, १८,
११. वही, तथा अनेकशः,
१२. ए० इ० ८, पृ० ९९,
१३. पारिजातमंजरी, १।८,
१४. द्रष्टव्य, वही १।११, २।३७–६२ आदि,

माना है[1] जिसका समय ११७२–१२१६ ई० है ।[2]

साहित्यिक पर्यवेक्षण:—नाटिका 'पारिजातमंजरी' का नायक परमार वंश का प्रख्यात राजा अर्जुनवर्मा, धीर ललित है। दो नायिका हैं: ज्येष्ठा सर्वकला तथा कनिष्ठा पारिजात मजरी या विजयश्री। नाटिका की वस्तु मूलतः कल्पित है किन्तु प्रासंगिक घटनाओं के संकेत ऐतिहासिक हैं। अंगीरस शृंगार है। नाटिका के प्रथम अंक में मुख्यतः वसन्तोत्सव होने से उसका नाम वसन्तोत्सव अंक है। द्वितीय में ताडंक नामका कर्णाभूषण का दर्पण के समान विशेष प्रयोग किया गया है। अतः उसका नाम ताडंक दर्पण है।

नाटककार ने इसका कथानक "विक्रमांकदेवचरितम्", राजतरंगिणी, और हरिवंश के परिजातमंजरी नामक प्रसंग में वर्णित प्रणयकथा से सँजोया है। इसका नाट्य-विधान भी रत्नावली के आदर्श पर किया गया है। तथापि इस नाट्य-प्रशस्ति की अपनी विशेषतायें हैं। स्वाभाविक रूप से यद्यपि पात्रों के चरित्र उभरे नहीं हैं, किन्तु शृंगार रस की उद्भावना अत्यधिक परिस्फुट है। नायिका विजयश्री का श्रांगारिक वर्णन चित्रात्मक भावोद्दीपक तथा उत्तेजक है। प्रथम अंक राजप्रासाद तथा अन्तःपुर में घटित होता है। द्वितीय अंक धारागिरि लीलोद्यान तथा प्रमदवन में। नाटिका का प्रदर्शन ही वसन्तोत्सव पर शारदा भवन में ही नहीं हुआ था, अपितु इसके समग्र प्रथमांक में वसन्तोत्सव का ही वर्णन है। वसन्तोत्सव भारत का बहुत प्राचीन उत्सव है।[3] नाटिका में उसके लिए चैत्रोत्सव,[4] चैत्रपर्व[5] तथा मधूत्सव[6] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[7] इसमें वसन्तोत्सव के समय अबीर, कस्तूरी, गुलाल तथा रंग से परस्पर प्रणय-विनोद तथा नृत्य संगीत का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया गया है। हिन्दोलों के प्रसंग में वर्णित हिन्दोल-राग के स्वर संयोजन के वर्णन से तथा माधवी-सहकार के प्रणय-प्रसंग में निर्दिष्ट देशी तथा शास्त्रोक्त रागों के स्वर-विन्यास के निर्देश से लेखक का संगीत-ज्ञान प्रकट होता है।[8] माधवी-सहकार विवाह के अवसर पर महारानी के कर्णफूल में पारिजातमजरी को प्रतिबिम्बित करके राजा

---

१. ए० ई० ८, पृ० १०१,
२. ग्लो० गु० मुंशी, पृ० २११,
३. इ० ए० २६, पृ० १८७,
४. पारिजातमंजरी, ११६,
५. वही पृ० २,
६. वही १।१०–११, २०,
७. द्रष्टव्य, वही, १।२०–१२ आदि

को रूपसौन्दर्य को हृदयंगम कराने का प्रसंग अत्यन्त मार्मिक है। धारानगरी, शारदा-सदन, लीलोद्यान, विद्वत्सभा आदि का वर्णन भी सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार द्वितीय अंक में उपवन-विशेषज्ञों के "चित्र-प्रयोग" का वर्णन अत्यन्त उपादेय है। इस नाटिका से तत्कालीन धारा के सांस्कृतिक जीवन तथा नागरिक मनोविनोद आदि का अच्छा ज्ञान होता है। इसकी भाषा आलंकारिक है। संस्कृत का राजा आदि ने प्रयोग किया है, शेष पात्रों ने प्राकृत। गद्य में शूरसेनी तथा पद्य में महाराष्ट्री प्रयुक्त है।[1] कहीं-कहीं भाषा अत्यन्त सरल, सरस तथा स्वाभाविक है। कहीं-कहीं क्लिष्टता बढ़ गई है। गद्य प्रयोग में समस्त-पदानुराग, पद्यों की सरलता सरसता की अपेक्षा रसानुभूति में बाधक है, तथापि समग्र रूप में यह एक सरस रचना है।

(५) 'प्रतापरुद्रकल्याण'

श्री विद्यानाथ रचित 'प्रतापरुद्र कल्याण' छोटे-छोटे पाँच अंकों का नाटक है। डा० आफ्रेक्ट एवं कीथ आदि ने इसका उल्लेख किया। यह स्वतन्त्र रूप से भी प्रकाशित हुआ है। किन्तु वास्तव में यह स्वतन्त्र नाटक न होकर विद्यानाथ रचित विशालकाय लक्षण-ग्रन्थ "प्रतापरुद्रयशोभूषण" का ही एक भाग है। प्रतापरुद्र-यशोभूषण नामक अलंकार-ग्रन्थ में 'नाटक प्रकरण" नामक तृतीय प्रकरण में संधि आदि विभिन्न अंगों से युक्त नाटक के उदाहरण के रूप में यह उपन्यस्त है।[2]

रचयिता :—'प्रतापरुद्र यशोभूषण'[3] श्री विद्यानाथ की एक मात्र ज्ञात महान् कृति है। विद्वानों ने इस ग्रन्थ के अन्तः बाह्य साक्ष्य के आधार पर विद्यानाथ को प्रतापरुद्र का समकालीन माना है।[4] प्रतापरुद्र वारंगल के काकतीय वंश के यशस्वी राजा थे। सामान्यतः इनका समय १३ वीं शदी के ठीक अन्त तथा १४ वीं के प्रारम्भ में माना जाता है।[5] इस प्रकार विद्यानाथ का समय भी १३-१४ वीं शदी ठहरता है।

नाटक का कथानक:—प्रस्तावना में काकतीय वंश के परिचय के पश्चात् वैतालिकों द्वारा यह सूचना मिलती है कि काकतीय वंश के कुलदेवता भगवान रुद्रदेव

---

१. ए० इ० ८, पृ० १००,

२. प्र० रू० यशो० पृ० १३४—२१८,

३. यहाँ "प्रतापरुद्र यशोभूषण" में उदाहृत नाटक को ही अध्ययन के लिए प्रयुक्त किया है, प्र० संस्करण, १९०९, गवर्नमेंट सैंट्रल प्रेस, बम्बई।

४. प्र० रू० यशो० भूमिका, पृ० ११—१२ आदि

५. वही भूमिका, पृ० २४, तथा हि० सं० लिट० कृष्णमाचारी, पृ० ६४८,

ने प्रतापरुद्र के राज्याभिषेक की स्वप्न में आज्ञा दी है । इस स्वप्नादेश को कार्यान्वित करने के प्रसंग में स्वयं-भूदेव के अनुग्रह के फलस्वरूप श्रमण-महोत्सव किया जाता है । राज्याभिषेक के संभार की तैयारी होती है तथा जैत्र यात्रा का आयोजन किया जाता है । द्वितीय अंक में प्रतापरुद्र के अभिषेक के सन्दर्भ में दिग्विजय प्रस्थान का संभार वर्णित है । इसी समस्त अंक में विशाल विविध सैन्य-सामग्री का उल्लेख है। अंत में जैत्र-यात्रा का प्रवर्तन होता है । तृतीय अंक में विजय-यात्रा का सविस्तार वर्णन है । दो वार्ताहरों द्वारा प्रतापरुद्र के प्रताप का वर्णन तथा विजय का वर्णन है । चारों दिशाओं के कलिंग, पांड्य, अंग, वंग, कलिंग, मालव आदि के राजाओं को जीत कर प्रतापरुद्र लौट आता है । चतुर्थ अंक में महाभिषेक का आयोजन तथा पंचम अंक में महाभिषेक के सम्पादन का सविस्तार वर्णन है। इन अंकों के क्रमशः नाम कल्याणस्वप्न, विजय-यात्रा-विलास, वीर-रुद्रविजय, त्वरितमहोत्सव तथा प्रतापरुद्र-राज्याभिषेक है ।

साहित्यिक समालोचन:- नाटक वर्णन प्रधान है यह साहित्यक दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है । इसमें वर्णनानुवर्णना की अधिकता है । पात्रों का चरित्र-चित्रण प्राय: नहीं है । नाटक में शब्दतः प्रतापरुद्र के प्रताप, पराक्रम का उल्लेख अवश्य है । किन्तु वीरता, उत्साह आदि की उद्भावना कहीं नहीं है । इसमें एक नीरस कथानक को नीरस ढंग से ही उपन्यस्त कर दिया गया है । लेखक ने इसमें नाट्य-शिल्प के तत्वों का प्रदर्शन अवश्य किया है, किन्तु नाट्यकला की दृष्टि से कलात्मकता के तथा नाटकीयता के अभाव के कारण संवेदनशीलता, कलात्मक-सौन्दर्य तथा रसपेशलता आदि का सर्वथा अभाव है। केवल यह नाटक का उदाहरण है, जिससे नाटक के तत्वों के प्रयोग आदि के सम्बन्ध में यत्किंचित् ज्ञान भले ही हो सकता है ।

ऐतिहासिक समालोचन:—'प्रतापरुद्रकल्याण' एक ऐतिहासिक नाटक है, किन्तु इसमें किसी भी ऐतिहासिक घटना का व्यवस्थित रूप से उल्लेख नहीं है । प्रसंगवश स्थान-स्थान पर काकतीय-इतिहास के ऐतिहासिक व्यक्तित्वों का वर्णन है । अतः इससे वारंगल के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है । विशेष रूप से यह प्रतापरुद्र के समकालीन लेखक की रचना है, अतः इससे ऐतिहासिकता के निर्वाह की अपेक्षा की जाती है ।

नाटक के अनुसार प्रतापरुद्र काकतीय कुल का राजा था ।[1] काकतीय राजाओं का सम्बन्ध वारंगल (या औरूगल्लु) से माना जाता है । किन्तु, नाटक में प्राय: "एक शिला" से ही काकतीय राजाओं का सम्बन्ध दिखाया गया है ।[2]

---

१. प्र० रू० यशो० पृ० १४६ आदि

२. वही, पृ० १३५ आदि.

डा० बर्नेल के अनुसार वारंगल ओरुक्कल का, जिसका कि अर्थ "एकशिला" होता है, भ्रष्ट तथा मुसलमानी रूपान्तर है ।[1] अत: स्पष्ट है कि मूलत "वारंगल" शब्द का तात्पर्य भी "एकशिला" से है । एकशिला नगरी आन्ध्र तथा तैलंग की राजधानी थी । नाटक में एक स्थान पर "आन्ध्र" शब्द का भी इस देश के लिए प्रयोग हुआ है,[2] पर प्रायश: त्रिलिंग शब्द ही प्रयुक्त है ।[3] नाटक में 'त्रिलिंग" का प्राकृत रूप तिलंग लिखा है ।[4] इसी से तेलग और तैलंग शब्द तद्भव के रूप में उद्भूत हैं । प्रतापरुद्र को 'त्रिलिंगाधिप' लिखा[5] है । विद्वानों की मान्यता है कि श्री शैलनाथ आदि तीन लिंगस्वरूप देवताओं के अस्तित्व के कारण ही आन्ध्र को त्रिलिंग कहा गया है ।[6] इनमें से नाटक में श्री शैलनाथ का भी उल्लेख है ।[7]

काकतीय शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है । शब्दत यह गोत्रादि प्रतीत होता है । विद्वान कभी इस शब्द का सम्बन्ध काक अर्थ वाले काकत शब्द से ही जोड़ते हैं, तो कभी दुर्गा शक्ति के नामों से । डा० त्रिपाठी के अनुसार ये दोनों अर्थ समीक्षा के सामने नहीं ठहरते ।[8] प्रतापरुद्रयशोभूषण के काव्य-प्रकरण में रत्नापणी टीका में शाब्दिक व्युत्पत्ति का शब्द से सामञ्जस्य करते हुए लिखा है कि काकति नाम की दुर्गा शक्ति एकशिला के राजाओं की कुल-देवता थी । उसी की भक्ति या आराधना के कारण काकतीय नाम पड़ा है ।[9] नाटक में भी काकतीय कुल की दुर्गा देवी के समाराधन के साथ विजयप्रस्थान करके हनुमदचल के समीप विश्राम करने का संकेत है ।[10] ज्ञात होता है कि दुर्गादेवी काकतीयों

---

१. प्र० रू० यशो भूमिका, पृ० १२, फुटनोट,
२. प्र० रू० यशो० पृ० १७५,
३. वही, पृ० १६७,
४. वही,
५. वही, पृ० १३८,
६ द्रष्टव्य, वही, पृ० २१३, रत्नापणी टीका,
७. वही, पृ० २१३,
८. प्रा० भा० इति० त्रिपाठी पृ० ११९,
९. काकतिनिर्म दुर्गाशक्तिरेका शिलानगरेश्वराणां कुलदेवता, सा शक्ति-भंजनीआ अस्मेति काकतीय, देखो, प्र० रू० यशो० पृ० १० टीका तथा पृ० ४५०,
१०. वही, पृ० १६०,

की कुलदेवी थी। हनुमदाचल भी एकशिला राजधानी के पास ही था।[1] नाटक में एकशिला के काकतीय कुल के 'कुल देवता' स्वयम्भू देव का भी निर्देश है।[2] नाटक में इनका कुलगुरु[3] कुलपति,[4] तथा देवदेव भगवान[5] के रूप में उल्लेख हुआ है। नाटक से ज्ञात होता है कि स्वयम्भू की आज्ञानुसार ही 'रुद्राम्बा' को पुत्रभाव से राजा ने राज्य पर अधिष्ठित किया था तथा अब वीररुद्र को राज्यभार सौंपने का आदेश भी रुद्र ने दिया।[6] नाटक में इस स्वम्यभू के 'स्वप्नादेश' का ही प्रारम्भ में विस्तार से वर्णन है। इसमें ऐतिहासिक सत्य यही प्रतीत होता है कि काकतीय अपना समस्त राज्य-कार्य रुद्रदेव की आज्ञा समझ कर ही करते थे। स्पष्ट है कि रुद्रदेव के प्रति उनकी अपार भक्ति, श्रद्धा तथा निष्ठा थी। 'रुद्रदेव–स्वयम्भू' को, यही कारण है कि, कहीं रुद्र का अवतार माना है तो कहीं भगवान तक कह दिया है।[7]

नाटक में महादेव तथा मुम्मडम्बा की ओर प्रारम्भ में ही 'भूभृन्सुतामहादेवी-पितरौ' कहकर संकेत किया है।[8] रत्नापण टीका में इनका तात्पर्य मुम्मुडम्बा तथा महादेव से ही माना है।[9] विभिन्न हस्तप्रतियों में मुम्मुडम्बा के ही विभिन्न नाम प्राप्त हैं। नाटक में इन्हें प्रतापरुद्र के माता पिता के रूप में उल्लेख किया है।

नाटक में यह भी लिखा है कि प्रतापरुद्र के वीररुद्र तथा प्रतापरुद्र नाम इसके गुणों के अनुसार पड़े, वास्तविक नाम रुद्र ही था। रुद्रदेव या रुद्राम्बा ने स्वप्न में शिवस्वरूप स्वयम्भू को देखा। उन्होंने प्रतापरुद्र को महानताओं की प्रशंसा की तथा राज्यभार सौंपने का निर्देश दिया। नाटक में लिखा है कि काकतीय-धर ने रवि के समान प्रतापी होने के कारण इसका नाम प्रतापरुद्र रखा,[10] तथा विष्णु के अवतार के सदृश होने के कारण वीररुद्र नाम रखा।[11] और यहाँ तक

---

१. वही, भूमिका, पृ० १३,
२. प्र० रू० यशो पृ० १३५, १४६,
३. वही, पृ० १०७,
४. वही पृ० १४९,
५. वही, पृ० २४६,
६. वही १।२९, पृ० १५३,
७. वही, पृ० १४७ आदि
८. वही, पृ० १३६,
९. वही, टीका।
१०. प्र० रू० यशो० १।११ पृ० १३९
११. वही, १।१२, पृ० १३९,

कि कहीं-कहीं नाटक में इसे 'काकतीय विभागों" के रूप में भी उल्लेख कर दिया है।

नाटक से स्पष्ट है कि रुद्राम्बा एक स्त्री थी। इसे नाटक में सर्वांगनारी कहा गया है।[1] किन्तु इसने गणपति के पश्चात् पुरुष रूप में रुद्रदेव के नाम से शासन किया था। नाटक में इसे रुद्रनरेश्वर आदि भी कहा है।[2] यह गणपति तथा उमा की पुत्री कही गयी है। गणपति अपने गुणों के कारण शिव तथा उमा सोमा के रूप में चित्रित है।[3] यहीं गणपति को मानसशंभु भी लिखा है। नाटक के अनुसार गणपति के उत्तराधिकारी रुद्रदेव नाम से विख्यात रुद्राम्बा के अनन्तर ही राज्य पर बैठे। तत्कालीन विभिन्न अभिलेखों के अनुसार जो वंशावली निश्चित् की गयी है उससे भी ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम त्रिभुवनमल्ल, तब प्रोल, उसके बाद रुद्र, उसके बाद उसका छोटा भाई महादेव बैठा। महादेव के पश्चात् गणपति, गणपति के बाद पुत्र न होने से रुद्राम्बा और उसके पश्चात् प्रतापरुद्र बैठा। इस क्रम से रुद्राम्बा इस वंश की छठी शासिका थी और प्रतापरुद्र ७ वाँ।[4] डा० त्रिपाठी ने भी यही क्रम माना है। उन्होंने लिखा है कि पुत्रहीन होने के कारण गणपति का उत्तराधिकार १२६१ ई० के लगभग कन्या रुद्राम्बा को मिला, और प्रायः ३० वर्ष राज्य करने के पश्चात् प्रतापरुद्र बैठा।[5] इस प्रकार नाटक का क्रम प्रायः इतिहास-सम्मत है।

नाटककार ने प्रतापरुद्र के राज्याभिषेक से पूर्व दिग्विजय के प्रसंग में चारों दिशाओं के कलिंग, पाण्ड्य, अंग, वंग, मालव, गुर्जर, हूण, चोल, काश्मीर नेपाल आदि अनेक राज्यों के साथ युद्ध का वर्णन है। वह अतिरंजनात्मक तथा रूढ़ है। तथापि प्रतापरुद्र के अनेक शिलालेख, संस्कृत तथा तमिल में प्राप्त हैं। उनके अनुसार यह निश्चित है कि यह एक प्रतापी, पराक्रमी राजा था। इतिहासकारों के अनुसार यह दक्षिण के प्रसिद्ध ५ राजाओं में से एक था। इसने पड़ोसी यादव तथा पाण्ड्य आदि एवं मुसलमानों से भी युद्ध लड़े थे। काँजीवरम् के अभिलेख में इसे एकशिला का महामंडलचक्रवर्ती कहा है।[6] वस्तुतः प्रतापरुद्र काकतीय वंश का अंतिम

---

१. वही, १।२१, पृ० १४७,
२. वही, १।२०, पृ० १४८, १७५,
३. वही, १।२२, २३,
४. वही, भूमिका, पृ० १६,
५. वही, भूमिका, १६–२२,
६. प्रा० भा० इति० : त्रिपाठी, पृ० ३१६,
७. प्र० रु० यशो० भूमिका, पृ० १६,

प्रभावशाली नरेश था। यद्यपि 'प्रतापरुद्रकल्याण' एक समकालीन रचना है। पर नाटककार ने प्रशंसात्मक प्रशस्ति के रूप में नाटक का निर्माण किया। स्वयं नाटककार ने कई स्थलों पर इसे 'काकतिवीर का स्तोत्र'[1] 'चरित्रगान'[2] तथा चरितानुबन्ध[3] के रूप में निर्देश किया है। किन्तु यह चरित्र-वंश-परिचय तथा अतिरंजनात्मक प्रशंसा एवं गुणगान तक ही सीमित हैं। यद्यपि प्रतापरुद्र का साहसिक चरित्र ऐसी प्रशस्ति के सर्वथा योग्य था, तथापि 'प्रतापरुद्रकल्याण' को एक कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक प्रशस्ति भर कहना ही उचित है, इससे अधिक कुछ नहीं। तब भी यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि नाटककार विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्र यशोभूषण' अलंकार-ग्रन्थ तथा 'प्रतापरुद्रकल्याण' नाटक लिखकर प्रतापरुद्र के यश को अमर कर दिया है।

(६) गंगादास प्रतापविलास (अप्रकाशित)

प्रस्तुत नाटक गंगाधर कवि की रचना है। यह नाटक अप्रकाशित है। इंडिया आफिस कैटलाग, वाल्यूम ७ नं० ४१६७ में इसका सोद्धरण विस्तृत परिचय दिया गया है, उससे यह ज्ञात होता है कि यह ६ अंक का, किन्तु बहुश त्रुटित नाटक है। इसमें चंपकपुर (चम्पानेर) के राजा-चौहान हम्मीर के वंशज गंगादास भूवल्लभ प्रतापदेव के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को नाट्यबद्ध किया गया है। सामान्यत: इसमें भी उसकी दिग्विजय का वर्णन हैं, किन्तु मुख्यत: गुजरात के सुल्तान महमूद शाह द्वितीय (१५ वीं शदी) के साथ इसके संघर्ष का ही वर्णन किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि सुल्तान ने प्रतापदेव से उसकी कन्या की याचना की थी, किन्तु प्रतापदेव ने इसको ठुकराकर उसका अपमान किया। फलत: दोनों में भयंकर युद्ध हुआ। इस युद्ध में अन्य देशी राजपूतों ने भी सम्भवत: सुल्तान की ही सहायता की। नाटक में इस संघर्ष का प्रभावशाली वर्णन है। इसमें महमूद को अहमदशाह का, जिसने अहमदाबाद बसाया, का पुत्र कहा गया है। इसमें प्रतापदेव के पाव दुर्ग का पाथाचल आदि नामों से तथा उसके सचिव हरिराम, उसकी रानी प्रतापदेवी इत्यादि का उल्लेख है।

नाटक के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि लेखक तथा राजा दोनों शाक्त थे। इसमें महाकाली का अनेकशः उल्लेख हुआ है। यहाँ तक कि प्रस्तावना के अनुसार नाटक का अभिनय भी देवपूजन के समय हुआ था। यही नहीं, बल्कि यवनाधिप को

---

१. प्र० रू० यशो० पृ० १४१,
२. वही, पृ० १४०,
३. वही, पृ० १३६,

जीतने के लिये देवीसमाराधन का भी इसमें वर्णन है। उद्धरणों के देखने से यही ज्ञात होता है कि नाटककार इतिहास का अच्छा जानकार था, तथा उसने इसे ऐतिहासिक आधार पर लिखा है, और इसमें निःसन्देह ऐतिहासिकता एवं वीर रस संक्रान्त हुआ है एवं अनेक उपयोगी ऐतिहासिक उल्लेख हुए हैं। अतः हम इसे एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटक मानते हैं, किन्तु सम्पूर्ण रूप में स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध न होने से इसका यथोचित मूल्यांकन किया जाना असम्भव है।

(७) रामवर्मविलास [अप्रकाशित] :

यह नाटक गवर्नमेंट ओरियन्टल मानुस्क्रिप्ट लायब्रेरी मद्रास में सुरक्षित ५ अंकों का, अप्रकाशित नाटक है। वहाँ के कैटलाग भाग २ (१९८० ई०) में नं० १०९५ में रविवर्मविलास नाम भी लिखा है किन्तु हाल में प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इसका नाम रामवर्मविलास ही है।[1] इसका लेखक बालकवि सोमनाथ की चौथी पीढ़ी में हुआ। इसके पिता कालहस्ती तथा पितामह मल्लिकार्जुन थे। यह स्वयं कोचीन के राजा रामवर्मा (१५३७ ई०) की राजसभा में था, जिसने भाई गोदवर्मा (१५३७–६१ ई०) के लिए शासन त्याग दिया। प्रस्तुत नाटक में इस राजत्याग के वृत्त एवं वाराणसी आदि की तीर्थयात्रा आदि को नाट्यबद्ध किया गया है।

(८) रत्नकेतूदय [अपूर्ण] :

यह नाटक बालकवि की अपूर्ण रचना है। इसमें अपने आश्रयदाता राजा रामवर्मा के राज्य-त्याग तक के ऐतिहासिक वृत्त को नाट्यबद्ध किया गया है। अतः इसका ऐतिहासिक महत्त्व है, किन्तु यह अपूर्ण एवं अप्राप्य है, अतः इस पर विशेष प्रकाश डालना कठिन है।

(९) भोजराजसच्चरित (भोजराज चरित) :

परिचय—"भोजराज चरित" नामक नाटक का इंडिया आफिस काटलाग वाल्यूम ७, में नम्बर ४१८१, पर उल्लेख है। श्री एच. सी. राय ने १९३९ में यूरोप प्रवास में अपने "सुरजन–चरित" की खोज के प्रसंग में इण्डिया आफिस के संग्रह में "भोजराज सच्चरित" नामक नाटक की हस्तलिखित प्रति को देखा। उसे उन्होंने ई० हि० क्वा० सन् १९४१ पृ० ७-२७ में अपने संक्षिप्त समालोचन के साथ प्रकाशित करवाया है,[2] किन्तु श्री राय ने ई० ओ० का० की संख्या का उल्लेख नहीं किया है। यद्यपि ई० आ० का० में उल्लिखित तथा श्री राय द्वारा प्रकाशित नाटक के नाम से (सत् का) कुछ अन्तर है, पर वह अत्यन्त गौण है। अनुमानतः दोनों नाटक एक ही है।

---

१. उपर्युक्त सूचना १०।७।६३ को मद्रास लायब्रेरि से प्राप्त प्रश्नोत्तर के आधार पर है, खेद है कि पुस्तक प्राप्त नहीं हो सकी।

२. ई० हि० क्वा० १९४१, वाल्यूम १७, सितम्बर सप्लीमेंट्री, पृ० ७–२७,

रचयिता एवं रचनाकाल:—"भोजराज सच्चरित" केवल दो अंकों का है। द्वितीय अंक की समाप्ति पर "समाप्तोऽयं ग्रन्थः" भी लिखा हुआ है। इस लघु नाटक के लेखक का नाम सूत्रधार के द्वारा वेदान्तवागीश भट्टाचार्य बतलाया गया है, तथा उसके गुरु का नाम नारायण लिखा है।[1] नाटक के अन्तिम अंक की समाप्ति में भी गुरु श्रीमन्नारायण सरस्वती तथा लेखक वागीश भट्टाचार्य का उल्लेख है।[2] नाटक में नारायण सरस्वती को ब्रह्म-विन्मुनीन्द्र परमात्म-विद्या का पंडित तथा वाराणसी का निवासी बतलाया है। डा० मुकर्जी के अनुसार शंकर के ब्रह्मपुत्र के भाष्य पर वार्तिक लिखने वाले नारायण तथा नारायण सरस्वती एक है।[3] श्री राय का मत है कि सुरजन-चरित के रचयिता चन्द्रशेखर के निकट समय में ही वेदान्तवागीश, भट्टाचार्य हुए हैं। नाटक में सुरजनपुत्र भोज के चरित्र को उपजीव्य बनाया गया है, अतः यह सम्भव है कि थोड़ा बहुत आगा पीछा हो, पर ज्यादा नहीं। सुरजन-चरित का लेखक चन्द्रशेखर अकबर का समकालीन था तथा सुरजन की सभा में रहता था। भट्टाचार्य भी भोज का आश्रित प्रतीत होता है, अत वह १६वीं के अन्त तथा १७वीं के प्रारम्भ में रहा होगा।[4] नाटक से लेखक वैष्णव ब्राह्मण ज्ञात होता है। उसने स्वयं को लीला-विग्रह-धारी श्री कृष्ण के भक्त के रूप में चित्रित किया है[5] तथा उसने अनेक धार्मिक स्थानों का वर्णन भी किया है, किन्तु अपने सम्बन्ध में और कोई सूचना नहीं दी है।

ऐतिहासिकता:—वेदान्त-वागीश भट्टाचार्य ने नाटक के प्रारम्भ में गोपाल व्यास के पुत्र चक्रधर व्यास की प्रशंसा की है[6] तथा अन्त में धर्माध्यक्ष भी लिखा हैं।[7] वह सम्भव है कि चक्रधर व्यास भोज का धर्म-पंडित या धर्मगुरु हो। सुरजन चरित में भी गोपाल के पुत्र चन्द्रधर व्यास का उल्लेख है। प्रायशः नाटक में प्राचीन भोज का भी उल्लेख किया गया है तथा वर्तमान भोज को उसी के समान यशस्वी बतलाया है।[8] सभव है प्राचीन भोज से लेखक का अभिप्राय प्रतिहार भोज (८३६–

---

१. द्रष्टव्य, इं० हि० क्वा० १६४१, वही पृ० ८,
२. वही, पृ० २७,
३. वही, पृ० २ फुटनोट,
४. वही, पृ० ३,
५. वही, पृ० ७,
६. वही, पृ० ७,
७. वही, पृ० ४,
८. तथा प्रजा ························कृपालुः। वही, पृ० ६,

८२) या परमार भोज (१०१०-१०५५) से रहा हो,[1] किन्तु उसके सम्बन्ध में भी अन्य विशेष कोई संकेत नहीं है।

नाटक में सुरजन के पुत्र भोज का जो कि वृन्दावती का राजा था, चरित्र वर्णित है।[2] वृन्दावती का साम्य राजस्थान की बूंदी से माना गया है।[3] नाटक में सुरजन को भी वृन्दावती का राजा कहा है। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासकार टाड के अनुसार रावसुरजन बूंदी के राजा अर्जुन का सबसे बड़ा लड़का था। यह सन् १५३३ में शासनारूढ हुआ। सुरजन की मृत्यु के बाद इसका बड़ा लड़का राव भोज बूंदी की गद्दी पर बैठा। टाड ने इसकी कई विजयों का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि भोज निःसन्देह प्रतापी शासक था।[4] पर नाटक में भोज की धर्मान्धता, भक्ति, प्रजाप्रेम, वीरता, कृपालुता आदि का ही वर्णन है। नाटक में भोज के नाम का बारम्बार उल्लेख अवश्य है, किन्तु उसके जीवन से सम्बन्धित किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख नहीं है। अन्य पात्र प्रायः काल्पनिक हैं नाटक में भोज की माँ कनकराज्ञी कमला का उल्लेख अवश्य है,[5] किन्तु अन्य कोई ऐतिहासिक संकेत नहीं है। श्री राय ने लिखा है कि सुरजन चरित्र में गुर्जर देश पर भोज-विजय का उल्लेख है, किन्तु नाटक में उसका भी संकेत नहीं है।[6] वस्तुतः इस नाटक से किसी ऐतिहासिक (घटना) तत्व की उपलब्धि नहीं होती, जिस आधार पर इसे ऐतिहासिक नाटक के रूप में उपयोगी माना जा सके। सामान्यतः यह प्रशस्ति मात्र है। थोड़ा बहुत सुरजन तथा भोज संबन्धी इतिहास के ज्ञान के लिये उपयोगी भले ही माना जा सकता है किन्तु ह्रासकालीन ऐतिहासिक नाटकों में इसे सामान्य रचना ही कहा जा सकता है।

साहित्यिक समालोचना:—साहित्यिक दृष्टि से यह दो अंकों की एक सरल प्रशस्ति है, संपूर्ण नाटक नहीं। पद्य गद्य की अपेक्षा अधिक है। चरित्र-चित्रण की अपेक्षा, भक्ति धर्मप्रियता आदि गुणों तथा तीर्थों के वर्णन अधिक हैं। वाराणसी, जगन्नाथ क्षेत्र, गंगा सागर आदि की महिमा का वर्णन है। श्री राय ने इसकी एक

---

१. द्रष्टव्य, इं० हि० क्वा० १९४१, वही, पृ० ४,
२. सुरिजननन्दनस्य धर्मात्मनो भोजस्य वृन्दावत्यधीशस्य राज्ञः वही, पृ० ९,
३. वही, पृ० ३ फुटनोट,
४. राजस्थान का इतिहास : टाड, हिन्दी अनुवादक: केशव कुमार ठाकुर, १९६२, पृ० ७४८—५३,
५. इ० हि० क्वा० वही, पृ० १२,
६. वही पृ० ४,

विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि इसमें स्त्री-पात्र का सर्वथा अभाव है तथा प्रणयात्मक षड़यन्त्र-चित्रण की परम्परा का उल्लंघन है। इसका एक मात्र कारण यही प्रतीत होता है कि नाटक का रचयिता भक्त था तथा उसका उद्देश्य गुणगान करना या प्रशस्ति लिखना मात्र था, श्रेष्ठ सरस नाटक लिखना नहीं।

(१०) रघुनाथविलास :

रघुनाथविलास नाटक १९५८ में सरस्वती महल संस्कृत सीरिज तंजौर से प्रकाशित हो चुका है। इसका लेखक श्री यज्ञनारायण दीक्षित तंजौर के राजा अच्युत नायक के मंत्रिश्रेष्ठ गोविन्दमखीन्द्र का पुत्र था।[1] नाटक के अनुसार यह यायजूक तथा वासिष्ठवंशाद्भव एवं रामभक्त था। श्री दीक्षित ने रघुनाथविलास के अतिरिक्त रघुनाथभूप विजय तथा साहित्य रत्नाकर महाकाव्य भी लिखे।[2] श्री दीक्षित तंजौर के राजा रघुनाथ नायक (१७वीं पूर्वार्द्ध) के मंत्री थे। इसमें उनसे सम्बन्धित प्रणय-कथा को ही ५ अंकों में नाट्यबद्ध किया है।[3] अतः वह १७वीं सदी की समकालीन कृति है।

राजा रघुनाथ सिंहल द्वीप तीर्थयात्रा को गये, वहाँ सिंहलकुमारी चन्द्रकला पर अनुरक्त हो गये। चन्द्रकला के पिता विजयकेतु तथा उपमाता प्रतिभामती योगिनी भी रघुनाथ को ही उचित वर समझकर देना चाहते थे। प्रतिभावती ने रघुनाथ के पास जाकर विजयकेतु का विचार बतलाया तथा विवाह निश्चित हो गया। किन्तु रघुनाथ योगनी से प्राप्त मणिपादुका द्वारा छिपकर सिंहलद्वीप पहुँचा और चन्द्रकला से गन्धर्व विवाह किया। अन्त में, मुक्ताद्वीप से विजयकेतु के लौटने पर विवाह भी सम्पन्न हो गया। इस संक्षिप्त कथानक को ही लम्बे लम्बे वर्णनों तथा प्रयोजनहीन संभाषणों द्वारा विस्तार दिया है। घटनाओं को भी पुनरावृत्ति हुई है। लेखक ने इसे नवरसोद्गाहक अवश्य लिखा है[4] किन्तु वस्तुतः यह नीरस तथा नाट्यकला की दृष्टि से असफल नाटक है। यहाँ तक कि पाठ्य के रूप में भी रोचक प्रतीत नहीं होता है। नायक धीरोदात्त की अपेक्षा धीरललित अधिक है। अंगीरस शृंगार का वर्णन अवश्य है किन्तु रसास्वाद में असमर्थ है। प्रणयकथा भी अस्वाभाविक तथा गल्पकथाओं के सदृश है। नाटक के संपादक श्री गोपालन् ने इसे ऐतिहासिक नाटक के रूप में उल्लेख किया है।[5] निःसन्देह इसका नायक ऐतिहासिक है, किन्तु

---

१. रघुनाथविलास, १।१९,
२. वही १।२३ तथा पृ० ८, ९,
३. वही, पृ० ८,
४. वही, पृ० ६, तथा भूमिका, पृ० १,
५. रघुनाथ विलास, पृ० ६,
६. वही, प्रीखेस पृ० १,

उससे सम्बन्धित किसी ऐतिहासिक घटना की उल्लेख इसमें नहीं हुआ है। कथा में अतिमानवी तथा रोमांटिक रूप इतना उभर आया है कि उसका वास्तविक ऐतिहासिक व्यक्तित्व भी विनष्ट हो गया है। सुदूर द्वीप में प्रणय-व्यापार, योगनी के विनियोग, बारम्बार रघुनाथ को नारायण विष्णु तथा हरि का अवतार आदि के रूप में उल्लेख से[1] इसकी ऐतिहासिकता ओझल हो गयी है। सामान्यतः चन्द्रकला मलयकेतु[2] विजयकेतु तथा उसकी राजधानी कनक[3] एवं विजयकेतु को पारसीकों द्वारा आक्रान्त कर लेने पर अच्युतराय द्वारा रक्षा आदि के[4] उल्लेख अवश्य हुए हैं, पर ये कितने ऐतिहासिक हैं, कहना असम्भव है। यद्यपि इसमें कुछ इतिहास विरुद्ध भी उल्लेख हुए हैं,[5] तब भी रघुनाथ, उसके पिता अच्युतनायक[6] पत्नी आरूपा,[7] राजधानी तंजापुर[8] आदि कुछ ऐतिहासिक उल्लेख हैं जिनके कारण यह ऐतिहासिक अवश्य है, किन्तु कल्पना-प्रधान असंतुलित।

(११) सेवन्तिका परिणय :

सेवन्तिकापरिणय के रचयिता चोक्कनाथ हैं, किन्तु संस्कृत साहित्य में इस नाम के कई व्यक्तियों का उल्लेख है। उनमें तीन मुख्य हैं—तिप्याध्वरिन् का पुत्र चोक्कनाथ, युधिष्ठिर विजय के टीकाकार, भरद्वाज-गोत्री सुदर्शन भट्ट को पुत्र, तथा रामभद्र दीक्षित के सम्बन्धी। इन तीनों का ही समय १७वीं सदी है। सेवन्तिकापरिणय के रचयिता चोक्कनाथ तिप्याध्वरीन्द्र के ही पुत्र थे। नाटक में तिप्याध्वरीन्द्र के ६ पुत्र बताये गये हैं।[9] यह उनमें से ५वें थे। कान्तिमतीपरिणय के रचयिता यही चोक्कनाथ थे। उसमें इन्हें "तिप्याध्वरीन्द्रतनय" कहा है। कान्तिमतीपरिणय की प्रस्तावना से भी यह ६ भाइयों में ५वें ज्ञात होते हैं। कान्तिमतीपरिणय की प्रस्तावना के अनुसार इनकी माँ का नाम नरसाम्बा था तथा इन्होंने रसविलास नामक भाण भी लिखा था।[10] इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि—(१) चोक्कनाथ ने तीन ग्रन्थः सेवन्तिकापरिणय, कान्तिमतापरिणय नाटक

---

१. **रघुनाथविलास**, पृ० ८२, ११३ इत्यादि,
२. **वही**, पृ० १०३–४६,
३. **वही**, पृ० १०५,
४. **वही**, पृ० ११२,
५. **वही**, पृ० १०६, १४२,
६. **वही**, पृ० ११२, ११४, आदि,
७. **वही**, पृ० ८८ आदि,
८. **वही**, पृ० ६१, ६३ ८८ आदि,
९. **सेवन्तिका०** १।१४,
१०. **वही**, भूमिका, पृ० ९, १०,

तथा रसविलास भाण लिखे। क्रम की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम रसविलास (भाण), तब कान्तिमतीपरिणय तथा अंत में सेवन्तिका परिणय की रचना की। क्योंकि कान्तिमती परिणय की प्रस्तावना में रसविलास का उल्लेख है, पर सेवन्तिकापरिणय का नहीं। लेखक का विस्तृत परिचय भूमिका में दिया गया है अतः वहीं द्रष्टव्य है। मुख्यत ये राजा शाहजी (१६८४–१७१० ई०) के सभा कवि थे तथा वहाँ ४–५ वर्ष अवश्य रहे। वहीं इन्होंने कान्तिमतीपरिणय लिखा। अतः इनका समय १७वीं शती माना जाता है।[1]

यह नाटक बड़े-बड़े ५ अंकों में विन्यस्त है। इसकी रचना केलादिराजा बसवभूपाल की सभा में रह कर की। यह राजा भी साहित्यिक था।[2] बसवभूपाल तथा सेवन्तिका के परिणय के वृत्तान्त को ही अपने ढंग से इसमें विनयस्त किया है तथा इसका सुब्रह्मण्य नगर में नाटक की नायिका तथा नायक की उपस्थिति में सुब्रह्मण्य उत्सव के समय अभिनय भी हुआ है।[3]

संक्षिप्त कथानक:— केरल के राजा मित्रवर्मा को गोदवर्मा ने पराजित करके सर्वस्व अपहरण कर लिया, अत मित्रवर्मा केलादि प्रदेश में भूकाम्बिका नगर में रहने लगा। केलादि के राजा बसवभूपाल ने वहाँ उसके रहने सहने की उचित व्यवस्था की, एक बार बसवभूपाल सपरिवार भूकाम्बिका के रथोत्सव दर्शन को ले गया, वहाँ मित्रवर्मा की पुत्री सेवन्तिका को देखकर आसक्त हो गया। विरहातुर राजा पर रानी को सन्देह हुआ, और उसने पता लगाने के बहुत प्रयत्न किये पर विदूषक के प्रयासों ने विफल कर दिये। सेवन्तिका भी बसवनरेन्द्र को देखकर इतनी मुग्ध हो चुकी थी कि उसे ही पति रूप में प्राप्ति की इच्छा से प्रतिदिन पैदल चलकर वन में कालिका की पूजा करने आया करती थी। एक बार अनवसर में वृष्टि रूप विघ्न आ जाने के कारण देवालय से घर नहीं लौट सकी। तभी गोदवर्मा ने मित्रवर्मा को अपमानित करने की इच्छा से ससैन्य निषादों द्वारा सेवन्तिका का अपहरण करा दिया। इस समाचार को सुनकर बसवभूपाल ने निषादों का दमन करके सेवन्तिका का उद्धार किया। बाद मे महामति ज्योतिषी ने आकर राजा को सेवन्तिका की प्राप्ति का विश्वास दिलाया। वहीं सेवन्तिका तथा बसवेन्द्र का मिलन एवं प्रणय-व्यापार हुआ। इसी बीच में मित्रवर्मा ने अपने मित्र चित्रवर्मा की सहायता से राज्य प्राप्त करके समस्त परिवार के भेजने के लिये पत्र भेजा। बसवेन्द्र ने विवश होकर सेवन्तिका सहित सभी को विदा कर दिया।

---

१. सेवन्तिका०, पृ० ३,
२ वही पृ० १०,
३. वही, पृ० ५,

चतुर्थ अंक में चित्रवर्मा ने मित्रवर्मा के शत्रु गोदवर्मा को पराजित करके मित्रवर्मा को राज्य पर प्रतिष्ठित किया और इसके फलस्वरूप सेवन्तिका मांगी। मित्रवर्मा ने भी प्रात: ही विवाह करने का निश्चय किया। इस निश्चय को सुनकर सेवन्तिका आत्महत्या को उद्यत हुई पर शुभ शकुन होने से रुक गयी। पंचम अंक में मित्रवर्मा ने बसवभूपाल को प्रसन्न करने को आभूषण मंजूषा भेजने का आदेश दिया। सेवन्तिका सखियों के सहयोग से उसमें छिपकर बसवेन्द्र के समीप आ पहुँची। इस वृत्तान्त से चित्रवर्मा लज्जित होकर लौट गया। सेवन्तिका के वहाँ पहुँचने पर रानी ने राजा की भर्त्सना की तथा उसे ले गया, पर बाद में रानी को स्वप्नादेश मिलने पर मित्रवर्मा न आकर विवाह करा दिया।

इस नाटक में अधिकांश पात्र घटनायें काल्पनिक प्रतीत होते हैं। नायक ही प्रमुखपात्र है, वह ऐतिहासिक है। किन्तु गोदवर्मा की पराजय के अतिरिक्त उससे संबन्धित अन्य किसी भी घटना का उल्लेख नहीं है। मुख्यत: नाटक श्रृंगारिक भावना से ओतप्रोत है तथा नाटिका के अनुकरण पर उपन्यस्त है। नायक धीरललितप्राय: है। दो ज्येष्ठा तथा कनिष्ठा नायिकाओं की भी अवतारणा है तथा नायक नायिकाओं के प्रणय तथा षडयंत्र में ही नाटक केन्द्रित है। श्रीनारायण स्वामी शास्त्री के अनुसार सेवन्तिका परिणय त्रोटक है।[1] यह अवश्य है कि प्रकृत रूप से प्रणयकथा को उपजीव्य बनाने तथा कल्पना के उच्छृंखल प्रयोग करने पर भी पात्रों के नामकरण तथा देशकाल आदि के उल्लेख में ऐतिहासिकता का ध्यान रखा है। यहाँ वस्तुत: नाटककार का उद्देश्य ऐतिहासिक नाटक का निर्माण करना न होकर, ऐतिहासिक नायक से सम्बन्धित प्रेमप्रधान नाटक रचना मात्र है, और उसमें वह सफल भी हुआ है।

सेवन्तिका परिणय के प्रणयन में नाटककार ने शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र तथा मालती माधव आदि से प्रचुर सहायता ली है। भाव, भाषा शब्द के अतिरिक्त वाक्य तक भी लिये हैं। यही नहीं, घटना तथा पूरा का पूरा दृश्य विधान भी वैसा ही किया है।[2] स्वयं नाटककार उनसे अपने को अति तुच्छ समझता है।[3] 'यद्यपि नाटककार ने अपनी भी कुछ उद्‌भावना करने की चेष्टा की है किन्तु कथाविन्यास में कहीं भी मौलिकता नहीं आ पायी है। कुछ घटनायें जैसे मंजूषा में छिपकर नायिका का जाना आदि अप्रासांगिक है। संस्कृत तथा प्राकृत पर लेखक का अधिकार है, किंतु

---

१. सेवन्तिका० भूमिका, पृ० ८,
२. वही, भूमिका, पृ० ११,
३. वही पृ० ११६,

प्राकृत का ही बहुलतः प्रयोग किया गया है। रंगमंच की दृष्टि से इसका महत्व नहीं है। कुतूहल पूर्ण पाठ्यनाटक के रूप में ही यह उपादेय है।

(१२) कान्तिमती परिणयम् [अप्रकाशित] :

कान्तिमतीपरिणय पूर्वोक्त चोक्कनाथ की ही प्रसिद्ध कृति है। यह पूर्ण है तथा तंजौर महाराजा मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी में सुरक्षित है। वहाँ की कैटलाग के वाल्यूम ८, (१९३०) में नं० ३३६७ पर इसका उल्लेख हुआ है। चोक्कनाथ ने सेवन्तिकापरिणय नाटक से भिन्न कथावस्तु को यहाँ उपजीव्य बनाया है। जैसाकि लिखा जा चुका है, यह बसवेन्द्र के अतिरिक्त शाहजी से आश्रित भी रहे थे। उसी समय आश्रयदाता शाहजी से सम्बन्धित कथानक पर यह ऐतिहासिक नाटक लिखा है। इसमें शाहजी तथा कान्तिमती के विवाह की घटना को रूपायित किया है। अनुमानतः यह भी सेवन्तिका परिणय के अनुरूप कथानक पर उपनिबद्ध प्रतीत होता है। दोनों के नाम साम्य से प्रतीत होता है नाट्य-योजना तथा कथा-विन्यास भी लगभग समान ही होगा।[१]

(१३) सदाशिवि रचितवसुलक्ष्मीकल्याणम् [अप्रकाशित] :

संस्कृत साहित्य में प्रतापरुद्र-यशोभूषण के अनुकरण पर अनेक रचनाएँ हुई हैं, उनमें से रामवर्म-यशोभूषण भी एक है। यह त्रिवेन्द्रम् राजमहल के पुस्तकालय की हस्तलिखित पुस्तकों में सुरक्षित है। इसमें प्रायः समस्त उदाहरणादि त्रावन्कोर के राजा रामवर्म कुलशेखर की स्तुति के रूप में उपनिबद्ध हैं। इसके तृतीय अध्याय नाटक-प्रकरण से उदाहरण के लिए वसुलक्ष्मीकल्याणम् नाम का नाटक दिया गया है। इसका लेखक चोक्कनाथ ध्वरिन् का पुत्र सदाशिव-मखिन है।[२] उसकी माँ मीनाक्षी तथा गोत्र भारद्वाज था। ये कई भाई थे। इसकी एक अन्य कृति लक्ष्मी-कल्याणम् का भी पता चलता है।[३] कुछ ने इसे युधिष्ठिरविजयम् के टीकाकार भरद्वाज-गोत्री-सुदर्शन भट्ट का पुत्र भी माना है। जो भी हो, पर रामवर्मा की सम-कालीन रचना होने से इसका समय १८ वीं शदी का प्रारम्भ निश्चित है।

---

१. कृति के कुछ उद्धरणमात्र प्राप्त हैं, अतः सम्पूर्ण प्राप्त न होने से समालोचन असम्भव है।

२. त्रिवेन्द्रम् आर्कलाजीकल सीरिज वाल्यूम, ५, पार्ट १, १९२४ में पृ० १८–२१ तक प्रकाशित लेख एवं इंडियन ऐंटिक्वरी, वाल्यूम, एल १ १९२४ पृ० १–५ में छपे लेख के आधार पर ही उपर्युक्त विवेचन है।

३. टी० ए० एस० ५–१, पृ० १८,

४. वही, फुटनोट भी

संक्षिप्त कथानक.—सिन्धु का राजा कन्या वसुलक्ष्मी का विवाह त्रावन्कोर के राजा रविवर्मा से करना चाहता था, पर रानी सिंहल के राजकुमार के साथ। अतः रानी ने मन्दिर दर्शन के बहाने समुद्र-मार्ग से पुत्री को लंका भेजा, पर जहाज दुर्घटनाग्रस्त होकर रामवर्मा की रानी वसुमती के भाई अन्तपाल वसुमन्त्रराज द्वारा शासित, त्रावन्कोर के किनारे जा लगा। दुर्गपाल ने राजकुमार को बहिन के पास भेजा। वहाँ रामवर्मा से उसका प्रेम हो गया। रानी ने ईर्ष्या से उसका विवाह पाण्डव राजा से करना चाहा, पर विदूषक ने उसे असफल कर दिया। तभी सिन्धु-राज के मंत्री नीतिसागर ने वसुलक्ष्मी का पता लगाया और त्रावन्कोर जाकर उसका रामवर्मा से विवाह निश्चित कर दिया। यही कथा नाटक में ५ अंकों में नाट्य-बद्ध है।

कथानक परम्परागत प्रेमकथा मात्र है। नाट्य-योजना का उद्देश्य भी नाट्य-लक्षणों का प्रदर्शन मात्र है, चरित्र-चित्रण आदि नहीं। अतएव यहाँ न कलात्मकता का निर्वाह है, न वस्तुविधान का सौष्ठव और न ही चरित्र-विकास। घिसी-पिटी प्रेमकथा को शृंगार की उद्भावना के लिए नाट्यबद्ध किया है, पर वह उसमें भी असफल है। कथानक कल्पित है। रामवर्मा ऐतिहासिक है। अन्य पात्र कल्पित। नाटककार ने सिन्धुराज तथा पाण्डवराज आदि के उल्लेख से इतिहासीकरण करना चाहा है, पर तत्सम्बन्धित कथा निराधार ही प्रतीत होती है। निष्कर्षतः यह एक कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक नाटक है। नाट्यकला तथा ऐतिहासिकता की दृष्टि से यह प्रतापरुद्रकल्याण से भी असफल है।

(१४) सुब्रह्मण्याध्वरिन् रचित वसुलक्ष्मीकल्याणम् [अप्रकाशित] :

यह भी मानुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी त्रिवेन्द्रम् में सुरक्षित जीर्ण नाटक है।[१] कुछ हस्तप्रतियों में लेखक का नाम श्रीकण्ठ तथा नीलकण्ठ आदि मिलता है। पर विद्वान अप्पय-दीक्षित के परिवार में छठी पीढ़ी में उत्पन्न सुब्रह्मण्याध्वरिन् को ही इसका लेखक मानते हैं। इसमें भी रामवर्म का चरित्र है। माना जाता है कि यह रामवर्म के राज्य के २६वें वर्ष में लिखा गया है। अत. लगभग १७८५ ई० की रचना है।[२]

कथानक:—मंत्री बुद्धिसागर त्रावन्कोर के राजा को उत्तर में बढ़ाने तथा हूणराज से मित्रता बढ़ाने के लिए सिन्धुराज की राजकुमारी से विवाह करना चाहता है। मंत्री को जब राजकुमारी के लंका जाने की सूचना मिलने पर सेनापति तथा दुर्गपाल आदि की सहायता से उसे बंदी बना कर राजमहल में भेज देता है।

---

१. यह विवेचन टी० ए० एस०, ५–१, १९२४, पृ० २२–२५ के तथा इ० ए० वाल्यूम, एल ४, १९२४ पृ० ५–८ के आधार पर है।

२. टी० ए० एस० पृ० ५०१, पृ० १३,

फलतः राजा-राजकुमारी का प्रेम हो जाता है। रानी इसे रोकने को चेर के राजकुमार से राजकुमारी के विवाह की योजना बनाती है, पर वह असफल हो जाती है, और अन्त में दोनों का विवाह हो जाता है।

यह नाटक सदाशिव के पूर्वोक्त नाटक की अनुकृति है। रामवर्म ऐतिहासिक है, पर बुद्धिसागर तथा 'वसु' से बने वसुसेन, वसुपाल आदि कल्पित हैं। इसमें हूणराज की अवतारणा भी त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः उसका साम्य ईस्ट इण्डिया कम्पनी से प्रतीत होता है।[1] इसी प्रकार यहाँ सिन्धुराज तथा रामवर्मन् के चाचा मार्तण्ड की मित्रता का भी उल्लेख है, तथा सिन्धुप्रांत आदि की सीमाओं का भी ज्ञान होता है।[2] पर उनमें कितनी ऐतिहासिकता है, नहीं कहा जा सकता। समग्र रूप में यह कल्पित अधिक है। अतः इसमें ऐतिहासिकता की अधिक संभावना नहीं है।

(१५) बालमार्तण्डविजय

रचना, रचयिता तथा रचनाकाल:—बालमार्तण्ड १८वीं सदी में रचित सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक है। इसका रचयिता देवराज कवि, देवराजसूरि, देवराज शर्मिल तथा देवराज आदि नामों से जाना जाता है। यह ब्राह्मण था। इसके पिता का नाम 'शेषाद्रि' था, जो तिन्नेवल्ली जिले के पट्टमदाई गाँव से आकर त्रिवेन्द्रम् में शुचीन्द्रम् के पास आश्रम गांव में रहने लगा।[3] मान्यता है कि ११ ब्राह्मणों को ग्रामदान के समय इन्हें भी यह गाँव दान में प्राप्त हुआ था। देवराज त्रावन्कोर के सुप्रसिद्ध राजा बालमार्तण्ड (१७२९–१७५८) तथा रामवर्मन् के आश्रित था। यह राजा के द्वारा सम्मानित भी हुआ, तथा इसे प्रचुर पुरस्कार भी मिला था।[4] बालमार्तण्डविजय की रचना देवराज ने सम्भवतः बालमार्तण्ड के समय में ही की थी। अतः नाटक का रचनाकाल १८ वीं शदी के मध्य में निश्चितप्रायः है।

नाटक का कथानक:—बालमार्तण्ड श्री पद्मनाथ का अनन्य भक्त था, किन्तु, वह राज्यकार्य को भक्ति प्रच्युति का कारण मानता था। अतः महामोहोत्पादक राज्यभार के प्रति उद्विग्न रहता था। एक बार बालमार्तण्ड राज्यभार के सम्बन्ध में चिन्तन करता हुआ भक्तिपूर्वक आराधना कर रहा था कि भगवान के दर्शन हुए। भगवान ने उसके मन की द्विविधा को शान्त करते हुए आदेश दिया कि 'तू मेरा राज्य समझकर शासन कर, तुझे मोह नहीं होगा।[5] तभी दिग्विजय का निर्देश हुआ।

---

१. टी० ए० एम० २४, २५,

२. वही, २५,

३. बालमार्तण्ड विजय, भूमिका, पृ० १,

४. वही, पृ० ११६,

५. बालमार्तण्ड विजय भूमिका, पृ० १०

इसके पश्चात् राजा ने इस आश्चर्योत्पादक घटना को मंत्रियों को सुनाया तथा श्री पद्मनाथ का महाभिषेक करने का निश्चय किया। बालमार्तण्ड ने श्री पद्मनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार करा के सोत्साह महाभिषेक किया तथा उनके चरणों में राज्य को समर्पित करके एक अधीनस्थ शासक के रूप में राज्य-कार्य करने की घोषणा की, एवं दिग्विजय करने का निश्चय किया। प्रजा को राजा के इस प्रयास के समाचार से दुःख हुआ। राजा ने प्रजा को सान्त्वना देकर, ब्राह्मणों को दान आदि देकर, मंत्री तथा युवराज पर राज्यभार छोड़कर, विजय-यात्रा को प्रस्थान किया। अनेक देशों को जीत कर विजययात्रा से लौटने पर, अधीनस्थ राजाओं से प्राप्त प्रचुर धन से ५ दिन के अन्दर मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया तथा धूमधाम से पद्मनाथ का महाभिषेक किया और उनके चरणों में सर्वस्व अर्पित करके श्री पद्मनाथ की मुद्रा द्वारा राज्य-कार्य करने लगा। अन्त में उसने पंडितों, विद्वानों तथा कवियों को दानादि से पुरस्कृत कर सम्मानित किया।'

समालोचन :—उपर्युक्त कथानक को नाटककार ने ५ अंकों में कलात्मक रूप से विन्यस्त किया है। उपलब्ध नाटक में प्रारम्भ का कुछ अंश प्राप्त नहीं है, ६वें श्लोक से नाटक प्रारम्भ है। श्री पद्मनाथ के चरणों में राज्य समर्पित करने के पश्चात् उसने अपने नाम में 'बाल' शब्द संयुक्त किया, तथा दिग्विजय भी की। अतः नाटक का बालमार्तण्डविजय नाम सार्थक है।

नाटक नाट्यकला की दृष्टि से सफल है। नीरस कथानक को भी कल्पना द्वारा सरस, सजीव तथा मांसल बनाकर प्रस्तुत किया है। वर्णनों का विस्तार अवश्य है और लेखक प्रशस्ति के समान ही अतिरंजनात्मक चित्रण भी कर गया है। दास-गुप्ता ने इसी कारण इसे नाटक की अपेक्षा प्रशस्ति कहना उपयुक्त समझा है,[1] किन्तु हमारी मान्यता है कि बालमार्तण्ड संस्कृत नाट्य-साहित्य के ह्रासकालीन अन्य अनेक समकालीन नाटकों की अपेक्षा अधिक सफल है। कवि की भाषा सशक्त तथा कल्पना उर्वर है, तथापि नाटककार ने कालिदास विशाखदत्त आदि पूर्ववर्ती कवियों के 'दाय' का पूरा-पूरा उपयोग किया है।[2] प्रारम्भ में धार्मिक तथा नैतिक वातावरण की सृष्टि हुई है। सम्भवतः श्री पद्मनाथ के चरणों में राज्य को समर्पित कराके पृष्ठभूमि के रूप में गीतोक्त भारतीय दर्शन की अभिव्यक्ति दी है तथा दिग्विजय द्वारा राजा को कर्मक्षेत्र में सफलता के साथ अग्रसर किया है। सबसे अधिक विशेषता यह है कि नाटक में वीर रस की अभिव्यंजना हुई है। यही कारण है कि अपेक्षाकृत बालमार्तण्ड में ऐतिहासिकता की अधिक अनुभूति होती है।

---

१. हि० सं० लिट० १, पृ० ४७७,

२. बाल० प्रीफेस, पृ० ११,

ऐतिहासिकता की दृष्टि से नाटक का प्रमुख पात्र 'मार्तण्ड' ऐतिहासिक है इसका बसाया हुआ बलरामपुर गांव भी बतलाया जाता है। नाटक में बालमार्तण्ड को बचिकुलोद्भव बतलाया है।[1] त्रिवेन्द्रम के पूर्व अनन्य भक्ति, वदान्यता, धर्मप्रियता, तथा प्रजानुराग भी ऐतिहासिक हैं। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि मार्तण्ड ने अनेक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। यही क्यों राज्य को पद्मनाथ के समर्पण आदि की समस्त घटनायें भी मूलत. ऐतिहासिक हैं। यह अवश्य है कि नाटक में वर्णित घटनाओं को कल्पना द्वारा मांसल बनाकर प्रस्तुत किया गया है।

बालमार्तण्ड में वर्णित दिग्विजय के चित्रण से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम मार्तण्ड ने शुचीन्द्रम् से उत्तरपूर्व की ओर समुद्र के सहारे-सहारे विजययात्रा की। इसी समय पांड्यराजा को पराजित किया था।[3] तीन मास तक वह उत्तर के राजाओं का दमन करता रहा। वह स्वयं श्रीरंगम् गया और कुछ समय स्वयं वहीं रहा, आगे सेनापति को भेजा।[4] मार्तण्ड ने इस यात्रा में उत्तर, पूर्व पश्चिम के प्रदेशों को रोंद डाला। विद्वानों ने नाटक में वर्णित अनेक घटनाओं को ऐतिहासिक माना है, किन्तु केरल तथा कोल आदि की विजय से सम्बन्धित घटनायें काल्पनिक भी हैं।[5] नाटक में गौण्ड, पाण्ड्य, तुण्डीर कर्णाट, आन्ध्र, यवन, कोंकण, महाराष्ट्र, पारसीक, विदर्भ, वंग, अंग तथा कोलम्बपुर आदि की विजय का उल्लेख है, किन्तु इन वर्णनों में कितनी ऐतिहासिकता है कहना असम्भव है। हमारा विश्वास है कि अधिकांश वर्णन परम्परागत ढंग से किया गया है। वर्णन अत्यन्त आलंकारिक, अतिरंजनात्मक प्रशस्तियों के अनुरूप है।[6] कल्पना के आधिक्य से सत्यांश भी लुप्त प्राय: हो गया है। यही कारण है कि नाटक में ऐतिहासिकता संक्रान्त नहीं हुई है और केवल ऐतिहासिकता का आभास मात्र होकर रह गया है। अतः बालमार्तण्ड ऐतिहासिक दृष्टि से उतना अधिक उपादेय नहीं है, जितना कि सांस्कृतिक। दिग्विजय यात्रा के प्रसंग में श्री रंगम् रामेश्वरम् तथा तिरूचेन्दुर एवं नवत्तिरूपत्ति आदि अनेक सांस्कृतिक स्थानों का स्वाभाविक वर्णन है।[7] इससे दक्षिण

---

१. बाल० पृ० ४, १।१५,

२. ट्रावनकोर आर्कियालाजीकल सीरिज़, वाल्यूम ५, पृ० २६–२७,

३. बाल० पृ० २९,

४. द्रष्टव्य: बाल० पृ० ३०–३१,

५. बाल० प्रीफेस, पृ० ५,

६ देखो० बाल० पृ० १६, पृ० ३२, ३३ आदि।

७. बाल० पृ० ३४–४०,

भारत की धार्मिक भावना, धार्मिक परम्परा तथा नदी-देवालय आदि का भी ज्ञान होता है। संक्षेप में, बालमार्तण्डविजय नाटक दक्षिण भारत की संस्कृति की झलक देने में सर्वथा सफल है। यही नहीं बल्कि मार्तण्ड का चरित्र दक्षिण में इतना अधिक लोकप्रिय है कि वहां इस पर आधारित अनेक रचनायें हुई हैं।[1]

(१६) मृगांकलेखा :

नाटककारः - मृगांकलेखा नाटिका के रचयिता विश्वनाथदेव गोदावरी के तट पर स्थित धारापुर नगर के निवासी दाक्षिणात्य थे, किन्तु बाद में वाराणसी में आकर बस गये। नाटिका में इनको त्रिमल्लदेव का पुत्र बतलाया गया है।[2] नाटिका की भूमिका के अनुसार बनारस में विश्वेश्वर के यात्रोत्सव पर यह अभिनीत भी हुई थी।[3] श्री लिस्ते न्यायसार के प्रणेता माधवदेव को विश्वनाथदेव का वंशोद्भव मानते हैं।[4] इतिहासकारों के अनुसार विश्वनाथदेव का समय १८ वीं शदी के अन्त में माना जाता है।[5]

कथानकः—इसमें कलिंग के राजा कर्पूरतिलक तथा (आसाम के राजा) कामेश्वर की पुत्री मृगांकलेखा की प्रेमकथा ही नाट्यरूप में विन्यस्त है। कथा इस प्रकार है कि एक बार कलिंगेश्वर कामेश्वर की पुत्री मृगांकलेखा को देखकर अत्यधिक अनुरक्त हो जाता है और उसे रानी विलासवती से भी अधिक मानता है। किन्तु दानव शंखपाल भी मृगांकवती के रूपोन्माद पर मुग्ध होने के कारण उसका अपहरण करना चाहता है। कर्पूरतिलक का प्रधानामात्य रत्नचूड़, इससे पहले कि शंखपाल मृगांकलेखा का अपहरण करे, मृगांकलेखा को सिद्धियोगिनी परिव्राजिका की सहायता से राजा के अन्तःपुर में ले जाता है। वहां दोनों में गाढ़-प्रेम हो जाता है, किन्तु अवसर पाकर मृगांकलेखा का अपहरण करके श्मशान में कालिका के मन्दिर में छिपा रखता है। कर्पूरतिलक मृगांकलेखा के विरह में दुःखित होकर उन्मत्त हो जाता है और प्राणत्याग की इच्छा से श्मशान में जा पहुँचता है। प्रसंगवश वहां कालिका मन्दिर में पहुँच कर दानवेश को मार, 'मृगांकलेखा' को मुक्त करा लाता है। विवाहोत्सव की तैयारी होती है। कामरूप का राजा अपने पुत्र-चण्डघोष तथा मंत्री नीतिवृद्ध के साथ पुत्री के विवाहोत्सव में सम्मिलित होता है। ठीक विवाह के समय एक मत्त हाथी पागल हो जाता है।

---

१. बाल० प्रीफेस, पृ० १२,

२. मृगांकलेखा, पृ० ५,

३. वही, पृ० २–३,

४ वही, भूमिका, पृ० १,

५. हि० सं० लिट० कृष्णमाचारी, पृ० ६६२,

तभी शंखपाल का भाई आकर विघ्न पैदा कर देता है। किन्तु हाथी के द्वारा वह मारा जाता है और सभी विघ्नों की शांति के साथ कर्पूरतिलक का सेनापति तिग्मप्रताप भी रत्नचूड के साथ दिग्विजय करके जा पहुँचता है। अन्त में, सभी के सान्निध्य में कर्पूरतिलक तथा मृगांकलेखा का विवाह हो जाता है।

समालोचन— उपर्युक्त संक्षिप्त कथानक नाटिका के ४ अंकों में उपनिबद्ध है। प्रारम्भ के दो अंकों में मृगांकलेखा तथा कर्पूरतिलक का मिलन तथा प्रणय-व्यापार, तृतीय में दानव के चंगुल से मृगांकलेखा की प्राप्ति तथा चतुर्थ में विवाह आदि वर्णित है। प्रारम्भ के दो अंकों में इसका ऐतिहासिक नायक स्वाभाविक रूप से धीरललित रूप में चित्रित है, किन्तु अन्तिम अंकों में उसकी अधीरता तथा वीरता उभर आई है। इसका अंगीरस शृंगार है। प्रारम्भ के दो अंकों में शृंगार की बहुत ही स्वाभाविक, हृदयस्पर्शी अभिव्यंजना हुई है। यथावसर हास्य, वीभत्स तथा वीर का भी चित्रण है। वैसे, इसमें दो नायिका हैं—विलासवती तथा मृगांकलेखा। किन्तु विलासवती का दो-तीन स्थान पर नामोल्लेख मात्र है, चरित्रोद्घाटन नहीं। ज्येष्ठा का मानिनी, गंभीरा, प्रगल्भा होना तथा देवी के त्रास से नायक का नवानुराग में भयभीत रहना आदि की वर्णना इसमें नहीं है। बल्कि, यहाँ तो विलासवती पहिले से पहिले मृगांकलेखा को सपत्नी रूप में स्वीकार करने को सन्नद्ध रहती है। इसी प्रकार न दानव द्वारा अपहरण की घटना को उचित रूप में प्रदर्शित किया है, न मत्त हाथी के प्रवेश, तथा शंखपाल के भाई के प्रवेश और हत्या का ही कोई प्रयोजन प्रतीत होता है। नाटककार, काव्यात्मकता, नाट्यसुलभ गत्यात्मकता तथा रसपेशलता आदि की दृष्टि से प्रारम्भ के दो अंकों में अत्यधिक सफल है। शैली सरल तथा स्वाभाविक है। वीभत्स तथा वीर के अनुरूप समस्त शैली का भी प्रयोग किया है। इस पर शाकुन्तल, रत्नावली आदि रचनाओं का प्रभाव प्रकट है।[1] कहीं-कहीं वीर में सहसा शृंगार के चित्रण द्वारा रसदोष भी हो गया है, जैसे तृतीय अंक में। इसी प्रकार दानवपात्र, तिरस्करिणीविद्या, आदि का विनियोग भी स्वाभाविकता में बाधक है। अंत के दो अंकों में अस्वाभाविकता अधिक है यदि नाटककार प्रथम अंकों के समान उनको भी रूप देता तो निःसन्देह सफल नाटिका बन पड़ती।

इसमे ऐतिहासिक पात्रों के रूप में कलिंगराज कर्पूरतिलक ही प्रमुख पात्र है। कर्पूरतिलक से सम्बन्धित प्रणयकथा का ही इसमें चित्रण है। अन्य पात्र प्रायः काल्पनिक प्रतीत होते हैं। यद्यपि नाटक में कर्पूरतिलक की त्रिभुवन-विजय का भी उल्लेख है किन्तु उसमें ऐतिहासिकता प्रतीत नहीं होती।[2] वह आलंकारिक तथा रूढ

---

१. द्रष्टव्यः मृगांकलेखा, १।३२, २।२६, ४४, ४५, आदि,

२. देखो, मृगांक० ४।२१, आदि,

है। इसी प्रकार कर्पूरतिलक के वैभव के वर्णन में भी ऐतिहासिकता नहीं है।[१] वस्तुतः इसका ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्त्व नहीं है। केवल प्रमुख पात्र तथा अन्य पात्रों को ऐतिहासिक ढंग से उपन्यस्त करने के कारण ही ऐतिहासिक माना जा सकता है।

(१७) राजविजयनाटकम् (अपूर्ण) :

राजविजयनाटक को श्री आर सी. मजूमदार तथा श्री कुंज गोविन्द गोस्वामी ने सर्वप्रथम, कलकत्ता से १९४७ में सम्पादित तथा प्रकाशित किया, पर यह अपूर्ण है। इसमें प्रथम अंक पूर्ण है, द्वितीय अंक का आधा भाग है, तथा अन्त में इसी नाटक की संग्रहीत प्रसिद्ध सूक्तियों का संग्रह है। इसकी सूक्तियों के संग्रह के आधार पर श्रीमजूमदार ने निष्कर्ष निकाला है कि संभवत. यह नाटक अपने समय में इतना लोकप्रिय हो गया था कि इसके पद्यों को लोगों ने संग्रहीत करना उचित समझा।[२] जो भी हो, इस नाटक का ऐतिहासिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टि से महत्त्व है।

नाटक तथा नाटककार—राजविजयनाटक के इस अपखंड की प्रस्तावना में नाटक के राजविजय नाम का उल्लेख है, किन्तु लेखक की नहीं है। सूत्रधार केवल यही बतलाता है कि किसी नवीन कवि ने (केनापि नव्येन कविना) राजविजय नाटक का प्रणयन करके मुझे दिया है।[३] यह सम्भव है कि यदि इसकी पूर्ण प्रति प्राप्त हो जाय तो लेखक का नाम भी अन्त में सम्भवतः मिल जाय। किन्तु इस अपखंड-रचयिता के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु, नाटक का समय सुनिश्चित है। नाटक का नायक बंगाल का सुप्रसिद्ध राजा राजवल्लभ है। राजवल्लभ से सम्बन्धित घटनाओं का इसमें चित्रण है. अत विश्वास है कि इसकी रचना राजवल्लभ के आश्रित किसी बंगाली लेखक ने १८वी सदी में ही की है। मजूमदार ने नाटक की कुछ विशेषताओं के आधार पर इसके बंगाली लेखक होने का अनुमान किया है।[४] नाटक से यह भी ज्ञात होता है कि नाटक में वर्णित घटना माघ मास की शक सं० १६७७ की अर्थात् १७५५ की है,[५] क्योंकि राजा राजवल्लभ का देहान्त १७६३ में हो गया था।[६] अतः यह निश्चित है कि नाटक की रचना लगभग १८वीं सदी के मध्य में ही हुई थी।

---

१. मृगांक० ४।८, ९, १३ आदि
२. राजविजय, भूमिका, पृ० ५,
३. राजविजय, पृ० ३,
४ वही, भूमिका, पृ० ५–६,
५. वही, पृ० १७,
६. वही, भूमिका, पृ० ७,

कथानक:— प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि पुरोहितों के समूह के समूह, कलिकाल में दुष्कर यज्ञ के सपादन के लिये राजनगर को जा रहे हैं। वहीं किसी नव्यकवि के बनाये राजविजय नामक नाटक का अभिनय भी होगा। इसके अनन्तर अत्यधिक विस्तार से राजबल्लभ की वीरता, भक्ति आदि का वर्णन करते हुए प्रशस्ति-पाठ होता हैं। यहीं ज्ञात होता है कि वेद-वेदान्त में निष्णात दक्षिणात्य पण्डित यज्ञ करने के अभिलाषी राजबल्लभ के महल मे यज्ञ सम्बन्धी उपदेश देने के लिये आया है। तदनन्तर उत्कल का पंडित राजा से भेट तथा अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करता है एवं यज्ञ सम्पादन के लिए राजा को उत्साहित भी करता है। इसके बाद पंडितों में यज्ञ संबंधी परिचर्चा, अग्निष्टोम आदि सात प्रकार के यज्ञों का वर्णन, तथा इनके लिए उपयोगी उपकरणों का उल्लेख आदि है। इस प्रकार "यज्ञोद्यम" नामक प्रथम अंक में यज्ञ की तैयारी होती है। द्वितीय में पंडित आकर यज्ञीय अनुष्ठान प्रारम्भ करते हैं। राजा और पुरोहित आते हैं और राजा वैद्य-कुलोपवीत में सक्रिय भाग लेते है। इसके पश्चात् दूसरे अपखंड में भी यज्ञीय क्रिया-कलाप का वर्णन है। वहाँ यह भी ज्ञात होता है कि पहले रामनवमी के दिन विक्रमपुर में सप्त-सस्था-विधि का संपादन किया था। अन्त में, अनेक अतिरंजनात्मक प्रशस्तियों के संग्रह के साथ नाटक समाप्त होता है।

समालोचन:— उपलब्ध राजविजय नाटक इतना अपूर्ण है कि इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित मत स्थापित करना असम्भव है। मुख्य विषय वैद्यों को उपवीत होने तथा यज्ञ संपादन के अधिकार से सम्बन्धित है। प्राचीनकाल में वल्लालसेन आदि ने वैद्यों को उपनयन का अधिकारी ठहराया था, किन्तु यह नाटक में स्पष्ट करा दिया है कि वैद्य यज्ञ तथा उपवीत के पूर्णत: अधिकारी हैं।[1] नाटक में राजबल्लभ द्वारा शक संवत् १६७७ (१७५५ ई०) के माघ मास में राजा द्वारा वैद्यों को यज्ञोपवीत युक्त करने तथा यज्ञ के संपादन का उल्लेख है।[2] रामनवमी की पूजातिथि को विक्रम नगर में सप्तसस्थायज्ञ करने का उल्लेख है।[3] राजनगर की समृद्धि का वर्णन है। राजा के पराक्रम, वदान्यता, भक्ति आदि का चित्रण भी है। इन्हीं गुणों के कारण राजा को सर्वग्रह भी कहा है।[4] राजा के सप्तदशरत्नों का संकेत है।[5] तत्कालीन सामाजिक (विशेषत. धार्मिक) दशा का भी वर्णन है, किन्तु व्यवस्थित रूप से कथानक

---

१. राज विजय, पृ० १७,

२. वही,

३. वही, पृ० २४,

४. वही, पृ० ६,

५. वही. पृ० २५,

का विन्यास नाटक में नहीं किया गया है। यद्यपि यह नाटक ऐतिहासिक पुरुष राजवल्लभ से सम्बन्धित इतिवृत्त को लेकर उपन्यस्त है, किन्तु राजवल्लभ से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथा राजनैतिक घटनाओं का विनियोग भी नहीं हुआ है।

राजा राजवल्लभ, जो कि नाटक का नायक है, १८वीं शती के मध्य बंगाल के प्रमुख राजनैतिक व्यक्तित्व के रूप में प्रसिद्ध है। राजवल्लभ का समस्त जीवन संघर्ष तथा उत्थान-पतन से भरा हुआ था। राजवल्लभ १७०७ ई० में एक छोटे से गाँव में पैदा हुआ,[1] किन्तु कुशलता के कारण १८वीं शती में बंगाल की राजनीति पर छाया रहा। श्री मजूमदार ने इसके राजनैतिक तथा ऐतिहासिक जीवन पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[2] किन्तु नाटक में राजवल्लभ से सम्बन्धित किसी भी राजनैतिक घटना का उल्लेख नहीं है। मुख्यतः नाटक में इससे सम्बन्धित सामाजिक पक्ष का ही चित्रण है। इतिहासकारों के अनुसार राजवल्लभ बहुत बड़ा समाज-सुधारक था। श्री मजूमदार के अनुसार अपने समय में उसने ही सर्वप्रथम विधवा-विवाह का सूत्रपात किया, इसी के पश्चात् श्री ईश्वरचन्द्र विद्यासागर को इस दिशा में सफलता प्राप्त हुई। उपनयन-परम्परा के सम्बन्ध में भी नियमों का पुनर्निर्धारण किया तथा अनेक यज्ञों का सफलता से अनुष्ठान किया।[3] नाटक में इसी पक्ष को अपनाया गया है। नाटक से अनेक यज्ञ-संस्थाओं यज्ञानुष्ठानों के सम्पादन तथा यज्ञीय क्रिया-कलाप का भी परिचय मिलता है। इस प्रकार यह तत्कालीन सामाजिक दशा पर अच्छा प्रकाश डालता है। कदाचित् यह नाटक पूरा प्राप्त होता तो सम्भव था कि इसमें किसी राजनैतिक, ऐतिहासिक कथानक का उल्लेख प्राप्त हो सकता। किन्तु दुर्भाग्य से यह अपूर्ण है।

साहित्यिक दृष्टि से नाट्य-निर्माण में नाटककार ने शास्त्रीय नियमों का पालन किया है। ह्रासकालीन नाटक होते हुए भी इसकी भाषा में प्रांजलता है तथा प्रवाह है। कहीं-कहीं वाक्य बहुत छोटे-छोटे, अतः नाटकीय हैं। किन्तु कहीं-कहीं लम्बे समस्त-वाक्यों के प्रयोग से नाटक क्लिष्ट भी हो गया है। सूच्य-वस्तु के रूप में ही प्रमुखतः समस्त वाक्यों का प्रयोग है। श्लोक भी प्रायः सफल तथा विभिन्न छन्दों में उपन्यस्त हैं। नाट्य-शिल्प की दृष्टि से ह्रासकालीन नाटकों में यह उत्कृष्ट कृति है। अतः इसका महत्त्व असंदिग्ध है। श्री मजूमदार ने[4] राजविजय नाटक की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है — (१) नाटक का कथानक समकालीन सामाजिक

१. राज विजय, भूमिका, पृ० ८,
२. वही, पृ० ६–११,
३. वही, पृ० १०–११,
४. राज विजय नाटक, प्रीफेस, (i),

घटना पर आधारित है। (२) नाटक का नायक बंगाल का सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरुष है, जिसने कि तत्कालीन राजनीति में प्रमुख भाग लिया। (३) नाटक की रचना न केवल बंगाल की, अपितु भारतीय इतिहास की प्रमुख घटना प्लासी के युद्ध के बाद की रचना है। (४) यह नाटक अंग्रेजों से पूर्वकालीन बंगाल में रचित संस्कृत की अन्तिम कृति है।

इन सभी कारणों से यह नाटक संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में ही नहीं, अपितु संस्कृत साहित्य में भी निःसंदिग्ध रूप से महत्त्वपूर्ण कृति है।

१२

परम्परा एवं उपसंहार

परम्परा :

हम देख चुके हैं कि प्राचीन तथा मध्यकाल में संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की रचना पर्याप्त संख्या में होती रही है। यद्यपि आधुनिक काल (१६ वीं, २०वीं सदी) को संस्कृत-साहित्य का पतन-काल कहा जाता है। फिर भी इस काल में संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा अक्षुण्ण रही है। इस काल की विशेषता यह है कि इस युग में अनेक नाटकारों ने प्राचीन मध्यकालीन तथा समकालीन इतिवृत्त को उपजीव्य बनाकर प्राचीन तथा नवीन शिल्पविधान द्वारा अभिनव विचार-धारा और उद्देश्य-सरणी के अनुरूप अनेक नाटकों की रचना की है। आधुनिक काल में अधिकांश रचनाएँ राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर लिखी गई है। इस युग में अभिसृष्ट अधिकांश नाटकों में मंचीयता तथा नाटकीयता के निर्वाह एवं कथ्य को अत्यधिक प्रेषणीय बनाने तथा वस्तुगत यथार्थ के प्रक्षेप की पूरी चेष्टा रही है। किन्तु ये नाटक भी प्रमुखतः वर्णनात्मक तथा चरित्रप्रधान हैं। अत प्राचीन.तथा मध्यकालीन नाटकों की अपेक्षा इनकी साहित्यिक तथा ऐतिहासिक उपादेयता अधिक नहीं है। इसी कारण प्रस्तुत स्थान पर सीमाओं को ध्यान में रख कर इनके विस्तृत अध्ययन का लोभ संवरण करना पड़ रहा है। अतश्च यहाँ संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा के परिचय के रूप में आधुनिक नाटकों का संक्षिप्त विवरण मात्र प्रस्तुत किया जा रहा है।

संस्कृत के आधुनिक नाटकों में गुजरात के श्री मूलशंकर माणिकलाल-याज्ञिक (१८८६ ई०) का स्थान महत्त्वपूर्ण है। श्री याज्ञिक ने तीन ऐतिहासिक नाटकों की रचना की है। (१) छत्रपति साम्राज्यम्—यह वीर शिवाजी के पौरुषपूर्ण राजनैतिक जीवन को आधार बनाकर लिखा गया १० अंकों का नाटक है। (२) प्रतापविजय—यह महाराणा के जीवन एवं पराक्रम को आधार बनाकर रचित ९ अंकों का वीररस से परिपूर्ण नाटक है। (२) संयोगितास्वयम्बर—यह पृथ्वीराज चौहान तथा संयोगिता

की सुप्रसिद्ध प्रणयकथा पर आश्रित ६ अंकों का नाटक है। ये सभी नाटक प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथा पर आधारित है। किन्तु ये नाटक आधुनिक नाट्यशिल्प से प्रभावित तथा ऐतिहासिकता से संयुक्त है।

श्री पंचानन तर्करत्न (१८६६-१९४१ ई०) भी अपने समय के प्रसिद्ध साहित्यकार थे। इनकी सात कृतियाँ प्रसिद्ध है, जिनमें ऐतिहासिक नाटक भी है। (४) अमरमङ्गलम् (१९११)—इसमें महाराणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह से सम्बन्धित ऐतिहासिक कथानक ८ अंकों में नाट्यबद्ध है। यह नाटक राष्ट्रीयता से युक्त अत्यधिक सफल नाटक है। इसके प्रारम्भ में आधुनिक नाटककारों के समान नाटक की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यह विशुद्ध ऐतिहासिक आधार पर उपन्यस्त है। तथा यह इस काल की अत्यन्त सफल नाट्यकृति है। (५) अनारकली—डा० राघवन् ने श्री तर्करत्न के इस अप्रकाशित नाटक का उल्लेख किया है। संभवतः यह अनारकली से सम्बन्धित सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रणय-कथा पर आश्रित है।

बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् म० म० हरिदास सिद्धान्तवागीश (१८७६-१९३६ ई०) इस युग के प्रतिनिधि लेखक थे। इन्होंने दो दर्जन रचनाएँ संस्कृत साहित्य को दी। इनके तीन ऐतिहासिक नाटक प्राप्त है। (६) मेवाड़ प्रताप, (७) बंगीय प्रताप, तथा (८) शिवाजी प्रताप—ये तीनों नाटक सुप्रसिद्ध इतिवृत्त पर आधारित है।

म० म० श्री मथुरा प्रसाद दीक्षित (१८७८ ई०) ने आधुनिक युग की रुचि के अनुरूप डेढ़ दर्जन कृतियों की रचना की। इनके छोटे-छोटे दो ऐतिहासिक नाटक प्राप्त है। इनका (९) वीरप्रताप नाटक—महाराणा प्रताप तथा अकबर से सम्बन्धित प्रसिद्ध ऐतिहासिक कथानक पर आधारित वीर-रस प्रधान नाटक है। इसमें हल्दीघाटी के युद्ध तथा भामाशाह की स्वामिभक्ति आदि का वर्णन बड़ी ही ओजस्वी भाषा में किया है। (१०) पृथ्वीराजविजय—पृथ्वीराज तथा मोहम्मद गौरी से सम्बद्ध प्रसिद्ध ऐतिहासिक युद्ध के कथानक को आधार बनाकर सफल दुःखान्त नाटक की रचना की है। यह वीररस प्रधान छोटे-छोटे छह अंकों की सुन्दर सफल अभिनेय रचना है। इनके दो अन्तिम नाटक आधुनिक इतिहास पर आधारित हैं, (११) गाँधी विजय—यह गांधीजी की राजनैतिक सफलताओं पर आधारित दो अंकों की छोटी सी रचना है। (१२) भारत विजय—यह दीक्षितजी की सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सर्वोत्कृष्ट रचना है। इसमें भी भारतीय जनता तथा अंग्रेजों के राजनैतिक युद्ध से सम्बन्धित ३०० वर्षों के इतिवृत्त को सात अंकों में इतनी सफलता से विन्यस्त किया है कि यह भारत के स्वातन्त्र्य-युद्ध का समस्त चित्र एक बार ही समग्र रूप में प्रतिबिम्बित कर देता है। इसमें लोक-भाषा के रूप में नैपाली का प्रयोग भी किया गया है।

आधुनिक काल में रचित ऐतिहासिक नाटकों में (१३) माधवस्वातंत्र्यम्- का विशिष्ट स्थान है। यह ७ अंकों में विभक्त अज्ञातकाल अप्रकाशित' नाटक है। इसका दूसरा नाम 'चन्द्रविजय' भी है। इस नाम से कान्तिचन्द्र मंत्री पर विजय से लेखक का अभिप्राय है। इसकी रचना जयपुर के सुप्रसिद्ध कवि पंडित गोपीनाथ दाधीच द्वारा २०वीं सदी के मध्य में हुई। श्री दाधीच की (संस्कृत २३, हिन्दी ६) कुल २६ कृतियाँ प्राप्त है। प्रस्तुत नाटक उनकी बाद की रचना है। यह जयपुर के राजा माधवसिंह से सम्बन्धित प्रसिद्ध इतिवृत्त को उपजीव्य बनाकर मुद्राराक्षस की अनुकृति पर रचित है।।

जब सवाई रामसिंह (द्वितीय) का निःसन्तान देहावसान हुआ, और उनकी इच्छानुसार ईसरदा के कु० श्री कायमसिंह को उत्तराधिकारी बनाया तब उनका नाम माधवसिंह (द्वितीय) हुआ। उस समय राज्य में उत्पन्न समस्याओं तथा मंत्रियों की महत्त्वकाक्षाओं एवं राजनैतिक उथल-पुथल का इसमें यथार्थ चित्रण है। इसमें भी रामसिंहजी के प्रधानामात्य फतहसिंह चंपावत को पदच्युत कर तथा अन्य सहयोगी मंत्रियों को निरस्त कर श्री कान्तिचन्द्र स्वयं प्रधानामात्य बनता है। यह घटना मुद्राराक्षस के मंत्रियों के युद्ध एवं समर्पण जैसी है। इस नाटक में घटनाओं को विस्तृत चित्रित किया है। स्वगत शैली का वर्णन के लिए प्रमुख रूप से प्रयोग है। यह पात्र-बहुल नाटक है। कथोपकथन में नाटकीयता का अभाव है। सूत्रधार के कथन में नाटककार मुद्राराक्षस का प्रभाव स्वयं स्वीकार करता है। इस नाटक में आधुनिक काल के अनुरूप प्राकृत के स्थान पर देशभाषा हिन्दी का स्त्री, प्रतिहारी आदि से प्रयोग कराया गया है। किन्तु यह तत्सम नहीं है। इसी प्रकार निम्नवर्ग के पात्रों द्वारा कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। नटी आदि पात्र हिन्दी में संभाषण करते हैं। नाटकीय तत्त्वों का इसमें भी पूर्ण निर्वाह हुआ है। नाटक पर मुद्राराक्षस का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। विशेषता यह है कि इसमें हास्य के लिए भद्र विदूषक का प्रयोग हुआ है। भाषा सरल है तथा संस्कृत सूक्तियों का प्रयोग भी हुआ है।

इस नाटक में जयपुर की तत्कालीन राजनीति का बड़ा सुन्दर स्फुट चित्रण है। इसमें पात्र एव घटनायें इतिहास-सम्मत हैं। लेखक के अनुसार इसमें सरल नीति का प्रदर्शन किया गया है। प्रस्तावना के अनुसार यह नाटक जयपुर की रामप्रकाश नाट्यशाला[1] में सफलता के साथ अभिनीत हुआ था।

---

१ वह नाट्यशाला आजकल रामप्रकाश टाकीज के नाम से प्रसिद्ध है विवेच्य नाटक राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जयपुर (शाखा) में सुरक्षित हैं। हस्त-लिखित प्रति सुवाच्य तथा सुरक्षित है। उसमें एक ओर लिखित ३१५ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में १७-१८ पंक्तियाँ हैं।

इसी परम्परा में सुदर्शनपति रचित (१४) सिंहलविजय, श्री नीपजि भीम भट्ट रचित (१५) काश्मीरसन्धान समुद्यम (एकांकी), तथा श्री चिन्तामणि रामचंद्र सहस्रबुद्धे का वीर शिवाजी के ऐतिहासिक वृत्त पर आधारित (१६) अब्दलमर्दन (१६१६) आदि अनेक नाटक आते हैं। जो शायद साधनों के अभाव में मुद्रित भी नहीं हो पाए हैं।

रेडियो रूपक—उपर्युक्त नाटकों के अतिरिक्त आधुनिक काल में संस्कृत के अनेक ऐतिहासिक नाटक 'रेडियो रूपक' के रूप में रचे गये हैं तथा विभिन्न आकाशवाणी केन्द्रों से सफलतापूर्वक प्रसारित हुए हैं। यद्यपि आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों पर संस्कृत कार्यक्रमों को प्रमुखता न मिलने से ऐसे नाटकों की अधिकता नहीं है, तथापि जो प्रसारित हुए हैं वे अन्य भाषाओं के नाटकों के समान ही पर्याप्त सफल रहे हैं। जयपुर केन्द्र से इस प्रकार के अनेक नाटकों का प्रसारण हुआ है। प्रो० हरिराम आचार्य द्वारा किया हुआ मुद्राराक्षस का सफल रूपान्तर जयपुर के आकाशवाणी केन्द्र से सफलतापूर्वक प्रसारित हुआ था। भास आदि अन्य नाटककारों की रचनाओं के रूपान्तर तथा अन्य कुछ स्वतंत्र ऐतिहासिक नाटकों का भी प्रसारण हुआ था, किन्तु आकाशवाणी केन्द्रों की उपेक्षा के कारण उस ओर अभी नाटककारों का अधिक ध्यान नहीं गया है।

उक्त सामान्य सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की परम्परा किसी न किसी रूप में न केवल अविच्छिन्न रही है, अपितु संस्कृत नाटककारों ने आधुनिक युग के प्रभाव को आत्मसात् किया है। नाट्यशिल्प में युगानुरूप परिवर्तन हुआ है और रूपायन तथा मंचन की ओर भी दृष्टि गई है। इस सबसे यह प्रकट हो जाता है कि संस्कृत में ऐतिहासिक नाटकों के अभाव का आरोप बिल्कुल भ्रामक है तथा संस्कृत साहित्य की गरिमा के सर्वथा प्रतिकूल है। वास्तविकता यह है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक अन्य भाषाओं के नाटकों के समान इतिहास के उद्देश्य के पूरक भर नहीं हैं, अपितु इतिहास के समृद्ध स्रोत हैं। संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की यही ऐतिहासिक महत्ता साहित्यिक महत्ता के साथ इनकी समधिक उपादेयता को परिवृद्ध कर देती है।

उपसंहार :

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि संस्कृत में ऐतिहासिक नाटकों के अभाव की परम्परागत मान्यता नितान्त निराधार है। वस्तुतः संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक संख्या एवं गुणवत्ता की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध हैं। संस्कृत के इन नाटकों की साहित्यिक, ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक उपादेयता न केवल संस्कृत के अन्य नाटकों से बहुत अधिक है, अपितु अन्य भाषा के

नाटकों से भी किसी दृष्टि से न्यून नहीं हैं। सामान्यतः संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का विवेचन करते हुए इनके बहुविध महत्त्व पर प्रकाश डाला जा चुका है तथा इनके इतिहास-तत्त्व एवं नाट्यकला का भी मूल्यांकन किया है, उससे प्रकट हो गया है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक अन्य भाषा के ऐतिहासिक नाटकों से भिन्न हैं। इनकी रचना का उद्देश्य तथा देशकाल सभी कुछ भिन्न है। इनकी सर्जना के प्रेरक न तो आधुनिक जैसे उद्देश्य रहे हैं, न इनमें इतिहास के शृंखला-बद्ध विवरणों की प्रस्तुति है और न ऐतिहासिक कालक्रम तथा वातावरण आदि पर अतिरिक्त ध्यान दिया गया है। यही कारण है कि ये नाटक आधुनिक ऐतिहासिक साहित्य के समान इतिहास के प्रति प्रतिबद्ध नहीं हैं। इनके उपजीव्य इतिहास ग्रन्थ नहीं है, अपितु ये स्वयं इतिहास के उपजीव्य हैं। अतः इनकी नाट्यकला तथा इतिहास-तत्त्व का आधुनिक ऐतिहासिक नाटकों के समान अध्ययन एवं विश्लेषण करना न सम्भव है, न समीचीन हो। अतएव हमने इनके मौलिक परिवेश में ही इनका अध्ययन करते हुए इनकी उपलब्धि को उद्घाटित किया है।

संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक नाटक भास, कालिदास, शूद्रक तथा विशाखदत्त जैसे लब्धप्रतिष्ठ नाटककारों की लेखनी से प्रसूत हैं। उनकी नाट्यकला सुदीर्घकाल से समालोचन की निकष पर परीक्षित होती रही है और आज उनकी उत्कृष्टता सर्वमान्य है। विशेषतः ये ऐतिहासिक कृतियां अपनी प्रेषणीयता, संवेगात्मकता, संवेदनशीलता, ओजस्विता, रसमयता एवं सम-सामयिक यथार्थ से संयुक्त हैं। इनमें अनुरंजनात्मकता का सहज निर्वाह हुआ है। भास के दोनों ऐतिहासिक नाटक स्वप्न-वासवदत्ता तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण, कालिदास का मालविकाग्निमित्र, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस तथा शूद्रक का मृच्छकटिक आदि संस्कृत नाट्यसाहित्य की प्रतिनिधि रचनाएं हैं। इसमें ऐतिहासिकता तथा सर्जनात्मक प्रतिभा का मंजुल निर्वाह हुआ है।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक मुख्यतः तीन प्रकार के हैं: (१) राजनैतिक, (२) सांस्कृतिक (३) रोमांटिक या प्रणयप्रधान।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण तथा मुद्राराक्षस आदि नाटकों में राजनैतिक पक्ष प्रधान है। हम्मीरमदमर्दन भी ऐसा ही नाटक है। मृच्छकटिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर निर्मित है। रोमांटिक नाटकों में रोमानी पृष्ठभूमि में राजनैतिक तथा षड्यन्त्रों का ताना-बाना बुना गया है। कुछ परवर्ती नाटकों में ऐतिहासिक शैली को अपनाया गया है। पर ये उतने सफल नहीं बन पड़े हैं, क्योंकि इन पर इतिहास का आरोप प्रतीत होता है। अतः ये संवादात्मक इतिहास मात्र बनकर रह गए हैं। कुछ परवर्ती नाटक प्रशस्तिपरक हैं। इनमें सर्जनात्मक प्रतिभा का दर्शन नहीं होता है। अतः इस प्रकार के नाटक ऐतिहासिक नाटक के रूप में सफल नहीं हैं।

मध्यकालीन नाटकों में ह्रासकालीन नाट्यकला दृष्टिगत होती है। फिर भी ये सम-सामयिक यथार्थ के प्रतिबिम्बन में सर्वथा सफल है। मुख्यतः मध्यकालीन ऐतिहासिक नाटक अनुकरण के रूप में, राज्याश्रय में, शृंगारिक वातावरण में तथा प्रशस्तियों के रूप में रचित है। अतः इनमें नाट्यकला का सहज निर्वाह नहीं हुआ है। इन रचनाओं में या तो कहीं कल्पना का प्राचुर्य है, या कहीं इतिहास-तत्त्व का अधिक प्रक्षेप। इस अध्ययन से स्पष्ट हो गया है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक प्राचीन युग से आधुनिक युग की ओर आते-आते उत्कृष्ट से ह्रास की ओर अग्रसर हुए है। उनमें नाट्यकला का उत्तरोत्तर ह्रास हुआ है। मौलिकता का अभाव है। संस्कृत के परवर्ती ऐतिहासिक नाटक प्रायः टाइप बन गए हैं। उनमें शृंगारप्रधान नाटिकाओं, में एक योगिनी या माध्वीपात्र तथा धीरललित जैसे नायक का विनियोग हुआ है। प्रायशः इनमें लेख-प्रयोग प्रणयोद्देश्य तथा राजनैतिक उद्देश्य के लिए हुआ है। ये रचनाएँ अनुकृति के रूप में निर्मित हुई हैं। उदाहरणार्थ, हर्ष की नाटिकाएँ अपने क्षेत्र में सफल होते हुए भी काव्यशिल्प एवं कथ्य आदि की दृष्टि से मालविकाग्निमित्र से प्रभावित हैं, और पारिजातमंजरी आदि परवर्ती रचनाएँ तो पूर्णतः इसकी अनुकृतियाँ हैं। कौमुदीमहोत्सव में भी विशाखदत्त रचित मुद्राराक्षस के प्रभाव, प्रवाह, संघर्ष तथा ओजस्विता का अभाव है। इसमें भिक्षुणी का प्रसग पूर्णतः अनुकृति के रूप में निक्षिप्त हैं। उदयन नाटकों पर भास के नाटकों का प्रभाव स्पष्ट है, और जहाँ कहीं वैचित्र्य हैं कहीं उनकी नाट्यकला अपकर्ष का कारण बन गई है। तापसवत्सराज में नायक नायिका का आत्महत्या के क्षणों में पुनर्मिलन एक नवीन योजना है। पर इसमें न ऐतिहासिकता है, न भास की उत्कृष्टता। यह योजना आधुनिक नाटकों के अनुरूप है, मौलिक है और कवि की नाट्यकला का श्रेष्ठ निदर्शन है।

वीणावासवदत्ता अवश्य उत्कृष्ट रचना है। पर वह भी सम्पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है। मध्यकाल के नाटकों में हम्मीरमदमर्दन अवश्य एक सफल ऐतिहासिक नाटक के रूप में उभर कर आता है। इसमें ऐतिहासिकता का सुन्दर विनिवेश है। विशुद्ध इतिहास के आधार पर रचित यह नाटक निश्चित रूप से मध्यकालीन ऐतिहासिक नाटकों में प्रतिनिधि रचना है। इसमें घटनाओं का घात-प्रतिघात, पात्रों की सक्रियता, अन्तर्द्वन्द्व, षडयंत्र, राजनैतिक गतिविधि की द्रुतता आदि के कारण ऐतिहासिकता का पूर्ण निर्वाह हुआ है। इसमें बिना रक्तपात के मुद्राराक्षस की तरह राजा को विजयश्री का वरण, इसकी कल्पना एवं इतिहास के सम्यक् नियोजन का उत्कृष्ट निदर्शन है।

इस काल के मृगांकलेखा, प्रतापरुद्रकल्याण, गंगादासप्रताप विलास आदि परवर्ती नाटक कल्पना-प्रधान या इतिहास-प्रधान सामान्य रचनाएँ हैं। ये अर्धैति-

हासिक हैं। इनमें न नाटकीय सर्जनात्मकता का सहज प्रयोग हुआ है, न ऐतिहासिकता की सृष्टि ही।

आधुनिक विद्वान् ऐतिहासिक नाटकों को शुद्ध ऐतिहासिक तथा अर्धैतिहासिक आदि वर्ग में विभक्त करना उचित समझते हैं। किन्तु इनकी रचना का उद्देश्य ऐतिहासिक नहीं रहा है तथा इनका रूप भी भिन्न है। अतः हमने इनको विशुद्ध ऐतिहासिक, कल्पना-प्रधान तथा इतिहास-प्रधान आदि नाम दिये हैं। इससे इनकी वस्तु तथा वस्तुविन्यास का आधार खोजने में सरलता मिलती है। जिनकी वस्तु अधिकारिक या प्रासंगिक रूप में इतिहास से गृहीत है तथा इतिहास-सम्मत है; और जिसका इतिहास-तत्व ज्ञात तथा प्रामाणिक है उसी को हमने ऐतिहासिक नाटकों में अन्तर्भुक्त किया है। वस्तुतः किसी न किसी सुनिश्चित मुख्य इतिहास-तत्व का विनियोजन ऐतिहासिक नाटक की विश्वसनीयता के लिए अनिवार्य होता है। उसी के द्वारा उसकी प्रामाणिकता व्यक्त होती है। यद्यपि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का एकमात्र उद्देश्य रसपेशल रचना की निर्मिति रहा है। अतः उसकी रचना किसी ऐतिहासिक उद्देश्य की प्रेरणा से नहीं हुई है। इनके रचनाकार या तो विशुद्ध साहित्यकार थे, या कुछ राजनीति के विद्वान् तथा अनुभवी खिलाड़ी या राज्याश्रित होने से राजनीति के अनुभवी थे। राज्याश्रितों ने प्रायः प्रणय-प्रधान तथा प्रशस्तिपरक नाटक ही बहुलतः लिखे हैं। इनकी रचना में सम-सामयिक या कुछ पूर्व के लोक प्रसिद्ध इतिवृत्त को ही आधार बनाया गया है। अतः इनमें अनेक लोक-विश्रुत इतिहास-सम्मत तत्वों का विनियोग हुआ है। और यही इनकी महत्वपूर्ण विशेषता है। इतिहास के स्रोत ग्रन्थ के रूप में भी इन नाटकों का महत्व निर्विवाद है। अतः भास के नाटकों को प्रमाण मान कर उदयन-कालीन इतिहास में संशोधन हुआ है। मालविकाग्निमित्र के आधार पर शुंग-इतिहास में अध्याय जुड़ा है। मुद्राराक्षस के आधार पर मौर्य-इतिहास में परिवर्तन-परिवर्धन हुआ है। मृच्छकटिक के आधार पर तथा परवर्ती अनेक नाटकों के आधार पर इतिहास-निर्माण में पर्याप्त सहयोग मिला है। विशेषकर गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश एवं दक्षिण के इतिहास में। किन्तु इनका विश्लेषण इतिहास-ग्रन्थों के आधार पर सम्भव नहीं है। अतः हमने यथाप्रसंग अनुमान तथा सम्भाव्यता के आधार पर ही इनका विश्लेषण किया है।

प्राचीन लोकसम्मत सांस्कृतिक तत्वों का समावेश इन नाट्यकृतियों की मूल्यवृद्धि का महत्वपूर्ण कारण है। इसके कारण ही ये नाटक सच्चे अर्थ में ऐतिहासिक कृतियाँ बन पड़े हैं। भारत के सांस्कृतिक इतिहास को सँभारने के लिए इनमें प्रचुर उपयोगी सामग्री विद्यमान है। इनमें यद्यपि नाटककार ने आधुनिक नाटकों के समान वस्तुगत देशकाल एवं वातावरण की सृष्टि नहीं की है। और यह

आधुनिक नाट्यकला की दृष्टि से एक त्रुटि है। किन्तु संस्कृत नाटक स्वयं प्राचीन संस्कृति से प्रतिविम्बित हैं। और इनमे अपार सांस्कृतिक सम्पदा स्वत. सक्रान्त हो गई है। अनेक पुराणविद्, इतिहासविद् तथा राजशास्त्र के विद्वानों ने, अतएव, इन ऐतिहासिक नाटकों से विभिन्न प्रकार की महत्वपूर्ण सामग्री का संग्रह किया है। डा० अलतेकर ने भास के नाटकों के आधार पर भारतीय शासन पद्धति पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक तथा मालविकाग्निमित्र में इस दृष्टि से अपार सम्पदा सुरक्षित है। इस पर हमने भी यथाप्रसंग कुछ प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक नाटकों में रचनाकार का समय निर्धारण का व्यापक्ष विश्वस्त आधार प्राप्त हो जाता है। इन सभी कारणों से संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का असाधारण महत्व प्रमाणित होता है।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के अध्ययन से एक महत्वपूर्ण बात यह और स्पष्ट होती है कि सस्कृत के प्राचीन तथा मध्यकालीन नाटक अनुरंजन की दृष्टि से मंचन के लिए निर्मित हुए हैं। यद्यपि आज इनमें काव्यात्मकता की बहुलता है तथा प्राय: ये पाठ्य माने जाते हैं। किन्तु इन नाटकों के समालोचन से स्पष्ट है कि ये प्राय: अभिनय के लिए ही रचे गये थे। बसन्तोत्सव, कौमुदी-महोत्सव, देवी-पूजन या देवपूजन, राज्याभिषेक या अन्य उत्सवों पर मन्दिर या राज्य-सभागारों में ,इनका अभिनय अवश्य हुआ था। स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, मालविकाग्निमित्र आदि प्राचीन नाटकों एवं अन्य नाटिकाओं में इसके पुष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। गंगादास प्रतापविलास जैसे नाटकों की रचना भी इसीलिये हुई थी। सुब्रह्मण्य उत्सव में सेवन्तिकापरिणय अभिनीत हुआ था। वस्तुत: राज्याश्रय इस दृष्टि से संस्कृत नाटकों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। राज्याश्रय के कारण ही संस्कृत नाटकों को आभिजात्य-विद्वान् प्रेक्षक प्राप्त होते रहे। किन्तु उससे यह हानि भी हुई कि संस्कृत नाटक अभिजात वर्ग के लिए सीमित हो गये तथा नाट्य-शिल्प एवं कथ्य रूढ़, प्रणय-प्रधान तथा कृत्रिम हो गया।

ऐतिहासिक नाटकों मे कल्पना तथा इतिहास का सन्तुलित नियोजन महत्व रखता है। सर्वप्रथम नाटक नाटक है। अत: इसमें कल्पना की उपयोगिता असंदिग्ध है। बिना नाटकीय कला के सम्यक् नियोजन के नाट्यरचना असम्भव है। विशेषत: ऐतिहासिक नाटकों में नाट्यकला के सफल प्रयोग तथा इतिहास को आत्मसात् करने पर ही ऐतिहासिकता तथा मौलिकता का आविर्भाव सम्भव होता है। पर ऐसे नाटक बहुत कम है जिनमें नाट्यकला तथा इतिहास का उत्कृष्ट संतुलित सफल विनियोग हुआ हो। संस्कृत के प्राचीन नाटक उत्कृष्ट हैं तथा उनमें भी मुद्रा-राक्षस, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्ता, मालविकाग्निमित्र, मृच्छकटिक आदि नाटक ऐतिहासिक नाटकों के प्रतिमान कहे जा सकते है। कुछ परवर्ती नाटक भी बहुत

महत्व के हैं। विशेषत: जब नाटककार का एकांगी दृष्टिकोण होता है वह पूर्वाग्रह-ग्रस्त होता है, किसी राजा आदि को प्रसन्न करने को सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रयोग करता है, तब नाट्यरचना में असंतुलन आना स्वाभाविक है। संस्कृत नाट्य-रचना में प्राय: बाद में यही हुआ है। नाटकीय कलात्मकता तथा इतिहास-तत्वों का सम्यक् ज्ञान होने पर भी नियोजन में वे प्राय: असफल रहे हैं। कहीं इतिहास का आरोप है तो कहीं नाट्यकला की कलात्मकता मुखर है। संस्कृत के प्राचीन ऐतिहासिक नाटक अपने क्षेत्र में विशिष्ट तथा मौलिक हैं। प्राचीन नाटकों में कथ्य एवं शिल्प की नवीनता है। तत्कालीन जीवन की यथार्थता का प्रस्तुत परिवेश है। नाटकीय संप्रेषणीयता का प्राचुर्य है। परन्तु परवर्ती (मध्यकालीन) नाटकों में इसका अभाव है। विशेषत: उनमें वैचारिकता का एवं जीवन की यथार्थता का भी सही एवं व्यापक आकलन नहीं हुआ है, अपितु वे एकांकी, स्पन्दनरहित, नीरस नाटक भर हैं। परन्तु परवर्ती नाटिकाओं में मनोरागों तथा रागात्मक सम्बन्धों का सुन्दर अंकन है। किन्तु इनमें भी कल्पना के प्रयोग के अतिरेक से ऐतिहासिक प्रामाणता सन्देहास्पद हो गई है।

प्राय: आधुनिक ऐतिहासिक नाटकों में प्रतीकरूप में इतिहास-प्रयोग हुआ है। पौराणिक उपकरणों का ऐतिहासिक आवरण में विनियोजन हुआ है तथा ऐतिहासिक प्रसंगों (वस्तु-पात्र) की आधुनिक परिवेश में नाट्य-योजना की गई है। किन्तु संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में इस सब का अभाव है।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिक महत्व के सन्दर्भों की प्रचुरता है, रसपेशलता है, सांस्कृतिक सन्दर्भ हैं। इनकी रचना-प्रक्रिया, रसात्मकता तथा रजनवृत्ति से अनुशासित है। इनका कथ्य एवं शिल्प परम्परागत होते हुए भी समसामयिक प्रेक्षक की (पाठक की) रुचि से शासित रहा है। संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों में परम्परा-प्रथित आदर्श का नियोजन हुआ है। इनके पात्रों के चरित्र-गत आयाम अपने एक सिद्धान्त-विशेष के अनुरूप हैं तथा स्थानिक एवं सामयिक परिवेश के सगत है।

संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक सामान्यतया तीन प्रकार के हैं:—(i) पात्र-प्रधान (ii) घटना-प्रधान (iii) रस-प्रधान। यूँ तो नाट्य-रचना में सभी तत्व सक्रिय रहते हैं, किन्तु रस-प्रधान तथा घटना-प्रधान रचना ही ऐतिहासिक नाटक के रूप में सर्वाधिक सफल हैं। मध्यकाल के ह्रासकालीन कुछ नाटक तो नाम-मात्र के नाटक हैं। उनमें न इतिहास तत्व है, न कलात्मकता। संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों के मूल्यांकन एवं उपादेयता का उद्घाटन आधुनिक ऐतिहासिक नाटकों के अध्ययन से भिन्न पद्धति की अपेक्षा रखता है। प्रस्तुत अध्ययन इस दिशा में एक

प्रयास मात्र है। सामान्यत. ई० पू० से १८वीं सदी तक के ऐतिहासिक नाटकों का शिल्पविधान प्रायः समान है। १९–२०वीं सदी में शिल्पविधान में परिवर्तन अवश्य आया है। लोकभाषाओं का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की उपर्युक्त सुदीर्घ परम्परा के अध्ययन से स्पष्ट है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों की रचना प्राचीनकाल से वर्तमान तक गतिमान है। गुण एवं उपलब्धि की दृष्टि से प्राचीन नाटकों का महत्व सर्वाधिक है। मध्यकालीन नाटक ह्रासकालीन होते हुए भी इतिहास-तत्व की दृष्टि से अधिक समृद्ध हैं। आधुनिक नाटक मुख्यतः परम्परा के रूप में ही उपादेय माने जा सकते हैं। इनकी न तो प्राचीन नाटकों के साथ तुलना करना समीचीन है, और इन्हें आधुनिक भाषा के नाटकों के साथ सतोलना। निष्कर्ष रूप में यह सुनिश्चित है कि संस्कृत के ऐतिहासिक नाटकों का परिशीलन भारतीय इतिहास, राजनीति, संस्कृति तथा नाट्यकला के विकास एवं समृद्धि के सम्यक ज्ञान के लिये अत्यधिक उपादेय है। और उससे प्रमाणित होता है कि भारतीयों को प्राचीन काल से इतिहास का सम्यक् ज्ञान था, इतिहास में अभिरुचि थी तथा ऐतिहासिक नाटक-लेखन की समृद्ध परम्परा थी।

परिशिष्ट

ऐतिहासिक महत्त्व के कुछ अन्य नाटक

ऐतिहासिक महत्व के कुछ अन्य नाटकों के अध्ययन के सन्दर्भ में हमने प्राय सभी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक नाटकों को समाहित करने का प्रयास किया है। फिर भी हम यह अनुभव करते हैं कि सम्भवतः विशाल संस्कृत साहित्य में अनेक ऐसे प्रकाशित-अप्रकाशित नाटक होंगे, जो हमारी दृष्टि में आने से छूट गये हैं। इसके अतिरिक्त हमारी अभिज्ञता में कुछ ऐसे नाटक भी हैं, जिन्हें हम ऐतिहासिक नाटक तो नहीं मानते किन्तु उनका ऐतिहासिक महत्व का मानते हैं। ऐसे नाटकों में मुख्यतः कुछ प्रतीकात्मक हैं तो कुछ नाटिका तथा सट्टक आदि। इनका ऐतिहासिक मूल्यांकन हम नहीं कर सके हैं। विशेषतः नाटिकाओं के पात्र एवं कथानक की ऐतिहासिकता को मूल्यांकित करना पृथक् अध्ययन की अपेक्षा रखता है। नाटिकाओं में मात्र प्रणय-प्रसंग होना तथा इनका परवर्ती होना भी इनकी अर्थवत्ता को न्यून करता है। फिर भी हम यहां कुछ ऐसे नाटकों का मात्र नामोल्लेख कर रहे हैं, जो कुछ न कुछ ऐतिहासिक महत्व के हैं।

१. **कर्पूरमंजरी:**—यह राजशेखर (७–८वीं ई०) रचित चार अंकों का सट्टक (प्राकृत रचना) है। इसका धीरललित नायक राजा चन्द्रपाल तथा नायिका कुन्तलदेश की राजपुत्री कर्पूरमंजरी है। रानी विभ्रमलेखा से छिपकर नायक-नायिका का प्रेम चलता है तथा अन्त में भैरवानन्द के प्रयत्नों से उनका विवाह होता है।

२. **प्रबोधचन्द्रोदय:**—यह कृष्णमिश्र (११वीं सदी) रचित प्रथम प्रतीक नाटक है। इसमे जेजकभुक्ति के चन्देलवंशी राजा कीर्तिवर्मा के सेनापति गोपाल से सम्बन्धित उल्लेख हैं।

३. **मोहराजपराजय:**—यह पांच अंकों का प्रतीक नाटक है। इसका समय ११वीं सदी है। इसकी रचना चालुक्य वंशी गुजरात के नरेश अभयदेव के मंत्री धनदेव के पुत्र जैन कवि यशपाल ने की। उसमें गुजरात के चालुक्यवंशी राजा कुमारपाल का हेमचन्द्र से जैनधर्म ग्रहण तथा उसके द्वारा जैन धर्म से सम्बन्धित प्रचार प्रसार के लिये किये कार्यों की विश्वस्त तथा महत्वपूर्ण सूचनाएँ हैं।

४. **मुदित कुमुद चन्द्र.** यह शाकम्भरी के राजा धनदेव के पौत्र, पद्मचन्द्र के पुत्र यशचन्द्र रचित पांच अंकों का नाटक है। इसमें ११२४ ई० में सिद्धराज की राजसभा में श्वेताम्बर मुनिदेवचन्द्र और दिगम्बर मुनि कुमुदचन्द्र के मध्य उत्पन्न विवाद का तथा उनके मध्य शास्त्रार्थ का कथानक नाट्य बद्ध है, जिसमें कुमुदचन्द्र परास्त हुये थे। यह कृति जैन कवि द्वारा रचित धार्मिक नाटक होते हुये भी अत्यन्त ऐतिहासिक महत्व का नाटक है।

५. **रम्भामंजरी:**— यह नयन चन्द्र सूरी रचित नाटिका है। यह निर्णय सागर प्रेस से १८८९ ई० में प्रकाशित हुई।

६. **चन्द्रलेखः**—यह जैसलमेर भण्डार में सुरक्षित अप्रकाशित नाटिका है। इसमें कुमारपाल की विजय से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूचनाएँ हैं।

७. **लीलावती:**—यह १०वीं सदी की रामपाणिपाद रचित वीथी नाट्य-रूप की प्रतिनिधि रचना है। इसमें कुन्तलेश्वर वीरपाल तथा कर्णाटक-पुत्री लीलावती की प्रणयगाथा नाट्यबद्ध है। वीथी का कथानक कल्पित होता है। कहना कठिन है कि यह ऐतिहासिक है या कल्पित।

८. **राजराजनाटक:**—कीथ ने संस्कृत ड्रामा (पृ० २५१) की टिप्पणी में इसका ऐतिहासिक नाटक के रूप में उल्लेख किया है, पर यह अनुपलब्ध है।

९. **कमलाकण्ठीरवम्**—तंजौर कैटलॉग में नं० ३३५७ पर उल्लिखित है, अप्रकाशित व अपूर्ण है। इसमें भी प्रणयगाथामात्र है। इसी प्रकार कलानन्दकम्, वासन्तिकापरिणयम्, कनकलेखापरिणय, वसुमतीपरिणय, विख्यातविजय, तथा मदनमंजरीमहोत्सव आदि अनेक रचनाएँ हैं, जिनकी ऐतिहासिकता बहुत संदिग्ध है।

सहायक ग्रन्थ संक्षेप एवं अनुक्रमणिका

संस्कृत ग्रन्थ

१.		अमरकोष
२.		अर्थशास्त्र (कौटिल्य)
३.	अभिज्ञान०	अभिज्ञान शाकुन्तल
४.		अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र) रामकृष्ण कवि, बा० १-३, बड़ौदा
५.		अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र) रामकृष्ण कवि, बा० २, बड़ौदा, सन् १९३४
६.		अमरमंगल (नाटक) बनारस, प्र० सं०
७.		ऋग्वेद सायण भाष्य
८.		काव्य मीमांशा
९.		काव्यालंकार
१०.	का० सू० वृ०	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
११.		कठोपनिषद्
१२.	कथा०	कथासरित्सागर
१३.		काव्य प्रकाश
१४.	कौ० म०	कौमुदी महोत्सव
१५.		तापसवत्सराज
१६.		दशरूपक
१७.	देवी०	देवीचन्द्रगुप्तम्
१८.		ध्वन्यालोक-दिल्ली प्र० सं० १९५२,
१९.		नाट्यशास्त्र-चौखम्बा० १९५८
२०.		नाट्यदर्पण: रामचन्द्र गायककवाड़ १९२९,
२१.		नाटकलक्षण रत्नकोश आक्सफोर्ड १९३६
२२.		निरुक्त
२३.		चारुदत्त (भास नाटक चक्र)

२४.	पद्म०	पद्मपुराण
२५.		पंचरात्रनाटक :(-(भास नाटक चक्र)
२६.	प्रतिज्ञा०	प्रतिज्ञायौगन्धरायण, सं० वामन गोपाल ऊध्वरेषे, प्र० सं०
२७.	प्रतिमा०	प्रतिमानाटक (भास नाटक चक्र)
२८.		प्रबन्धकोश
२९.		प्रियदर्शिका–सं० काले
३०.	प्र० रू० यशो०	प्रतापरूद्रयशोभूषण, बम्बई, प्र० सं० १९०९
३१.		पारिजातमंजरी, धार, १९५३
३२.		पादताडितक
३३.	वसन्त०	बसन्तविलास
३४.	बृ० क० मंजरी	बृहद्कथा मंजरी
३५.	बृ० क० श्लो० सं०	बृहद्कथाश्लोकसंग्रह
३६.	बाल०	बालमार्तण्डविजय
३७.		भामहालंकार
३८.		भासनाटकचक्रम्, पूना, १९३७
३९.		महाभारत
४०.		मत्स्य पुराण
४१.	मालविका०	मालविकाग्निमित्र सं० एस० सी० पंडित
४२.	मेघ०	मेघदूत,
४३.		मालतीमाधव,
४४.	मृच्छ०	मृच्छकटिक, चौखम्बा, २०११
४५.		,, परांजपे
४६.		,, सं० काले, १९६२, बम्बई,
४७.		महाभाष्य सं० काले
४८.	मुद्रा०	मुद्राराक्षस, सं० के एच ध्रुव, पूना, १९२०
४९.		,, सं० शारदारंजनराय, तृ० सं०
५०.		,, सं० पंडित–१९४४
५१.		,, सं० तेलंग १९२८ सप्तम सं०
५२.		,, सं० आर० एस० बालिम्बे, पूना प्र० सं०
५३.		मृगांकलेखा-बनारस, १९२९
५४.		रत्नावली सं० शारदारंजन राय, १९४४
५५.		,, सं० देवधर व सुरू, प्र० सं०
५६.		रघुवंश

५७.		रामायण
५८.		राजविजय कलकत्ता, १९४७
५९.		रघुनाथ विलास, तंजौर, १९५८
६०.		लीलावतीवीथी, १९४८
६१.		व्यक्तिविवेक
६२.		विष्णुपुराण
६३.	वीणा०	वीणावासवदत्ता–मुद्रा, १९३१
६४.		वस्तुपाल तेजपाल प्रशस्ति,
६५.		वायुपुराण
६६.		विक्रमोर्वशीयम्
६७.		शब्दकल्पद्रुम, चतुर्थखंड, चौखम्बा, प्र० सं०
६८.	स्वप्न०	स्वप्नवासवदत्ता सं० काले
६९.		साहित्यदर्पण
७०.	सेवन्तिका०	सेवन्तिकापरिणय–मैसूर १९५८
७१.		सुकृत-संकीर्तन
७२.	सुकृत०	सुकृत कीर्तिकल्लोलिनी
७३.		संयोगिता स्वयंवर (नाटक) १९२८
७४.		हर्षचरित
७५.	हम्मीर०	हम्मीरमदमर्दन-बड़ौदा, १९१०
७६.		हरिवंश

ENGLISH BOOKS

(जो देवनागरी में भी उल्लिखित हैं)

1. A History of Sanskrit Literature : Macdonell 1958, Delhi.
2. A History of Indian Literature : Wever, 3rd Ed.
3. A History of Sauskrit Literature, (Classical) 1st Vol. : Das Gupta, 1947
4. A study of History : A J Toynbee, Vol. I, 1948 4th Ed.
5. A New English Disctionary : H. H Mery, 1901
6. A Volume of studies in Indology : 1941
7. Ancient India : Mookerjee
8. Age of the Nanda s and Mauryas.
9. A little clay Cart : Ryder,
10. Ajmer: Historical and Describtive : Harbilas Sharda, 1st Ed.
11 Bhasa : Dr. Pusalkar B.B S

12. British Drama : A Nicoll 1955, 4th Edition.
13. Bhasa: A.S.P. Ayyar, 1957 2nd Ed.
14. Buddhist India: T W Rhys Davies 1950
15. B. C. Low, Volume I, Calcutta, 1955
16. „ „ II, 1946
17, Cambridge History of Ancient India, I, 1955, Delhi
18. Chalukyas of Gujarat. A.K. Majumdar, 1956. (चा० गु०)
19. Dramas in Sanskrit Literature : Jagirdar, 1947
20. Early History of Chauhanas: Dr. Dasharath Sharma. 1sted (प्र. हि. चौ.)
21. Early History of India : 4th Ed 1957.
22. Encyclopaidia of Britanika, XIX 11th Ed.
23. Glory of Gujrat: K. M. Munshi, (ग्लो० गु०)
24. History of India (150–350 A.D) K. P. Jayaswal
25. History of Classical Sanskrit Literature : M. Krishnamachariar 1917, Madras, (हि० क्ला० स० लि०)
26. History of India : Shah.
27. History of Indian Literature: M. Winternitze. 1927, Vol. I (हि० इं० लि०)
28. Indian Drama : Saniti Kumar, 1957
29. Introduction to the study of Mudraraksha: Dr. Devasthali, 1949
30. Intraduction to the study of Mrichhakatika : Dr. Devasthali, 1951
31. Indian in the time of Patanjali : Dr. V. N. Puri, 1957 (पतंजलिकालीन भारत)
32. Indian in the Vedic Age: Dr. P. L. Bhargava, 1956
33. Journal of Mythic society, April 1933. (जे० एम० एस०)
34. Krishnaswami Aigngar Comm. Volume. (कृ० आ० का० वा०)
35. Kuppuswami Comm. Volume (कु० काम०)
36. Kane Comm. Volume–1941
37. Kalidas : Ramswami Shastri, 1933,
38. Kalidas : G. C. Chhala.
39. Malaviya Comm Volume
40. Purana text of the D Kali age: Parjitar.
41. Political History of Ancient India : Roy Chaudhry, 6th Edition, 1953.
42. Sanskrit English Dictionary, M V. 1959
43. Some Problems of Indian Literature : Winternitze, 1925 (सम० प्रा० सं० लि०)
44. Sanskrit Drama : Keith, 1959.

45. Sukhthankar M. Volume, Vol. I, Calcutta, 1955.
46. Shree Harsha of Kannauj : K. M. Panikkar, 1922.
47. Shakeshpear : George Ein.
48. The Indian Theatre : Dr. Gupta.
49. The Vedic Age, Vol. I.
50. The Magadhas in Ancient India.
51. The Age of Imperial Unity, Vol II, 1946
52. Thomas Volume, 1939
56. Theatre of Hindues : Wilson.
54. The Mauryan Polity : Chandra Dikshitara, 1953.
55. The Maukharies : E. A. Paris.
56. The Gupta Empire : Mookerjee, 3rd Ed.
57. The Parmar of Dhara and Malva, Ist Ed
58. The types of the Sanskrit Drama : Manakad, 1936
59. The Development of Dramatic Art : Donall Clive Stuart, 1908
60. The Social play in Sanskrit : Raghavan, Ist Ed. Bunglore. 1956
61. The Great epic of India : F. W. Hopkins 1920
62. The Play ascribed to Bhasa: C. R. Devadhar. 1927
63. The Age of Imperial Unity, Bombay, B V B. 1951
64. World Drama : Nicoll, 1961.

English JOURNALS

Annals (एनाल्स)	Annals of the Bhandarkar oriental Research Institute, Poona, 20–21, Vol. 2, July, 30–31, Vol. 12 etc.
A. I (ए० इ०)	Apigraphia Indica Vol 2, April, 1920 etc.
	All India origntal Conference, 14th Sessions, 1948, Patt II,
	Allahabad University Studies, Vol. 2
I A (इं० ए०)	Indian Antiquary, 1782, etc
I. C. (इं० कल्चर)	Indian Calture, (Defferent Volums)
I.H.Q. (इं० हि० क्वा०)	Indian Historical Quarterly, ,,
J. A. O. S. (जे० ए० ओ० एस०)	Journal of American Oriental Societies, Vol. 20, 3nd Ed. etc.
J. B. O. R. S. (जे०बी०ओ०आर०एस०)	Journal of Bihar Orissa Research Society. (Different Volums)
J. R. A. S. (जे० आर० ए० एस०)	Journal of Royal Asiatic Society, 1909
N. A. (न्यू० ए०)	New Antiquary, Vol. 42, No. 2

Poona Orientalist, Vol 5
Proceedings of the Indian History Congress, Calcutta, 1939.

Procedings of the Indian Historical Congress, Ist Session, 1922, Poona.

Proceedings of the 2nd Oriental Conference 5th Conference, 8th Conference, 1930 and 1935

T. A S. (टी. ए. एस.) Travancor Archeaological Series Volume Ist, 1920.

हिन्दी ग्रन्थ

१. अनुसन्धान और प्रक्रिया, १९६० दिल्ली
२. इतिहास दर्शन: डा० बुद्धप्रकाश, प्र० सं० १९६२
३. इतिहास प्रवेश: जयचन्द्र विद्यालंकार, १९५६-५७
४. कालिदास: मिराशी ई० सं० १९५६
५. कालिदास का भारत: भगवतशरण उपाध्याय प्र० सं०
६. गु० सा० इति० गुप्त साम्राज्य का इतिहास: वासुदेव उपाध्याय, सागर, १९५७
७. प्र० ऐति० ना० प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक: डा० जोशी, प्र० सं० २०१६
८. पाणिनिकालीन भारत: वासुदेवशरण अग्रवाल, प्र० सं०
९. प्रा.भा.के कला वि० प्राचीन भारत के कला विलास प्र० सं०
१०. प्रा० भा० शा० प० प्राचीन भारत की शासन पद्धति: डा० सदाशिव अल्तेकर, द्वि० सं० २०१६
११. प्रा० भा० इति० प्राचीन भारत का इतिहास: डा० रमाशंकर त्रिपाठी, तृ० सं० १९६२
१२. प्रा० लि० मा० प्राचीन लिपिमाला: गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा
१३. प्राचीन भारत: मुकर्जी, १९६२
१४. भा० सा० शा० भारतीय साहित्य शास्त्र, बलदेव उपाध्याय, भाग २, २००५
१५ भा० ना० सा० भारतीय नाट्य साहित्य (सेठ गोविन्द दास अभिनन्दन ग्रन्थ), सं० नगेन्द्र, प्र० सं०
१६. भा० बृ० इति० भारतवर्ष का बृहद् इतिहास : भगवद्दत्त, भाग १,
१७. भा० इति० रूप० भारतीय इतिहास की रूपरेखा: जयचन्द्र विद्यालंकार भाग २, १९३३

१८. भा० प्रा० इति० भारत का प्राचीन इतिहास: सत्यकेतु, द्वि० सं० १९६०
१९. नाट्यकला: रघुवंश, दिल्ली, १९६१
२०. नाट्यसमीक्षा: दशरथ ओझा, प्र० सं० २०१६
२१. नाथूराम प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, १९४६
२२. चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल: मुकर्जी, १९६२
२३. चन्द्रगुप्त: प्रो० हरिश्चन्द्र सेठ, बुलन्दशहर, १९४०
२४. जैन साहित्य का इतिहास: नाथूराम प्रेमी,
२५. राजस्थान का इतिहास: टाड (हिन्दी) ठा० केशव कुमार, १९६२
२६. रामकथा: कमिलबुल्के, प्र० सं०
२७. रासमाला (हिन्दी), जयपुर, १९५८
२८. वेदलावण्य: डॉ० सुधीर कुमार गुप्त
२९. विक्रमादित्य: डॉ० राजवली पांडेय १९६०
३०. शा० स० सि० शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त : डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत
३१. शूद्रक: चन्द्रबली पाँडे
३२. सं० सा० इति० संस्कृत साहित्य का इतिहास: कीथ: (हिन्दी) १९६०
३३. ,, वाचस्पति गैरोला, १९६०
३४. ,, बलदेव उपाध्याय, चतुर्थ सं० १९५६
३५. समीक्षा शास्त्र: सीताराम चतुर्वेदी
३६. सं० क० दर्शन संस्कृत कवि दर्शन: डा० भोलाशंकर व्यास, प्र० सं० बनारस
३७. समीक्षायण: कन्हैयालाल सहल, प्र० सं०
३८. हर्षवर्धन गौरीशंकर चटर्जी, १९५०
३९. हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता: बेनीप्रसाद, १९५०
४०. हिन्दूसभ्यता: मुकर्जी (हिन्दी)

हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ :

आलोचना-जनवरी १९६४
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, ५, वैशाख १९६१ ना० प्र० प०
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ११,
साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २२ जुलाई, १९५६
सम्मेलन पत्रिका, १८८३, भाग ४७, अंक
समिति वाणी, त्रैमासिक, वर्ष १, भाग
विशाल भारत, जून १९६३,

